श्रीमद् अमृतवाग्भवाचार्य-प्रणीतः

श्रीराष्ट्रालोकः

श्रीराष्ट्रसञ्जीवन भाष्यसहितः

(राष्ट्रालोक-सारसुतः)



श्रीमद् अमृतवाग्भवाचार्य-प्रणीतः

श्रीराष्ट्रालोकः

श्रीराष्ट्रसञ्जीवनभाष्य-सहितः

(राष्ट्रालोकसार-युतः)

सम्पादक :
डा. शिवसागर त्रिपाठी

भाषा सार लेखक :
पं. श्री पद्म शास्त्री

देवनागर प्रकाशन, जयपुर

मूल्य : 300/– संस्करण : 1998

प्रकाशक : श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य सांस्कृतिक शिक्षा एवं शोध संस्थान
बी–314, जनता कालोनी, जयपुर के लिए
देवनागर प्रकाशन, जयपुर द्वारा प्रकाशित ।

मुद्रक : एलोरा प्रिन्टर्स, पं. शिवदीन जी का रास्ता, जयपुर

समर्पण

चतुर्णां पुरुषार्थानां हेतवे वृषकेतवे ।
पितृपुण्यभुवे तस्मै स्वराष्ट्राय नमो नमः ॥

परमपूजनीय परमाराध्य परमश्रद्धेय
महामहिम अनन्तश्री श्रीमद् अमृतवाग्भवाचार्यजी महाराज

के

दिव्य कर कमलों

में

सादर समर्पित

श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य
सांस्कृतिक शिक्षा एवं शोध संस्थान
बी–314, जनता कॉलोनी, जयपुर

भावाञ्जली

श्रीयुक्तः प्रतिभायुतः सुसरलो यो नैष्ठिको भास्वरः
नैपुण्यं वहतीह योगसरणौ नैकेषु शास्त्रेषु च ।
वाग्देवीतनयो बुधः सुरगवीसेवाव्रती साधकः
आचार्योऽमृतवाग्भवो विजयते सिद्धो महामानवः ।

— डॉ. शिवसागरः

⊙

आचार्यकाय महिताय महामहिम्ने
योगीश्वराय परमार्थविदे परस्मै ।
सर्वेषु तन्त्रगहनेषु स्वतन्त्रकाय
नित्यं नमोऽस्तु गुरवेऽमृतवाग्भवाय ।।

— डॉ. बलजिन्नाथः

श्रीः

पूज्यपाद ब्र॰ अनन्त श्री श्रीमद् अमृतवाग्भवाचार्य



जन्मः
आषाढ़ शुक्ल दसवीं
वि॰ सं॰ 1960

लीला-संवरण
कार्तिक शुक्ल नवमीं
वि॰ सं॰ 2039

।। श्रीगणेशाम्बागुरुभ्यो नमः ।।

निवेदनम्

आत्मीय,

पूज्यपाद अनन्त श्री अमृतवाग्भवाचार्य जी महाराज द्वारा विरचित "श्री राष्ट्रालोक-राष्ट्रसंजीवन भाष्य" के हिन्दीभाषासारसहित प्रकाशन कार्य की सम्पन्नता के अन्तिम सोपान पर असीम प्रसन्नता हो रही है, जिसे शब्दों में अभिव्यक्त करना संभव नहीं।

इस ग्रन्थरत्न के प्रकाशन की चिरकाल से प्रतीक्षा रही, जो पूज्य श्री बाबा महाराज के दिव्य अनुग्रह से ही सम्भव हो सका है।

यह एक परम कल्याणकारी सन्मार्ग-दर्शक भारतीय आदर्श का व्यावहारिक जीवनशास्त्र है। राष्ट्र व राष्ट्रवाद से सम्बन्धित सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषयों पर सार्वभौम सनातन समस्याओं का समाधान संस्कृत भाषा में विशिष्ट विश्लेषण कर तथा परम्परा-दृष्टि से व्याख्या कर इस ग्रन्थ को समूचे राष्ट्रहित-विश्वहित के लिए लिखा गया है। इसमें ऐसे भी अनेक अनछुए विषय हैं, जिन पर इसके रचनाकाल में किसी ने कोई कल्पना भी नहीं की होगी।

एक समय था जब भारत पर स्वदेशी एवं विदेशी आततायियों ने भारतीय संस्कृति और जनमानस को संत्रस्त किया था। तब आचार्य चाणक्य जैसी महान् विभूति ने अवतीर्ण होकर इस देश को, तत्कालीन स्थितियों को देखते हुए, एकता के सूत्र में आबद्ध कर कौटिल्य अर्थशास्त्र जैसे अनूठे ग्रन्थ की रचना की थी।

उसी प्रकार समसामयिक स्थिति-परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए परम करुणावरुणालय पूज्यपाद अनन्त श्री अमृतवाग्भवाचार्य जी महाराज ने एक सौ आठ कारिकाओं के 'राष्ट्रालोक' जैसे व्यावहारिक मोक्षशास्त्र की रचना की। तत्पश्चात् संवत् 1993 में स्वयं ने ही उस ग्रन्थ की संस्कृत भाषा में 'राष्ट्र संजीवन भाष्य' नामक विशद व्याख्या भी लिखी।

इस भाष्य के सम्बन्ध में कहा गया है कि राष्ट्रवाद में "राष्ट्रसंजीवन भाष्य" का वही स्थान है, जो पाणिनीय व्याकरण में 'पातञ्जल भाष्य' तथा वेदान्त में ब्रह्मसूत्र के "शांकर भाष्य" का है।

पूज्यपाद आचार्य श्री द्वारा रचित "श्री आत्मविलास" और "श्री राष्ट्रालोक" दोनों ही ग्रन्थ एक दूसरे के पूरक हैं। एक आत्मा की, तो दूसरा व्यक्ति की मुक्ति का मार्गदर्शक ग्रन्थ है। आचार्य श्री की मान्यता रही है कि सच्चा राष्ट्रनिष्ठ वही हो सकता है, जो आध्यात्मिक है। पूज्य बाबा ने अपने अद्भुत दार्शनिक ग्रन्थ 'आत्मविलास' में लिखा है—

"सुखाप्तिवांछा हृदये वर्तते यदि यत्यताम्।
पूर्णस्वतन्त्रताप्राप्त्यै सैव पूर्णसुखप्रदा॥"

अर्थात् सुख प्राप्त करने की इच्छा यदि हृदय में है, तो उसे पूर्ण स्वतन्त्रता ही पूर्ण कर सकती है।

उन्होंने स्वतन्त्रता-प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ उपाय "श्री राष्ट्रालोक" में बताते हुए संक्रान्ति का शंख फूंक दिया—

"स्वातन्त्र्यं भिक्षया नैव कदाचिदपि लभ्यते।
योगक्षेमसमर्थैका राष्ट्रशक्तिः प्रभाविनी"॥

अर्थात् भीख माँग कर किसी काल में भी स्वातन्त्र्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। प्रभाविनी राष्ट्रशक्ति ही योग तथा क्षेम में सर्वोपरि सामर्थ्य रखती है।

हमारे राष्ट्र के कण-कण में चिरकाल से राष्ट्रवाद की भावनाएं व्याप्त रही हैं। आज आवश्यकता इस बात की है कि इस प्रकार का राष्ट्रवादी साहित्य अध्ययन हेतु उपलब्ध कराया जाय, ताकि आज का युवक राष्ट्रहित चिन्तन में मन लगाकर कार्य कर सके और अपने तथा देश के नैतिक चरित्र के उत्थान में योगदान कर सके।

यद्यपि यह 'राष्ट्रालोक-राष्ट्रसंजीवनभाष्य' संवत् 1993 में लिखा गया था, किन्तु उसकी उपयोगिता आज भी प्रासंगिक एवं अत्यन्त समसामयिक है। इससे पाठकों का और देश का हित साधन होगा, ऐसी आशा है।

"श्रीराष्ट्रालोक" एवं "श्रीराष्ट्रसंजीवनभाष्य" के सन् 1992 में प्रकाशित प्रथम भाग (36 कारिकाएं) एवं प्रस्तुत खण्ड (72 कारिकाएं) के अवगाहन से संस्कृत के शोध-विद्वानों, शोधार्थी छात्रों, शिक्षा-विशेषज्ञों एवं

राष्ट्रहितरत मनीषियों का मत है कि राजनीति शास्त्र, लोक प्रशासन संवैधानिक विधि, अन्तरराष्ट्रीय विधि तथा तुलनात्मक अध्ययन के छात्रों के पाठ्यक्रम में "श्रीराष्ट्रालोक-राष्ट्रसंजीवनभाष्य' का सम्पूर्ण समावेश स्नातक, अधिस्नातक और शोधस्तर पर अपरिहार्य हैं। श्रेयस्कर होगा यदि माध्यमिक एवं उच्च माध्यमिक कलासंकाय के छात्रों के पाठ्यक्रम में कतिपय चयनित अंश भी समाविष्ट हो सकें। इसी प्रकार संस्कृत-साहित्य, हिन्दी-साहित्य एवं दर्शन-शास्त्र के माध्यम से अधिस्नातक शोधछात्रों के लाभार्थ श्रीराष्ट्रालोक–श्रीराष्ट्रसंजीवनभाष्य उनके पाठ्क्रम का अभिन्न अंग हो, ताकि इसके अभीष्ट चिन्तन, मनन, अनुशीलन से भावी पीढ़ी के संस्कार परिमार्जित हो सकें और बाल-किशोर-प्रौढ़ सभी स्तरों पर पारस्परिक रूप से निरन्तर जनशक्ति उपलब्ध होती रहे जो सभी आयु वर्ग के व्यक्ति, तथा सामाजिक, राष्ट्रीय, सहराष्ट्रीय एवं विश्वस्तरीय समुदाय को सम्यक् रूप से अभ्युदय एवं निःश्रेयस की प्राप्ति कराकर, प्राणिमात्र के लिए कल्याणकारी सिद्ध हो सके एवं मानसिक, पारिवारिक, सामाजिक, व्यावसायिक, लोकसेवा तथा भू-मण्डलीय पर्यावरण को उर्ध्वगामी करता हुआ यह ग्रन्थ अभीष्ट लोककल्याण को सतत साकार करता रहे।

संस्कृत भाष्य का शब्दानुवाद कई कारणों से असंभव नहीं, तो अत्यन्त दुष्कर अवश्य है। अतः इसके केवल भाषासार के माध्यम से आचार्य श्री के इस कृपाप्रसाद को जनसाधारण के हितार्थ सर्वसुलभ राष्ट्रभाषा में रखने की चेष्टा की गई है।

पण्डित श्री पद्म शास्त्री जी ने हमारे निवेदन को स्वीकार कर अपना अमूल्य समय देकर इस सम्पूर्ण संस्कृत भाष्य का अपने अथक परिश्रम के साथ हिन्दी में आद्योपान्त भाषासार लिख कर हिन्दी भाषी पाठकों पर जो अनुग्रह किया है उसके लिए उन्हें हमारे साथ-साथ पाठक वृन्द भी साधुवाद देंगे। आशा है इस भाषासार से इस ग्रन्थ की उपादेयता में निस्संदेह अभिवृद्धि के साथ पाठकों में तद्विषयक चिन्तन मनन में अधिक सुरुचि जाग्रत होगी।

डा. शिव सागर जी त्रिपाठी के हम हार्दिक रूप से आभारी हैं, जिन्होंने इस ग्रन्थ रत्न का इतना कुशल सम्पादन किया है। यह दुष्कर कार्य वस्तुतः डॉ. त्रिपाठी जी जैसे संस्कृतज्ञ के द्वारा ही संभव हो सका है, पाठकों के लाभार्थ इसके विशिष्ट महत्त्व को समझाते हुए शोधपूर्ण सम्पादकीय भूमिका लिखकर डॉ. त्रिपाठी जी ने अपने दायित्व का भी सफल निर्वहन किया है।

अतः हम दोनों ही सुविज्ञ विद्वान् महानुभावों के चिर आभारी हैं।

राष्ट्रालोक के समस्त राष्ट्रसंजीवन भाष्य का विस्तार में अनुवाद करना आवश्यक नहीं समझा गया। अतः संस्कृत से अनभिज्ञ जनों के लाभार्थ भाषासार में मूलमन्तव्य देने का ही प्रयास किया गया है। इसमें पदच्छेद, पदपर्यायार्थ, टीकाशैली, स्वग्रन्थीय एवं स्वशास्त्रीय उद्धरण आदि का विस्तार नहीं है। विज्ञ पाठकों से अनुरोध है कि इस हेतु मूल ही पढ़ें और ज्ञानवर्धन करें जैसा कि पूज्य बाबा जी महाराज ने स्वयं लिखा है कि यह राष्ट्रालोक राष्ट्रवाद को लक्ष्य कर रचा गया है, सुविस्तृत विवेचन श्री राष्ट्र-संजीवनभाष्य में किया गया है, पाठक वहीं पढ़ें।

इस संदर्भ में 'देवनागर प्रकाशन,' जयपुर एव 'विद्वद्वरकल श्री राधाकृष्ण धार्मिक संस्थान,' नई दिल्ली के प्रति हार्दिक आभार।

पूज्य बाबा महाराज के प्रसाद से जिसे जो कार्य मिला, वह उन्हीं की स्पृहणीय कृपा से सम्पूर्ण हो सका है।

अभी पूज्य बाबा महाराज के अनुग्रह से ऐसी अन्तः प्रेरणा हो रही है कि भारतवर्ष की सभी प्रादेशिक भाषाओं एवं अन्य विदेशी भाषाओं में इस संस्करण का प्रस्तुतीकरण किया जाए। यह प्रेरणा कैसे साकार होगी, इसका भार पूज्य बाबा महाराज की सर्वतः स्वतन्त्र दिव्य शक्ति पर ही है। अंग्रेजी भाषा भारतवर्ष में अभी व्यापक है, अतः अंग्रेजी में प्रस्तुतीकरण तो निकट भविष्य में हो ही जाए, ऐसी पूज्य बाबा महाराज से याचना है।

सभी सहयोगीवृन्द एवं पाठकवृन्द पूज्य महाराज के पदपद्मपराग से रंजितानुरंजित हों; इसी कामना के साथ परम पूज्य बाबा महाराज के श्रीचरणों में श्रद्धावनत। श्री गुरुः शरणम्।

अभिन्न

सियाराम गर्ग
मंत्री

दुर्गादत्त शर्मा
अध्यक्ष

श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य सांस्कृतिक शिक्षा एवं शोध संस्थान,
बी–314, जनता कालोनी, जयपुर (राजस्थान)

शुभाशंसा

राजस्थान विश्वविद्यालय
जयपुर (राजस्थान)

हर्ष की बात है कि ऋषिकल्प आचार्य श्री अमृतवाग्भव द्वारा प्रणीत 'श्रीराष्ट्रसजीवन भाष्य' एवं 'राष्ट्रालोकसार' सहित 'राष्ट्रालोक' के द्वितीय भाग का सम्पादन कर डा. शिवसागर त्रिपाठी (पूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर) ने प्रथम भाग की अपूर्णता को पूर्ण किया है।

आचार्य श्री ने इस ग्रन्थ में पारमार्थिक और व्यावहारिक विज्ञान को एक साथ जोड़कर जो एक आदर्श राष्ट्र की कल्पना की है और उसके व्यावहारिक पक्ष पर जो चिन्तन प्रस्तुत किया है, वह राष्ट्रीय समस्याओं के प्रत्येक पक्ष को स्पर्श करता है। यह आज भी उतना ही प्रासंगिक है, जितना अपने रचना-काल में था। उन्होंने दु:शासन की वर्जना कर सुशासन, स्वराज्य और सुराज्य पर बल दिया है। साथ ही अनैतिक आचरण, घूसखोरी और व्यसनों में लिप्त बाह्य और आभ्यन्तर अराष्ट्रियों से सचेत रहने का निर्देश दिया है। यद्यपि ग्रन्थ के निर्माणकाल में आज जैसी भयानक स्थिति नहीं थी, फिर भी आचार्य-श्री की दूरदृष्टि और सूक्ष्म दृष्टि ने जैसे सब कुछ भांप लिया था। अतः उन्होंने सिद्धान्त स्थिर किया था कि राष्ट्र का शासन किस प्रकार के लोगों (राष्ट्रियों) के हाथ में होना चाहिए।

ग्रन्थ में निरूपित राष्ट्र के विषयों और शाश्वत तथ्यों को देखते हुए निश्चय ही यह ग्रन्थ विश्वशान्ति और विश्वराज्य की स्थापना में मार्गदर्शक सिद्ध हो सकता है।

राष्ट्रिय महापुरुष की इस रचना का विद्वत्तापूर्ण सम्पादन कर डा. त्रिपाठी ने राष्ट्र का उपकार किया है। मैं इसके प्रचार की कामना करता हूं और इसके सफल सम्पादन कार्य के लिए डा. त्रिपाठी को साधुवाद देता हूं।

—वी. आई. राजगोपाल
आई. ए. एस्., (अवकाश प्राप्त)
कुलपति

सौवस्तिक

सर्वतन्त्र स्वतन्त्र अमृतवाग्भव जी के श्रम और साधना के विषय में कई वर्षों से जानकारी होते हुए भी उनके साक्षात् दर्शन का मुझे सौभाग्य नहीं मिल पाया। उनकी कतिपय कृतियों तथा विशेषतः राष्ट्रालोक (कारिकाबद्ध ग्रन्थ) और उस पर विशद संस्कृतभाष्य डा. शिवसागर त्रिपाठी जी के साहचर्य से इन दिनों देखने को मिला। व्याकरण षड्दर्शन, तन्त्र तथा आगम का गम्भीर पाण्डित्य इस भाष्य में मिला, उसके साथ साधना का तपः पूत स्वर भी भाष्य में मणिकाञ्चन संयोग घटित कर रहा है। आचार्यप्रवर उच्चकोटि के प्रतिभावान् कवि भी हैं, यह परशुरामस्तोत्र जैसी काव्यकृतियों से स्पष्ट है। परशुराम तथा दुर्वासा के साधनाप्रस्थान 'श्रीविद्या' की उपासनापद्धति के वे पहुंचे हुए साधक थे। राष्ट्रालोक उनकी बिल्कुल अलग ढंग की कृति है। राष्ट्रिय स्वातन्त्र्य की कामना यहां प्रतिपद परिलक्षित होती है। स्वातन्त्र्य का स्वरूप क्या है? उसके राष्ट्रिय नागरिकों के गुण क्या होने चाहिए? स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए की गई क्रान्ति और उसके द्वारा विदेशियों और उनके सहायक पंचमांगी अराष्ट्रियों का विध्वंस सदा वैध है, क्योंकि उसका लक्ष्य राष्ट्र को स्वतन्त्र बनाना है (रा. 3, 10, 14)। जिस राष्ट्र में राष्ट्रियों के हाथ में विदेशनीति, सेना तथा कोष हो, वही स्वतन्त्र राष्ट्र है (रा–22)।

सम्पूर्ण ग्रन्थ में स्वतन्त्र राष्ट्र की एक विस्तृत रूपरेखा दी गई है। इस सम्बन्ध में स्वतन्त्र राष्ट्र को राष्ट्र भाषा, धर्म्यभाषा, शिक्षापद्धति, राष्ट्रसेवा में लगे राष्ट्रियों के योगक्षेम के लिए वृत्ति (न कि भृति या वेतन) निर्धारित किये जाने आदि विषयों पर जो विचार प्रकट किये गये हैं, उनके भाष्य में आचार्य प्रवर ने धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि से प्रमाण उद्धृत करते हुए मनु, याज्ञवल्क्य आदि स्मृतिकारों, कौटिल्य, कामन्दक आदि अर्थशास्त्रियों, राजनीति के आचार्यों के ग्रन्थों का सारतत्त्व उपस्थित किया है।

"राष्ट्रालोक" पर रचित विस्तृत भाष्य का प्रकाशन निःसन्देह संस्कृत-वैदुष्य के क्षेत्र में नया अध्याय जोड़ेगा। यह इसका प्रमाण है कि संस्कृत वाङ्मय के नदीष्ण आचार्य समसामयिक समस्याओं और उनके निदान तथा उपचार के प्रति विमुख नहीं थे। ऐसे ग्रन्थरत्न को सम्पादित करने के लिए विद्वद्वर्य डा. शिवसागर त्रिपाठी जी को साधुवाद देना चाहूंगा।

17 संकट मोचन,
वाराणसी

डॉ भोलाशंकर व्यास

उपोद्घात

सनातन आर्यधर्म की दृष्टि में मानव जीवन के दो मुख्य प्रयोजन माने गये हैं। एक है व्यावहारिक अभ्युदय अर्थात् न्यायानुकूल भोग और दूसरा है पारमार्थिक निःश्रेयस अर्थात् मोक्ष। वेदों में अधिकांशतः ऐहिक और आमुष्मिक भोगों के सदुपायों का निरूपण किया गया है। उपनिषदों में मोक्ष के निरूपण पर तथा उसके उपायों पर चर्चा की गई है। तभी तो वैशेषिक दर्शन में धर्म के दो फल कहे गये हैं, – अभ्युदय और निःश्रेयस। ईशावास्योपनिषद् मे स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि अविद्या अर्थात् भोग-साधनों की प्राप्ति और विद्या अर्थात् सच्चा आध्यात्मिक ज्ञान, ये दोनों ही मानव जीवन के प्रयोजन हैं। इन दो में से प्रथम स्थान अविद्या को ही दिया गया है, क्योंकि उसी की सदुपासना से जीवन बाधा-हीन बन जाता है। यदि जीवन बाधाओं से अभिभूत होता रहे, तो विद्या की अर्थात् अध्यात्मज्ञान की उपासना कैसे की जा सके। इसी सिद्धान्त को दृष्टि में रखते हुए उपनिषद् में स्पष्ट कहा गया है —

अन्धं तमः प्रविशन्ति ये अविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥ई. उप. 9॥

पूज्यपाद श्री आचार्य महोदय अपने यौवन काल में अविद्या के उत्कृष्टतर अंशों अर्थात् विद्याभ्यास आदि और देश की स्वतन्त्रता के आन्दोलन के प्रति यत्नों में विशेष दिलचस्पी लेते रहे। नवयौवन में जगदम्बा की कृपा से महामुनि श्री दुर्वासा ने साक्षात् दर्शन देकर उन्हें शाम्भवी योगविद्या सिखा दी। उस योगविद्या के अभ्यास से उन्हें सर्वोत्कृष्ट अध्यात्मविद्या के सिद्धान्तों का साक्षात् अनुभव होता गया। तदनन्तर कारणवशात् उन्होंने घर छोड़ कर भारतयात्रा करते हुए तीर्थों के दर्शन का कार्यक्रम बनाया और विशेषकर हिमाचल, कश्मीर, जम्मू, पंजाब, राजस्थान आदि प्रदेशों में घूमते रहे।

इन भारत-यात्राओं को करते-करते पूज्यचरण आचार्य श्री ने दो उत्कृष्ट ग्रन्थों का निर्माण किया। इनमें से एक ग्रन्थ है "श्री आत्मविलास" जिसमें उत्कृष्टतर अध्यात्मविद्या का विस्तार से निरूपण किया गया है। दूसरा ग्रन्थ

जिसकी रचना उन्होंने बड़े ही शौक से की, वह है "श्रीराष्ट्रालोक"। श्री "आत्मविलास" विद्या सम्बन्धी उत्कृष्ट ग्रन्थ है और "श्रीराष्ट्रालोक" का विषय है राजनीति।

श्रीराष्ट्रालोक में राष्ट्रहितपरक बिन्दुओं पर प्रकाश डालते हुए आचार्य श्री ने एक आवश्यक बात यह कही कि प्रशासन के नियमों का निर्माण करने वाली सभा और होनी चाहिए तथा नियमों का पालन कराने तथा प्रशासन करने वाली संस्था भिन्न होनी चाहिए। वर्तमान युग में जिस बहुसख्यक वर्ग के हाथ में प्रशासनतन्त्र रहता है, वही वर्ग संसद् में राष्ट्र प्रशासन के नियमों को भी पारित कराता है। ऐसी स्थिति में अन्यायपूर्ण नियम पारित हो जाते हैं, जो प्रजाहित में नहीं होता।

राष्ट्र की सुरक्षा को दृष्टि में रखते हुए आचार्य महोदय ने इस बात पर बल दिया है कि राष्ट्र के सभी युवकों को अस्त्र-शस्त्रों के चालन की शिक्षा दी जानी चाहिए, जिससे किसी भी शत्रुराष्ट्र के साथ युद्ध के समय शस्त्र-विद्या-निपुण सेना की न्यूनता न पड़े। फिर इस विषय में यह भी कहा है कि कोई भी राष्ट्र तभी स्वतन्त्र रह सकता है और तभी अन्य राष्ट्र उसका सम्मान करते हैं, जब राष्ट्र में शत्रु का दमन करने की पूरी शक्ति हो। काव्यात्मिका शैली में कहा गया है, "जिस राष्ट्र का कोप अथवा प्रमाद अकिञ्चित्कर होता है, उस राष्ट्र का अपमान सभी अन्य राष्ट्र उस तरह से करते रहते हैं जिस तरह से एक पत्नी अपने नपुंसक पति का अपमान करे (रा. 7)। राष्ट्र की सुरक्षा करने में समर्थ और शत्रु राष्ट्र का दमन करने में सुशक्त सेना का निर्माण करना परम आवश्यक है।

राष्ट्रसंजीवन भाष्य तो एक सर्वाङ्ग सम्पूर्ण शास्त्र है। इसमें अनेक शास्त्र सिद्धान्तों का समावेश हुआ है। राजनीति को अध्यात्मविद्या के साथ जोड़कर इसका गहन अध्ययन साधारण जनता की शक्ति से बाहर है। इस कार्य के अधिकारी सर्वशास्त्रज्ञ पदवाक्यप्रमाणज्ञ विद्वान् ही हो सकते हैं। डॉ. त्रिपाठीजी ने परिश्रम पूर्वक इस सुविशाल तर्कबहुल और जटिल भाष्य के तात्पर्यार्थ का स्पष्टीकरण करते हुए उसे दो भागों में प्रकाशित करने में जो योगदान किया है उससे जन साधारण तथा पूज्यपाद श्रीमान् आचार्य महोदय के शिष्यों का बड़ा उपकार हुआ है। इसके लिए सभी उनके कृतज्ञ बने रहेंगे।

51, आदर्शनगर, वनतालाब, जम्मू

डॉ. बलजिन्नाथ पण्डित

सम्पादकीय

'यं वैद्यनाथ इति वैद्यजना वदन्ति' — त्रिगुणेश्वर स्तोत्र की इस पंक्ति के अनुसार पं. वैद्यनाथ शास्त्री वरकले नाम से आख्यात पूजनीय चरण योग्य पिता पं कृष्ण शास्त्री वरकले के योग्य पुत्र थे। माता, पिता और बाद में गृहीत अपने नाम का उल्लेख व्यञ्जना का आश्रय लेकर स्वयं बाबा जी ने परम-शिवस्तोत्र में इस प्रकार किया है—

सामरस्यसमुल्लास श्रीराधाकृष्णयोः परः।
अहमात्मामृतासारि वाग्भवो जयताच्चिरम्। (प शि. 3)

सायं संगोष्ठी की एक चर्चा में उन्होंने अपने नाम की व्याख्या करते हुए बताया था कि नाम के प्रथम अक्षर "वै" में "व" अमृत बीज है और "ए" वाग्भव बीज है। अत: "वै" को अमृतवाग्भव कहा जा सकता है।

शैशवावस्था से ही अत्यन्त प्रतिभाशाली इस जातक ने पूर्व जन्मों में अर्जित सम्पत्ति को इस जन्म में अल्पप्रयास से प्राप्त कर लिया। फलतः उसमें विद्वत्ता और अध्यात्म के तत्त्व प्रस्फुटित हुए और फिर तपःसाधना से विभूतिमत्ता तथा ऊर्जस्विता से महिमामण्डित हुए। गृह-त्याग के बाद यह अपने लेखन नाम के रूप में आचार्य अमृतवाग्भव हो गये और एक अमृतकलश के रूप में अपने बिन्दुओं के सेचन से आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, सारस्वत एवं जागतिक कल्याण करने में दत्तचित हो गये। अक्षयनवमी आपकी प्रिय तिथि थी, इस दिन जहां भी होते थे, उसका उत्सव मनाते थे। यही कार्तिक शुक्ला नवमी आपकी निर्वाण तिथि बनी (24-11-82 – सम्वत् 2039)।

आचार्यश्री का चिन्तन और लेखन सतत प्रवहमान था, अतः विशद गाम्भीर्य से सम्पन्न बीस से अधिक लघुकाय ग्रन्थों में जो वैदुष्य अनुस्यत है, वह युग युगान्तर तक विद्वत्पाथेय रहेगा। इनके साहित्य के पठन, चिन्तन, ध्यायन, मनन, अनुशीलन और समीक्षण से जो स्वारस्य और ज्ञान प्राप्त होता है, वह उनकी बहुज्ञता को उजागर करता है। आचार्य जी ने इसका प्रयोग बड़े संयम से किया है, अर्थात् अपने कथ्य को विचारभार से आक्रान्त नहीं किया है और न ही कृत्रिमता आने दी है।

साधना, सिद्धि और वैदुषी के त्रिवेणीनायक पूज्यपाद की लेखनी से प्रसूत रचनाओं में सर्वाधिक उल्लेखनीय है "राष्ट्रालोक" जो स्वराज्य और सुराज्य के समथकों, विश्वशान्ति तथा एक-मानव राज्य की कल्पना करने वालों के लिए आकर ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ शैवदर्शन और राष्ट्रदर्शन के मूल विषय स्वातन्त्र्य से सम्बद्ध है, पर स्वातन्त्र्य-प्राप्ति से 14–15 वर्ष पूर्व लिखा गया था, जब स्वदेशी शासन के विरोध में लेखन, भाषण सब कष्टमय था। पर निर्भीक वाग्भवाचार्य जी ने संस्कृत, हिन्दी में क्रान्तिकारी विचारों को प्रस्तुत कर मार्गदर्शन किया था। इसमें प्रेयः और श्रेयः का, लोक और अध्यात्म का अद्‌भुत समन्वय है अर्थात् आत्मसाक्षात्कार जनित तात्त्विक मोक्ष और राष्ट्रज्ञान परक स्वातन्त्र्य प्राप्ति रूप व्यावहारिक मोक्ष युगपदेव अनुस्यूत हैं, जिसका मूल आराध्य है परात्पर शिव एवं राष्ट्र जैसा कि भाष्य में उल्लिखित है – 'व्यवहारे च समस्तनिदानभूततया समस्तस्यापि जीवलोकस्य राष्ट्रमेवात्मा............। अत्रेदं च बोध्यम् – प्रकाशविमर्शसामरस्यसम्पन्न एवात्मा न पुनः केवलं प्रकाशो वा विमर्शो वा आत्मा भवति इति रहस्यम्। तथैव राष्ट्रं प्रकाशः राष्ट्रियश्च विमर्शः .... एवं च राष्ट्रं चेतनः राष्ट्रियश्च चैतन्यम्। राष्ट्रं शिवः राष्ट्रियश्च शक्तिः। राष्ट्रमात्मा राष्ट्रियः शरीरम्। राष्ट्रम् अर्थः राष्ट्रियः शब्दः इति च सर्वमपि व्यावहारिकमोक्षशास्त्ररहस्यम्।"

शिव और राष्ट्र के इस अनुसीवन का मुख्य कारण था विदेशी शासन और परतन्त्रता-पाश में जकड़ा स्वदेश। अतः परोक्षशैली का अवलम्बन किया गया था – 'परोक्षप्रिया हि देवाः'। उस समय स्वातन्त्र्य-प्राप्ति रूप महायज्ञ में जहां देशभक्त कटिबद्ध हुए और आत्माहुतियां दीं, वहीं महाराजश्री जैसे प्रच्छन्न देशभक्त साहित्यकारों ने जो कार्य तलवार से नहीं हो सकता था, उसे लेखनी से करने का बीड़ा उठाया। किसी उर्दू कवि ने ठीक ही लिखा है—

"खींचो न कमानों को न तलवार संभालो।
जब तोप मुकाबिल हो तो अखबार निकालो"।

इस प्रकार गांधी जी की अहिंसा और रक्तहीन क्रान्ति से अवाप्त स्वातन्त्र्य की फलश्रुति में इनका योगदान अल्प नहीं है।

"राष्ट्रालोक" का महत्त्व इसलिए भी है कि यह ग्रन्थ कश्मीर शैवदर्शन या प्रत्यभिज्ञादर्शन या त्रिकदर्शन पर आधारित है, जिसके वह सिद्ध आचार्य थे, इसीलिए आचार्यश्री का स्पष्ट संकेत है कि जो भावुक राष्ट्रभक्त इस ग्रन्थ के रहस्य को जानना चाहता है वह आत्मविलास अवश्य पढ़े—

ग्रन्थस्यास्य रहस्यं ये ज्ञातुं वाञ्छन्ति भावुकाः ।
पठन्त्वात्मविलासं ते कामं जितसुत्रामदम् ।। रा. 106

यह ग्रन्थ उन्हें अत्यन्त प्रिय था । सम्बद्ध ज्ञान इन 108 कारिकाओं में बीजारोपित था, पर यह सर्वजनबोधगम्य नहीं हो पा रहा था । अतः आपने प्राञ्जल गद्य में उसका अंकुरण, पल्लवन और पुष्पायन स्वोपज्ञ राष्ट्रसञ्जीवन भाष्य के रूप में किया, जो व्याकरण में "पातञ्जल महाभाष्य" तथा वेदान्त में 'ब्रह्मसूत्र शाङ्कर-भाष्य' की कोटि का है ।

पाण्डित्यप्रकर्ष से युक्त यह भाष्य मात्र 36 कारिकाओं पर प्रथमतः 1992 में हमारे सम्पादकत्व में प्रकाशित हुआ है । प्रस्तुत द्वितीय भाग में भी पूर्ववत् विषयानुक्रमणिका में संकेतित विषयों से सम्बद्ध मूल राष्ट्रसञ्जीवन भाष्य तथा जिन्हें संस्कृत भाषा का ज्ञान नहीं है, उनके लिए हिन्दी अनुवाद सहित भाषासार है । ग्रन्थारम्भ में वृषकेतु, स्वरूप राष्ट्रपुरुष और राष्ट्रदृष्टि को नमस्कार किया गया है (रा. 1–2) तथा भाष्यारम्भ में शैवी चित्कला की वन्दना की गयी है—

अक्षरामिन्दुकलितामुदारां बिन्दुनादिताम् ।
अमृतां वाम्भवां शैवीं तां वन्दे चित्कलामहम् ।।

इसी प्रकार अन्त में अपने राष्ट्रोद्देश्य की सिद्धि का संकेत किया है—

समभ्यस्यन् ग्रन्थमिममाचरंश्च प्रचारयन् ।
राष्ट्रविज्ञानकुशलः स्वातन्त्र्यं प्राप्स्यति ध्रुवम् ।। (रा. 10)

यह स्वातन्त्र्य मिल तो गया और ग्रन्थकर्ता को सुख भी मिला, पर साथ ही प्रशासकीय, सामाजिक और आर्थिक विशृङ्खलता भी उत्तरोत्तर बढ़ती गई, विकासात्मक उत्कर्ष के साथ अपकर्ष आता गया । भ्रष्टाचार, नैतिक पतन, स्वार्थलिप्सा और अहमहमिकया धन बटोरने की लालसा भी बढ़ती गई । इस सबको आपने अपने जीवन काल में बड़े कष्ट से सहन किया था ।

इस ग्रन्थ में राष्ट्रजीवन के सम्यक् समाधान के रूप में वर्णित शाश्वत तथ्य कालातीत और सीमातीत है, अर्थात् राष्ट्रभक्ति राष्ट्रैक्य, राष्ट्र अखण्डता, राष्ट्रशिक्षा, राष्ट्रभाषा, राष्ट्रजन, राष्ट्रकान्ति, राष्ट्रिय न्याय, राष्ट्रसमृद्धि, राष्ट्रवृत्ति, राष्ट्र नीति, राष्ट्रसंरक्षण एवं शान्ति, सशक्त प्रभुसत्ता, ग्रामोत्थान आदि की विवेचना भारत के लिए ही नहीं सम्पूर्ण विश्व के लिए ग्राह्य है, तभी विश्वशान्ति तथा मानवधर्म की परिकल्पना साकार हो सकती है ।

आचार्य जी ने स्वयं फलश्रुति में लिखा है कि यह रचना उन सभी के लिए है, जो विश्वोन्नति की कामना करते हैं—

"ये संसारसमुन्नतिं स्वहृदयात् वाञ्छन्ति तेषां कृते"। (रा. 108)

कविश्री ने राष्ट्रालोक की अवतरणिका में स्वयं लिखा है कि "राष्ट्रवाद का विस्तृत, विवेचन राष्ट्रसंजीवन भाष्य में किया गया है, पाठक वहीं पढ़ें।" वस्तुतः राष्ट्रालोक से बढ़कर इस भाष्य का महत्त्व है, क्योंकि इसमें सूत्ररूप कारिकाओं की विशद व्याख्या ही नहीं है, तत्सम्बद्ध शास्त्रीय ज्ञान तथा धर्मशास्त्र, राजनीति, अर्थशास्त्र, दर्शन, आयुर्वेद, इतिहास, भाषाविज्ञान आदि की वैषयिक सामग्री से भी ओतप्रोत है, भाष्यकार सम्बद्ध समग्र ज्ञान को जैसे अपने पाठकों के लिए उड़ेल देना चाहता है। इस प्रक्रिया में उन्हें सन्तोष नहीं होता और विषय को सरल से सरलतर और सरलतम बनाने का प्रयास करते हैं। यह बात दूसरी है कि यह "मघवा मूल विडोजा टीका" के रूप में कहीं कहीं क्लिष्ट भी हो जाता है। एतदर्थ वे "अयम्भावः" "अयमाशयः" 'अयमभिप्रायः' 'अत्र बोध्यम्' 'अत्र ध्येयम्' 'अयं विशेषः' 'इति ध्वन्यते,' 'अथवैवं व्याख्येयम्' 'किं बहुना' 'इदं तु रहस्यम्' आदि शब्दावली का प्रयोग करते हैं। अतः अनेकत्र मात्र पिष्टपेषण प्रतीत होता है। पर वह सब है ज्ञानविज्ञानप्रद। यहां टीकाकार मल्लिनाथ की शैली में 'नामूलं लिख्यते किञ्चित्,' की भावना से यथावसर यथोपलब्ध उद्धरण भी दिये हैं। हिन्दी में कारिकानुवाद तथा भाष्यसार मात्र विषय और ग्रन्थ को समझने के लिए है। वास्तविकता तो संस्कृत मूल में है, जिससे आचार्यश्री की भूयोविद्यता प्रकट होती हैं, जो उनके समस्त ग्रन्थों में सुप्राप्य है और प्रस्तुत राष्ट्रसंजीवन भाष्य में घनीभूत है। विवेच्य ग्रन्थ के सन्दर्भ में कतिपय बिन्दु यहां प्रस्तुत हैं।

महाराजश्री के इस भाष्य का स्वरूप यह है कि प्रारम्भ में मङ्गलाचरण (जो ऊपर दिये जा चुके हैं) के बाद प्रस्तावना में उसका भाष्य, ग्रन्थनाम की अन्वर्थता और लेखक का नाम भी उल्लिखित हुआ है। इसके बाद प्रत्येक श्लोक से पूर्व संदर्भोल्लेख तथा व्याख्या में पदच्छेद या पदयोजना, पदपर्यायार्थ सुगठित गद्य और प्राञ्जल भाषा में, लिखित टीका में प्रमाणस्वरूप उद्धरणों का उल्लेख है। ये उद्धरण विवेच्य ग्रन्थीय, आत्मविलास, श्रीक्रांतिकौमुदी, सङ्क्रांतिपञ्चदशी, अन्योक्तितारावली, महदनुभवशक्तिस्तव आदि स्वग्रन्थीय, वेद, ईशोपनिषद्, तैत्तिरीयोपनिषद् आदि श्रुत्युपनिषदीय, रामायण, महाभारत मार्कण्डेय पुराण, श्रीमद्भागवत आदि इतिहासपुराणीय, कुमारिलभट्ट, विनयाचार्य, जैमिनीय

मीमांसा, गीता, योगसूत्र, योगवाशिष्ठ, शिवसूत्र, सौन्दर्यलहरी, पञ्चस्तवी आदि दार्शनिक, अष्टाध्यायी, शब्देन्दुशेखर परिभाषेन्दुशेखर, मनोरमा, शब्दकौस्तुभ, काशिका, वाक्यपदीय आदि व्याकरणीय, याज्ञवल्क्य, मनुमिताक्षरादि धर्मशास्त्रीय, पञ्चतन्त्र, नीतिशतक आदि नीतिशास्त्रीय, तन्त्रालोक, महोल्लास, विश्वसार तथा अन्य तन्त्र आदि तान्त्रिक, अमरकोश हलायुध आदि कोशीय, रघुवंश, किरातार्जुनीय, शिशुपालवध, शाकुन्तल, मृच्छकटिक आदि काव्यगत तथा प्रकीर्ण रूप में विविध एवं प्रचुर हैं (द्रष्टव्य–परिशिष्ट–2)।

इसके अतिरिक्त आयुर्वेद ज्योतिष, कामशास्त्र, इतिहास, राजनीति, दर्शन, निरुक्त, व्याकरण व्युत्पत्तिसिद्धि, भाषाविज्ञान, तन्त्र, पर्यावरण, विविध सम्प्रदाय आदि का उल्लेख हुआ है। इस सबसे भाष्य निश्चय ही गरिमामय, सुबोध और ज्ञानवर्धक हो गया है। बाबा महाराज की विवेच्य शैली भी बड़ी तार्किक, प्रभावशालिनी और समग्रता से पूर्ण है। साथ ही "छिन्ने मूले नैव पत्रं न शाखा" (रा. भा. प्रथम भाग पृ. 90) "अङ्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत् (रा. भा. प्रथम भाग पृ. 191) आदि लोकोक्तियों के प्रयोग से उसमें प्रवाहमयता लाने का प्रयास किया गया है।

राष्ट्र की सुस्पष्ट परिभाषा इस कारिका में दी गई है—

समानसंस्कृतिमतां यावती पितृपुण्यभूः।
तावतीं भुवमावृत्य राष्ट्रमेकं निगद्यते ॥ (रा. 3)

यहां राष्ट्रविरुद्ध कार्य करने वाले को अराष्ट्रिय कहा गया है। विदेशी शासक, आक्रान्ता तथा उत्कोचग्राही और राष्ट्रविरोधी भी अराष्ट्रिय है। (रा 64, रा. भा द्वितीय भाग पृ. 168–170)।

इसी प्रकार द्विविध राष्ट्रजात आर्य और अनार्य उनकी द्विविध शक्ति-अनुग्रहरूपा और निग्रहरूपा, चतुर्विध लोक सर्वतोभद्र, एकतोभद्र, एकतोऽभद्र, सर्वतोऽभद्र, चतुर्विध मनुष्य शुद्धमस्तिष्क, शुद्धहृदय, शुद्धमस्तिष्क अशुद्धहृदय, अशुद्ध मस्तिष्क शुद्धहृदय, अशुद्धमस्तिष्क अशुद्ध हृदय (रा. भा. प्रथम भाग 28) राष्ट्र और चतुर्युगी का समीकरण (रा. भा. प्रथम भाग पृ. 138)।

आयराष्ट्रवाद प्रधान – कृतयुग – मोक्षप्रधान–ब्रह्मयुग।
आर्य राज्यवाद प्रधान-त्रेतायुग–धर्मप्रधान–क्षेत्रयुग ।।
अनार्य राष्ट्रवाद प्रधान–द्वापरयुग–अर्थप्रधान–वैश्ययुग।
अनार्यराज्यवादप्रधान-कलियुग–कामप्रधान–शूद्रयुग ।।

आदि व्यावहारिक एवं मौलिक वर्गीकरण किये हैं । पुरुषार्थचतुष्टय में मोक्ष को सर्वोपरि माना है, क्योंकि वह शैवदर्शन के स्वातन्त्र्य का पर्याय है ।

राष्ट्र के योगक्षेम के लिए राष्ट्रकोश की संस्थापना करनी चाहिए । इसके लिए प्रतिव्यक्ति प्रतिवर्ष आय का दशमांश होना चाहिए । राष्ट्रव्यापार के संरक्षण के लिए व्यापार-नियम मूल्य-स्थापना, मुद्रा-व्यवस्था, शुल्क-योजना आदि का निर्धारण राष्ट्रिय स्तर पर करना चाहिए । (रा. 80, रा. भा. II पृ. 276–283) ।

आचार्य जी ने शास्त्रावगाहन और राष्ट्र-संरक्षण के लिए शिक्षा की आवश्यकता बताई है । शिक्षा पर उनके मौलिक विचार हैं । उन्होंने शिक्षा को अभ्युदय और निःश्रेयसपरक धर्म बताया है । जो शिक्षा केवल उदरपूर्ति करती है, वह शिक्षा नहीं है । (रा. भा. I पृ. 100) । जो शिक्षा ज्ञान-विज्ञान के लिए प्रवर्तित होती है, वही वास्तविकी शिक्षा है । (रा. भा. I पृ. 100) इस ज्ञान-विज्ञान की परिभाषा, स्वयं ग्रन्थकार ने अपने किसी ग्रन्थ में की हैं और उसे यहां उद्धृत किया है—

ज्ञान तदुच्यते येन सदसद्वस्तुनिश्चयः ।
यथष्टं वस्तुनिर्माणशक्तिः विज्ञानमुच्यते ।। (रा. भा. I पृ. 174)

अर्थात् सत्-असत् वस्तु का निश्चय हो जाय, वह ज्ञान है तथा जिसमें भाव-निर्माणशक्ति हो, वह विज्ञान है ।

अन्य एक उद्धरण के माध्यम से शिक्षा की कारणसामग्री का उल्लेख कया है—

आचार्य-पुस्तक-निवास-सहाय-भिक्षाः ।
बाह्यास्तु पञ्च पठनाय हिता भवन्ति ।।
आरोग्य-बुद्धि-पटुतोद्यमशास्त्ररागाः ।
पञ्चान्तराः पठनवृद्धिकरा भवन्ति ।।

(रा. भा. I पृ. 114)

राष्ट्र में बालशिक्षा के सुदृढ़ करने के लिए प्रत्येक ग्राम में पाठशाला की स्थापना और राष्ट्रभाषा तथा धर्म्यभाषा का अध्यापन अभीप्सित है । (रा. 26) इसी प्रकार प्रतिमण्डल महाविद्यालय-स्थापना (रा. 27) सहशिक्षा मात्र आठ वर्षों तक, समृद्ध पुस्तकालय-वाचनालय-व्यवस्था (रा. 38) सतत रचनाधर्मिता आदि पर आचार्य श्री ने निर्देश दिये हैं (रा. भा. II पृ. 17–19) ।

विद्यालय-स्थापना के सन्दर्भ में वे पर्यावरण-संरक्षण की बात भूले नहीं है—"वनशोभिनि" इत्यनेन ब्राह्यसंस्कारमण्डलस्याऽप्यतीव विशुद्धिरतीवावश्यकेति ध्वन्यते। (रा. भा. I पृ 178)।

भाष्य में युगधार्मिता के भी बिन्दु प्राप्त होते हैं, साहित्यकार अपने युग का प्रतिनिधि जो होता है। राष्ट्रहित के संदर्भ में आप कहते हैं कि सभी अपना हित चाहते हैं, परहित नहीं–"सर्वोऽपि हि नाम स्वहितमेव वाञ्छति परहितं तु प्रायो न कोऽपि समीहते (रा. भा. I पृ. 52)। हां, सर्वतोभद्र नीतिप्रधान अवश्य दूसरों का अहित नहीं करते।

आज राष्ट्रघाती उग्रवादियों का चतुर्दिक् बोलबाला है। इन पर भी बाबाजी ने शास्त्रीय विचार किया है। उनको 12 प्रकार का बताया है (रा. भा. I पृ. 76) 1. अज्ञानी स्वराष्ट्रघ्न 2. ज्ञानी स्वराष्ट्रघ्न 3. अज्ञानी परराष्ट्रघ्न 4. ज्ञानी परराष्ट्रघ्न 5. अज्ञानी स्वराष्ट्रघातक 6. ज्ञानी स्वराष्ट्रघातक 7. अज्ञानी परराष्ट्रघातक 8 ज्ञानी परराष्ट्रघातक 9. अज्ञानी स्वराष्ट्रघातनशील 10. ज्ञानी स्वराष्ट्रघातनशील 11 अज्ञानी परराष्ट्रघातनशील 12. ज्ञानी परराष्ट्रघातनशील। इनमें पाप की मात्रा उत्तरोत्तर अधिक होती जाती है।

राष्ट्रपोषण में रक्तदान की महिमा का भी संकेत किया गया है, यह युद्धभूमि में स्वराष्ट्रहित में मरण रूप भी हो सकती है और आहतों की रक्षा रूप भी। उनका कथन है—"स्वरक्तमपि दत्वा निजराष्ट्रस्य पोषणमेव कार्यम्" (रा. भा. I पृ. 237)।

अधिक क्या? इस भाष्य की प्रत्येक पंक्ति अपना महत्त्व रखती है। इसका सम्यक् अनुशीलन ज्ञानेच्छु व्यक्तियों को करना चाहिए। परात्पर (शिव—राष्ट्र) की पूर्ण उपस्थिति के लिए यह आवश्यक भी है।

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, ग्रन्थ का यह द्वितीय भाग 37 से 108 तक की कारिकाओं तथा तद्गत विस्तृत "राष्ट्र संजीवन भाष्य" से सम्बद्ध है। प्रस्तुत ग्रन्थ उन सभी शुभचिन्तकों का प्रतिफलन है, जिन्होंने प्रथम भाग

की आंशिकता पर शीघ्र प्रकाशन की आशा व्यक्त की थी। पाण्डुलिपिगत तथा मुद्रणगत कठिनाइयों के कारण जो विलम्ब हुआ, उसके लिए हम क्षमा के अभिलाषी हैं। ग्रन्थ की पूर्णता के लिए प्रथम भाग की प्रथम 36 कारिकाएँ भी सानुवाद दी जा रही हैं, इससे सुविज्ञ पाठकों को सुविधा रहेगी।

अन्ततः भारतीय स्वातन्त्र्य-प्राप्ति की स्वर्ण जयन्ती के अवसर पर इस ग्रन्थ के प्रकाशन से हम अति प्रसन्न हैं और इसके प्रणेता साक्षात्कृतधर्मा ऋषि-प्रवर के प्रतिनतमस्तक हैं—

श्रीमदमृतवाग्भवाचार्याय विमलात्मने ।
ग्रन्थं समर्प्य हार्देन भूयोभूयः प्रणम्यते ॥

मातृशरणम्
ए–65,
जनता कालोनी, जयपुर

– डा. शिवसागर त्रिपाठी
संस्कृत-विभागाध्यक्षचर
राजस्थान विश्वविद्यालय
जयपुर

———

अनुक्रमणिका

मूलविषयाः	श्लोकसंख्या	पृष्ठसंख्या
मंगलाचरणम्	1	i
राष्ट्रदृष्टिः	2	i
राष्ट्र-परिभाषा	3	i
राष्ट्र-स्वत्वम्	4–5	ii
राष्ट्र-सुखम्	6	ii
राष्ट्र-अपमानम्	7	ii
राष्ट्रिय-दौर्भाग्य-कारणम्	8	ii
अधम-मानव-लक्षणम्	9–10	iii
राष्ट्र-पतन-कारणानि	11–14	iii–iv
राष्ट्र-शिक्षा-माहात्म्यम्	15–21	iv- v
स्वतन्त्र-राष्ट्र-लक्षणम्	22–23	v
भाषाज्ञानक्रमः	24	v
राष्ट्र-भाषा	25	vi
शिक्षा-निरूपणम्	26–33	vi–vii
राष्ट्र-बालकाः	34–36	viii
राष्ट्रोन्नतिसाधनानि	37	1
राष्ट्रोन्नतिसाधनानि	38	7
राष्ट्रोन्नतिसाधनानि	39	12
राष्ट्रोन्नतिसाधनानि	40	21
राष्ट्रोन्नतिसाधनानि	41	27
राष्ट्रोन्नतिसाधनानि	42	32
राष्ट्रोन्नतिसाधनानि	43	35

मूलविषया:	श्लोकसंख्या	पृष्ठसंख्या
राष्ट्र-नेता	44	41
राष्ट्र-परिषद्	45	47
राष्ट्र-परिषद्	46	54
वृत्तिप्रशंसा	47	61
भृतिनिन्दा	48	66
भृति-वृत्ति-भेद	49	75
राष्ट्रियवृत्ति:	50	84
पङ्गु अन्धादीनां व्यवस्था	51	90
पङ्गु अन्धादीनां व्यवस्था	52	94
भिक्षुदण्डनम्	53	97
गुप्तचरव्यवस्था	54	102
गुप्तचरव्यवस्था	55	109
संचारव्यवस्था	56	116
पशुचरभूम्यादिस्थापना	57	122
राष्ट्र-शासक:	58	127
राष्ट्र-नियम प्रणेता	59	134
राष्ट्र-नियम प्रणेता	60	135
अराष्ट्रियनियामका:	61	152
अराष्ट्रियनियामका:	62	160
राष्ट्रनाशका:	63	164
अयोग्यशासका:	64	168
अयोग्यशासका:	65	171
निषिद्ध-नियम-प्रणेता	66	176
राष्ट्र-कल्याणकम्	67	181
राष्ट्र-सुखम्	68	187
निन्द्यराष्ट्रियशासनम्	69	192
निन्द्यराष्ट्रियशासनम्	70	200

मूलविषया:	श्लोकसंख्या	पृष्ठसंख्या
निन्द्यपण्डिता:	71	212
अपण्डिता:	72	219
निन्द्यतमा:	73	227
निन्द्यतमा:	74	234
श्ववृत्त्या मरणं वरम्	75	240
अराष्ट्रियसाहाय्यं हानिकारकम्	76	250
अराष्ट्रियसाहाय्यं हानिकारकम्	77	255
निषिद्धन्यायाधीशा:	78	262
राष्ट्र-कोष:	79	269
राष्ट्रियकार्याणि	80	276
स्वदेशवस्तुव्यवहार:	81	283
भिक्षया स्वातन्त्र्यं नैव	82	293
राष्ट्र-शक्ति:	83	299
राष्ट्रघातिन:	84	304
शान्ति-परिभाषा	85	310
आर्यविगर्हिता:	86	316
आर्यपरिभाषा	87	322
अनार्यकर्माणि	88	328
क्रान्तिद्वैविध्यम्	89	333
श्रेष्ठ-क्रान्ति स्वरूपम्	90	338
दुष्ट-क्रान्ति स्वरूपम्	91	344
आततायिनिरूपणम्	92	352
अराष्ट्रियाततायित्वम्	93	357
राष्ट्र-संरक्षणे समर्था:	94	362
श्रेष्ठ-क्रान्ति-प्राशस्त्यम्	95	366
दुष्टक्रान्तिनिन्दनम्	96	371
आततायि-विनशनम्	97	376

मूलविषयाः	श्लोकसंख्या	पृष्ठसंख्या
चोरदस्युवृत्तेरपि प्राशस्त्यम्	98	381
शौर्यस्य क्लीबत्वम्	99	386
धन्यपुरुषाः	100	392
राष्ट्रियकुलजन्मप्राशस्त्यम्	101	399
आततायिदण्डकानां प्राशस्त्यम्	102	403
श्रेष्ठतमाः पुरुषाः	103	408
आत्मघातिनः	104	413
महामूर्खलक्षणम्	105	418
ग्रन्थरहस्यजिज्ञासवः	106	420
ग्रन्थप्रशंसा	107	426
ग्रन्थप्रशंसा	108	429

त्रुटि सुधार

श्रीमद् अमृतवाग्यवाचार्य प्रणीत श्रीराष्ट्रालोक (श्रीराष्ट्रसंजीवन भाष्य सहित) के पूर्व प्रकाशित प्रथम खण्ड के आवरण पृष्ठ के मुद्रण में हुई त्रुटियों की ओर ध्यान आते ही प्रथम खण्ड के आवरण पुनर्मुद्रित करवा कर प्रतिस्थापित किए गए। फिर भी, तब तक कई प्रतियां पाठकों तक पहुंच गई थी। अतः निवेदन है कि उन प्रतियों के आवरण पृष्ठ के पार्श्व में "सम्पादक द्वारा डा. शिव सागर त्रिपाठी एवं श्री पदम शास्त्री" के स्थान पर ग्रन्थ प्रणेता "श्रीमद् अमृतवाग्यवाचार्य" मुद्रित माना जाए।

श्रीमदमृतवाग्भवाचार्यप्रणीतः

श्रीराष्ट्रालोकः

[राष्ट्रभाषाऽनुवादसहितः]

ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए शिष्टाचारपरम्पराप्राप्त प्रारम्भ में मङ्गलाचरण तथा समस्त ग्रन्थका तात्पर्य बीजरूप से सम्बोधित करने के लिए तन्त्र से पहली कारिका लिखी गई है।

चतुर्णां पुरुषार्थानां हेतवे वृषकेतवे ॥
पितृपुण्यभुवे तस्मै स्वराष्ट्राय नमो नमः ॥1॥

धर्म अर्थ काम तथा मोक्ष नामक चारों पुरुषार्थों के साधन, पिता, पितामह आदि अपने पूर्वजों के तथा अपने पुण्य के उत्पत्ति-स्थान, अत्यन्त प्रसिद्ध वृषकेतु रूप स्वराष्ट्र को बारम्बार प्रणाम है ॥1॥

अनुबन्धचतुष्टय के निरूपण के लिये दूसरी कारिका लिखी जा रही है—

राष्ट्रदृष्टिं नमस्यामो राष्ट्रमङ्गलकारिणीम् ॥
यया विना न पश्यन्ति राष्ट्रं स्वनिकटस्थितम् ॥2॥

राष्ट्रका मङ्गल करने वाली राष्ट्रदृष्टि को हम नमस्कार करते है, जिस राष्ट्रदृष्टि के विना अपने पास ही रहने वाले भी राष्ट्र को नहीं देखते हैं ॥2॥

राष्ट्र किसको कहना चाहिये तथा उसका विभाग कैसे हो सकता है—

समानसंस्कृतिमतां यावती पितृपुण्यभूः ॥
तावतीं भुवमावृत्य राष्ट्रमेकं निगद्यते ॥3॥

समान संस्कृति वाले लोगों की जितनी पितृपुण्यभूमि होती है, उतनी भूमि को घेर कर एक 'राष्ट्र' कहा जाता है ॥3॥

किस राष्ट्र पर किन लोगोंका अपनापन होता है तथा किन पर नहीं ?—

पितृपुण्यभुवं राष्ट्रं यन्मन्यन्ते च ये नराः ।।
तेषां नराणां राष्ट्रं तत्स्वीयं भवति सर्वथा ।।4।।

जो लोग जिस राष्ट्र को सभी प्रकार से पितृभूमि तथा पुण्यभूमि मानते हैं, वह राष्ट्र उन लोगों का सभी प्रकार से अपना होता है ।।4।।

पितृभूत्वं पुण्यभूत्वं द्वयं यस्य न विद्यते ।।
तस्य स्वत्वं तत्र राष्ट्रे भवितुं न किलाऽर्हति ।।5।।

जिस राष्ट्र में जिस पुरुष के पितृभूत्व तथा पुण्यभूत्व दोनों नहीं होते; उस पुरुष का उस राष्ट्र में अपनापन नहीं होता. यही निर्णय है ।।5।।

किस प्रकार का राष्ट्र सुखकर होता है ?—

पुमर्थसाधनं तद्वत् पुमर्थफलदायकम् ।।
यदि स्वतन्त्रं स्वं राष्ट्रं नाऽन्यथा मङ्गलप्रदम् ।।6।।

यदि स्वराष्ट्र स्वतन्त्र हो तभी चारों पुरुषार्थों का साधन तथा चारों पुरुषार्थों को देने वाला होता है, अन्यथा (परतन्त्र होने पर) वह मङ्गल देने वाला नहीं होता, प्रत्युत अमङ्गल देने वाला ही हो जाता है ।।6।।

किस राष्ट्र का अपमान होता है ?—

यस्य राष्ट्रस्य कोपो वा प्रसादो वा निरर्थकः ।।
तद्राष्ट्रमवमन्यन्ते पतिं षण्ढं यथा स्त्रियः ।।7।।

उस राष्ट्र का लोग अपमान करते हैं, जिस राष्ट्र का कुपित होना या प्रसन्न होना निरर्थक होता है। जैसे नपुंसक पति का स्त्रियां अपमान करती हैं ।।7।।

राष्ट्रियों के दौर्भाग्य के क्या कारण हैं ? –

दरिद्रास्तेऽतिदुर्भाग्या रोगैस्ते समभिप्लुताः ।।
येषां नराणां सा राष्ट्रहितदृष्टिर्न विद्यते ।।8।।

राष्ट्र का हित करने वाली वह दृष्टि जिन पुरुषों को नहीं होती, वे पुरुष दरिद्री अति दुर्भाग्य तथा रोगों से घिरे होते हैं ॥8॥

अधम मानव कौन से होते हैं ?—

मानवानां कुले जन्म लब्ध्वा यैरर्जिता न हि ॥
राष्ट्रदृष्टिः पुच्छहीनाः कोलास्त गूथभक्षिणः ॥9॥

मनुष्यों के वंश में जन्म पाकर भी जिन्होंने वह राष्ट्रदृष्टि नहीं पाई, वे विष्ठा-भक्षण करने वाले विना पूंछ के शूकर हैं ॥9॥

ग्रस्तं राष्ट्रग्रहपतिं दुष्टाऽराष्ट्रियराहुणा ॥
राष्ट्रदृष्टिविहीनास्तु कथं पश्यन्तु कौशिकाः ॥10॥

दुष्ट अराष्ट्रियरूपी राहु से ग्रसे हुए राष्ट्ररूपी ग्रहपति सूर्य को राष्ट्रदृष्टिसे रहित (अन्धे) उल्लू किस प्रकार देखें ॥10।

राष्ट्रपतन में क्या कारण होते हैं ?—

अराष्ट्रियकराऽऽक्रान्त तद् राष्ट्रं जायते ध्रुवम् ॥
यत्र राष्ट्रे वर्त्तमानाश्चाण्डाला राष्ट्रघातिनः ॥11॥

जिस राष्ट्र में राष्ट्रघाती चाण्डाल जीवित रहते हैं, वह राष्ट्र अराष्ट्रियों के करों से आक्रान्त हो जाता है। यह निश्चय है ॥11॥

पारतन्त्र्यस्य निगडं दृढीकुर्वन्ति ते नराः ॥
ये राष्ट्रार्थं न जानन्ति मर्त्तुमात्मविरोधिनः ॥12॥

जो लोग राष्ट्र के लिए मरना नहीं जानते, वे परतन्त्रता की बेड़ी को सुदृढ़ करने वाले अपने ही शत्रु हैं ॥12॥

स्वमङ्गलसमाशंसी यः स्वरा ट्रमुपेक्षते ॥
स बुभुक्षानिवृत्यर्थं विषमेवात्ति केवलम् ॥13॥

अपना कल्याण चाहने वाला जो पुरुष अपने राष्ट्रकी उपेक्षा करता है, भूख को मिटाने के लिए निश्चय से वह विष खा रहा है ॥13॥

द्रुह्यन्ति ये स्वराष्ट्राय कामयन्ते च मङ्गलम् ।।
पोतच्छिदो विनश्यन्ति यथा सिन्धुं तितीर्षवः ।।14।।

अपने राष्ट्र के साथ तो द्रोह करते हैं, पर चाहते हैं कि हमारा मङ्गल हो, वे पुरुष समुद्र के पार जाने की इच्छा रख कर पोत (समुद्री जहाज) को तोड़ डालने वालों के समान नष्ट हो जाते हैं ।।14।।

राष्ट्र-शिक्षा का माहात्म्य क्या है ?—

राष्ट्रस्योत्थानपतने राष्ट्रियानवलम्ब्य हि ।।
भवतस्सर्वदा तस्माच्छिक्षणीयास्तु राष्ट्रियाः ।।15।।

राष्ट्र का उत्थान तथा पतन राष्ट्रियों के ऊपर ही अवलम्बित है। अतएव राष्ट्रिय सर्वदा शिक्षा सम्पन्न होने चाहियें ।।15।।

स्वराष्ट्रशिक्षां गृह्णीयाच्चिकीर्षुः स्वां समुन्नतिम् ।।
दूरदृष्टिर्यया भूत्वा न कदाऽपि विषीदति ।।16।।

अपनी अच्छी प्रकार की उन्नति चाहने वाला पुरुष स्वराष्ट्रशिक्षा ग्रहण करे, जिस स्वराष्ट्रशिक्षा से दूर दृष्टि हो कर कभी भी खेद नहीं करता ।।16।।

सदाऽऽचरन्तः कार्याणि राष्ट्रशिक्षाञ्जनाऽञ्जिताः ।।
इहाऽमुत्र च सौभाग्यं प्राप्नुवन्ति नरोत्तमाः ।।17।।

राष्ट्रशिक्षारूपी अञ्जन को आंखों में आंज कर सर्वदा कार्य करने वाले नरश्रेष्ठ इस लोक में तथा उस लोक में भी सौभाग्य प्राप्त करते हैं ।।17।।

राष्ट्रियज्ञानसम्पन्नान् पुरुषानवलम्ब्य ये ।।
समाचरन्ति कार्याणि दुःखान्तं यान्ति तेऽपि वै ।।18।।

जो लोग राष्ट्रियज्ञानसम्पन्न पुरुषों का आश्रय लेकर कार्यों को अच्छी प्रकार करते हैं, उनका भी दुःख अवश्य ही नष्ट हो जाता है ।।18।।

राष्ट्रियज्ञानहीनानां राष्ट्रियद्वेषिणां तथा ॥
गर्तपातं विहायैकं न किञ्चिदपि विद्यते ॥19॥

राष्ट्रियज्ञान से हीन तथा राष्ट्रियों के साथ द्वेष करने वालों को गढ़े में गिरना छोड़ कर और कुछ भी लाभ नहीं होता ॥19॥

भुक्तिमुक्तिप्रदं राष्ट्रं नरो यो नाऽवमन्यते ॥
सर्वसम्पन्निधानानि लभतेऽसौ महायशाः ॥20॥

अधिक से अधिक सुखभोग तथा स्वातन्त्र्य को देने वाले राष्ट्र का जो नर अपमान नहीं करता, वह महान् कीर्तिशाली पुरुष सम्पूर्ण सम्पदाओं के निधानों को प्राप्त करता हैं ॥20॥

यस्मिन्राष्ट्रे न विद्यन्ते राष्ट्रियज्ञानशिक्षकाः ॥
आशु नश्यति तद्राष्ट्रं भुजङ्गो निर्विषो यथा ॥21॥

जिस राष्ट्र में राष्ट्रियज्ञान के शिक्षक विद्यमान नहीं होते, वह राष्ट्र निर्विष सांप के समान शीघ्र नष्ट हो जाता है ॥21॥

स्वतन्त्र राष्ट्र कौन से समझने चाहिये ?—

परराष्ट्रस्य सम्बन्धः सेना कोषश्च सर्वथा ॥
यत्र हस्ते राष्ट्रियाणां स्वतन्त्रं राष्ट्रमस्ति तत् ॥22॥

परराष्ट्र का सम्बन्ध, सेना, और कोष सब प्रकार से जिस राष्ट्र में राष्ट्रियों के हाथ में होता है, वह राष्ट्र स्वतन्त्र है ॥22॥

स्वतन्त्रमेतत्त्रयं स्याद्यत्र राष्ट्राणि तानि तु ॥
राष्ट्रसंख्यां हि गच्छन्ति कर्षन्ति च महद्यशः ॥23॥

जिन राष्ट्रों में ये तीनों वस्तुएं स्वतन्त्र होती हैं, वे ही राष्ट्र राष्ट्रों की गणना में आते हैं। तथा महान् यश को अपनी ओर खींचते हैं ॥23॥

भाषाएं किस क्रम से सीखनी चाहिये ?—

मनुष्यमात्रः स्वामादौ राष्ट्रभाषां ततोऽभ्यसेत् ॥
ततो धर्म्यग्रन्थभाषां ततोऽन्या राष्ट्रपोषिणीः ॥24॥

सभी मनुष्य अपनी भाषा (मातृभाषा) को सबसे पूर्व पढ़ें, तदनन्तर राष्ट्रभाषा का अभ्यास करें। उसके पश्चात् धर्म्यंग्रन्थभाषा का, तदनन्तर राष्ट्र को पोषण करने वाली अन्यान्य भाषाओं का अभ्यास करें ।।24।।

इन भाषाओं के अभ्यास में भी राष्ट्रभाषाका अध्ययन अत्यावश्यक है—

राष्ट्रभाषा शिक्षणीयाऽवश्यं राष्ट्रहितैषिणा ।।
स्थविरेणाऽपि सा पूर्णं हितं तस्य विधास्यति ।।25।।

राष्ट्रहितैषी बूढ़ा हो गया हो, तो भी राष्ट्रभाषा अवश्य सीखे, वह राष्ट्रभाषा सीखने वाले का हित अवश्य पूर्ण करेगी ।।25।।

शिक्षा के लिए क्या क्या करना चाहिये ?—

प्रतिग्रामं पाठशाला स्थापनीया प्रयत्नतः ।।
राष्ट्रभाषां धर्म्यभाषां बालकान्पाठयेद् गुरुः ।।26।।

प्रत्येक ग्राम में पाठशाला स्थापित करनी चाहिए। गुरु बालकों को राष्ट्रभाषा तथा धर्म्यभाषा पढ़ाए ।।26।।

मण्डले मण्डले स्थाप्य एको विद्यालयो महान् ।।
विशुद्धवाताऽऽवरणे विजने वनशोभिनि । 27।।

सभी प्रकार से विशुद्ध वातावरण वाले एकान्त तथा वन से सुशोभित स्थान में प्रत्येक मण्डल में एक महान् विद्यालय स्थापित करना चाहिये ।।27।।

पूर्णाष्टवर्षका बालाः पठेयुर्ब्रह्मचारिणः ।।
संरक्षिता भिषग्वर्यैराविंशत्यब्दपूरणात् ।।28।।

उन विद्यालयों में बीस वर्ष वय (आयु) पूर्ण होने पर्यन्त वे बालक ब्रह्मचर्य व्रत धारण करके पढ़ें, जिनके वय के आठ वर्ष पूर्ण हुए हों तथा श्रेष्ठ वैद्यों से वे संरक्षित हों ।।28।।

अतीतचतुरब्दानामाष्टमाब्दप्रपूरणात् ।।
ग्रामोणपाठशालायां बालानां पाठनं हितम् ।।29।।

चार वर्ष से आठवर्ष तक के बालकों तथा बालिकाओं को गांव की पाठशाला में पढ़ाना हित कर है ।।29।।

विशुद्धचरिता वृद्धा आष्टमाब्दान्तमेव तु ।।
एकत्र बालिकाबालान् पाठयेयुस्ततो न हि ।।30।।

आठ वर्ष वय पूर्ण होने पर्यन्त ही बालक तथा बालिकाओं को एक स्थान में पढ़ाया जाए। आठ वर्ष के पश्चात् नहीं। बच्चों के अध्यापक स्त्रियां हों अथवा पुरुष, पर होवें वे वृद्ध तथा विशुद्धचरित्र ।।30।।

अपूर्णषोडशाब्दानां बालानां नैव शंसिताः ।।
युवानोऽध्यापकास्तेषां वृद्धाः सुचरिता हिताः ।।31।।

सोलह वर्ष वय के पूर्ण होने पर्यन्त उन बालकों के अध्यापक जवान कथमपि योग्य नहीं होते। सुचरित्र तथा बूढ़ें ही अध्यापक उनके लिए हितकर हो सकते हैं ।।31।।

वृद्धाभिः सुचरित्राभी राष्ट्रियाभिस्तु बालिकाः ।।
गृह्यराष्ट्रज्ञानकार्यदक्षाः कार्याः प्रयत्नतः ।।32।।

बालिकाएं गृहसम्बन्धिज्ञान तथा कार्यों में और राष्ट्रसम्बन्धिज्ञान तथा कार्यों में प्रयत्न से दक्ष बनाई जाएं, उनकी अध्यापिकाएं बूढ़ी सुचरित्र तथा राष्ट्रिय होनी चाहिएं ।।32।।

स्थापनीयः प्रयत्नेन मण्डले मण्डले महान् ।।
विद्यालयोऽध्यापयितुं राष्ट्रियान् रणकौशलम् ।।33।।

राष्ट्रियों को रणकौशल सिखाने के लिए मण्डल मण्डल में प्रयत्न पूर्वक महान् विद्यालय स्थापित करना चाहिए ।।33।।

राष्ट्रबालक कैसे होने चाहिएं ?—

विधातव्याः प्रयत्नेन रणनीतिविशारदाः ।।
संरक्षितब्रह्मचर्या यावन्तो राष्ट्रबालकाः ।।34।।

राष्ट्र के सम्पूर्ण बालकों को उनके ब्रह्मचर्य का पूर्ण संरक्षण करते हुए प्रयत्न से रणनीति में विशारद बनाया जाए ।।34।।

शक्तित्रयवतः शान्तान् विनीतान्समदर्शिनः ।।
अपि स्वरक्तदानेन निजराष्ट्रस्य पोषकान् ।।35।।

राष्ट्रभाषाधर्म्यंभाषाकुशलानर्थकोविदान् ।।
राष्ट्रकल्याणमिच्छन्तो रचेयू राष्ट्रबालकान् ।।36।।

राष्ट्र का कल्याण करने की इच्छा करने वाले नेता लोग राष्ट्र बालकों को तीनों शक्तियों से सम्पन्न, शान्त, नम्र, नीति में विशेष निपुण, समदर्शी, अपना रुधिर देकर भी राष्ट्र का पोषण करने वाले, राष्ट्रभाषा तथा धर्म्यभाषा में कुशल तथा अर्थकोविद बनायें ।।35.36।।

———

श्रीमदमृतवाग्भवाचार्यप्रणीतः

श्री राष्ट्रालोकः

[श्रीराष्ट्सञ्जीवन-भाष्य-सहितः]

द्वितीयो भागः

श्रीमदमृतवाग्भवाचार्यप्रणीतस्य श्रीराष्ट्रसञ्जीवनभाष्यसहितस्य हिन्दीभाषासारयुतस्य 'श्रीराष्ट्रालोकस्य', प्रथमतः समुपलब्धानां षट्त्रिंशत्कारिकाणामास्वादनं राष्ट्रियैः सुधीपाठकैः पूर्वं प्रथमभागे कृतमेव। तथापि ग्रन्थस्य विषयस्य च नैरन्तर्याय पाठकसौविध्याय च सानुवादाः ताः पूर्वपृष्ठेषु प्रदत्ताः। सम्प्रति ग्रन्थस्यास्य द्वितीयो भागः सप्तत्रिंशतमीकारिकातः प्रारभ्यते)।

अक्षरामिन्दुकलितामुदारां बिन्दुनादिताम्।
अमृतां वाग्भवां शैवीं तां वन्दे चित्कलामहम्॥

एवं स्वराष्ट्रसमुन्नत्यै स्वराष्ट्रशिक्षा साङ्गोपाङ्गा सोपक्रमोपसंहारा निरूपिता। अथाऽन्यान्यपि समुन्नतिसाधनानि राष्ट्रस्य निरूपणीयानीति समालोच्याह—

राष्ट्भाषा धर्म्यभाषा पुस्तकालययोजना।
ग्रामे ग्रामे विधातव्या राष्ट्रियै राष्ट्वर्धकैः॥37॥

(श्रीमदमृतवाग्भवाचार्यप्रणीत, श्रीराष्ट्रसञ्जीवनभाष्यसहित और हिन्दी भाषासार से युक्त 'राष्ट्रालोक' की प्रथमतः उपलब्ध छत्तीस कारिकाओं का आस्वादन राष्ट्रभक्त सुधी पाठक पहले प्रथम भाग में कर चुके हैं। तथापि ग्रन्थ और विषय की निरन्तरता और पाठकों की सुविधा के लिए उन्हें सानुवाद पूर्व पृष्ठों में दे दिया गया है। सम्प्रति ग्रन्थ का द्वितीय भाग सैंतीसवीं कारिका से प्रारम्भ हो रहा है)।

प्रस्तुत कारिका में राष्ट्र की उन्नति के साधन बताए गए हैं।

राष्ट्रभाषा धर्म्यभाषा पुस्तकालययोजना।
ग्रामेग्रामे विधातव्या राष्ट्रियै राष्ट्रवर्धकैः॥37॥

राष्ट्रेति। राष्ट्रवर्धकैः—राष्ट्रियैः,—ग्रामे-ग्रामे—राष्ट्रभाषाधर्म्य-भाषापुस्तकालययोजना विधातव्या। इति पदयोजनिका।

'राष्ट्रवर्धकैः'—राष्ट्र=पूर्वोक्तलक्षणलक्षितम्। तस्य वर्धकाः=उन्नतिकारिणः तैः 'राष्ट्रियैः'=चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धिभिः 'ग्रामे-ग्रामे'=मनुष्यसमुदायवसतिस्थानताऽवच्छेदकाऽवच्छिन्ने 'राष्ट्रभाषाधर्म्य-भाषापुस्तकाऽऽलययोजना—राष्ट्रभाषा=व्याख्यातलक्षणा धर्म्यभाषा-ऽपि व्याख्यातक्षणा। तयोर्द्वन्द्वः तयोः पुस्तकानि=ग्रन्थाः तेषां आलयाः=मन्दिराणि तेषां योजना=निर्माणं विधातव्या'=कार्या इति। अत्रेदं बोध्यम्—सर्वेषामपि मनुष्याणां समुन्नतिस्तावच्छिक्षायत्तेति तु निर्विवादमेव। सा च यावज्जीवं गृह्यते एव मनुष्यमात्रैस्तेषां ज्ञानप्रधा-नस्वभावत्वात्। तत्र शिक्षायां भाषा प्रधानं कारणम्। भाषाद्वारैव खलु सर्वोऽपि व्यवहारः सिद्ध्यति तामन्तरेण व्यवहारो नैव निष्पद्यते इत्यादि निरूपितं पूर्वम्। सा च परोक्षव्यवहाराय लिपिरूपेण कल्पते इत्यपि लिखितमेव। विद्वांसो हि स्वाऽनुभूतान् स्वमतान् स्वश्रुतान् सर्वथाऽपि स्वहृदयस्थितान् विचारान् परोक्षाणां ज्ञानाय साङ्केतिकै-रक्षरैर्लिखित्वा स्थावराधारेषु स्थापयन्ति, तेलेखा एवं पुस्तकानीत्युच्यन्ते। अनेन हि साधनेन परः सहस्रवर्षादपि प्राचीनं व्यवहारजातं ज्ञायते। एते लेखा एव ग्रन्थाः भवन्ति। एतान् ग्रन्थान् पठित्वा बुद्धिमन्तो विद्वांसो भवन्ति। विद्वांसश्च निजविद्याबलात् सर्वाणि यथेष्टानि कार्याणि कर्तुं प्रभवन्ति। तत्तद्देशीयवातावरणप्रभावेण प्रथमं करणाऽपाटवाऽपाटवाभ्या मुच्चारणभेदेन भाषा भिद्यते। अनन्तरं च तेत्संस्कारकविदुषां मतभेदेन नानाविधसंस्कारैः संस्कृता नानाविधा भाषा भवन्ति। अथ च तत्संस्कारकाऽभिमतलेखसङ्केतभेदेन च नानाविधा लिपयो भवन्ति। अत्र भाषापदेन प्रत्यक्षा परोक्षा च द्विविधाऽपि भाषा गृहीताऽऽचार्येण।

राष्ट्र की उन्नति चाहने वाले राष्ट्रियों को प्रत्येक ग्राम में राष्ट्रभाषा तथा धर्म्यभाषा सम्बन्धी पुस्तकालयों की योजना बनानी चाहिए।

'सभी मनुष्यों की उन्नति शिक्षा से होती है' यह निर्विवाद है। ज्ञान-प्रधान स्वभाव होने से मनुष्य जीवन-पर्यन्त शिक्षा ग्रहण करता है। शिक्षा भाषा के माध्यम से ग्रहण की जाती है। भाषा के द्वारा ही सभी लौकिक व्यवहार सम्पन्न होते हैं। विद्वानों ने अपने अनुभवों, मतों तथा सुने गए एवं हृद-यस्थ भावों को अन्य लोगों के लाभ के लिए सांकेतिक अक्षरों में लिप्यासनों पर

अत्रेदमपि बोध्यम्- ग्रन्थाः किल उच्चारणाऽनुच्चारणपरम्परया कर्णाकर्णिकया पठनपाठनैः प्रसार्यन्ते । अथैवं शिष्यप्रशिष्यपरम्परया घोषणादिभिर्मननादिभिश्च दृढीकृत्य रक्ष्यन्ते । इयमेका ग्रन्थसंरक्षणशैली, परमियं सर्वथा न संरक्षितुं प्रभवति, यत आयुषोऽल्पत्वं, ग्रन्थानां चानन्त्यञ्च प्राधान्येन बाधकम् । अतो द्वितीया संरक्षणशैली प्रकटिता मनुष्यैर्भगवत्प्रेरितैः । सा च लेखशैली नानाविधानामुच्चारणानां नानाविधा बोधोपकारिणः सङ्केता विहिताः सा च लिपिरिति व्यपदिष्टा । अनया च संरक्षणं चिरकालिकं सम्पद्यते इति द्विविधं साधनं शिक्षायाः । अथ प्रतिवस्तु भाषाभेदे सम्भवत्यपि तत्र हानिमालोचयद्भिरेकैका भाषा एकैकमनुष्यसमुदायेन परस्परं व्यवहाराय संस्थापिता । समुदायश्च त्रयाणामारभ्य गणनातीतपर्यन्तं सम्भवति । अतोऽधिकाऽधिकसमुदायैक्यव्यवहाराय व्याप्यव्यापकभाषासु व्यापकभाषायाः समादरः प्रचलति । अत्रेदं चाऽवधेयम्—समस्तस्याऽपि विश्वस्य मूलमेकत्वे, मध्यश्चानन्त्ये समाप्तिश्च पुनरप्येकत्वे एव । अतो द्वौ क्रमौ सम्बोधनाय शिष्याणां प्रदर्श्येते आरोहक्रमोऽवरोहक्रमश्चेति । तत्राऽऽरूढ एवाऽवरोहति, अवरूढ एव चाऽऽरोहतीत्यपि प्रसिद्धमेव । एवं चाऽनयोः क्रमयोर्यः स्वतन्त्रः प्रत्ययः स एव सर्वाऽनुगततया आत्मा, परशिवः परा शक्तिः, पर ब्रह्म, इत्यादि शब्दैर्व्यवह्रियते । यथा चेदं तथा निरूपितमेतदात्मविलासे । स सर्वदा निरूढ एवं स्वाऽनन्दायाऽवतरति, अवतरंश्च तदाऽनन्दं पूर्णतयाऽनुभवत्यानन्त्ये, अथ पूर्णाऽऽनन्दस्वभावतयैवारोहणाऽनन्दायाऽऽरोहति, आरोहंश्च तदाऽऽनन्दं पूर्णतयाऽनुभवत्यैकत्वे । अत्रेदं त्ववगम्यमेव—यदानन्त्य एकत्वमन्तरनुभवति, एकत्वे चानन्त्यमन्तरनुभवति ततः सर्वत्राऽपि पूर्ण एवाऽयमिति । एवं च क्रमबीजदृष्ट्या अवरोहक्रमः प्रथमः तत्र क्रमे पूर्वमेकैव भाषा अनन्तरं

लिख रक्खा है, जिन्हें हम पुस्तकें कहते हैं । इन पुस्तकों को पढ़ कर ही लोग बुद्धिमान् और विद्वान् हुए हैं । अपने ज्ञान के कारण विद्वान् अभीष्ट कार्य कर सकते हैं । देश के वातावरण के कारण, कुशलता-अकुशलता के कारण एवं उच्चारण-भेद से भाषा भी भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है । साथ ही संस्कार-भेद और लेख-सङ्केत-भेद से लिपियां भी भिन्न-भिन्न हैं ।

मुख्यतः भाषा प्रत्यक्ष एवं परोक्ष दो प्रकार की हैं । गुरु-शिष्य-परम्परा से किंवा प्रशिष्य-शिष्य-परम्परा से घोषण-मननादि के द्वारा ग्रन्थों का संरक्षण होता था । ग्रन्थों की संख्या अनन्त है और मनुष्य की आयु अल्प है । अतः ग्रन्थों

मध्यसमाप्तौ भाषाणामप्यानन्त्यं ततःपुनरारोहणक्रमो द्वितीयः तत्र क्रमे प्रारम्भे भाषाणां नानात्वमनन्तरं तत्क्रमसमाप्तौ भाषायाः पुनरप्येकत्वम्। इदं तु ज्ञेयमेव–जीवदृष्ट्याऽऽरोहक्रमः, तथाहि अनार्यराज्यवादात् अनार्यराष्ट्रवादप्रारम्भः, अनार्यराष्ट्रवादात् आर्यराज्यवादप्रारम्भः, आर्यराष्ट्रवादात् आर्यराष्ट्रवादप्रारम्भः, आर्यराष्ट्रवाद समाप्तिरेवा नार्यराज्यवादप्रारम्भ इति अयमनार्यक्रमः। बीजदृष्ट्याऽवरोहक्रमः–तत्र प्रथममार्यराष्ट्रवादप्रारम्भः 1. आर्यराष्ट्रवादात् आर्यराज्यवादारम्भः 2. आर्यराज्यवादात् अनार्यराष्ट्रवादारम्भः 3. अनार्यराष्ट्रवादात् अनार्यराज्यवादारम्भः 4. अनार्यराज्यवादात् आर्यराष्ट्रवादारम्भः इति। अथ चेदमपि बोध्यम्—आर्यराष्ट्रवादसमयस्तुरीयाऽवस्था चतुर्गुणितः कृतयुगमार्याणाम्। आर्यराज्यवादसमयः सुषुप्त्यवस्था, त्रिगुणितः त्रेतायुगमार्याणाम्। अनार्यराष्ट्रवादसमयः स्वप्नाऽवस्था द्विगुणितः द्वापरयुगमार्याणाम्। अनार्यराज्यवादसमयः जाग्रदवस्था एकगुणितः कलियुगमार्याणाम्। इति। एवमेव व्युत्क्रमेण अनार्याणां युगानि भवन्ति। तथाहि—आर्याणां यदेव कृतयुगं, तदेवाऽनार्याणां कलियुगं, आर्याणां यदेव त्रेतायुगं, तदेव द्वापरयुगमनार्याणाम्। अथ यदेवार्याणां द्वापरयुग, तदेवानार्याणां त्रेतायुगम्, आर्याणां तदेव कलियुगं तदेवाऽनार्याणां कृतयुगम्। एवमेव सर्वमप्यूह्यं यथावसरं निवेदयिष्यतेऽत्र। भवतु, समुन्नतिकरणं चारोहक्रमः। तत्र नानाभाषाणामेकीकरणमेकभाषया समुन्नत्यर्थं क्रियते। एवं च समस्तराष्ट्रस्यैकीकरणाय समस्तानां व्यवहार एकभाषया परिचालनीयो भवति। एवं च यस्मिन् राष्ट्रे सर्वतोऽधिको व्यवहारो यया भाषया प्रचलति, सा राष्ट्रभाषा। समुन्नत्यर्थं च राष्ट्रस्य तस्या अधिकाऽधिकः प्रचार आवश्यकः। प्रचारश्च भाषणेन लेखनेन च

को सुरक्षित रखने के लिए विविध उच्चारणों के लिए विविध संकेत बने। इस प्रकार लिपि का विकास हुआ। इससे चिरस्थायी संरक्षण होता है। प्रत्येक वस्तु के लिए पृथक् भाषा से होने वाली हानि पर विचार करते हुए मनुष्यों ने समुदायतः परस्पर व्यवहार स्थापित करने के लिए पृथकशः भाषा का आश्रय लिया। इन अधिकाधिक समुदायों में एकत्व के व्यवहार-हेतु व्याप्य-व्यापक भाषाओं में से व्यापक भाषा का समादर होता है। आरोह-अवरोह क्रम से विश्व की समस्त घटनाएं घटित होती हैं। जीवदृष्टि से आरोह-क्रम इस प्रकार है। अनार्यराज्यवाद से अनार्यराष्ट्रवाद का प्रारम्भ होता है। अनार्य-राष्ट्रवाद से आर्य राज्यवाद का उदय हाता है। आर्यराज्यवाद से आर्यराष्ट्रवाद का

भवति। तत्र भाषण-प्रचाराय मुख्य साधनं पाठशाला-विद्यालयादि, तच्चोक्तमेव। लेखप्रचाराय मुख्यं साधनं पुस्तकालयवाचनालयादि तत्रत्य-पुस्तकालय-स्थापन-विधानायैवास्याः कारिकाया आरम्भः। अयं भावः—नानाविधकार्यव्यापृताः किल मनुष्याः समयाऽनुसारेण विनैवाध्यापकं पुस्तकादिसाहाय्येन ज्ञानप्राप्तौ प्रभवन्ति। पुस्तकानि हि आश्रमचतुष्टयमप्युपकुर्वते। अध्ययनप्रारम्भ समय एव गुरुसाहाय्यमपेक्ष्यते मार्गज्ञानाय, अनन्तरं तु पुस्तकादिसाहय्येनाऽपि ज्ञानप्राप्तिर्भवति। चिरकालिकप्रचारसाधनं च पुस्तकान्येवेति सर्वेऽपि जानन्त्येव। अतो ग्रामे-ग्रामे पुस्तकालयस्थापना कार्या। वीप्सायां द्विवचनम्। "नित्य-वीप्सयोः (पा सू. 8/1/4) इति। पुस्तकानां=लिखितग्रन्थानामिति' भावः। अत्रेदं बोध्यम्—परमात्मनो हि द्विविधं रूपम्—वाङ्मयमर्थमयं च। परस्परमभिन्नमपि भिन्नमिव भासते। वाङ्मयं च द्विविधं-भाषितं लिखितं च। तत्र लिखितं पुस्तकमिति व्यवह्रियते, तदनेकविधं भवति। तत्र आकारभेदाद् उद्देश्यभेदात् परिमाणभेदाद् बहवो भेदाः सम्भवन्ति। चिरकालिकोपयुक्तं स्थायि वाङ्मयं, अचिरकालोपयोगि अस्थायि वाङ्मयम्। द्विविधमप्युपकारकम्। तत्र चिरकालिकोपयुक्तमपि बहुविधं विषयभेदात्। अचिरकालिकोपयुक्तमपि बहुविधम्। चिरकालिकोपयुक्तं वाङ्मयं पुस्तकालये स्थापनीयम् अचिरकालिकोपयुक्तं च वाचनालये। तत्राऽपि मतिमद्भिः स्वयमभ्यूह्य विभागकरणम्। विभागा यथा—धर्मशास्त्राणि, अर्थशास्त्राणि, कामशास्त्राणि, मोक्षशास्त्राणि च। अथ—दर्शनानि, काव्यादीनि, इतिहासपुराणानि, अथैव-

---

प्रारम्भ होता है। आर्यराष्ट्रवाद की समाप्ति ही अनार्यराज्यवाद का आरम्भ है। बीज-दृष्टि से अवरोह-क्रम इस प्रकार है-राज्यवाद से आर्य राष्ट्रवाद का आरम्भ होता है। आर्यराष्ट्रवाद से आर्यराज्यवाद का, आर्यराज्यवाद से अनार्यराष्ट्रवाद का, अनार्यराष्ट्रवाद से अनार्यराज्यवाद का तथा अनार्य राज्य-वाद से आर्य राष्ट्रवाद का आरम्भ होता है।

आर्यों का जो कृतयुग है, वही अनार्यों का कलियुग है। आर्यों का जो कलियुग है, वही अनार्यों का कृतयुग है। आर्यों का त्रेतायुग, अनार्यों का द्वापर युग है। आर्यों का द्वापर युग, अनार्यों का त्रेता युग है। समुन्नति करना ही आरोह क्रम है। एक भाषा की उन्नति के लिए अनेक भाषाओं का एकीकरण किया जाता है। इसी प्रकार समस्त राष्ट्रों के एकीकरण के लिए समस्त व्यव-

मपि यथायथं विभज्य स्थापनीयान्यालये । एवं पुस्तकालयानां योजना यथायोग्यं कार्येति ध्वनितं याजनापदेन । योजनापदेनेदमपि ध्वन्यते यत् तत्तद्ग्रामस्थलोकोपयोगिग्रहा सङ्ग्रहालयाः कार्या । अयं भावः— यत्र ग्रामे ये वसन्ति तेषां जीविकामालोच्य तारतम्यं चाऽऽकलय्य तेषां जीविकासहायकग्रन्थानामेव विशेषतः संग्रहः पुस्तकालये कार्यः । इदं तु ध्येयमेव ते ग्रन्था राष्ट्रभाषामया धर्म्यभाषामयाश्च भवेयुरिति । यतः खल्वेतद् भाषाद्वयमेव स्वराष्ट्रसमुन्नतिबीजम् । यथा चदं तथा निरूपितं पूर्वम् । यथा यत्र ग्रामे बहवः कृषीवला निवसन्ति तत्र ग्रामे पुस्तकालये कृषिसम्बन्धिपुस्तकान्येव विशेषतः सङ्ग्राह्याणि । एवमेव तत्र-तत्र ग्रामस्थलोकजीविकामनुरुध्य पुस्तकालयानि विधातव्यानि । स्वराष्ट्रवर्धकै राष्ट्रियैः । नित्यकाम्यविधिरयम् । इदमपि बोध्यम्—अत्र योजनापदेन इदमपि बोध्यते यत् ग्रामस्थो लोकोऽधिकाऽधिकं यथा पुस्तकलाभमाप्नुयात् तथा कार्यमिति । एवं च पुस्तकालय-व्यवस्था बोधिता । पुस्तकालयव्यवस्था च राष्ट्रियैरेव कर्तव्या राष्ट्रवर्धकैश्च कारयितव्या । राष्ट्रियैः इति करणे तृतीया राष्ट्रवर्धकैः इति च कर्तरि तृतीया, एतेनेद ध्वनित यत् राष्ट्रियैरेव पुस्तकालययोजना कार्या । साह्येव-यथेष्टफलप्रदा भवतीति भावः । किंच पुस्तकालयोपयुक्तं सर्वमपि यथायथं कार्यमिति योजनापदेन ध्वनितम् । तच्च यथा—पक्वेष्टकादिर्निर्मितं भवनं, पुस्तकस्थापनाय काष्ठमञ्जूषाः, पाठकोपयुक्तान्युपवेशनानि, स्वास्तीर्णानि, पुस्तकदानाऽऽदानाय वृत्तिलः कश्चित्, आयव्ययलेखकः, प्रकाशाय दीपादि, रुचिवर्धको योग्याऽयोग्यपाठकानां विवेचकः; संरक्षण-

---

हारों का एक भाषा द्वारा संचालन किया जाना चाहिए । जिस राष्ट्र में समस्त व्यवहारों के परिचालन के लिए जिस एक भाषा का प्रयोग किया जाता है, वह उस राष्ट्र की राष्ट्रभाषा है । राष्ट्र की समुन्नति के लिए उस भाषा का अधिकाधिक प्रचार आवश्यक है, जो उसके बोलने और लिखने से होता है । बोलने के प्रचार का मुख्य साधन विद्यालय है तथा लिखने के प्रचार का मुख्य साधन वाचनालय तथा पुस्तकालय हैं । चिरकालिक ज्ञान के प्रचार का साधन पुस्तकालय ही है । पुस्तकें तो चारों आश्रमों के लिए उपयोगी हैं । स्थायी प्रचार का साधन भी पुस्तक ही है । अतः गांव-गांव में पुस्तकालयों की स्थापना करनी चाहिए ।

परमात्मा का रूप दो प्रकार का है—वाङ्मय रूप एवं अर्थमय रूप । वाङ्मय रूप दो प्रकार का है—भाषित एवं लिखित । लिखित वर्ग में पुस्तकें आती हैं, जो आकार उद्देश्य, परिमाण आदि के भेद से बहुविध होती हैं । स्थायी

संशोधनमार्जनादिकारकः प्रतीहारी च, इत्यादि यथायोग्यं योजनीयम् । अथ च योजनापदेन चलपुस्तकालययोजनाऽपि सूचिता । सा च यथा— यथायोग्यां कांञ्चिच्छकटिकां मनुष्यवाह्यां पुस्तकैरावश्यकैः पूरयित्वा प्रतिगेहसमीपं गत्वा तदध्यक्षस्तद्गृहस्थितान् पठनाय सुहृद्भावेन पुस्तकस्थाऽऽवश्यकविषयवर्णनेन तेषां रुचिं वर्धयन् तल्लाभादि वर्णयन् प्रेरयेत् । पाठकजीवनव्यापारनैपुणप्राप्तिकरविषयमधिकृत्य लिखितानि त्ववश्यमेतेभ्यो वाचनाय दद्यात्, स्मृतिपुस्तके त य मितिलेखनपुरःसरं नामोल्लेखं च कुर्यात् । पाठकेन पुस्तकप्रत्यावर्तनसमयं च कुर्यात् । एवमेव बहुविधा पुस्तकालययोजना भवितुमर्हन्ति । योजनाशब्दो योजनात्वाऽवच्छेदकाऽवाच्छिन्नपरो बोध्यः । राष्ट्रभाषाधर्म्यभाषापुस्तकानामतीवाऽऽवश्यकतया तयोनिर्देशः कृतः । अन्यभाषापुस्तकानां न विधानं न वा निषेध इति यथाऽभिलषितं विकल्पः षोडशिग्रहणाऽग्रहणावत् । ज्ञानतारतम्येन लाभतारतम्यं तु भवत्येवेति भावः । अथेदमपि बोध्यम्—पुस्तकपठने राष्ट्रियमात्राः प्रेरणीया यथाऽधिकारम् । राष्ट्रनिवासिनो येऽन्ये ते तु यथायथं हानिलाभादि वीक्ष्य प्रेरणीया उपेक्ष्या वा । इत्याद्यन्यदपि सर्वं सुधीभिरूह्यम् ॥37॥

एवं पुस्तकालयस्थापनां विधाय वाचनालयस्थापनामपि प्रतिपादयन्नाह—

ग्रामे-ग्रामे विधातव्या शोभना वाचनालयाः
राष्ट्रपोषीणि पत्राणि प्रसार्याणि बहूनि च ॥38॥

[ग्रामे-ग्रामे इति । ग्रामे-ग्रामे—शोभनाः—वाचनालयाः-विधातव्याः राष्ट्रपोषीणि—बहूनि—पत्राणि-च-प्रसार्याणि । इति पदयोजनिका ।

वाङ्मय और अस्थायी वाङ्मय दोनों विषय-भेद से अनेकविध होते हैं और दोनों ही उपकारी हैं । बहुत समय तक उपयोग में आनेवाला स्थायी वाङ्मय पुस्तकालय में रखना चाहिए तथा अस्थायी वाङ्मय वाचनालय में रखना चाहिए । पुस्तकालय में पुस्तकों का बिभाजन धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, मोक्षशास्त्र, दर्शन, काव्य, इतिहासपुराण आदि रूप में विषयानुसार कर लेना चाहिए । इस प्रकार पुस्तकालय की योजना बनानी चाहिए ।

पुस्तकालयों की योजना से तात्पर्य है कि जिस ग्राम की जो जीविका है, उस ग्राम में उस लोक-जीविका से सम्बद्ध पुस्तकों का संग्रह उस पुस्तकालय में होना चाहिए जैसे कृषिप्रधान गांव में कृषि की पुस्तकें । योजना पद का यह अभिप्राय भी है कि गांव में रहने वाले लोगों को अधिकाधिक पुस्तकालय का लाभ प्राप्त हो । पुस्तकालय के लिए जो भी उपयोगी योजना हो, उसे

[ग्रामे-ग्रामे=प्रतिग्रामम्। सर्वेष्वपि ग्रामेष्विति भावः। शोभनाः= शोभाकराः 'वाचनालयाः—वाचनं=परिभाषणं वच् परिभाषणे। चौरादिकः स्वार्थणिजन्तोऽयम्। तेषाँ आलयाः-मन्दिराणि। विधातव्याः कार्याः। 'राष्ट्रपोषीणि'—राष्ट्रं=पूर्वोक्तलक्षणलक्षितं पोषयितुं शीलं येषां तानि राष्ट्रपोषोणि बहूनि=नानाविधानि। पत्राणि=लेख पत्राणि। 'च' समुच्चयेऽव्ययमेतत्। प्रसार्याणि-प्रकर्षेण प्रापयितव्यानि। इति। अत्रेदं बोध्यम्—समस्तलोककल्याणाय ज्ञानप्रसार आवश्यक इति तु प्रसिद्धमेव राष्ट्रकल्याणायाऽपि स आवश्यक इति किमु वा प्रयोजनं वक्तव्यस्य। अथ ज्ञानप्रसारसाधनेषु पाठशालाविद्यालयादीनां स्थापना पूर्वमुक्तैव। सा किल गार्हस्थ्याद्यनाक्रान्तानां बालकानामेव विशेषता उपकारिणीति सर्वसाधारणजनानामुपकाराय समुचितेषु साधनेषु पुस्तकालयस्थापनमेकं साधनं निरूपित पूर्वय. कारिकया। अथाऽन्य-साधननिरूपणायाऽस्याः कारिकाया आरम्भः। पुस्तकालयास्तावत् पुस्तकसंग्रहमन्दिराणि तत्र वाचनाऽवकाशो न भवति कलकलभीतेः। किं च पुस्तकाकारास्तावल्लेखास्त एव क्रियन्ते प्रायो ये चिरकालमतिचिरकालं चोपयोगसाधनानि। अत एव सद्याभावोपयोगिलेखानां न पुस्तकेषु गणना भवति, तेषां सग्रहाय वाचनार्थं च पृथगावश्यकता भवति। एव-ममिप्रेत्यैवोक्तं वाचनालयस्थापनम्। वाचनार्थं=परिभाषणार्थं आलयाः=मन्दिराणि विधातव्याः। विधातव्या इति पदेनाऽविधाने प्रत्यवायो बोध्यते। ग्रामे ग्रामे इति वीप्सया च यत्र कुत्र ग्रामनगरादौ स्थापनमात्रेण न कृतार्थता इति बोध्यते अपूर्वविधिरयम्। अथ चेदमव-

---

राष्ट्रिय व्यक्तियों द्वारा लागू किया जाना चाहिए। जैसे पुस्तकालय में सुदृढ़ भवन, काष्ठ-मंजूषा, पाठकों के बैठने की उपयुक्त व्यवस्था, पुस्तकों के आदान-प्रदान की व्यवस्था, आय व्यय लेखक, जल-प्रकाश की व्यवस्था तथा चौकीदार और सफाई कर्मचारी आदि की व्यवस्था करनी चाहिए। चल पुस्तकालय की व्यवस्था, भी की जानी चाहिए। अर्थात् एक छोटी-सी गाड़ी में आवश्यक पुस्तकें रखकर प्रत्येक घर में जाकर उसके मुखिया और अन्य सदस्यों की आवश्यक विषयों का वर्णन करते हुए उनकी रुचि जाग्रत करके उन्हें पुस्तकें देना चाहिए। पुस्तक-ग्रहण-तिथि, पुस्तक-प्रत्यावर्तन-तिथि आदि का उल्लेख भी किया जाना चाहिए। ये सब कार्य इस पुस्तकालय-योजना के अन्तर्गत किये जाने चाहिए। व्याख्याकार महोदय का मन्तव्य है कि राष्ट्रभाषा एवं धर्म्यभाषा की पुस्तकों की विशेष रूप

गन्तव्यम्— केवलसंग्रहमात्रेण, तद्रक्षणमात्रेण वा पुस्तकानां लेखपत्राणां वा ज्ञानप्रसारो भवितुमशक्यः। ज्ञानप्रसारस्तु पठनपाठनादिव्यवस्थयैव सम्भवतीत्यतो वाचनालयानामतीवावश्यकता भासते। ननु पुस्तकालयात् यथेष्टं पुस्तकं गृहीत्वा स्वसद्मनि गत्वा पठिष्यन्ति लोका इति काऽपेक्षा वाचनालयानामिति चेन्नेदं समञ्जसम्। असामञ्जस्ये बहूनि कारणानि सन्ति। तत्र कानिचित्प्रदर्श्यन्ते—सर्वेषामेव गेहेषु न वाचनसौलभ्यं भवति, केषाञ्चिद्गृहे स्त्रीपुत्रादिकलकलपरिपूर्णमिति नास्ति वाचनोपयोगि नितान्तमेकान्तशान्तस्थानम्। अथ स्थूलपरिमाणानि महार्घाणि च पुस्तकानि पुस्तकालयाद् बहिर्गच्छेयुश्चेत्, स्फुटितपत्राणि मलिनपत्राणि छिन्नवर्माणि वा भवेयुः। अथैकसमये एव पाठकद्वयस्याऽनतिचिरायाऽपेक्षायामवलोकनार्थं जातायां वाचनालये तु पूरयितुं शक्यतेऽप्याकांक्षा सा समयह निश्चात्र न भवति। गृहं नीतवांश्चेदेको वाचकः पुस्तकादिमपरस्य तदानीं नाकाङ्क्षा पूरयितुं शक्यते। किं च वृत्तपत्राणां तु सद्योमात्रोपयोगितया तद्वाचनायात्यन्तमावश्यकता भवति पृथक् वाचनमन्दिरस्य। अथ च द्रव्यवन्तोऽपि बहूनि वृत्तपत्राणि क्रेतुं नहि शक्नुवन्ति, कुतः पुनरद्रव्याः क्रेतुं शक्नुयुः। पृथक् वाचनालयव्यवस्थायां दशानामेकैकं काष्ठं सम्मेल्यैकादशस्य काष्ठभारो भवति इत्याभाणकाऽनुसारेण बहूनां किंचित्किंचिदेव धनं बहूनि वृत्तपत्राणि क्रीत्वा नानाविधवृतपत्रवाचनाकाङ्क्षां पूरयितुं प्रभवति धनिनामधनिनां चेति वाचनालयानामतीव पृथगावश्यकता। अथेदमप्यवगन्तव्यम्- वाचनाऽऽलयेषु किल लोका अन्योऽन्यान् वाचनप्रवृत्तान् दर्शं दर्शं स्वयमपि वाचनपरायणा भवन्ति। अथ च नानाविधानां समागतवाचकपुरुषाणां परिचयो भवति पारिणामिकहितकारो। किं च

से व्यवस्था की जाय। अन्य भाषा और बिषयों की व्यवस्था के लिए भी यथेष्ट विकल्प हो। राष्ट्रवासियों के हानि-लाभ का ध्यान रखते हुए उन्हें पढ़ने के प्रति प्रेरित किया जाना चाहिए।

ग्रामे-ग्रामे विधातव्या शोभना वाचनालयाः।
राष्ट्रपोषीणि पत्राणि प्रसार्याणि बहूनि च ॥38॥

ग्राम-ग्राम में अच्छे वाचनालय हों, जिनमें बहुत से राष्ट्र-पोषक (समाचार तथा सुविचार) पत्र मंगवाये जाने चाहिए।

इस श्लोक में 'प्रसार्याणि' पद का भाव, अधिक मात्रा में प्राप्त कराने से है। समस्त लोक के कल्याण के लिए ज्ञान का प्रसार आवश्यक है। राष्ट्र-

'शोभना' इत्यनेनेदं सूच्यते यत् यदेव शोभाकरं तदेव विधातव्यमिति। तेनेदं बोध्यते—पुस्तकवाचनार्थं पुस्तकालयसन्निकटमेव वाचनालयो विधेयः। वृत्तपत्राणां वाचनार्थं च तत्तत्स्थलीयलोकसङ्ख्यातारतम्यानुसारेण वाचनालया विधातव्याः वाचनालयाश्च पृथगेव शोभन्ते। वृत्तपत्राणि किल द्विविधानि भवन्ति कानिचित् तात्कालिकदैशिकवार्ताप्रसारप्रयोजनमात्राणि कानिचित् च चिरकालिकोपयोगिज्ञानप्रसारकाणि च सर्वाण्यपि वृत्तपत्राणि वाचनालये यथासम्भव संग्राह्याणीति। अथ च वाचन परिभाषण श्रोतृवृन्देषु समुपस्थितेषु उत्थाय वक्ता कमपि विषयमधिकृत्य व्याख्यान, उपविश्य प्रवचनं वा, तदर्थं मन्दिरं स्थापनीयम् इत्यपि बोध्यम्। अथाऽन्यदपि ज्ञानप्रचारसाधनं सुमहद्वक्तुमाह—राष्ट्रपोषीणीति। राष्ट्रपोषणपराणि बहूनि पत्राणि च प्रसार्याणि। अयमाशयः—पूर्वकारिकातः समस्तमपि राष्ट्रभाषाधर्म्य-भाषापदं विच्छिद्य सम्बध्यतेऽत्र आकाङ्क्षापूर्त्यर्थं तनेदमवगम्यते यत् राष्ट्रभाषाधर्म्यभाषामयानि वृत्तपत्राणि बहूनि प्रसार्याणि। करणाकाङ्क्षायां कर्त्राकाङ्क्षायां च राष्ट्रियैः राष्ट्रवर्धकैः इत्युपतिष्ठते पदद्वयी पूर्वकारिकातः। पत्राणि लेखपत्राणि अवश्यमेव प्रकर्षेण लोकानां समक्षं प्रापणीयानि। अथ च राष्ट्रपोषीण्येव। अयं भावः—राष्ट्रभाषामयानि, धर्म्यभाषामयान्यपि प्रसाराऽधिकरणराष्ट्रपोषीणि नो भवेयुश्चेत्तर्हि परिहर्तव्यान्येवेति। राष्ट्रपोषीणीत्यनेनेदमवगम्यते राष्ट्रं हि बह्ववयवं तत्र कानिचिन्मुख्यान्यङ्गानि कानिचिद् गौणान्यङ्गानि। तत्र सर्वेषामप्यङ्गानामुपाङ्गानां येन ज्ञानेन विज्ञानेन च भवेत्पोषणं तत्सर्वमपि प्रसारविषयमिति। अथ यत्तद्विघातकं तत्परिहर्तव्यम्। सर्वथा स्वातन्त्र्यप्राप्त्युपायज्ञानविज्ञानेन च राष्ट्रपोषणं भवतीति तत्त्वम्। अन्यच्च विघातकमेव। 'बहूनि' इत्यनेन सङ्ख्याविषये यथायोग्याऽऽवश्यकत्वं

कल्याण के लिए भी ज्ञान का प्रसार आवश्यक है। पहले ज्ञान-प्रसार के साधनों में विद्यालय की स्थापना को आवश्यक बतलाया था। इन विद्यालयों से विशेषतः बालकों का उपकार होता है, किन्तु पुस्तकालय और वाचनालयों से तो सर्वसाधारण का उपकार होता है। इससे वाचनालयों की भी पृथक् आवश्यकता प्रतिपादित होती है। "विधातव्या" इस पद से यह स्पष्ट हो रहा है कि यदि वाचनालय आदि की स्थापना न की जायेगी, तो ज्ञान के प्रसार में विघ्न पड़ने की सम्भावना हो सकती है। पत्रादिकों का संग्रह करने मात्र से अथवा रक्षण-मात्र से ज्ञान का प्रसार नहीं होगा, अपितु उनके पठन-पाठन की आवश्यकता है। लोगों से अपेक्षा की जाती है कि वे पुस्तकें अपने घर ले जाकर पढ़ें। ऐसी स्थिति

ध्वन्यते। अथ 'प्रसार्याणि' इत्यनेनेदं ध्वन्यते यत्—तथा प्रापणीयानि शीघ्राऽतिशीघ्रं लोकास्तानि पत्राणि प्राप्नुयुः इति। एतेन तदुपाया अप्यत्राक्षिप्ताः। ते च मुद्रणादयः—मुद्रणेन हि झटित्येव प्रतिलिपितानि भवन्ति पारेपरःसहस्राणि पत्राणि। तेन च युगपदेव सहस्रशः पठितुं शक्नुवन्ति। एवं च मुद्रणालया अपि यथाऽभीष्टं स्थापनीयाः, तत्र पुस्तकानि वृत्तपत्राणि च मुद्रयित्वा बहुशः प्रसार्याणि इत्युपदिष्टम्। तदयं निर्गलितोऽर्थः—ग्रामे-ग्रामे पुस्तकानां वाचनार्थं बाह्याऽभ्यन्तरतः सुव्यवस्थिततया शोभमानः पुस्तकालयसन्निकट एव वाचनालय एकः, नानाविधवृत्तपत्रवाचनार्थं यथाऽभीष्टं लोकसङ्ख्यातारतम्याऽनुकूल शोभना वाचनालयाः स्थापनीयाः यथायोग्यसङ्ख्याकाः, व्याख्यानप्रवचनाद्यर्थमेकश्चालयः स्थापनीयः, एतत्सर्वमपि शोभनं सम्पादनीयम्। अयं भावः—पुस्तकवाचनालये, वृत्तपत्रवाचनालये, व्याख्यानप्रवचनवाचनालये च आवश्यकानि समस्तान्यपि वस्तूनि यथायथं सङ्ग्राह्याणि। वृत्तपत्रवाचनालये तावत् नानाभाषामयानि, नानाविषयमयानि वाचनार्थं स्थापनीयानि तत्र नवीनवृत्तपत्रसमागमनपर्यन्तं वाचनार्थं काष्ठदीर्घचतुष्पद्यादिपीठेषु यथायथं स्थापनीयानि। प्राचीनानि-प्राचीनानि उत्थाप्यानि, अथ च वाचकानामावश्यकं सर्वमपि वस्तुजातं तत्र स्थाप्यम्। एवमेव व्याख्यानालयान्यपि साधुतया स्थापनीयानि। राष्ट्रसमुन्नतिकामैरेतत्सर्वं राष्ट्रियैः कर्तव्यम्। अथ च ज्ञानप्रसाराय राष्ट्रभाषामयानि धर्म्यभाषामयानि च वृत्तपत्राणि राष्ट्रपोषीण्येव समस्तराष्ट्रे ग्रामे-ग्रामे प्रसार्याणि तत्प्रसारणाय चाऽऽवश्यका मुद्रणालया अपि यथायथं स्थापनीया इति। अत्रेदं पत्रविषये ज्ञेयम्—

में वाचनालयों की क्या आवश्यकता है? वस्तुतः सभी के घरों में वाचन की सुलभता नहीं होती। स्त्रीपुत्रादि का शोर गुल होता है। वाचन के लिए उपयोगी स्थान नहीं होता। अधिक बड़ी और बहुमूल्य पुस्तकें यदि पुस्तकालय से बाहर जाती हैं, तो मैली तथा फटी-पुरानी हो जाती हैं। पुस्तक यदि पुस्तकालय में रहती है, तो अन्य पाठक भी वहां पढ़ सकते हैं। यदि कोई व्यक्ति पढ़ने के लिए पुस्तक को अपने घर ले जाता है, तो दूसरा व्यक्ति उस पुस्तक को पढ़ने से वञ्चित रह जाता है। कुछ पत्र तो पढ़ने के लिए आवश्यक होते हैं, किन्तु इतने महंगे होते हैं कि धनवान् लोग भी उन्हें नहीं खरीद पाते हैं। निर्धन तो कैसे खरीदेंगे? एक-एक मिलाकर ग्यारह होते हैं,— इस कथन के अनुसार अनेक व्यक्तियों के सहयोग करने पर अनेक वृत्तपत्र मंगाये जा सकते हैं। इससे धनी-

वृत्तपत्राणि राष्ट्रियै राष्ट्रवर्धकैरिमानि राष्ट्रघातकानि वा राष्ट्रपोषीणि वेति समालोच्य प्रसार्याणि अप्रसार्याणि च यथास्वम् । किं बहुना वाचनालया, मुद्रणालयाः, वृत्तपत्राणि च सर्वमपि सुव्यवस्थितं कार्यमित्यलमनेन ॥38॥

एव ज्ञानप्रचारसाधनेषु पुस्तकालयवाचनालयमुद्रणालयप्रस्थापनामुक्त्का, वृत्तपत्रप्रसारणं चोक्त्का सम्प्रति नवीनग्रन्थनिर्माणविषये वक्तुकाम आह--

नवं नवं वाङ्मयं च रचयेद्राष्ट्रपोषणम् ।
सर्वदा राष्ट्रभाषायां धर्म्यभाषामयं तथा ॥39॥

नवं नवमिति । नवं-नवं-च-वाङ्मयं-सर्वदा-राष्ट्रपोषणं-रचयेत् अथ च (सर्वदा) राष्ट्रभाषायां—(रचयेत्) तथा—धर्म्यभाषामयं—(रचयेत्) इति पदयोजना ।

'नवं नवं'=नवीनं नवीनं 'नित्यवीप्सयोः' (पा. सू 8/1/4) इति 'च' समुच्चयेऽव्ययमेतत् । वीप्सायां द्विवचनम् । वाङ्मयम्= वाग्रूपम् । 'तत्प्रकृतवचने मयट्" (पा सू. 5/4/21) इति मयट् । 'सर्वदा'= सर्वस्मिन् काले । 'राष्ट्रपोषणम्'—राष्ट्रस्य=उक्तलक्षणस्य पोषणकारकम् । 'रचयेत्'=निर्मिमीत । अथ च सर्वदा 'राष्ट्रभाषायाम्'= उक्तलक्षणा राष्ट्रभाषा तस्यां रचयेत् । तथा=अपि च 'धर्म्यभाषामयम्'– धर्म्यभाषा उक्ता तत्प्रचुरं 'रचयेत्'=निर्मिमीत ॥ अत्रेदमाकूतम्—विश्वेषां विश्वोऽयं व्यवहारः खलु स्वरूपद्वयमवगाहमान

निर्धन सभी की आकांक्षा भी पूर्ण हो जायेगी । वाचनालयों की पृथक्शः महती आवश्यकता है । वहां लोगों को पढ़ते देखकर अन्य पाठकों के मन में भी पढ़ने के प्रति जागरूकता उत्पन्न होगी । अन्य पाठकों से परिचय भी होगा । इसका परिणाम हितकर ही होगा ।

वाचनालय की स्थापना पुस्तकालय के समीप ही होनी चाहिए । पाठकों की संख्या को ध्यान में रखकर वाचनालय में वृत्तपत्रों की संख्या नियत की जानी चाहिए । वच् परिभाषणे धातु से निष्पन्न वाचन शब्द परिभाषण का भी वाचक है । अतः श्रोतृवृन्द के उपस्थित होने पर किसी विषय पर उठकर अपने विचार व्यक्त करने चाहिए । तत्कालोपयोगी 'किंवा अचिरकालिकोपयोगी वृत्तपत्र राष्ट्रपोषणपरक तथा धर्म्यभाषापरक होने चाहिए । भले ही उनकी संख्या न्यून ही हो ।

एव विराजते । तत्रैकं स्वरूपमर्थमयं, प्रकाशमयं ज्योतिर्मयं वेति समभिधीयते । अथ द्वितीयं स्वरूपं साधनमयं, विमर्शमयं, वाङ्मयं वेति परिभाष्यते । अत्र व्यवह्रियतेऽसौ व्यवहारः पदार्थः । भावे अण् । साधनं च वाङ्मयम् । अयं भावः—सिद्धमेव रूपं यदा स्वानन्दाय व्यवह्रियेत तदा तत् साधनमयं साध्यमयं च भासते । तदेव नानाविधतामापद्यमानं व्यवहार्यमिति सूच्यते । तत्र वाङ्मयं रूपं अर्थमयस्य वाचकं, लक्षकं, व्यञ्जकं च भवति । अर्थमयं च वाच्यं लक्ष्यं व्यङ्ग्यं च भवति इति तत्र साध्यव्यवहारस्य साधनाऽधीनतया साधनव्यवहारोऽवश्यं विज्ञेय इत्युक्तं भवति । वाङ्मयं चाऽनन्तं, ज्योतिर्मयस्याऽऽनन्त्यात् । तत्राऽऽवश्यकं किं किं वाऽनावश्यकमिति तु न निर्णेतुं शक्यमवयवशस्तथाऽपि समूहशो निर्णेतुं शक्यते । तथा हि सुखजनकताऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नमावश्यकं, दुःखजनकताऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नं चाऽनावश्यकमिति । सुखजनकताऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नं च पूर्णतया स्वातन्त्र्यमेव । पारतन्त्र्यं तु दुःखजनकताऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नम् । एवं च पूर्णस्वातन्त्र्यप्राप्तकरज्ञानप्रसारोपयोग्येव वाङ्मयं प्रसारणीयं, तद्विरुद्धं च परिहरणीयम् । स्वस्वातन्त्र्यं च स्थूलव्यावहारिकं स्वतन्त्रस्वराष्ट्राऽऽयत्तमिति पूर्वनिरूपितमेव । एतत्सर्वमपि समालोच्य 'राष्ट्रपोषण' मित्युक्तम् । राष्ट्रस्य=पूर्वोक्तलक्षणलक्षितस्य पोषणं=पुष्टिकरणम् । अत्रेदं च बोध्यम्—व्यापकविनाशे व्याप्यविनाशः सुतरां सिद्धः, व्यापकसंरक्षणे च व्याप्यसंरक्षणमपि स्वयमेव सिद्ध्यति । एवं च सर्वमपि कार्यं राष्ट्रदृष्टि-

---

राष्ट्र का स्वरूप अनेक अवयवों वाला होता है । कुछ अवयव मुख्य होते हैं तथा कुछ गौण । जिस ज्ञान-विज्ञान से सभी अंगों और उपांगों का पोषण होता हो, उन सब का प्रसार करना चाहिए । सम्भव हो, तो मुद्रणालय की भी स्थापना की जानी चाहिए । इसमें एक साथ ही अनेक वृत्तपत्रों और पुस्तकों का मुद्रण किया जा सकता है, जिससे एक साथ हजारों पाठक पढ़ सकते हैं । अतः प्रत्येक ग्राम में सुव्यवस्थित रूप से पुस्तकालय, वाचनालय, व्याख्यान-प्रवचनालय, मुद्रणालय आदि की स्थापना आवश्यकतानुसार कर लेनी चाहिए । तत्रत्य अध्येतव्य सामग्री विविध भाषा और विषयों से सम्बद्ध हो सकती है । ये सभी साधन राष्ट्र की उन्नति में सहायक हों, राष्ट्रघातक नहीं-इसे ध्यान में रखना चाहिए ।

नवं नवं वाङ्मयं च रचयेद्राष्ट्रपोषणम् ।
सर्वदा राष्ट्रभाषायां धर्म्यभाषामयं तथा ।।39।।

मवलम्ब्य कार्यम् । किं च स्वपरपदाऽभावेनेदं सूच्यते सर्वमपि आर्य-राष्ट्रवादमवलम्ब्यैव यथा भवति तथैव कार्यमिति । अस्य श्रीराष्ट्रा-लोकाऽभिधस्य प्रस्तुतशास्त्रस्य आर्यराष्ट्रवादप्रधानत्वात् । एवं च व्यक्ति-विशेषपोषणाय कृतः प्रयत्नो न पारिपूर्ण्येन राष्ट्रपोषणो भवति । किं च पत्रपुष्पफलसेचनेन समस्तवृक्षहितसाधनं यथाऽत्यशक्यं तथैव व्यक्तिविशेषपोषणेन राष्ट्रपोषणमप्यशक्यमिति ध्वनितम् । इदं च बोध्यम्—मनुष्यः खलु ज्ञानप्रधानस्वभावतया स्वाऽनुभूतं, स्वेष्टं वा परोक्षानपि मनुष्यान् स्वाऽभिप्रायान् बोधयितुं वाङ्मयेन साधनेन स्वाऽभीष्टं साधयतीति स्वभावः । अत एव वाङ्मयं निर्माति । तच्च परस्परं विलक्षणशब्दार्थवत् नवमिव भवति । इदं च बोध्यम्—सर्वमपि वस्तुजातं गतिक्रमेण पुराणं नवं च भवति । गतिमत्त्वविरहितं च वस्तु न शङ्कासमाधानविषयमवगाह-ते यच्च शङ्कासमाधानविषय तत्सर्वं प्रतीयमानतोऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नतया गतिमदेव भवति । प्रतीतिः पुनरापेक्षिकविरोधाऽविरोधाभ्यां द्विधा भवती-त्यन्यदेतत् । सर्वमप्येतदात्मविलासे द्रष्टव्यम् । तत्रैवं व्यवस्था ज्ञान समकालिकं नवं, प्राक्कालिक च पुराणमिति न कौतुकविषयः, प्रकाशमानं च कौतुकविषयं पूर्णबोधाऽभावात् । प्रकाशयिष्यमाणस्याऽबोधात् । प्रकाशयिष्यमाणं चाऽतिकौतुकविषयमुत्कण्ठाविषयत्वात् । वर्तमानं किल भूतभविष्यतोः सन्धिकालः । अयं खलु योगिगम्य एव । अत एव योगिनां सर्वमपि स्युरिति । एतादृग्योगिनां खलु दृष्टिरपि कस्मिन्नेव न सुकृतिनि मानवे शरीरे निपतति । यथा चेदं तथा प्रस्तुतभाष्य-प्रणेत्राऽऽचार्येणैव स्वनिर्मिते छन्दोविश्वम्भरे वर्णितमस्ति यथा--

---

सर्वदा राष्ट्र का पोषण करने वाला नवीन वाङ्मय साहित्य) रचा जाना चाहिए । यह वाङ्मय राष्ट्रभाषा में अथवा धर्म्यभाषा में रचा जाना चाहिए ।

सभी का सब प्रकार का व्यवहार द्विविध होता है । इसका एक स्वरूप अर्थमय, प्रकाशमय तथा ज्योतिर्मय कहलाता है । दूसरे स्वरूप को साधनमय, विमर्शमय एवं वाङ्मय परिभाषित किया गया है ।

जब यह सिद्ध रूप अपने आनन्द के लिए व्यवहृत होता है, तब वह साधन-मय और साध्यमय प्रतीत होता है । साध्यव्यवहार साधन-व्यवहार के अधीन होता है । अतः साधन-व्यवहार को अवश्य जान लेना चाहिए । ज्योतिर्मय के आनन्त्य के कारण वाङ्मय अनन्त और नानाविध हो जाता है । उसका वाङ्.

धीराणां गिरिकुहरेषु योगभाजां
तृप्तानां निजहृदयेषु सर्वदैव ।।
कस्मिंश्चित्सुकृतिनि मानवे शरीरे
ह्यधन्या पतति मनःप्रहर्षिणो सा ।।इति ।

भवतु, अतिकौतुकविषयमेव चातिनवीनं भवति । एतदेव खलु सर्वस्याऽपि प्रीतिकरं भवति । उक्तमपि "नवं नवं प्रीतिरहो करोति" इति । इदं तु बोध्यमेव—प्रीतिकरं तावदन्यत् हितकर तावदन्यत् । हितकरं कदाचिदप्रोतिकरं भवति कदाचित्प्रीतिकरमपि । नैकान्तेन प्रीतिकरमेव । एवमेव प्रीतिकरं कदाचित् हितकर भवति कदाचिदहितकरमपि । नैकान्तेन हितकरमेव । उक्तमप्येवमत एव महाकविना भारविणा—"हितं मनोहारि च दुर्लभ वचः" इति । नवनववाङ्मयरचनायाः प्रवृत्तिः स्वाभाविकीति सा न निवारयितुं शक्यते न च निवार्यते किंतु सैवाऽनुमोद्यते राष्ट्रपोषणतया च नियम्यते । अत्रेदं तात्पर्यम्स्वाभाविकं खलु वाङ्मयविरचनं मनुष्यस्य । तत्राऽभिनन्द्यते रचयेत् इति विधिना । एव च यः स्तूयते स विधीयते इति मीमांसकनीत्या नववाङ्मयविरचना विधीयते । अयं भावः—ये किल मतिमन्तः स्वयं नववाङ्मयविरचने प्रवृत्तास्तेषां तु तत्सत्कार्यमिति तत्स्तूयत एव, परंतु ये मतिमान्द्यालस्यतः प्रमादाद्वा न तत्र प्रवृतास्ते रचयेदित्यनेन प्रवर्त्यन्ते । रचयेत् मनुष्यमात्रः एकवचनं च जात्यभिप्रायम् । अथ तन्न पिष्टपेषणवत् पुराणार्थ-प्रतिपादनपरकं रचयेत, किंतु नवं नवीनं रचयेत् इति ध्वन्यते नवपदेन, अपि च न केवलं नवीनमेव किंतु प्रीतिजनकमिति ध्वननाप्तं नवं नवम्

मय रूप अर्थमय का वाचक, लक्षक और व्यञ्जक होता है । तथा अर्थमय रूप वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य होता है । अब प्रश्न उपस्थित होता है कि आवश्यक क्या है और अनावश्यक क्या है ? इसका उत्तर है--जो सुखजनक है, वह आवश्यक है तथा जो दुःखजनक है, वह अनावश्यक है सुख पूर्णतया स्वतन्त्र है और दुःख परतन्त्र । स्वस्वातन्त्र्य भी तो स्वराष्ट्र के अधीन है । अतः 'राष्ट्र-पोषण' पद का प्रयोग किया गया है ।

व्यापक के विनाश होने पर व्याप्य का विनाश भी निश्चित है । व्यापक के संरक्षण होने पर व्याप्य का संरक्षण स्वतः सिद्ध है । अतः राष्ट्रदृष्टि का आश्रय लेकर सब कुछ किया जाना चाहिए । जिस प्रकार आर्यराष्ट्रवाद की स्थापना हो सके, ऐसा प्रयत्न करना चाहिए । व्यक्तिविशेष के पोषण के लिए

इति वीप्सया। किं च नवीनं प्रीतिकारकमपि हितकारकमेव 'रचयेत्' इति ध्वननाप्त राष्ट्रपोषणम् इति। यत् किल राष्ट्रपोषण तत्सर्वस्याऽपि हितकरमवश्यं भवति। किं च राष्ट्रमात्रस्य यद्हितकरं भवति तथा विरचयेत्। स्वराष्ट्रहितं त्वनार्या अपीच्छन्ति, का कथा पुनरार्याणाम्। समस्तराष्ट्रहितकरं रचयेत्, अत एवोक्तमपि—

उपकारिषु यः साधुः साधुत्वे तस्य को गुणः।
अपकारिषु यः साधुः स साधुः सद्भिरुच्यते ॥इति॥

अथ च तदपि वाङ्मयं 'सर्वदा' सर्वस्मिन् काले रचयेत्। अयमाशयः-चक्रनेमिक्रमेण हि सम्पद आपदश्च यान्त्यायान्ति च। तत्र सम्पत्तिसमये आपत्तिसमये च तादृक् वाङ्मयं रचयत्। अयमेव महतां स्वभावः—

उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च॥
सम्पत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता ॥इति॥

अथ 'राष्ट्रभाषायाम्' पूर्वोक्तलक्षणलक्षितायां राष्ट्रभाषायामेव रचयितुश्चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धिनो राष्ट्रस्य राष्ट्रभाषायां द्विविधाया-मपि। अथ च 'तथा' अपि च 'धर्म्यभाषामयम्'। पूर्वोक्तलक्षणलक्षिता धर्म्यभाषा तत्प्रचुरं प्राचुर्ये मयट्। अयमाशयः-वाङ्मयरचनायां राष्ट्रभाषाधर्म्यभाषयोर्यथेष्टं विकल्पः, उभयविधभिन्नभाषायां या कदाचित् प्रवृत्तिर्भवति सा च नियम्यते एतयोरेवेति। एतयोरेव राष्ट्र-पोषणप्रधानसाधनत्वात्। तदयं निर्गलितोऽर्थः धर्म्यभाषामयेमेव। रचयेदेव समस्तराष्ट्रपोषणमेव नवीनं प्रीतिकरं च वाङ्मयम्। राष्ट्र-भाषायामेव वा तथा । किं चेदमपि बोध्यम्—यथाशक्ति नवं

किया गया प्रयत्न पूर्णरूपेण राष्ट्रपोषण नहीं कहलाता है। पत्र, पुष्प, फल (आदि) के सिञ्चन से समस्त वृक्ष का हितसाधन नहीं होता है। इसी प्रकार व्यक्तिविशेष के पोषण से राष्ट्रपोषण असम्भव है।

मनुष्य का स्वभाव ज्ञानप्रधान है। स्वेष्ट एवं स्वानुभूत ज्ञान को वह अन्य लोगों तक पहुंचाना चाहता है। इस हेतु वह वाङ् मय का निर्माण करता है।

सभी वस्तुएं गतिक्रम से नई और पुरानी होती हैं। गतिमत्ता-रहित वस्तु के सम्बन्ध में किसी प्रकार का शका-समाधान नहीं होता है। प्रतीयमान ही गतिमान होता है। प्रतीति आपेक्षिक विरोध या अविरोध से द्विविध होती है। ज्ञान का समकालिक नव कहलाता है तथा ज्ञान का प्रातिकूलिक "पुराण" कहलाता है। रचना तो नवीन की होती है। पुराना प्रकाशित है, यह कौतुक का विषय नहीं,

वाङ्मयं प्रीत्युत्पादनं परिणामे राष्ट्रहितकरं चेत्युभयगुणमण्डितं रचयेदेतदुत्तमं वाङ्मयं सर्वतः प्रसारणयोग्यम् । अथ राष्ट्रहितकरम् प्रीतिकरमपि रचयेत् । एतन्मध्यममपि प्रसारयोग्यं पूर्वतो निकृष्टगुणम् । अथ प्रीतिकरमेव यत् न राष्ट्रपोषणकरं तदधमं नु रचयेत् रचितमपि न प्रसारयेत्, प्रत्युतैतद्वारयेदेव । यद्यपि—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम् ।।

प्रियं च नाऽनृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः । (मनु. 4/138) इति ।

तथाऽपि हितकरमप्रीतिकरमपि वाङ्मयं रचयेदेव, तस्य सात्त्विकत्वात् । अत एवानुभविनामाभाणकोऽपि "अप्रियस्य च पथ्यस्य श्रोता वक्ता च दुर्लभः" । इति । अनेन ह्याभाणकेन प्रियस्याऽपि हितकरस्य स्तुतिरेव क्रियते । अत एव श्रीमद्भगवद्गीतास्वपि सात्त्विकतया स्तुतिरेव क्रियते । "यः स्तूयते स विधीयते" इति मीमांसकनोत्या तादृशं वाङ्मयं रचयेदेव । एवं चाऽनेन चतुर्विधं वाङ्मयं भवति । तथा हि—हितप्रीतिकारकम्, हितमप्रीतिकारकम्, अहितप्रीतिकारकम्, अहिताऽप्रीतिकारकं चेति । तत्र प्रथममार्यराष्ट्रवादिनाम्, द्वितीयमार्यराज्यवादिनाम् तृतीयमनार्यराष्ट्रवादिनाम् चतुर्थं चाऽनार्यराज्यवादिनाम् । इदमेव कृतादिषु युगेषु क्रमेण बोध्यम् । अथ वाङ्मयविषयेऽपि समासतो व्याख्यायते । वाङ्मयं तावद् द्विविधं भवति । तत्राऽनन्ते वाङ्मये चतुर्विधत्वमुपपादितं पूर्वं तच्चतुर्विधमपि प्रथमतो द्विविधम् । अनवच्छिन्नं, साऽवच्छिन्नं च, साऽवच्छिन्नमपि, वस्तुदेशकालाऽवच्छेदेन प्रत्येकं त्रिविधं भवति । एतेषां परस्परतारतम्यगुणेनेऽनन्ता भेदा भवन्ति । अत्रेदमवगन्तव्यम्—व्यापकतयोपकारकतया च श्रेष्ठत्वम् । अव्यापकतयाऽनुप-

---

प्रकाशमान कौतुककर्ता का बिषय है । क्योंकि उसका पूर्ण बोध नहीं होता तथा भविष्य में प्रकाशित होने का भी ज्ञान नहीं होता । हां, उत्कण्ठा का विषय होने से प्रकाशयिष्यमाण कौतुकपूर्ण होता है । वर्तमान काल तो भूत-भविष्य का सन्धिकाल है । योगी ही इसके स्वरूप को जान सकते हैं । योगियों के लिए सब कुछ दृश्य है । ऐसे योगियों की दृष्टि किसी विरल पुण्यशाली मानव शरीर पर पड़ती है ।

नवीन अत्यन्त कौतुकपूर्ण होता है । यह सबका प्रीतिकारक भी होता है । प्रीतिकर एवं हितकर में अन्तर होता है । कभी हितकर भी प्रीतिकर हो सकता है । कभी-कभी प्रीतिकर भी पूर्णतः प्रीतिकर नहीं होता । इसी प्रकार प्रीतिकर भी कदाचित् हितकर हो सकता है, कभी अहितकर भी होता है । महाकवि भारवि ने कहा भी है "हितकर एवं मनोहर वचन दुर्लभ होते हैं ।" नवीन

कारकतया च कनिष्ठत्वम् । इदं च बोध्यम्—व्यापकतया यदुपकारकं तदुत्तमम्, अव्यापकतया यदुपकारकं तन्मध्यमम्, अव्यापकतया यदनुपकारकं तदधमम्, व्यापकतया च यदनुपकारकं तदधमाऽधममिति व्यवस्था सर्वत्रेति । अथचेदं बोध्यम्—अस्य वाङ्मयस्य प्रसरो द्विधा भवति-संस्कृतं प्राकृतञ्च ।

संस्कृतमपि द्विविधम्—स्वतःसिद्धसंस्कारमण्डितमेकं, कल्पितसंस्कारवच्च द्वितीयम् । एवमेव प्राकृतमपि द्विविधम्—मूलप्राकृतं शाखाप्राकृतं चेति । तत्र सिद्धसंस्कृतं मूलप्राकृतं च समस्तवाङ्मयबीजतया, सम्प्राप्तपर वाक्साक्षात्काराणां पुरुषाणामेव पूर्णतया गोचरम् । अन्येषां च समस्तानां कल्पितसंस्कारवत् शाखाप्राकृतं च एतद्द्वयं मिश्रीभूतं व्यवहारसाधनम् । तत्राऽपि आर्याणां संस्कृतप्रधानमनार्याणां च प्राकृतप्रधानं भवति । कृतयुगे तावत् सिद्धसंस्कृताऽनुगता मूलप्राकृताऽऽधिक्यम् । त्रेतायुगे कल्पितसंस्काराधिक्यम् । द्वापरयुगे कल्पितसंस्काराऽनुगशाखाप्राकृताऽधिक्यम् कलौ । शाखाप्राकृताऽऽधिक्यम् । इदं चाऽतिरहस्यमपि किंचिदुच्यते—समष्टितत्त्वसाक्षात्कारेण सिद्धसंस्कृतबोधो भवति, शिवतत्त्वसाक्षात्कारेण मूलप्राकृतबोधो भवति, विद्यातत्त्वसाक्षात्कारेण कल्पितसंस्कृतबोधो भवति, आत्मतत्त्वसाक्षात्कारेण शाखाप्राकृतबोधो भवति । तत्त्वानि चैवम्—

वाङ्मय की रचना की प्रकृति स्वाभाविक होती है । उसका निवारण नहीं किया जा सकता है । वाङ्मय की रचना करना मनुष्य का स्वभाव है । जो बुद्धिमान् लोग स्वयं वाङ्मय की रचना में प्रवृत्त नहीं होते हैं उनके सम्बन्ध में तो कुछ नहीं कहना है, किन्तु जो अल्पबुद्धि के कारण अथवा प्रमाद के कारण वाङ्मय की रचना में प्रवृत्त नहीं होते हैं, वे इसकी रचना में प्रवृत्त हों–यह भाव है । वे लोग कुछ नवीन रचना करें । केवल पुराने का ही पिष्टपेषण न करें । यह नवीन रचना प्रीतिकारक एवं हितकारक भी होनी चाहिए । ऐसी रचना की जानी चाहिए, जो समस्त राष्ट्र के लिए हितकर हो । अपने राष्ट्र का हित तो अनार्य भी चाहते हैं, आर्य लोग तो राष्ट्र का हित चाहेंगे ही । वाङ्मय की नवीन रचना राष्ट्रभाषा अथवा धर्म्यभाषा में ही की जानी चाहिए । इससे इन दो भाषाओं के अतिरिक्त किसी अन्य भाषा में नवीन रचना पर नियन्त्रण लग जायेगा । यदि कोई व्यक्ति

मायान्तमात्मतत्त्वं विद्यातत्त्वं सदाशिवान्तं स्यात् ।
शक्तिशिवौ शिवतत्त्वं तुरीयतत्त्वं समष्टिरेतेषाम् ।। इति ।

इदं च बोध्यम्—पूर्वमुक्ता किल सङ्केतेन द्वादशविधा कालीति, षोडशविधा सुन्दरी चेति । तत्र तत्तद्भेदेन तद्भाषाबोधोऽपि सुकरः । इदं च बोध्यम्—तुर्याज्ञानविज्ञानेन सिद्धसंस्कृतज्ञता, सुषुप्तिज्ञानविज्ञानेन मूलप्राकृतज्ञता, स्वप्नज्ञानविज्ञानेन कल्पितसंस्कृतज्ञता, जाग्रद्ज्ञानविज्ञानेन शाखाप्राकृतज्ञता सम्पद्यते इति । इदमप्याकलनीयम्—परासाक्षात्कारेण सिद्धसंस्कृतज्ञता, पश्यन्तीसाक्षात्कारेण मूलप्राकृतज्ञता, मध्यमा-साक्षात्कारेण कल्पितसंस्कृतज्ञता, वैखरीसाक्षात्कारेण शाखाप्राकृतज्ञता प्राप्तुं शक्यते । इदं च बोध्यम्—सर्वमप्येतद् वाग्बीजस्य विधिवदु-पासनया सम्प्राप्यते । अलमनेन रहस्योद्घाटनेन । अथ चेदं बोध्यम्—वाङ्मयस्याऽस्य रचनाप्रसरस्त्रिधा भवति - गद्यपद्यमिश्रेति भेदेन । नियमितवर्णमात्रावत् गद्यम्, नियतिविशेषविशिष्टं पद्यम् । तदुभय-सम्मिलितं मिश्रम् इति । एतच्च सिद्धसंस्कृते, मूलप्राकृते, कल्पितसंस्कृते, शाखाप्राकृते चतुर्विधेऽपि वाक्प्रसरे भवति । इदं च बोध्यम्-यथाऽनुग्रह एव दृष्ट्यन्तरेण निग्रहो भवति, तथा सिद्धसंस्कृतमेव दृष्ट्यन्तरेण मूलप्राकृतं भवति । अथाऽग्रे मूलप्राकृतमेव कल्पितसंस्कारैः संस्कृतं कल्पितसंस्कृतं भवति, तदनन्तरं कल्पितसंस्कृतमेव करणापाटवादिना प्राकृतं भवति तच्छाखाप्राकृतम् । एतदपि विकृतिं गतं म्लेच्छं भवति । अत एव यदुक्तं ग्रन्थान्तरेषु—'प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवत्वात्प्राकृतं मतम्' इति तत्समी-चीनमेव । अतो ये केचन वदन्ति यत् प्राकृतमेव मूलं सर्वासां भाषाणा-मिति तदसमञ्जसमेवेति ते अज्ञा इत्युपेक्ष्याः । अथैतदपि बोध्यम्—

अधमनवीन रचना कर बैठे, तो उसका प्रचार-प्रसार नहीं करना चाहिए । प्रियकर भी हितकर होना चाहिए । इस प्रकार रचना किया जाने योग्य वाङ्मय चतुर्विध होता है—हितप्रीतिकारक, हितमप्रीतिकारक, अहितप्रीतिकारक अहिताप्रीतिकारक । इनमें से प्रथम आर्यराष्ट्रवादियों का, द्वितीय आर्यराज्यवादियों का, तृतीय अनार्य राष्ट्रवादियों का और चतुर्थ अनार्य राज्यवादियों का है । इसे चतुर्युगी के क्रम से भी समझा जाना चाहिए ।

जो व्यापक रूप से उपकारक हो, वह श्रेष्ठ है तथा जो अव्यापक रूप से उपकारक हो, वह कनिष्ठ है । जो अव्यापक रूप से अनुपकारक है, वह अधम है । जो व्यापक रूप से अनुपकारक है, वह अधमाधम है ।

इस वाङ्मय का प्रसार भी तीन प्रकार का है—संस्कृत, प्राकृत और विकृत । संस्कृत भी दो प्रकार की है-स्वतः सिद्ध संस्कारमण्डित तथा कल्पित

प्राकृतसंस्कृतसम्मिश्रणेन करणाऽपाटवापाटवाभ्यां मनुष्यसङ्केतवशाच्च नानाविधा भाषा भवन्ति । तासु च गद्यरूपेण मिश्ररूपेण च स्वाऽभिप्रायाः प्रकाश्यन्ते । त एव सूत्र-कारिका-टीका-पञ्जिका-भाष्य-वार्तिकेति भेदैः शास्त्राणि भवन्ति । अथ चेदमपि बोध्यम्—द्विविधं पुनरिदं वाङ्मयम्, उपदेशप्रधानं वर्णनप्रधानं चेति । तत्र उपदेशप्रधानं त्रिविधम्—प्रभुसम्मितोपदेशवत्, मित्रसम्मितोपदेशवत्, कान्तासम्मितोपदेशवच्चेति । प्रभुसम्मितोपदेशवत् शास्त्ररूपं तच्च सूत्रादिरूपम् । मित्रसम्मितोपदेशवत् पुराणादि । कान्तासम्मितोपदेशवच्च काव्यानि, तान्यपि दृश्यश्रव्य-भेदेन द्विविधानि, दृश्यानि नाटकानीति श्रव्यानि महाकाव्यानीति तान्यपि गद्यपद्यमयानि चम्पूरूपाणि, गद्यमयान्याख्यायिकाख्यानकादीनि, पद्यमयानि महाकाव्यादीनि । अथ वर्णनप्रधानमपि द्विविधम्—मनोरञ्जनं कल्पितवृत्तान्तरूपम् । एतदेवोपदेशप्रधानं चेत् काव्य-कोटौ निक्षेपणीयम् । केवलं मनोरञ्जनमेव चेत् कल्पित-वर्णनमेव । एतत्खल्वधमं वाङ्मयम् । द्वितीयं च भूता-र्थनिदर्शकम् । एतदेवोपदेशप्रधानमितिहासरूपम् । एतदेव मनोरञ्जन-पूर्वकोपदेशप्रधानं चेत् पुराणरूपं केवलं भूतार्थनिदर्शकमेव चेत् सत्योदन्तम् इति परिभाष्यते । इदं चोपयोगितया पत्रैः प्रसारणीयं राष्ट्रलाभाऽलाभौ निरीक्ष्य । 'सत्योदन्तम्' एव वाङ्मयं दैनिकपत्रैः, साप्ताहिकपत्रैः पाक्षिकपत्रैर्मासिकपत्रैस्त्रैमासिकपत्रैः वार्षिकविवरणादि-भिश्च प्रख्याप्यते । अथ च दानपत्राणि, सूचनापत्राणि, सन्धिपत्राणि,

---

संस्कार वाली । इसी प्रकार प्राकृत भी दो प्रकार की है—मूल प्राकृत एवं शाखा प्राकृत । सिद्ध संस्कृत एवं मूलप्राकृत समस्त वाङ्मय का बीज है. ये दोनों मिलकर व्यवहार का साधन बनती है । आर्यों का वाङ्मय संस्कृत प्रधान है तथा अनार्यों का प्राकृत प्रधान । कृतयुग में हम सिद्धसंस्कृत का व्यवहार करते हैं तथा त्रेता में कल्पित संस्कृत का । द्वापर में कल्पित संस्कारानुग शाखा प्राकृत का तथा कलियुग में शाखा प्राकृत का आधिक्य रहता है ।

समष्टितत्त्व के साक्षात्कार से सिद्ध संस्कृत का बोध होता है । शिवतत्त्व के साक्षात्कार से मूल प्राकृत का बोध होता है । विद्यातत्त्व के साक्षात्कार से कल्पित संस्कृत का बोध होता है तथा आत्मतत्त्व के साक्षात्कार से शाखा प्राकृत का बोध होता है ।

पहले संकेत किया गया था कि काली बारह प्रकार की है । सुन्दरी सोलह प्रकार की है । तुर्या के ज्ञान से सिद्ध संस्कृत का ज्ञान होता हैं । सुषुप्ति के ज्ञान

'प्रमाणपत्राणि' इत्यादि सर्वमपि सत्योदन्ते निवेशनीयम् । तत्र उपकारकाऽनुपकारकत्वपर्यालोचनया सङ्ग्राह्यत्व त्याज्यत्वं च व्यवस्थापनीयं सुधीभिः । अथ चैतद्वाङ्मयं परोक्षबोधनाय लिपीक्रियते । तत्र लिपयोऽपि पुरुषेच्छावशान्नानाविधा कल्प्यन्ते एतद्विषये पूर्वमुक्तमेव । अथ लिप्याधारा अपि पुरुषेच्छावशात् नानाविधाः परं च सर्वेऽपि पार्थिवा एव भवन्ति । यथा प्रस्तराः, पक्वेष्टकाः, स्वर्णादिधातुपत्राणि, काष्ठपट्टाः, कार्पासादिनिर्मितपटाः, भर्जपत्राणि, तालपत्राणि, पटसन्धितपत्राणि कर्गल आदीनि वृक्षविशषोद्भवदुग्धगोधूमादिमेलनसाधितपत्राणि, एवमादि यथोपयोगिलेखाधारा बोध्याः । लेखसाधनानि नानाविधमस्यादीनि यथायथमूह्यानि । एतत्सर्वमपि राष्ट्रहितैषी राष्ट्रियो रचयेदित्युपदिष्टम् । भवेतु विस्तरभियाऽत्रैव विरम्यते ।।39।।

एवं ज्ञानप्रचारसाधनेषु पुस्तकालय-वाचनालय-मुद्रणालय-वृत्तपत्रप्रसारण नूतनवाङमयनिर्माणादीनि साधनानि राष्ट्रसमुन्नतिकराणि निरूप्येदानीं राष्ट्रज्ञानप्रचारिपरिषदां स्थापनां वक्तुकाम आह-

प्रतिग्रामं विधातव्या राष्ट्रज्ञानस्य शोभनाः ।।
प्रचारिण्यः परिषदो राष्ट्रोन्नतिचिकीर्षुभिः ।।40।।

प्रतिग्राममिति । राष्ट्रोन्नतिचिकीर्षुभिः—प्रतिग्रामं—राष्ट्रज्ञानस्य—प्रचारिण्यः—शोभनाः—परिषदः विधातव्याः । इति योजना ।

'राष्ट्रोन्नतिचिकीर्षुभिः–राष्ट्रस्य=पूर्वोक्तलक्षणलक्षितस्य । उन्नतिः अभ्युदयः निःश्रेयसं च तस्याः चिकीर्षवः=कर्तुमिच्छवः तैः पुंस्त्वमविवक्षितमत्र । राष्ट्रोन्नतिचिकीर्षायां मनुष्यमात्रस्याऽधिकारात् । प्रतिग्रामम्—ग्रामे ग्रामे इत्यर्थः । प्रतिशब्दो वीप्साद्योतकः । ग्रामशब्देन

से मूल प्राकृत का ज्ञान होता है । स्वल्प ज्ञानविज्ञान से कल्पित सस्कृत का ज्ञान होता है । जाग्रत ज्ञान-विज्ञान से शाखा प्राकृत का ज्ञान होता है ।

इन्हीं विचारों का आकलन इस प्रकार किया जा रहा है । परा के साक्षात्कार से सिद्ध संस्कृत का ज्ञान, पश्यन्ती के साक्षात्कार से मूल प्राकृत का ज्ञान, मध्यमा के साक्षात्कार से कल्पित संस्कृत का ज्ञान तथा वैखरी के साक्षात्कार से शाखा प्राकृत का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है । यह सब कुछ वाग्बीज की अच्छी प्रकार उपासना करने से प्राप्त होता है ।

वाङ्मय का रचना-प्रसार तीन प्रकार का है । गद्य,पद्य, मिश्र या चम्पू । सिद्ध संस्कृत ही दृष्ट्यन्तर से मूलप्राकृत हो जाती है । मूल प्राकृत ही कल्पित संस्कारों से संस्कृत होने पर कल्पित संस्कृत हो जाती है । कल्पित संस्कृत ही इन्द्रियों की अकुशलता के कारण प्राकृत हो जाती है । जब यह विकृत होती है,

सह च तस्य "अव्ययं विभक्तिसमीप" (पा सू 2.1.6) इत्यादिना समासः। यथार्थेऽन्तर्भावो वीप्सायाः। तदाह सिद्धान्तकौमुद्यां श्रीमान् भट्टोजी-दीक्षितः--"योग्यतावीप्सापदार्थाऽनतिवृत्तिसादृश्यानि यथार्थाः" इति। "लक्षणत्थम्भूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः" (पा.सू 1/4/90) इत्यनेन कर्मप्रवचनीयतया 'तद्योगे कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' (पा सू 2/3/8) इति द्वितीयायां ग्रामे ग्रामे इत्यर्थे 'ग्रामं ग्रामं प्रति' इति वाक्यं भवति। तदर्थे एवाऽव्ययीभावसमासे "अव्ययम्" (पा. सू 2/1/6) इत्याद्युक्तसूत्रेण प्रतिग्रामम् इति साध्विति सर्वत्र योज्यम्। 'राष्ट्रज्ञानस्य'--राष्ट्रं = पूर्वोक्तलक्षणलक्षितं तस्य ज्ञानं=बोधः एतदपि पूर्वं वर्णितम्। तस्य सम्बन्धसामान्ये षष्ठी, प्रचार्यप्रचारकभावसम्बन्धोऽत्र। 'प्रचारिण्यः'—प्रचारयितुं शीलं यासां ताः प्रचारिण्यः स्वभावेनैव प्रचारकार्यकारिण्य इति भावः। 'शोभनाः'=प्रकाशमाना, 'परिषदः'—परितः सीदन्ति=गच्छन्ति यत्र ताः परिषदः=सङ्घा इति यावत् विधातव्या=विधातुं=कर्तुं योग्याः अवश्य कार्या इति यावत्। परिषदः=सभा इति भावः।

अत्रेदमाकूतम्—राष्ट्रसमुन्नतिसाधनेषु निरूपिता किल पाठशाला-महाविद्यालय—रणविद्यालय—पुस्तकालय—वाचनालय-मुद्रणालयादि-स्थापना। अथ च तत्तच्छिक्षादिभिः बलिकानां तथा सम्पाद्यत्वमभिहितम्। अथ च एतत्समस्तोपकारक नवीनं वाङ्मयं रचनीयमित्युक्तम्। परमेतस्य सर्वस्याऽपि सम्पादन न कस्याऽपि समुचितस्य विधरवलम्बनमन्तरेण भवितुं शक्यमिति समालोच्य तादृशावधेरेव निरूपणाय कारिकाया

तब म्लेच्छ हो जाती है। अन्य ग्रन्थों में भी कहा है। प्रकृति तो संस्कृत है, इससे जो उत्पन्न होती है, वह प्राकृत है। जो लोग यह कहते हैं कि प्राकृत ही सब भाषाओं का मूल है–यह कथन युक्तियुक्त नहीं है।

प्राकृत एवं संस्कृत के मिश्रण से, इन्द्रियों की कुशलता एवं अकुशलता से, मनुष्यों के संकेत से, अनेक भाषाएं उत्पन्न होती हैं। मानव उन्हीं भाषाओं में गद्य,पद्य एवं चम्पू के रूप में अपने अभिप्राय को प्रकट करते हैं।

यह वाङ्मय दो प्रकार का है—उपदेश प्रधान एवं वर्णन प्रधान। उपदेश प्रधान वाङ्मय के तीन भेद है—प्रभुसम्मित उपदेश, मित्रसम्मित उपदेश तथा कान्तासम्मित उपदेश। शास्त्र प्रभुसम्मित उपदेश के समान हैं। पुराण मित्र-सम्मित उपदेश के समान है तथा काव्य कान्तासम्मित उपदेश के समान। दृश्य-श्रव्य भेद से काव्य भी दो प्रकार के हैं। नाटकादि दृश्यकाव्य हैं तथा महा-

अस्या आरम्भः 'प्रतिग्रामम्' इत्यस्याः। प्रतिग्राममित्यनेन यस्मिन् कस्मिंश्चिदग्रामे परिषत्स्थापनमात्रेण न कृतार्थतेति बोध्यते। विधातव्या इत्यनेन च विधिवाक्यत्वं समवगम्यते। तेनैतदुल्लङ्घने प्रत्यवायो बोध्यते। अपूर्वविधिश्चायम्। "अहरहः सन्ध्यामुपासीत" इतिवत्। राष्ट्रोन्नतिचिकार्षुभिः' इत्यनेन च नित्यकाम्यत्वमस्य विधेर्बोध्यते। ये किल राष्ट्रोन्नतिचिकीर्षवः ते राष्ट्रज्ञानं प्रचारयन्तु इति पूर्वविधेरेवाऽनुवादः। अयं भावः—स्वसमुन्नतिचिकीर्षा वस्तुमात्रस्यैव भवतीति स्वभावः। तत्राऽपि वस्तुमात्रे स्वातन्त्र्यविकासतारतम्येन न्यूनाऽधिक्यं च दृश्यत एव। इह लोके च मनुष्यस्य सर्वतोऽधिकस्वातन्त्र्यशालितया सर्वतोऽधिकतया स्वसमुन्नतिचिकीर्षा स्वाभाविक्येव। सा च राष्ट्रसमुन्नत्यायत्तेति पूर्वमेव कारिकयोर्भाष्ये निरूपितमेव। राष्ट्रसमुन्नतिरपि राष्ट्रज्ञानाऽवलम्बिनीत्याद्यपि कारिकाभाष्ये स्फुटमेव प्रतिपादितम्। तद् राष्ट्रज्ञानमुद्दिश्यैव सुमहत् साधनं परिषद् रूपं निधीयते प्रचाराय। अयमाशयः—यथासमस्तविधज्ञानानां मूल विज्ञानं, समस्तविधविज्ञानानां च निदानं विज्ञानी भवति, यदिच्छामात्रेणऽनन्तकोटिब्रह्माण्डानां सृष्टिस्थितिलया भवन्ति एवमेव राष्ट्रस्वातन्त्रस्य मूलं राष्ट्रज्ञानं, तच्च चतुर्धोपयुज्यते, आगमेन, बोधेन, आचारेण, प्रचारेण चेत्युक्तं पूर्वम्। तत्र प्रचाराधीनास्त्रयो राष्ट्रज्ञानोपयोगाः। अतो राष्ट्रज्ञानप्रचार एव मूलम्। प्रचारश्च व्यष्टिकृतः समष्टिकृतश्च भवति "नहृषिमतं संविज्ञातं भवति" इति श्रुत्यनुसारेण परिषत्कृतः प्रचारो व्यक्तिकृतप्रचाराऽपेक्षया सम्मान्यो भवत्यथ चाऽशिथिलोऽपि भवति। तदेवं सर्वं समालोच्य परिषत्स्थापनं

काव्यादि श्रव्यकाव्य हैं। गद्य-गद्य मय काव्य चम्पू कहलाते हैं। वर्णन प्रधान वाङ्मय भी दो प्रकार का है। मनोरंजन कल्पित वृत्तान्त रूप है। यदि यह उपदेश प्रधान हो, तो इसे काव्य की कोटि में रक्खा जा सकता है। यदि वह केवल मनोरंजन ही है, तो उसे कल्पित वर्णन क रूप में ग्रहण किया जा सकता है। यह अधम वाङ्मय है। उपदेश प्रधान वाङ्मय को इतिहास के रूप में ग्रहण किया जाता है। यदि यह मनोरंजक और उपदेशप्रधान हो, तो पुराणों की तरह तथ्यार्थ का निदर्शक हो जाता है।

सत्यवृत्तान्त रूपी वाङ्मय को दैनिक, साप्ताहिक पाक्षिक, मासिक, त्रैमासिक, वार्षिक पत्रों के माध्यम से प्रसारित करना चाहिए। दानपत्र, सूचना-पत्र, सन्धिपत्र, प्रमाण-पत्र, इनका समावेश सत्योदन्त के रूप में होता है। इनमें जो संग्राह्य हों अथवा त्याज्य हों, इसका निर्धारण विद्वानों को स्वयं करना चाहिए।

विधीयते। 'परिषदः' इति बहुवचनं च कार्यबाहुल्यात् स्थानबाहुल्यात्, बहुत्वबोधकम्। 'शोभनाः' इत्यनेन च यथायोग्यत्व ध्वन्यते। 'प्रचारिण्यः' इति ताच्छील्यणिनिना स्वभावेनैव प्रचारकारित्वं ध्वनितम्। तेन स्वभावत एव ये प्रचारपरायणा मनुष्यास्तेषां परिषद्विधेयेति बोध्यते। यद्यपि काशिकाकार-हरदत्त-माधवादिमते उपसर्गभिन्न एव सुपि "सुप्य-जातौ णिनिस्ताच्छील्ये" (पा सू 3-2-75) इत्यस्य प्रवृत्तिः स्वीकृता, तथाऽपि 'महाभाष्यविरोधात्त' उपेक्ष्या एव। अत एव "न्यषेधि शेषोऽ यनु-यायिवर्गः" (र. 2/4) "पतत्यधो धाम विसारि सर्वतः" (शशु 1/21) "न वञ्चनीयाः प्रभवोऽनुजीविभिः" (किरा. 1/4) एते प्रयोगाः 'सिद्ध्यन्ति'। सर्वथाऽपि सुमात्रे उपपदे णिनिः न त्वनुपसर्ग एवेति सिद्धान्तः। शब्दकौस्तुभे स्पष्टमेतत्। भवतु सर्वमेतद्व्याकरणतन्त्रे एव स्पष्टम्। एतादृशाः परिषदो ग्रामे ग्रामे निधातव्याः। परिषत् च शोभना यथायोग्य-कार्यज्ञानप्रचारदक्षा विधेया। अत्रेदं बोध्यम्—राष्ट्रस्य हि बहून्यङ्गानि भवन्ति बहूनि चोपाङ्गानि। तेषां सर्वेषां यथायोग्यव्यवस्थया राष्ट्रपोषणं भवति पोषितं च राष्ट्रं समस्ताऽङ्गोपाङ्गानि पोषयति। अतस्तत्तदङ्ग-पोषणोपायविज्ञानां यथायोग्याभीष्टग्रामेषु परिषदो विधातव्याः ताश्च राष्ट्रस्य तत्तदुचितं ज्ञानं प्रचारयेयुरिति। किं चेदमपि बोध्यम्-इमाः परिषदः पूर्वं यथायथं विविच्य कार्याकार्ये तद्विषये व्याख्यानेन, लेखनेन, शिक्षणेन, स्वयमाचर्य च कार्याणि राष्ट्रोपयुक्तं ज्ञानं प्रचारयेयुः। अथ च परिषत्पदेन सङ्घस्य लोकमान्यत्वं ध्वनितम्। लोकमान्यत्वं च शोभनत्वेन भवति। शोभनत्वं च राष्ट्रहितकरणेन भवति। इदं च बोध्यम्-राष्ट्र-ज्ञानस्य प्रचारश्च पाठनेन बोधनेन आचारेण भवति। तेन ग्रामे ग्रामे

इस वाङ्मय को भविष्य में उद्बोधन करने हेतु लिपिबद्ध किया जाता है। भिन्न-भिन्न पुरुषों की लिपियां भी भिन्न-भिन्न होती है। लिप्यासन पुरुषेच्छा-नुसार विविध होते हैं, किन्तु वे सभी पार्थिव पदार्थ होते हैं जैसे प्रस्तर. ईट, स्वर्णादि धातुपत्र, कार्पासनिर्मित वस्त्र, भूर्जपत्र, तालपत्र, कागज, वृक्ष विशेष के दूध ओर गेहूं के सम्मिश्रण से बने पत्र आदि को लिपि का आधार माना जाता है। अनेक प्रकार की स्याही भी लेख का आधार होती है।

इस प्रकार ज्ञान के प्रचार के साधन, पुस्तकालय वाचनालय, मुद्रणालय, वृत्तपत्र प्रसारण, नूतनवाङ्मयनिर्माण, आदि साधन राष्ट्र की उन्नति करने वाले हैं। इसीलिए इनका निरूपण किया गया।

अब राष्ट्रज्ञान का प्रचार करने वाली परिषदों की स्थापना के सम्बन्ध में विचार किया जा रहा है :—

एकैका परिषद्विधेया । तत्रेदं बोध्यम्—ग्रामस्थान् सर्वानपि सङ्घीकृत्य राष्ट्रोन्नतिचिकोर्षवः पुरुषा राष्ट्रहितं कैरुपायैर्भवतीति व्याख्यानेन बोधयेयुः। अनन्तरं तदाचरणनियन्त्रणाय तत्रत्यानामेव तत्तत्कार्यविदुषामेकां परिषदं स्थापयेयुः । ग्रामशब्दोऽत्र मनुष्यसमूहवसतिस्थानानामुपलक्षणमिति "प्रतिग्रामम्" (रा-26) इति कारिकाभाष्ये निरूपितं, तदत्राऽपि बोध्यम् । एवं च ग्रामादिनगरपर्यन्तेषु परिषदः स्थाप्याः, तासु च विचारका अपि स्वभावनैव यथाशक्यं समुन्नतिचिकीर्षव एव भवेयुः । रभसात्कृतं कारितं वा कार्यं न सम्यक् प्रचलति । अथ च परिषत् शोभना विधातव्या । अस्यायमाशयः—परिषन्नियुक्ता हि सदाचारिणो निग्रहाऽनुग्रहसमर्था निर्लोभा मतिमन्तो यथाशक्यमार्यराष्ट्रवादिनः समदर्शिनो नियमितास्तत्तद्विद्याकलापारवारपारीणा भवेयुः । यावत्येवांशे परिषन्नियुक्तानां शोभनत्वं भवति तावत्येवांशे राष्ट्रज्ञानप्रचाराऽऽधिक्यं, तेन च तावत्येवांशे राष्ट्रोन्नत्याधिक्यमपि भवति इति । किं चेदमप्याकलनीयम्—ग्रामादीनां कल्याणाय किं किमावश्यकं तत्तद्विविच्य परिषदि तद्योगक्षेमार्थं प्रयतनीयम् । ताः परिषदः साप्ताहिकादीनि त्रैवार्षिकान्तान्यधिवेशनानि नियमेन कुर्युः । आवश्यकताऽनुसारेण विशेषाऽधिवेशनान्यपि कुर्युः । तत्राऽऽवश्यकान् प्रस्तावान् सम्मतीकृत्य तत्पूरणाय यतेरन् । अथ चेदमपि बोध्यम्—एकस्मिन् मण्डले यावन्तो ग्रामास्तावत्य एव ग्रामपरिषदः । ताः सर्वा अपि स्वस्वपरिषदि सर्वतो योग्य पुरुषं नियोज्य मण्डलपरिषदो नियोजनं विदध्युः । राष्ट्रपरिषन्महाराष्ट्रपरिषच्चाग्रे

प्रतिग्रामं विधातव्या राष्ट्रज्ञानस्य शोभना : ।
प्रचारिण्यः परिषदो राष्ट्रोन्नतिचिकीर्षुभिः ।।40।।

राष्ट्र की उन्नति की इच्छा करने वाले मनुष्यों को राष्ट्रज्ञान का प्रचार करने वाली सुन्दर परिषदों का निर्माण प्रत्येक गांव में करना चाहिए। अपनी उन्नति की इच्छा तो वस्तुमात्र की होती है, किन्तु प्रत्येक वस्तु में स्वातन्त्र्य-विकास का तारतम्य न्यूनाधिक होता है । इस लोक में मनुष्य ही सर्वाधिक स्वतन्त्र है और उसे अपनी उन्नति की स्वाभाविकी इच्छा अधिक रहती है, किन्तु यह उन्नति राष्ट्र-समुन्नति के लिए होनी चाहिए। राष्ट्रसमुन्नति राष्ट्रज्ञानाश्रिता होती है । उक्त परिषद् राष्ट्रोन्नति का बहुत बड़ा साधन है। जिस प्रकार सभी प्रकार के ज्ञानों का मूल विज्ञान है और सभी विज्ञानों का मूल विज्ञानी, (ब्रह्म) होता है, जिसकी इच्छा मात्र से अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों की सृष्टि, स्थिति

मूले एव व्याख्यास्यते । अत एव राष्ट्रोन्नतिचिकीर्षुभिरित्युक्तं, न ग्रामोन्नतिचिकीर्षुभिरिति । एवं च ग्रामपरिषत्, शाखानगरपरिषत्, नगरपरिषद् इत्याद्याः सर्वा अपि राष्ट्रान्तर्गता आंशिक्यः परिषदः सूचिताः । ताः सर्वा अपि राष्ट्रज्ञानस्य शोभनतया प्रचारं कुर्युः । इदं च बोध्यम्—परिषदि खलु द्विविधा भवन्ति नियोज्याः । एके सामान्याऽधिकारवन्तो परे च विशेषाऽधिकारवन्तः । तत्र अध्यक्षोपाध्यक्षमन्त्र्युपमन्त्रिकोशाध्यक्षा कोशोपाध्यक्षा यथायोग्यं विधेयास्त एते विशेषाऽधिकारिणः । एते परिषन्नियुक्तैरेव विधेयाः सामान्याश्च तत्तद्ग्रामादिस्थैर्लोकैरेव नियोज्या यथायोग्यकार्यदक्षत्वमवलोक्य । इद च बोध्यम् कार्यगौरव-लाघवं वीक्ष्य समस्तग्रामसम्मतिरपि ग्राह्या, तदर्थं विशेषाऽधिवेशनमपि विधेयम् । अथ च यावत्पञ्चशतीं प्रतिशतं च पुरुषा नियोज्याः परिषदि । तदुत्तरं सहस्रपर्यन्तं प्रतिशत द्वौ, तदुत्तरं सार्द्धद्विसहस्रपर्यन्तं प्रतिशतमेकः, तदुत्तरं पञ्चसहस्रपर्यन्तं प्रतिद्विशतमेक, तदुत्तरं दशसहस्रपर्यन्तं प्रतिचतुःशतमेकः, तदुत्तरं यावद्विंशतिसहस्रं प्रत्यष्टशतमेकः तदुत्तरं यावच्चत्वारिंशत्सहस्रं प्रतिषोडशशतमेकः इत्यादि यथायथं शोभनत्वं सुधीभिः स्वयमेवोह्यम् । ताश्च परिषदः स्वस्वनियोजकानां सर्वमपि राष्ट्रदृष्ट्या हिताऽहितं विविच्य तदनुकूलाचाराणां प्रचारं विदधीरन् । ताः किल वक्ष्यमाणानां सर्वेषामपि समुन्नतिसाधनानां प्रचारं कुर्युः । उक्तानां च साधनानामपि प्रचारश्च समुपयुक्तः सर्वविधोऽपि ग्राह्यः । ततश्चोक्तानां सर्वेषामपि पाठशालादीनामुन्नति-

---

और लय होता है, उसी प्रकार राष्ट्रस्वातन्त्र्य का मूल राष्ट्र ज्ञान है । उसका प्रयोग चार प्रकार से किया जाता है—आगम से, बोध से, आचार से एवं प्रचार से । राष्ट्रज्ञान का प्रचार करना ही मूल उद्देश्य है । यह प्रचार व्यष्टिकृत भी है और समष्टिकृत भी ।

परिषद् के द्वारा किया गया प्रचार व्यक्तिकृत प्रचार की अपेक्षा सम्मान के योग्य होता है तथा अशिथल भी होता है । इन सब बातों को ध्यान में रखकर ही परिषद् की स्थापना की जाती है । यह परिषद् अच्छी हो, यथायोग्य कार्य के ज्ञान के प्रचार में दक्ष होनी चाहिए । राष्ट्र के बहुत से अंग और उपांग हैं । उन सब की यथायोग्य व्यवस्था से ही राष्ट्र का पोषण होता है । पोषित-राष्ट्र राष्ट्र के समस्त अंगोपांगों का पोषण करता है । राष्ट्र के अंगोपांगों के पोषण का जिनको ज्ञान हो, ऐसे लोगों द्वारा यथायोग्य अभीष्ट गांवों में परिषदों की

साधनानां सक्रियः प्रचारः परिषद्भिर्यथायथं कार्य इति बोधितं भवति। 'शोभना' इति पदेन सर्वमपीदं ध्वन्यते। इदं च बोध्यम्--सर्वस्याऽपि राष्ट्रस्य तत्तदङ्गोपाङ्गज्ञानविज्ञाननिपुणा राष्ट्रज्ञानस्य प्रचारिणीः परिषदो विदध्यीरन्। अयमाशयः--शिशुशिक्षाविदां परिषदः शिशुशिक्षां, बालशिक्षाविदां बालशिक्षां, प्रौढशिक्षाविदां प्रौढशिक्षां, रणशिक्षाविदां रणशिक्षां, पुस्तकालयविदां पुस्तकालयप्रचारं, वृत्तपत्रविदां वृत्तपत्राणि, ग्रन्थनिर्माणविदां ग्रन्थान्, वाचनालयविदां वाचनालयान्, स्त्रीशिक्षाविदां स्त्रीशिक्षां कृषिशिक्षाविदां कृषिशिक्षामेव तत्तद्विज्ञानिनां परिषदः तत्तद्विज्ञानं प्रचारयेयुः, इत्येव सर्वमपि यथायोग्यमूह्यम्। विस्तरभियाऽत्रैव विरम्यते इति ॥40॥

एवं राष्ट्रसमुन्नतिसाधनेषु राष्ट्रज्ञानप्रचाराय तत्र तत्र परिषदां संस्थापनमुक्त्वा सम्प्रति राष्ट्रसमुन्नतावितिहासाऽवगतेर्मुख्य-साधनतया तच्छ्रावणमपि प्रतिपादयन्नाह—

तेषु तेषु च पर्वसु पर्वमाहात्म्यकोविदाः ॥
पर्वेतिहासं सम्पूर्णं श्रावयेयुः स्वराष्ट्रियान् ॥41॥

तेषु तेष्विति। पर्वमाहात्म्यकोविदाः—स्वराष्ट्रियान्—सम्पूर्णं—पर्वेतिहासं—श्रावयेयुः। इति पदयोजनिका।

"पर्वमाहात्म्यकोविदाः"--पर्वाणि विशेषदिनानि, तेषां माहात्म्यं= महिमा, तस्य तस्मिन् वा कोविदाः=विद्वांसः, तेषु तेषु च=निखिलेष्वपि 'पर्वसु'=उत्सवदिनेषु 'स्वराष्ट्रियान्'=चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धिनि

स्थापना की जानी चाहिए। ये परिषदें राष्ट्रज्ञान का उचित प्रचार करें। यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि ये परिषदें पहले ठीक ढंग से विचार-विमर्श करें। इस सम्बन्ध में व्याख्यान लेख, शिक्षण, आचरण आदि के द्वारा राष्ट्र के संघ का उपयुक्त ज्ञान का प्रचार करें। परिषद् पद से संघ का लोकमान्यत्व ध्वनित होता है। लोकमान्यत्व शोभनत्व से होता है और शोभनत्व राष्ट्र का हित करने से सिद्ध होता है। राष्ट्रज्ञान का प्रचार पाठन से, बोधन से तथा आचरण से होता है। अतः प्रत्येक गांव में एक-एक परिषद् गठित की जानी चाहिए। गांव के सभी लोगों को एकत्र करके राष्ट्रहित के सम्बन्ध में विचार किया जाना चाहिए कि राष्ट्रहित किन उपायों से होता है। तदनन्तर उनके आचरण को नियन्त्रित करने के लिए विद्वानों की एक परिषद् गठित करनी चाहिए। ग्राम शब्द मनुष्यसमूह का वाचक है। जब गांव से लेकर नगर तक परिषदों की

राष्ट्रे जातान् 'सम्पूर्णम्'=आद्योपान्तम्, 'पर्वेतिहासम्'—पर्वणाम्=समयविशेषाणां इतिहासः=पुरावृत्तम्, 'श्रावयेयुः'=कर्णगोचरी कारयेयुः इति।

अत्रेदं तत्त्वम्—प्रचारः किल राष्ट्रज्ञानस्य वर्णितः। राष्ट्रज्ञानं च बहुभिः प्रकारैः प्रचारयितुं शक्यते। तेषु सर्वेष्वपि प्रकारेषु राष्ट्रेतिहासप्रचारो मुख्यः, इति बोधयितुमस्याः कारिकाया आरम्भः। इदं चाऽवगम्यम्-यद्यपि अन्याऽन्यविषयाऽध्ययनेन सह विद्यालय इतिहासाध्ययनमपि भवेदेव, तथाऽपि समस्ताऽध्ययनेषु मुख्यतयाऽस्मिन् विशेषः प्रयत्न आचरणीय इति। यतः प्रधानेषु कृतो यत्नः फलवान् भवति। इतिहासज्ञानमन्तरा खलु समस्तमपि वृथैव ज्ञानम्। यतः खलु भूतार्थ इतिहासः। भूतं वर्तमान-भविष्यतोर्मूलम् इति। किंचेदमप्याकलनीयम्—भावानां क्रमाऽवभासको हि कालः। अयं हि नवं नवमाविष्करोति पुराण, पुराणं च कालयन् लालयति। कदाचित् कंचिद्भाव सुखयति, कदाचिच्च दुःखयति। तत्राऽनुकूल्यबोधेन सुख प्रातिकूल्यबोधेन च दुःखमिति विवेकः। एव च सुखकरः समयः पर्वेत्युच्यते। तत्र च लोक उत्सवमाचरति। प्रथमं तावत्कारणविशेषेण कालविशेषः, पुरुषविशेषेण मनोवाञ्छितपूरणतया पर्व इत्युद्घोष्यते। स च पुरुषः कामनापूरणजन्याऽऽनन्दविशेषस्तत्र पर्वणि यथाऽभिलषितरीत्योत्सवमाचरति। अथ तदनन्तरं तस्य साक्षात्परम्परा-नुयायिनस्तदाचरितरीत्या तत्र पर्वण्युत्सवमाचरन्तो दृश्यन्ते। अनन्तरं कालक्रमेण केचिल्लुप्यन्ते, केचिच्च नवनवाः प्रादुर्भवन्ति।

स्थापना हो जायेगी, तो सभी राष्ट्रोन्नति चाहने वाले पुरुष राष्ट्रहित की बात ही सोचेंगे। वेगपूर्वक किया गया अथवा करवाया गया कार्य अच्छी प्रकार नहीं चलता, इसलिए कहा गया है कि अच्छी परिषद् बनाई जाय। इसका यह आशय है कि इस परिषद् में युक्त, सदाचारी, निग्रहानुग्रहसमर्थ, निर्लोभ, बुद्धिमान्, आर्यराष्ट्रवादी, समदर्शी, नियमित, विविध कलाओं में पारगत लोग होने चाहिए। परिषद् में नियुक्त व्यक्ति जितने अंशों में अच्छे होंगे, उतने अंशों में राष्ट्रज्ञान का प्रचार भी अधिक होगा। फलतः उतने ही अंशों में राष्ट्र की उन्नति अधिक होगी।

ग्रामों के कल्याण के लिए क्या-क्या करना आवश्यक है ? उस परिषद् में यह विचार भी किया जाना चाहिए। ग्रामों के योगक्षेम का प्रयत्न भी करना चाहिए। यह परिषद् नियमित रूप से साप्ताहिक से लेकर त्रैवार्षिक अधिवेशनों

गताऽनुगतिका लोकाः खलु तदितिहासमविज्ञायाऽपि तेषु तेषु पर्वसु गड्डलिकाप्रवाहन्यायेनोत्सवमाचरन्ति । अत एव नानाविधा दोषा उत्पद्यन्ते । ते च दोषा अवनतिगर्त पातयन्तीत्यहो कष्टकरं पर्वेतिहासाऽनभिज्ञानमिति सर्वमपि समालोच्य तदवनतिसूत्रमेव निकृन्तनीयमिति वक्तुं पर्वेतिहासश्रावणं विदधात्याचार्यः । इदं च बोध्यम्—सर्वोऽपि जीवलोकः खलु उत्सवाऽऽकाङ्क्षी निसर्गत एवेत्युत्सर्गः । उत्सवश्च सुख-दुःखमिश्रेऽत्र व्यवहारे न सर्वदा सर्वत्र वा भवितुं शक्यः । अत एव सुखाऽवसरे उत्सवः क्रियते । स एवाऽवसरः पर्वेत्युच्यत इत्युक्तमपरि । इदानीं पर्वप्रकारतात्रिषयेऽपि निरूपणीयमिति साम्प्रतम । पर्वाणि खलु नानाविधानि, तथाहि कानिचित् प्रकृतिकल्पितानि, कानिचिच्च जीवकल्पितानि । प्रकृतिकल्पितानि पर्वाणि सन्धिकालाः । ते कल्याणकरा भवन्त्वित्यर्थं समस्तजगन्नियन्तुस्तेषु प्रार्थना क्रियते । सा च यथायथं कृता यथेष्टं फलं प्रसूते । एवं हि समस्ततद्राष्ट्राणां स्वातन्त्र्यादिप्राप्तिदिनानि, समस्ता अपि सन्धिकालाः पर्वाणि भवन्ति । परं समस्तसन्धिकालानामाकलनं योगिन एव कर्तुं पारयन्ति । अतस्तैर्निर्धारितेषु पर्वसु कल्याणाकाङ्क्षिभिरुत्सवः कार्यो विधिना । भवतु । स्थूलसन्धिकाला यथा वर्षारम्भः सौरश्चान्द्रश्च, मासाऽऽरम्भः सौरश्चान्द्रश्च, तत्र चान्द्रो द्विविधोऽपि । एवं च पूर्णिमासी अमावास्या च पर्व भवति । अथ चन्द्रमसः षोडशकलावत्त्वेनाष्टमकलाया नवमकलायाश्चैको महासन्धिरित्यष्टम्यपि पर्व । अथ दिनरात्र्योः सन्धिद्वयं प्रातःकालः सायंकालश्चेति । पूर्वाह्णाऽपराह्णयोः सन्धिरेकः, पूर्वरात्राऽपररात्रयोरेकः

तक का आयोजन करें । आवश्यकतानुसार विशेष अधिवेशन भी बुलावें । उनमें आवश्यक प्रस्ताव पारित कराने का प्रयत्न करें । एक मण्डल में जितने गांव हैं, उन सब की एक ग्रामपरिषद् हो । वे सभी परिषदें अपनी-अपनी परिषद् में सर्वयोग्य पुरुष को नियुक्त करके मण्डल परिषदों का नियोजन करें ।

इस प्रकार ग्राम परिषद्, शाखा नगर परिषद्, नगर परिषद्—ये सब राष्ट्र के अन्तर्गत हैं । ये आंशिक परिषदें राष्ट्रज्ञान का अच्छी प्रकार प्रचार करें । परिषद् में दो प्रकार के व्यक्तियों की नियुक्ति की जानी चाहिए । कुछ सदस्य सामान्य अधिकार वाले हों और कुछ विशेष अधिकार वाले । विशेषाधिकार वाले व्यक्ति अध्यक्ष, उपाध्यक्ष, मन्त्री, उपमन्त्री, कोषाध्यक्ष, कोषोपाध्यक्ष होते हैं । इनकी नियुक्ति परिषद् के नियोक्ता द्वारा ही करनी चाहिए । सामान्य सदस्यों की नियुक्ति उन-उन गांवों के लोगों में से करनी चाहिए । कार्य की गुरुता और

सन्धिरित्यपि पर्वद्वयम् । एवमादीनि स्थूलपर्वाणि । अथ कल्पितपर्वाणि यथा—महापुरुषाणां जन्मदिनानि, तेषां विशिष्टाऽधिकारप्राप्तिदिनानि । एव तत्तद्वर्णानां तत्तज्जातीनां च विशिष्टोन्नतिदिनानि । एवं तत्तद्विशिष्टवस्तुप्रादुर्भावदिनानि । एव महापुरुषाणां मरणदिनानि । तथाऽन्यान्यपि यथेष्टं पर्वदिनानि स्थापयितुं शक्यन्ते । एतेषु समस्तेष्वपि पर्वसु प्रायो लोका उत्सवमाचरन्ति । तत्र विषये एवं व्यवस्थाप्यते—यत्र यत्र राष्ट्रे यानि यानि पर्वाणि सोत्सवानि क्रियन्ते, तत्र-तत्र राष्ट्रे तेषु तेषु पर्वसु तत्तत्पर्वमाहात्म्यकोविदैः तत्तत्पर्वणामितिहासः समस्तोऽपि साङ्गोपाङ्गः सम्यक् तत्तद्राष्ट्रजेभ्यः श्रावयितव्यः । श्रावयेयुरिति विधिः । अयं भावः— यत्रोत्सवः क्रियते लोकैस्तत्पर्व प्राकृतिकं वा जैवं वा, तत्र किं कार्यमकार्यं वा, किं च तस्य फलं किंवा तत्कर्मसाधनाय सामग्र्यपेक्ष्यते, अथ तत्कदाप्रभृति प्रचलति, तत् प्रारम्भसमये युक्तमयुक्तं वा ऽऽसीत्, इदानीं तत्परिचालनं युक्तमयुक्तं वा ! तत्र परिवर्तनाऽपेक्षा कियती वर्तते । पूर्वप्रचलितप्रकारे व्यवस्थितता वर्तते न वा, एतदादि सर्वमपि राष्ट्रहितैषिणः श्रावयेयुः । अथ च पर्वमाहात्म्यकोविदा इत्यनेनेदं ध्वन्यते—पर्वमाहात्म्यं सम्यक् जानन्ति । त एव श्रावयेयुर्नार्धज्ञानिनः, नचैकदेशज्ञानिनोऽपीति कोविदपदेन बोध्यते । प्रतिकूलज्ञानमन्तरेणाऽनुकूलज्ञानस्य यथार्थतयाऽनुदयात् माहात्म्यविरुद्धस्याऽपि ज्ञानमपेक्षणीयमिति च कोविदपदेन ध्वन्यते । तेनेदमवगम्यते—यत्पर्वविषयकं साङ्गोपाङ्गमाद्योपान्तं सम्पूर्णं येषां ज्ञानं विद्यते ते पर्वमाहात्म्यकोविदाः तादृशः पुरुषा एव श्रावयेयुरेवेति ।

लघुता को ध्यान में रखकर समस्त गांव की सम्मति भी लेनी चाहिए । इस हेतु विशेष अधिवेशन बुलाने चाहिए । जनसंख्या के प्रतिशत के अनुसार इन सदस्यों की नियुक्ति की जानी चाहिए । इस परिषद् के सदस्य भी राष्ट्रदृष्टि से हित-अहित का विचार करके नियोजकों के कार्यक्रमों को गति प्रदान करें तथा राष्ट्र की समुन्नति के साधनों का प्रचार करें । राष्ट्रगत ज्ञान-विज्ञान में निपुण लोग राष्ट्रज्ञान का प्रचार करने वाली परिषदें स्थापित करें । उन-उन ग्रामों में जो लोग जिन-जिन विषयों में विशिष्ट ज्ञान रखते हों, उन को उन-उन समितियों में नियुक्त करना चाहिए । ये राष्ट्रोन्नतिकारी परिषदें हैं शिशु-शिक्षा, बाल-शिक्षा, प्रौढ़-शिक्षा, रणशिक्षा, पुस्तकालय, वृत्तपत्र, ग्रन्थनिर्माण, वाचनालय, स्त्री-शिक्षा, कृषि-शिक्षा, विज्ञान-शिक्षा, इत्यादि । इन विज्ञानों का प्रचार तन्त्र-विज्ञानवादियों को करना चाहिए ।

अथ च पर्वसु=पर्वाऽवसरेषु । अय भावः-पर्वाऽवसरेषु किल बहवो जनाः प्रायः सम्मिलिता भवन्ति, अतोऽनायाऽसेनैव सम्मिलितेषु लोकेषु तत्पर्वाधिकृत्य सम्पूर्णमितिहासं तत्कोविदाः श्रावयेयुः । कोविदा अर्धं वा एकदेशमात्रं वेतिहासं न श्रावयेयु, किन्तु सम्पूर्णं श्रावयेयुः इति बाध।यैव सम्पूर्णमिति पदमुपात्तम् । समस्तेष्विति बहुश्रुतत्वलाभाय। "समं स्यादश्रुतत्वात्" इति न्यायेन आधिकारिकं समस्तं वा । इदं च बोध्यम्—श्रावयेयुरित्युपलक्षणं प्रचारस्य तेन अध्यापयेयुरित्युपलभ्यते । अध्यापनं चाध्ययनं विना न सिद्ध्यतीति तदप्युपक्षिप्यते । अयं भावः-स्वयं साकल्येन तत्तत्पर्वणामितिहासं विज्ञायाऽनन्तरं स्वराष्ट्रियान् प्रति श्रावणीयः 'स्वराष्ट्रियान्' इति तु प्रथमकर्तव्यत्वबोधनाय । स्वराष्ट्रियान् प्रत्यवश्यमेव श्रावयेयुः । अन्येषां विषये पुनर्यथेष्टं विकल्पः किं च श्रावयेयुरित्यस्य प्रचारोपलक्षणतया । पुस्तकादिनाऽपि प्रचारयेयुः इत्यपि बोध्यम् । किं चेदमपि बोध्यम्—'पर्वसु' इति विषयसप्तमी पर्वविषये इति तदर्थः । तेषु तेषु चेत्यनेन च समस्तराष्ट्रगतानां नानाविधानां पर्वणां सङ्ग्रह इति बोध्यते । तेन यथाशक्यं क्रमशः सर्वेषां विषये इतिहासः श्रावणीयः इत्युक्तं भवति । अथवैवं व्याख्यातुं शक्यते तेषु तेषु च समस्तविधेष्वपि लौकिकेषु पारलौकिकेषु च पर्वसु तत्र कोविदाः पर्वेतिहासं सम्पूर्णं स्वराष्ट्रियान् श्रावयेयुरिति ।

तेषु-तेषु च पर्वसु पर्वमाहात्म्यकोविदाः ।
पर्वेतिहासं सम्पूर्णं श्रावयेयुः स्वराष्ट्रियान् ।।41।।

पर्व के माहात्म्य को जानने वाले लोग उन-उन (राष्ट्रीय सांस्कृतिक) पर्वों पर पर्व के (सम्पूर्ण) इतिहास को (राष्ट्रभक्त) जनता को सुनावें ।

राष्ट्रज्ञान का प्रचार अनेक प्रकार से किया जा सकता है । उन सब प्रकारों में राष्ट्र के इतिहास का प्रचार मुख्य है । इसीलिए यह कारिका लिखी गई है । यद्यपि अन्यान्य विषयों के अध्ययन के साथ विद्यालय में इतिहास का अध्ययन कराया जाता है । तथापि इस विषय के अध्ययन में मुख्यरूप से विशेष प्रयास किया जाना चाहिए ।

प्रधान विषयों में किया गया प्रयत्न फलवान् होता है । इतिहास-ज्ञान के बिना सम्पूर्ण ज्ञान व्यर्थ है, क्योंकि इतिहास सत्य है । यह भूतकाल, वर्तमान

श्रृणुयुरिति नो श्रावयेयुरित्युक्तं, तस्याऽयमाशयः—ये किल मान्द्या-दिकारणात् न श्रोतुमिच्छन्ति तेषां दोषाल्पत्वख्यापनाय । किं च येषां श्रावकसविधे गत्वा श्रवणायाऽवकाश एव नास्ति, तेषां ज्ञापनाय श्रावकरेव स्वयं पर्वमाहात्म्य कोविदत्व सम्प्राप्य स्वराष्ट्रियाणां सविधे पर्वदिनेषु गत्वा यथायथ श्रावणीयः पर्वेतिहास इति । एतज्ज्ञानेन समस्ता अपि दुराचारा नाशयितुं शक्यन्ते । अथ चेदमपि ध्वनितम्—समस्तेऽपि पर्वसु ज्ञातेष्वज्ञातेषु, लुप्तप्रचारेषु, अलुप्तप्रचारेषु च इति । तेनाऽऽवश्यकानां प्रचारः, अनावश्यकानां च निवारणमपि कर्तुं शक्यते इति । सर्वथाऽपि पर्व=उत्सवाऽवसर इति ज्ञेयम् । अथ च तत्र क्रियमाण उत्सवो विज्ञाय तद्रहस्यं समस्तमपि अनुष्ठेयस्त्याज्यो वा इति निष्कर्षः । इतिहासाऽनभिज्ञता किल समस्तदोषजनी । इतिहासस्य-ज्ञाने ज्ञापने च भाषाशिक्षाक्रमवदेवोन्नेयः क्रम इति निष्कर्ष इत्यलम् ॥41॥

एवं सर्वमपि प्रचारं निरूप्य तात्पर्यतस्तं निरूपयितुमाह—

कृषाणा जलहारिण्यो गोपाला अपि यत्नत. ।।
राष्ट्रज्ञानेषु निपुणाः कार्या राष्ट्रहितैषिभिः ॥42॥

कृषाणा इति । राष्ट्रहितैषिभिः—कृषाणाः—जलहारिण्यः—गोपाला–अपि यत्नतः—राष्ट्रज्ञानेषु निपुणाः–कार्याः । इति पदयो-जनिका ।

'कृषाणाः'=कृषकाः 'जलहारिण्यः'– जलं=उदकं हर्तुं शीलं

काल और भविष्य काल का मूल है । इस बात को भी जान लेना चाहिए कि काल समस्त भावों का क्रमानुसार ज्ञान कराता है । यह काल नवीन-नवीन भावों का आविष्कार करता है और पुराने भावों को लुप्त करता जाता है । कभी किसी भाव को सुखी करता है, तो कभी किसी भाव को दुःखी करता है । अनु-कूल बोध से सुख तथा प्रतिकूल बोध से दुःख होता है । यह सुख-दुःखमय समय पर्व कहलाता है ।

सामान्य रूप से यह लोक उत्सव मनाता है । किसी कारण-विशेष से, कालविशेष से पुरुषविशेष के द्वारा अपनी मनोकामनाओं की पूर्ति के लिए उत्सव मनाये जाते हैं । यह पुरुष उस पर्व पर अपनी कामनाओं की पूर्ति हो जाने के आनन्द को प्रकट करता है । इस पर्व पर वह अभीष्ट रीति से उत्सव का आचरण करता है । तदनन्तर उसके अनुयायी भी उसी रीति से उस पर्व पर

यासां ताः 'गोपाला':=पशुपालाः, अपि समुच्चयेऽव्ययमेतत् । 'यत्नतः'= उचितोद्योगेन, 'राष्ट्रज्ञानेषु'–राष्ट्रस्य=पूर्वोक्तलक्षणलक्षितस्य' ज्ञानानि नानाविधानि ज्ञानानि तेषु, निपुणाः'=चतुराः, 'कार्या'=विधेयाः । अत्राऽयमभिप्रायः—राष्ट्रं किल मनुष्यैरेवोन्नीयतेऽवनीयते च । अत एव मनुष्यमात्रस्य राष्ट्रोन्नतिं प्रति राष्ट्राऽवनतिं प्रति च कारणता भवति । अथ मनुष्येष्वपि द्वैविध्यं स्त्रीपुंभेदेन भवति । नपुंसकस्य तु एतद्रूप एवान्तर्भावः । यतः खलु केचिन्मनुष्याः पुंरूपा नपुंसकाः केचिच्च स्त्रीरूपा नपुंसकाः । सन्तानोत्पादनाऽक्षमत्वमेव हि नपुंसकत्वम् । भवतु । अथ ज्ञानं विना नोन्नतिः कर्तुं शक्यते इति राष्ट्रोन्नति-ज्ञानमावश्यकं मनुष्यमात्रस्य । तदपि प्रतियोगिज्ञानमन्तरा न परिपूर्णं भवतीति राष्ट्राऽवनतिज्ञानमप्यपेक्ष्यते । एवं च यथोन्नतिज्ञानमावश्यकं तथाऽवनतिज्ञानमप्यावश्यकमिति सिद्ध्यति । किं च प्रथममवनतिज्ञानमावश्यकमुन्निनीषोः । अत एव राष्ट्रपतनकारणानि पूर्वं निरूपितानि समुन्नतिसाधननिरूपणात् । न केवलमुन्नतिचिन्तनमेव विदध्यात् । अवनतिवारणायाऽवनतिचिन्तनमपि सर्वदा कार्यमित्युक्तं भवति । तत्रोन्नतिचिन्तनं परिचिकीर्षयाऽवनतिचिन्तन च परिजिहीर्षयेति विवेक: । अत एवोक्तमपि —

उपायं चिन्तयेत्प्राज्ञस्तथाऽपायं च चिन्तयेत् ।।

अस्तु । अत्र सर्वत्राऽपि चिन्तने ज्ञानवत एवाऽधिकारः । अज्ञानी पुनश्चिन्तयितुं न प्रभवति । अज्ञानवत्त्वादेव । अतो राष्ट्रोन्नयनाऽवनयनयोरुभयोरपि चिन्तने तज्ज्ञानवानेव प्रभवति । ज्ञानप्राप्तिश्च विद्याविदां वरिष्ठेभ्य एव भवति । विद्याविदोऽपि खलु ये राष्ट्रहितैषिणस्त एव राष्ट्रज्ञानं मुक्तहस्तेन वितरन्त्यन्येभ्यः । ये स्वभावत एव तत्र प्रवृत्तास्ते तु राष्ट्रहितषिण एवेति स्तोतव्या एव । परं न सर्वे तादृशा भवन्ति । अतो ये न तत्र प्रवृत्ताः प्रमादाऽऽलस्यादिभिरन्यैर्वा कारणैस्ते प्रेर्यन्तेऽनया कारिकया । अत एवैतदुल्लङ्घने तेषामेव दण्डभाक्त्वम् । ते हि चतुर्षु वर्णेषु विभक्तान् सर्वानपि मनुष्यान् राष्ट्रज्ञानिनो विदध्युः इति कार्या इति पदेन बोध्यते । कर्तुं योग्याः कार्याः । ये किल यत्राऽधि-

---

उत्सव मनाते दृष्टिगोचर होते हैं । क्रमानुसार कुछ उत्सव लुप्त हो जाते हैं और कुछ नवीन उत्सव प्रकट हो जाते हैं । लोग गतानुगतिक होते हैं । इतिहास के ज्ञान के बिना उन पर्वों पर गड्डलिका-प्रवाह-न्याय से अर्थात् भेडियाधसान रूप में वे उत्सवों का आयोजन करते रहते हैं । अतः उत्सवों में भी अनेक प्रकार के

कारिणः, ततस्तेन कदाऽपि च्यावयितव्याः । ननु येषां समय एव नास्ति राष्ट्रज्ञानसम्पादनाय, अथ च येषामन्यकार्यकरणे विशेषाऽधिकारः, अथ च ये बुद्धिहीना वा किं तेऽपि तथा कार्या इत्याह— कृषाणेति । कृषाणाः=कृषकाः, एतेषां खलु स्वकृषिकार्यत एव नाऽवकाशो भवति, त एवंविधाः सर्वेऽपि, अनवकाशाः कृषाणपदेन ध्वन्यन्ते, अथ 'जलहारिण्यः' जलाऽऽहरणस्वभावाः । जलपदमुपलक्षणं सर्वस्याऽपि गेहकृत्यस्य ताच्छील्यणिनिना च गृहकृत्यकार्यशालित्वं स्त्राणां बोध्यते । तेन च तत्कार्यकरणे तासां कौशल्यं बोध्यते, तेनाऽन्यकार्येष्वस्वाभाविकत्वं ध्वन्यते तासाम् । अस्वाभाविकत्वध्वनने चाऽन्यकार्येषु कौशल्याप्राप्तिर्ध्वन्यते । एवं चैवंविधानां सर्वासामपि स्त्रीणामुपलक्षणं 'जलहारिण्य' इति पदम् । अथ 'गोपालाः' - गाः पशून् पालयन्ति=रक्षयन्ति ते गोपालाः । गोशब्दोऽत्र समस्तपशूनामुपलक्षणम्' । पशुपालार्थकेन गोपालपदेन च मतिमान्द्यं सूच्यतेऽतस्त एवं विधाः सर्वे मतिमन्दाः । 'अपिः' समुच्चये । एवविधा अन्येऽपि मनुष्याः किल राष्ट्रज्ञानेषु निपुणाः कार्या राष्ट्रहितैषिभिः । नन्वेते कथ राष्ट्रज्ञानेषु निपुणाः कर्तुं शक्याः, यतः खलु केषांचिदवकाश एव नाऽस्ति, केषांचिदस्वाभाविकं कर्म तत्, अथ केचिन्मतिमन्दा इति वारणायैवाह 'यत्नत' इति । 'यती प्रयत्ने' । यत्नतः=समुचितोद्योगात् हेतौ पञ्चमी ततस्तसिल् । एतेन प्रयत्नेनाऽसाध्यं नाम किमपि नास्ति जगतीतलेऽस्मिन्निति ध्वन्यते । उक्तमप्यत एवाऽन्यत्र—

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः ।
दैवं हि दैवमिति कापुरुषा वदन्ति ॥
दैवं निहत्य कुरु पोरुषमात्मशक्त्या ।
यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः ॥

अथ चेदमत्र बोध्यम्—सर्वतोऽधिकं खलु कठिना पारमार्थिकमोक्षप्राप्तिः, साऽपि यदि मनुष्यमात्रेण प्राप्तुं शक्यते, तदा कियती खलु वराकस्य व्यावहारिकमोक्षसाधनस्य राष्ट्रज्ञानस्य मात्राः । अत एव श्रीमद्भगवद्गीतास्वपि भगवान् वासुदेव आह—

दोष उत्पन्न हो जाते हैं । वे दोष हमें अवनति के गर्त में भी गिरा देते हैं । अतः पर्वों के इतिहास का ज्ञान न होना कितना भयंकर है ।

यह स्वाभाविक है कि सभी जीवों को उत्सवों की आकांक्षा होती है । उत्सव भी सुख-दुःख मिश्रित होते हैं । व्यवहार में सर्वदा उत्सव नहीं मनाये जा

स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्र स्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ।। (गी 9/32)
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।। (गी. 9/33)

किं च आत्मदर्शनं सर्वेषामपि खल्वधिकार इति श्रुत्वाऽप्युद्घोष्यते । तथा हि तत्र—

उतैनं गोपा अदृशन्नदृशन्नुदहार्यः ।
उतैनं विश्वाद् भुतानि स दृष्टो मृडयाति नः ।।

एवं च यदि नाम परमात्मदर्शनेऽपि सर्वेषां मनुष्याणामधिकारस्तदा राष्ट्रदर्शने कथ नाम न सम्भवेत् । यत्नसाध्यं हि तदस्तु, असाध्यं तु नास्ति । एवं च मनुष्यमात्रा अपि राष्ट्रज्ञानेषु निपुणाः कार्या इति यदुक्तं तत्समीचोनमेव । इदं च बोध्यम्—कृषाणादयोऽपि यदा राष्ट्रज्ञानेषु नैपुण्यमापादनोयतया विहितास्तदा बालकादयो विद्यार्थिनो ब्राह्मणादयश्चाऽवश्यमेव राष्ट्रज्ञाननैपुण्यमापादनीया इति किमु वक्तव्यमिति ध्वनितम् । 'ज्ञानेषु' इति बहुवचनेन आवश्यकाः सर्वेऽपि ज्ञानप्रकारा अध्ययनबोधाचरणप्रचारवन्तो उपलक्षिता भवन्ति । यत्नाश्च देशकालपरिस्थितिविज्ञै राष्ट्रियैः स्वयमेवोह्याः । ग्रामे-ग्रामे इत्यादिभिर्वहवश्चोक्ता अपि । अलमनेन ।42।।

एवं मनुष्यमात्राणां राष्ट्रज्ञानेषु नैपुण्यं सम्पादनीयं राष्ट्रहितैषिभिरिति विधाय तत्फलमपि वक्तव्यमिति तदाह—

नरा नार्यश्च यत्र स्यू राष्ट्रज्ञानविचक्षणाः ।
अराष्ट्रियास्तु तद्राष्ट्रं प्रभवन्ति न शासितुम् ।।43।।

नरा इति । यत्र-नराः–नार्यः-च–राष्ट्रज्ञानविचक्षणाः–स्युः–तत-राष्ट्रं-तु अराष्ट्रियाः–न-शासितुं–प्रभवन्ति । इति पदयोजनिका ।

'यत्र'=यस्मिन् राष्ट्रे, 'नराः'=पुरुषाः, 'नार्यः स्त्रियः, 'च' समुच्चयेऽव्ययमिदम् । 'राष्ट्रज्ञानविचक्षणाः'—राष्ट्रं=पूर्वोक्तलक्षणलक्षितम् । तस्य ज्ञान—एतदपि पूर्वमुक्तम् । तस्मिन् 'विचक्षणाः'=

सकते हैं । केवल सुव के अवसर पर ही उत्सव किये जाते हैं । अब पर्वों के प्रकार के बारे में भी निरूपण किया जा रहा है ।

कुछ पर्व प्रकृतिकल्पित होते हैं, कुछ जीवकल्पित । प्रकृति द्वारा प्रकल्पित पर्व सन्धिकाल हैं । वे हमारे लिए कल्याणकारक हों, अतः इस सन्धि-काल में

पण्डिताः, 'स्युः'—भवेयुः, 'तत्'=विचक्षणनरनारीकं, 'राष्ट्र'=पूर्वोक्त-लक्षणं, 'तु' केवलार्थकमव्ययम् । 'अराष्ट्रियाः'—विरुद्धं राष्ट्रमराष्ट्रं तत्र जाताः "राष्ट्राऽवारपाराद्धखौ" (पा सू. 4/2/93) इति घः । राष्ट्रान्तरजाता इत्यर्थः । 'न' अभावेऽव्ययम् । 'शासितु'=शासनं कर्तुं प्रभवन्ति'=समर्था भवन्ति । अत्रेदमाकूतम् –

मनुष्यमात्र : खलु स्वे अन्यशासनं न समीहते, इत्येषा स्वाभाविकी प्रवृत्तिः । यतः खलु स्वभावेनैव स्वातन्त्र्यमाशंसति । उचितमप्येतत् । तथा हि कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते इति न्यायः । कार्यात् कारण-मनुमीयते ऽथ च कारणात् कार्यस्य सिद्धिर्भवति । मनुष्येषु खलु योऽयं स्वातन्त्र्यप्रियतागुणः स सर्वतन्त्रस्वतन्त्रस्वभावस्य सर्वशक्तिस्वरूपस्य परमात्मनः एव यद्यपि वस्तुमात्रस्य स्वातन्त्र्यप्रियता विद्यते, परन्तु यत्र यत्र तदाधिक्यं तत्र तत्रोत्कृष्टयोनता, यत्र यत्र च न्यूनत्व तत्र तत्रा-ऽधमयोनिता भवति । अत्रेद रहस्यम्—ये वस्तुमात्रस्य सर्वाऽविरोधि-स्वातन्त्र्यं समीहन्ते ते स्वातन्त्र्यस्य वस्तुतो भक्ताः, अत एव ते न कदाऽपि परतन्त्रा भवन्ति । ये च द्वैतभावमात्रदर्शिनः । स्वस्वातन्त्र्येण परान् परतन्त्रीकृत्य स्थापयितुमिच्छन्ति, तेऽपि परैः परतन्त्रीक्रियन्ते । अत एव तेऽधमयोनिषु सम्भवन्ति । एत एव पारतन्त्र्यप्रिया इति परि-भाष्यन्ते प्रस्तुतभाष्यकृता । मनुष्यलोके हि स्वातन्त्र्याऽधिकविकास-वन्तो मनुष्या एव सर्वतः । तेऽपि द्विविधाः । एके आर्या, इतरे चानार्याः । आर्या अपि खलु द्विविधाः । एके स्वभावेनैव स्वातन्त्र्यप्रिया, अपरे च कर्तव्यबुद्ध्या स्वातन्त्र्यप्रियाः । अनार्या अपि द्विविधाः । एके सन्देहा-ऽकुलतया पारतन्त्र्यप्रिया :, अन्ये चाऽभिनिविष्टतया पारतन्त्र्यप्रियाः । निरूपितमेतत्पूर्वमपि । एत एव क्रमेण आर्यराष्ट्रवादिनः आर्यराज्य-वादिनः । एत एव क्रमेण सर्वतोभद्रं कतोभद्रं कतोऽभद्रसर्वतोऽभद्रतया ऽवलम्बिता भवन्ति । अनार्यराष्ट्रवादिन व्यक्ति-वाद्यपरपर्याया अनार्य-राज्यवादिन इति क्रमेण सङ्केतिताः प्रकृतभाष्यकृतैव । अस्तु, तत्रा-ऽनार्या राष्ट्रान्तराणि निजाऽनार्यनीतिबलेन परतन्त्रीकृत्याऽऽर्यान् यथेच्छ-मुपभोक्तुमिच्छन्ति । स्वभावोऽयमनार्याणाम् । परन्तु यावत्कालमार्या

जगन्नियन्ता की स्तुति की जाती है । विधिपूर्वक करने से स्तुति हमें यथेष्ट फल प्रदान करती है । इस प्रकार सभी सन्धिकाल पर्व बन जाते हैं । किन्तु समस्त सन्धिकालों का आकलन तो योगी ही कर सकते हैं । अतः उन योगियों द्वारा निर्धारित पर्वों को तो कल्याण चाहने वालों को मनाना ही चाहिए ।

वस्तुत आर्यभावे सुतरां स्थिरतया वर्तन्ते, तावत्कालं न तान् कोऽपि परतन्त्रीकर्तुं शक्नोति । तत्र न्यूनत्वे समुत्पन्नेताननार्या आक्रामन्त्यवश्यमेव । उचितं चेदम् । स्वातन्त्र्यस्योपेक्षैत्र खलु पारतन्त्र्यस्य प्रेम्ण आरम्भः । अत एव आर्यराष्ट्रवादियुगादार्यराज्यवादयुगमेव प्रादुर्भवति, नाऽनार्यराष्ट्रवादियुगम् । अत एव आर्यराज्यवादिनोऽनार्यराष्ट्रवादिभिः शक्यन्ते आक्रमितुं नाऽऽर्यराष्ट्रवादिनः । इदं च बोध्यम्—कर्तव्यबुद्धौ यदा सन्देहो भवति तदा "संशयात्मा विनश्यति"। (गी. 4/140) इति भगवदुक्तं फलमवश्यमेव भोक्तव्यतयाऽऽपतति । अत एवाऽन्यत्रोक्तमपि ।

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाऽशुभम् ।

संशयाऽकुला एव स्वस्य सङ्कुचित स्वातन्त्र्यं संरक्षितुं परान् परतन्त्रीकर्तुमिच्छन्तो विरलान् कर्तव्यपरायणान् भेदनीत्या विभिद्य स्वयं च स्वसदृशान् सङ्घीकृत्याऽऽर्यानप्यैकैकशो विभक्तान् परतन्त्रीकुर्वन्ति । परं नायमनार्याणां दोषः । गुण एवायमनार्याणाम् । दोषश्चार्याणामयं यत् स्वातन्त्र्योपेक्षण नाम । स्वप्रकृतिविरुद्धमाचरतामिदं फलं युक्तमेवेत्यादि सर्वं वक्तुमेतस्याः कारिकाया आरम्भः । यस्मिन् राष्ट्रे खलु स्वभावेनैव राष्ट्रज्ञानेषु विचक्षणाः सर्वेऽपि स्त्रीपुंससाधारणा मनुष्या भवन्ति, तत्र राष्ट्रे नाऽन्यराष्ट्रजाः शासनाय प्रभवन्ति । विशेषण खलु ये पश्यन्ति सुस्पष्ट चाऽन्यान् बोधयन्ति, ते हि विचक्षणा इत्युच्यन्ते । अयं भावः—अत्र विचक्षणा इति पदेनेदं ध्वन्यते—यत् राष्ट्रज्ञाने ये ज्ञानिनस्तान् कदाऽपि खलु न कोऽप्यनार्यः प्रभवति शासितुम् । यत्र च राष्ट्रे नरा नार्यश्च सर्वेऽपि मनुष्या राष्ट्रज्ञाने विचक्षणा भवेयुस्तद्राष्ट्रं तु राष्ट्रान्तरभवा न शासितुं प्रभवन्ति । यतः खलु विचक्षणाः सर्वशक्तिमन्तो भवन्ति । आर्यराष्ट्रवादिनश्चेत्सर्वे राष्ट्रे तदा राष्ट्रं सर्वतः प्रबलमिति तत्कः शासितुमन्यः प्रभवेत् । उक्तमप्यत एवोपनिषत्सु "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः" इति । राष्ट्रं चात्मेति पूर्वमेव निरूपितम् । अथ शक्तिसूत्रेऽप्यत एवोक्तम्"—बललाभे

स्थूल रूप से ये सन्धिकाल हैं–वर्षारम्भ, सौर-चान्द्रामासारम्भ । चान्द्रमास भी दो भागों में विभक्त है—पूर्णिमा तथा अमावास्या । चन्द्रमा की सोलह कला होने से अष्टमकला की तथा नवमकला की एक महासन्धि होने से अष्टमी भी एक पर्व है । दिन और रात की भी दो सन्धियां हैं—प्रातःकाल एवं सायंकाल । पूर्वाह्ण एवं अपराह्ण भी एक सन्धि है—इस प्रकार से स्थूल पर्व हैं ।

विश्वमात्मसात्करोति" । बलं च आत्मविज्ञानमेव । तच्च स्वात्मनः पूर्णं स्वातन्त्र्यम् । तदुक्तं शक्तिसूत्र एव—"चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः (श. सू.1-9) इति । "चैतन्यमात्मा" (शि सू 1-1) इति शिवसूत्रं च एतेन प्रत्युत सर्वतः प्रबलाः पुनः सर्वशक्तिमन्तः सर्वमपि । राष्ट्रेषु शासितुं प्रभवन्ति इति सिद्ध्यति । इदं च बोध्यम्—चक्षिङ् धातोः खलु द्वावर्थौ सुस्पष्टं कथनम्, दर्शन च । दर्शनं ज्ञानमिति यावत् । व्यक्तवागर्थत्वं चाऽतिप्रसिद्धमेव । दर्शनार्थत्वं च "विश्वारूपा अभिचष्टे शचीभिः" इत्यादौ यथा । यथा वा—

य इन्द्राग्नी चित्रतमो रथो वामभि विश्वानि भुवनानि चष्टे ।।
ते नायातं सरथं तस्थिवांसाऽथा सोमस्य पिबतं सुतस्य ।।

(ऋक् 1/108/1)

एवं चाऽत्र द्वयमपि बोध्यम् । अयं भावः-ये खलु राष्ट्रज्ञाने विचक्षणाः=विज्ञानिनः, कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं समर्थाः । अथ चाऽत एव ये विचक्षणाः सर्वथा सुस्पष्टं कथनशीलाः समस्तानपि मनुष्यान् सुस्पष्टतया व्याख्याय हृदयङ्गमीकुर्वन्तीति यावत् । ते विचक्षणा भवन्ति । स्थान एवैतत् यतः खलु विज्ञानशीला एव व्याख्यातुमपि प्रभवन्ति । अत एवाऽन्यत्रोक्तमपि—

वक्तुरेव हि तज्जाड्यं श्रोता यत्र न बुद्ध्यते ।

एवं च विचक्षणपदेनेदमपि बोधितं यत्—अधीतिबोधाऽऽचरणप्रचारणेति चतुर्विधोऽप्युपयोगो । यत्र राष्ट्रे नरनारीषु सर्वतोभावेन वर्तते तद्राष्ट्रमराष्ट्रिया न शासितुं प्रभवन्ति इति । किंचेदमपि बोध्यम्—नराः=नेतारः । नरन्ति ते 'नराः "नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः" (पा. सू. 3/1/134) इत्यनेनाच् प्रत्ययः । अथ च तेषां स्त्रियः नार्यः "पुंयोगादाख्यायाम्" (पा सू 4/1/48) इत्यनेन ङीष् । एतेन मनुष्यमात्रस्य स्वाभाविकं नेतृत्वं ध्वन्यते पुंयोगलक्षणो ङाष् च न केवलं पत्नीभाववाचकः किं तु भगिन्यादावपि । भवति । अत एव "नारायणी सहचराय नमः शिवाय" इत्यादिप्रयोगाणां साधुत्वम् ।

कुछ कल्पित पर्व भी हैं यथा महापुरुषों के जन्मदिन, उनके विशिष्टाधिकार प्राप्ति के दिन, उन-उन वर्णों के और उन-उन जातियों के विशिष्ट उन्नति-दिन, उन महापुरुषों के मरण-दिन आदि । इसी प्रकार अन्य पर्वदिनों की स्थापना भी की जा सकती है । इन सभी पर्वों पर प्रायः लोग उत्सव मनाते हैं और मनाना चाहिए ।

अथ वा नरस्य स्त्र्यपत्यानि "तस्याऽपत्यम्" (पा. सू. 4/1/92) इत्यण् ततः "टिड्ढ." (पा. सू 4/1/14) इत्यादिना ङीप् । भवतु । ते च स्वभावेनैव सर्वेषां पश्वादीनां नेतारोऽपि मनुष्याणां परस्परं ज्ञानतारतम्येन नेतृत्वं प्राभवन्ति । अत एव ज्ञानहीनाः पशव एवेत्युक्तं यथा—

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नमन्तर्धनं
विद्या भोगकरी यशःसुखकरी विद्या गुरूणां गुरुः ।
विद्या बन्धुजनो विदेशगमने विद्या परं दैवतं
विद्या राजसु पूजिता न हि धनं विद्याविहीनः पशुः ।
(नीति. 20)

अथ च ये यावत्येवांशे ज्ञानसम्पन्नास्तावत्येवांशेऽधिकनेतृत्ववन्तोऽपि ये पुनः सर्वथा विज्ञानिनस्त एव मनुष्यमात्राणां नेतारो भवितुमर्हन्ति । एवं च सर्वेऽपि विज्ञानिनो यत्र राष्ट्रे, तद् राष्ट्रं कथं राष्ट्रान्तरजाः प्रभवन्ति शासितुम् । विचक्षणाः इत्यत्र "अनुदात्तेतश्च हलादेः" (पा. सू. 1/3/2) इत्यनेन युप्रत्ययः । "चक्षिङ्" इत्यत्रेकारोऽनुदात्तः । स च "उपदेशे" । (पा सू 1/3/2) इत्यनेनेत्संज्ञकः । तेन पूर्वसूत्रेण युच् भवति । ननु पुनर्ङित्करणं किमर्थम आत्मनेपदार्थमिति चो' दनुदात्तेत्वेनैवाऽऽत्मनेपदं भविष्यतीति चेत् सत्यमेतत्, अत एव ङित्करणं व्यर्थं सञ्ज्ञापयति 'अनुदात्तेत्वलक्षणमात्मनेपदमनित्यमिति" । तेन स्वांशे वैकल्पिकमात्मनेपदं निवारितम् । ङित्करणेनाऽन्यत्र "स्फायन्तिर्मोकरान्धि" इत्यादौ लटः शत्रादेशः फलम् । "स्फायी वृद्धौ" अनुदात्तेतोऽयं धातुः सर्वमिदं व्याकरणतन्त्रे मनोरमादौ स्पष्टम् । इदं च बोध्यम्-'राष्ट्रज्ञानवचक्षण्यं खल्वार्यराष्ट्रवादस्य मूलम् । अत एव आर्यपुंयुगे आर्यराष्ट्रवादिनः सर्वताऽधिकाः । आर्यस्त्रीयुगे च वक्तव्यबुद्ध्युपारूढा बहव इति विचक्षणानां वै रहस्यम् । अनार्यपुंयुगे च संशयाऽकुलतया ऽनार्यराष्ट्रवादिनः सर्वतोऽधिकाः । अनार्यस्त्रीयुगे च अभिविनिष्टमूढतया ऽनार्यराज्यवादिन एव बहवः इति । निरूपितमेवेदं पूर्णमपि । राष्ट्रज्ञानाऽविचक्षणा यत्र बहवो भवन्ति, तदेवाऽराष्ट्रियैः शासितुं प्रभूयते इत्यपि बोध्यम् । इदं च

राष्ट्र के द्वारा मनाये जाने वाले उन राष्ट्रीय-पर्वों में उनका इतिहास और महत्त्व भी बताया जाना चाहिए । जहां उत्सव मनाया जाय, वहां उस उत्सव विशेष के सम्बन्ध में सम्पूर्ण जानकारी दी जानी चाहिए ।

अध्ययन के बिना अध्यापन भी नहीं किया जा सकता है । अतः पर्व का

बोध्यम्—अद्वैतविद्यासम्पन्नाः खलु विचक्षणा भवन्ति, ते सर्वमपि कर्तुं प्रभवन्तीत्यत एव ते यत्र बहवस्तत्रैव पूर्णं स्वातन्त्र्यं तत्रैव पूर्णा शान्तिरपि । ते खलु न कमप्याक्रामन्ति, आक्रामितुमिच्छन्ति च । अतो ये पूर्णशान्तिमयं शासनमिच्छन्ति, तैः स्वराष्ट्रे सर्वेऽपि विचक्षणा यथाशक्यं राष्ट्रज्ञानविचक्षणाः कार्याः । वैचक्षण्यं चेतद्ग्रन्थस्य चतुर्विधोपयोगेन भविष्यतीति "समभ्यस्यन्" (रा. 107) इति कारिकायां निरूपयिष्यते । तुरत्र भिन्नक्रमो बोध्यः । तेन तद्राष्ट्रं तु इत्यन्वयः । तेन राष्ट्रज्ञानविचक्षणस्त्रीपुंसरहितं राष्ट्रं त्वनार्याः शासितुं प्रभवन्त्येवेति ध्वन्यते । अराष्ट्रियास्तु इत्येवमन्वये राष्ट्रियाः प्रभवन्ति शासितुमिति ध्वन्यते । राष्ट्रियाणां शासन यथा तथाऽपि न तथा दुःखाकरोति, यथाऽराष्ट्रियाणां शासनम् । एतदग्रेऽस्मिन्नेव ग्रन्थ उपपादयिष्यते । इह च ध्वन्यते—यत् राष्ट्रं परतन्त्रं स्यात् तच्चत्पुनरपि स्वराष्ट्रस्थनरनारी राष्ट्रज्ञानवैचक्षण्यमापादयेत्, तदा अराष्ट्रियाणां शासनं झटित्येव निवार्येत तस्मात् राष्ट्रादिति । यत् च स्वतन्त्रमेव पूर्णं रक्षति च सर्वतो राष्ट्रज्ञानवैचक्षण्यं सर्वतोभावेन तद् राष्ट्रमाक्रामितुमेव न शक्नुवन्त्यराष्ट्रियाः । इदं तु बोध्यमेव—राष्ट्रान्तराऽऽक्रमणायाऽनार्या एव प्रयतन्ते, नाऽऽर्याः । तेषां स्वातन्त्र्यप्रियत्वादिति । एतद्विषये एतावत्पर्यन्तं बहूक्तमग्रे च पुनरपि वक्ष्यते एव । राष्ट्रज्ञानवैचक्षण्यमेव सर्वथा स्वातन्त्र्यप्राप्तिहेतुः । तदेव च सर्वथा सर्वदा योगेन क्षेमेण च भावयेदिति सारः । यत एष आर्यजुष्टः सनातनो घण्टापथः । अत एव तैत्तिरीयशिक्षोपनिषत्स्वपि प्रतिपादितम्—"स्वाध्यायान्मा प्रमदः" इति । राष्ट्रज्ञानवैचक्षण्यप्राप्तिविषये न कदाऽप्यालस्यं प्रमादो वा कार्यः इति च तदर्थ इत्यलमनेन ॥43॥

समस्तस्याऽपि समुन्नतेर्निदानं राष्ट्रदृष्टिरिति सा सोपक्रमा सोपसंहारा च साङ्गोपाङ्गनिरूपिता, साऽपि समस्तयुगोपयुक्ता निग्रहशक्तिमन्तरा न भवतीति शासनविषय इदानी निरूप्यते । तत्र शासनस्य शासकगुणदोषावलम्बितया पूर्वं तत्कार्यमेव निरूपायतुमुचितमित्यालोच्य प्रतिपादयन्नाह—

महत्त्व बतलाने वाले को उस पर्व की सम्पूर्ण जानकारी होनी चाहिए । तभी वह राष्ट्रिय जनों को प्रतिबोध दे सकता है ।

इन पर्वों के इतिहास के ज्ञान से समस्त दुराचारों का नाश किया जा सकता है । आवश्यक पर्वों का तो प्रचार किया जाय और अनावश्यक पर्वों का

राष्ट्रनेता राष्ट्रभाषां धर्मग्रन्थान् विशेषतः ।।
समभ्यस्येदर्थकाममोक्षशास्त्राणि तत्त्वतः ।।44।।

राष्ट्रनेतेति । राष्ट्रनेता—(प्रथमं) राष्ट्रभाषां - समभ्यस्येत्—(अथ च) विशेषतः—धर्मग्रन्थान्—समभ्यस्येत्—तत्त्वतः—अर्थकाममोक्ष-शास्त्राणि—समभ्यस्येत् । इति पदयोजनिका ।

'राष्ट्रनेता'--राष्ट्रस्य=पूर्वलक्षणलक्षितस्य । नेता=नायकः 'सर्वाऽपेक्षया प्रथमम' इति शेषः । 'राष्ट्रभाषाम्'—राष्ट्रभाषा द्विविधाऽपि पूर्वं वर्णिता, तां 'समभ्यस्येत्'—सम्यक् अभ्यस्येत् विद्यात् । अथ च 'विशेषतः'=विशेषप्रकारेण 'धर्मग्रन्थान्'—धर्मस्य—पूर्वोक्तलक्षणस्य ग्रन्थान्=सन्दर्भान्, सम्बन्धसामान्ये षष्ठीयम् । समभ्यस्येत्, स्पष्टम् । अथ च 'तत्त्वतः'=सारग्रहणं यथा स्यात्तथा, सार्वविभक्तिकस्तसिः, अथवा हेतौ पञ्चमी ततस्तसिल् । 'अर्थकाममोक्षशास्त्राणि'—अर्थः=धनं, कामः=सुखोपभोगः, मोक्षः=स्वातन्त्र्यं च, एतदन्तो द्वन्द्वः । एतेषां शास्त्राणि द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते । तेन अर्थशास्त्रं कामशास्त्रं मोक्षशास्त्रं चेति निष्पद्यते 'समभ्यस्येत्'=सम्यक् उत्तमप्रकारेण अभ्यस्येत् । विद्यात् । इति ।

अयमस्याभिप्रायः—सर्वोऽपि जीवलोकः पूर्णशान्तिमेवेच्छति । तत्प्राप्त्युपायानां च यथार्थतयाऽनवगमनात् सा नाऽवाप्यते । अतो यथार्थोपायबोधनमेवाऽतिश्रेयस्करमित्यपि स्फुटमेव । यथार्थोपायश्च राष्ट्रज्ञानवैचक्षण्यप्राप्तिरेव । तद्वन्त एवाऽऽचार्याः । तद्रहिताश्चाऽनार्याः । इदं च बोध्यम्—आर्यत्वमनार्यत्वं च द्वयमप्येतदापेक्षिकमेव ।

निवारण किया जाय । इतिहास की अनभिज्ञता समस्त दोषों को जन्म देती है ।

कृषाणा जलहारिण्यो गोपाला अपि यत्नत ।
राष्ट्रज्ञानेषु निपुणाः कार्या राष्ट्रहितैषिभिः ।।42।।

राष्ट्रहितैषियों को चाहिए कि वे किसानों को, जल भरने वाली स्त्रियों (पनहारियों) को और ग्वालों को भी प्रयत्नपूर्वक राष्ट्रज्ञान में निपुण करें ।

राष्ट्र की उन्नति एवं अवनति राष्ट्र के लोगों पर निर्भर है । अतः मनुष्य-मात्र ही राष्ट्र की उन्नति तथा अवनति का कारण है । मनुष्यों में पुरुष, स्त्री और नपुंसक (स्त्री-पुरुष) सभी आते हैं । राष्ट्र की उन्नति का ज्ञान जितना

परमयमत्र विशेषः—यथा प्रतिपुरुषं नेत्रद्वयं वर्तते, तत्राऽपि प्रतिनेत्रं दृष्टिद्वयं वर्तते। परं दृष्टिचतुष्टयेनाऽपि वस्त्वेकं द्रष्टव्यमिति मर्यादा दृष्टिमताम्। तथैवाऽऽर्यत्वमनुग्रहप्रधानम् अनार्यत्व च निग्रहप्रधानम्, परमेतद् द्वयमपि अनुग्रहनिग्रहे च प्रत्येकस्मिन् वर्तते। अयं भावः—पुरुषः किल अनुग्रहनिग्रहयोः समानोऽपेक्षते, अथ चाऽनुग्रहोऽपि द्विविधोऽपेक्ष्यते। एवं निग्रहोऽपि द्विविधोऽपेक्ष्यते। एवं पूर्णचतुष्टयवान् पुरुष एव कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं प्रभवति। इदमेव राष्ट्रज्ञानवैचक्षण्यम्। एतदनुरोधेन च पूर्णशान्तिरपि प्राप्यते। तत्राभ्यर्हिततयाऽऽर्यदृष्ट्या पूर्वमनुग्रहप्रधान उपायः शिक्षोपदिष्टा। अग्रे च निग्रहप्रधान उपायः शासनमनुशासनीयम्। तच्चैतद् द्वयमपि नेतारमवलम्बत इति मध्य एव तन्निरूपणमभ्युचितम्। एवं च नेताऽत्र वर्ण्यते तत्कार्यप्रदर्शनपुरःसरम्। राष्ट्रनेतेति। इदमत्र बोध्यम्—यथा हीरकमणिरेव शाणोत्कर्षणं सहते, यथा वा सुवर्णमेव निघर्षणच्छेदनतापताडनैः परीक्ष्यते, नाऽन्यदतज्जातीयम्। एवमेव जात्या स्वातन्त्र्यविकासाऽधिक्यात्। मर्त्यलोके नर एव नेतृपदाऽधिकारी, स च स्त्रीपुंससाधारण इति निवेदितं प्राक्। मनुष्यस्य नेतृत्वं स्वाभाविकमपि मेघाच्छन्नव्योमेव न सर्वदा नयनयोर्गोचरतामेति। मेघाऽपाये पुनरपि तन्नैर्मल्यं सुतरां प्रकाशते। एवमेव राष्ट्रज्ञानवैचक्षण्येन पुरुषस्य' स्वाभाविकं नेतृत्वं विकाशमेति न पुनस्तत्कुतोऽप्यानीयते नूतनम्। अत एव स्वोपज्ञ 'आत्मविलासे' प्रकृतभाष्यकृतैव वर्णितमेवमात्मनोनैर्मल्यम्—

यथाऽऽकाशो नीलनीलैर्मेघैर्नीलीकृतोऽपि सन्॥
मेघाऽपाये पुनः स्वच्छस्तद्वदात्माऽपि निर्मलः॥ (आ. वि. 5/4)

अवश्यक है, उतना ही राष्ट्र की अवनति का ज्ञान भी आवश्यक है। राष्ट्र की उन्नति के साधनों के निरूपण करने से पूर्व राष्ट्र के अवनति के कारणों का निरूपण करना चाहिए। नीतिशास्त्र में कहा भी है—विज्ञान वह है, जो उपाय के साथ अपाय का भी विचार करता है।

वरिष्ठ व्यक्तियों के माध्यम से ही ज्ञान-प्राप्ति हो सकती है। जो राष्ट्र-हितैषी विद्वान् हैं, वे मुक्तहस्त से राष्ट्र ज्ञान का वितरण करते हैं। परन्तु सभी व्यक्ति ऐसे नहीं होते हैं, जो स्वभावतः इस विषय में प्रवृत्त होते हैं, वे ही राष्ट्र हितैषी हैं। विद्वानों का कर्तव्य है कि चार वर्गों में विभक्त सभी मनुष्यों को राष्ट्रज्ञानी बनावें। जो अधिकारी जहां नियुक्त हैं, उन्हे वहां से नहीं बदलना

अन्यत आनयनं नन्वस्वाभाविकस्यैव सम्भवति । इदं च बोध्यम्—निरपेक्षमार्यत्वं हि मनुष्यमात्रभावः । सापेक्षं च तत्कल्पितमेवाऽऽर्यत्वमनार्यत्वं चोभयमपि । अत एव सत्ययुगेऽपि परिपूर्णमार्यत्वं च न सम्भवति । यतः खलु व्यवहार आपेक्षिकः । अत एव यावत्येवांश आर्यत्वं त वत्येवांशो शान्तिरप्यधिका वर्वर्तीति नियमः । अत एव मनुष्येष्वपि आर्यत्वविकासतारतम्यमवलम्ब्य नेतृत्वमपि न्यूनाऽधिकभावमवलम्बते । इदमपि बोध्यम्—आर्ययुगाऽऽनयनाय यतन्त आर्याः । अनार्ययुगाऽऽनयनाय च यतन्तेऽनार्याः । अत एवाऽनार्ययुगे नेतृत्वमप्यनार्याणामेव दृश्यते । आर्ययुगे चार्याणाम् । शान्तियुगं चार्ययुगमेव । अनार्ययुगं त्वशान्तियुगमेव । शान्तिं च सर्वेऽपि काङ्क्षन्ते । यथै वार्यास्तथैवानार्या अपीति ब्रूमो वयं यत् नेता आर्यश्चेत् सर्वेऽपि शान्ति लभन्ते । इदं च बोध्यम्—कृतयुगे तावत् सर्वेऽपि स्वभावेनैवार्यामानवा भवन्तीति राष्ट्रज्ञानवैचक्षण्यमपि स्वाभाविकमिति शासनमपि शान्तिपरिपूर्णं भवति । अत एव नेतारोऽपि प्रायः सर्वे । अत एव तत्र युगे 'सर्वे यजमानाः सर्वे सत्रिणः' इति व्यवस्था । अत एव तत्र न मात्स्यन्यायाऽवकाशः । अत एव च तत्र न राज्ञोऽपेक्षा भवति । अत एव तदार्यराष्ट्रवादयुगम् । परस्परसम्भावनप्रवणाः सर्वे लोका अत्र युगे भवन्ति । परं ,त्वार्याणां प्रतिक्षणमनार्याऽभिमुखतया कालक्रमेण तद्युगस्यान्तो भवति । अथैवमेव कालक्रमेणानार्याभिमुखा आर्याः कलियुगान्तं यावत् तारतम्येन सर्वा अपि दशा भुञ्जानाः स्वबिन्दावेव लीयन्ते । एवमेवानार्या अपि प्रतिक्षणमार्याऽभिमुखतया कालक्रमेण कलियुगप्रारम्भात् सत्ययुगान्त यावत् तारतम्येन सर्वा अपि दशा भुञ्जानाः स्वबिन्दावेव लीयन्ते । अत्रत्या दशाः कृतत्रेताद्वापरकल्य-

---

चाहिए । जिनके पास राष्ट्रज्ञानसम्पादन के लिए समय नहीं हैं अथवा जिनका अन्यान्य कार्यों के कराने में विशेषयोग्यता और अधिकार है अथवा जो बुद्धिहीन हैं, क्या उन्हें भी नहीं हटाना या बदलना चाहिए ? अतः भाष्यकार कहता है कि अवसर और आवश्यकता के अनुरूप इस विषय में निर्णय लेना चाहिए ।

किसान को तो कृषिकार्य से ही अवकाश नहीं मिलता है । जलहारिणी पद उन समस्त स्त्रियों से सम्बद्ध है, जो जल भरने के अतिरिक्त समस्त गृहकार्य करने में संलग्न हैं । गृहकार्य करने में ही स्त्रियों की कुशलता प्रकट होती है । पशु-पालन में जो अपना समय बिताते हैं, वे गोपाल कहलाते हैं । गो शब्द

भिधा आरोहाऽवरोहक्रमाभ्यां ता एव । सर्वमिदं पूर्वं निरूपितम् । इद तु बोध्यमेव—पूर्णनेतृत्वविकासवतां सर्वेष्वपि युगेषु कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं सामर्थ्यवत्तया न तेषामापेक्षिकाऽनुकूलप्रतिकूलकल्पिताऽवस्थाभिः सुखदुःखादि भवति । ते तु पूर्णानन्दसन्दोहविमग्नाः सर्वदा सर्वथा च । एवमेवात्राऽन्येऽपूर्णा अपि कालक्रमेण तेषां संसर्गात् स्वकीयस्वभावसाक्षात्कारं प्रति सर्वथा प्रयतमाना भजन्ते तां कामपि निराशंसपरिपूर्णतां नूनम् । अतो ये केचित् संसारे शान्तिस्थापनं समीहन्ते, ते प्रथममार्यशासननेतृत्वमवलम्बन्ताम् । आर्यशासनमन्तरा ससारे शान्तिलाभसम्भावना नास्त्येवेति भावः । उन्निनीषुः किल समस्तराष्ट्राणां यस्य कस्याऽपि नैकस्य वा राष्ट्रस्य नेतृत्वमीहमानः सर्वतः प्रथमं राष्ट्रभाषात्वेन निर्धारितां भाषां सम्यक् अभ्यस्येत् । अयं भावः—राष्ट्रे हि यया भाषयाऽधिकतरं व्यवहरन्ति, तच्चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धिनस्तां सर्वतः प्रथमं लेखनवाचनपाठनभाषणग्रन्थनिर्माणादिसम्पूर्ण सामर्थ्यं यथा प्राप्येत तथाऽभ्यस्येत् विद्यात् । एतेन एतदभावेन पूर्णं नेतृत्वं प्राप्तुमर्हमिति ध्वनितम् । अथ च धर्मग्रन्थान् विशेषतः समभ्यस्येत् । धर्मो व्याख्यातः पूर्वम् । तस्य ग्रन्थान् तत्प्रतिपादकग्रन्थान् सम्यग् अभ्यस्येत् साङ्गोपाङ्गं सरहस्य च पाठतदर्थहृदयङ्गमीकरणपूर्वकमभ्यस्येत् इति यावत् । अत्रेदं बीजम्—लोकः किल धर्मप्राणः, स चाऽधर्मविदा न प्रीणयितुं शक्यः प्रत्युताऽयथार्थकारितयोद्वेजनीय एव भवति । उद्विग्नश्च लोकः शान्तिभङ्गमारभतेऽनन्तरमशान्तश्च गड्डलिकाप्रवाहन्यायेनाऽनार्यभावमवलम्बतेऽतो धमग्रन्थानामभ्यासा विशेषतयाऽपेक्ष्यते नेतॄणाम् ।

भी समस्त पशुओं का वाचक है । गोपाल पद भी मन्दबुद्धि का सूचक है । अतः ऐसे सभी व्यक्तियों को राष्ट्रज्ञान में निपुण करना चाहिए । पर कैसे ? किसी के पास समय नहीं है । किसी का स्वभावगत कर्म नहीं है, कुछ बुद्धिहीन हैं । इसलिए श्लोक में 'यत्न' पद का प्रयोग इस बात का द्योतक है कि प्रयत्न तो करना ही पड़ेगा । प्रयत्न करने पर कोई भी कार्य इस पृथ्वी पर असाध्य नहीं है । योगी पुरुष को ही लक्ष्मी प्राप्त होती है । कायर भाग्य की दुहाई देते रहते हैं । अतः भाग्य की अपेक्षा करके पौरुष का अवलोकन करना चाहिए ।

सब से अधिक कठिन कार्य तो पारमार्थिक मोक्ष प्राप्त करना है—यह भी यत्नवान् मनुष्य के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, तो व्यावहारिक मोक्ष का साधन राष्ट्रज्ञान तो प्राप्त किया ही जा सकता है ।

अयं भावः—के नियमा विरचिता लोकहितकरा भविष्यन्ति के चाहितकरा भविष्यन्ति, के लोकरुचिकराः के चारुचिकराः। अथ जातिदेशकालधार्मिकविश्वासाऽनुकूलत्वं केषु नियमेष्वस्ति, केषु च नास्ताइत्यादि सर्वमपि यैर्ग्रन्थैः सम्यगवगम्यते, ते धर्मग्रन्थाः। तान् सम्यगधीयीत सरहस्यं लाकानामनुग्रहाय निग्रहाय च गुरुशास्त्रसहायेनेति। यथा सुवर्णं स्वाभाविकं समस्तविधाऽऽभूषणायोपयोगि भवति तथा लौहमपि स्पर्शमणिसङ्गात्सुवर्णीभूतं सर्वाऽऽभूषणोपयोगि भवत्येव। न किमपि तत्र पार्थक्यम्। एवमेव राष्ट्रभाषासमभ्यासेन धर्मग्रन्थानां च विशेषसमभ्यासेनानार्योऽप्यार्यभावमाप्नोति। अथ न केवलमेतदेव किन्तु साररूपेण अर्थकाममोक्षशास्त्राणि च समभ्यस्येत्। अर्थशास्त्रम्—अर्थसम्बन्धिशासनं सम्यक् तत्त्वतो जानीयात्, कामशास्त्रम्—कामसम्बन्धिशासनं सम्यक् जानीयात्, मोक्षशास्त्रम्—मोक्षसम्बन्धिशासनं च सम्यक् जानीयात्। तत्त्वतः इति च सर्वत्र योज्यम्। अयमाशयः—एतेषां तत्त्वतः सम्यगभ्यासमन्तरेण नाऽऽर्यत्वं पूर्णं प्राप्यते। अथ चार्यात्वं विना शास्तिस्थापनोपयुक्तं नेतृत्वमपि नाऽवाप्तुं शक्यत इति। अत्रेदं बोध्यम् अर्थः=धनं तस्य शास्त्रं नाम येन धनप्राप्त्युपायाः धनरक्षणोपायाः धनविनियोगप्रकाशश्च विज्ञायन्ते तदर्थशास्त्रम्। अथस्य किल काममूलतया सर्वेऽपि व्यवहारे तानिच्छन्त्येव। अतस्तद्विषयकं सर्वमप्यर्जनविनियोगादिप्रकार सद्गुरुसम्प्रदायशास्त्रमर्यादया विजानीयात्। यथा तत्त्वबोधो भवेत् तथा इति। अथ कामः=इन्द्रियविषयभोगेच्छा तस्य शास्त्रं नाम येन तत्पूर्त्युपाया ज्ञायन्ते तत्। तदपि सर्वेषां स्वाभाविकमित्यनिवार्यतया नाऽनवस्थामुत्पादयेदित्यर्थो तद्विषयकं सर्वमपि

यदि आत्मज्ञान (आत्मदर्शन) प्राप्त करने में स्त्री, वैश्य, शूद्र सब मनुष्यों का समान अधिकार है, तो राष्ट्रज्ञान प्राप्त करने में क्यों नहीं हो सकता? जब किसान, गोपाल, जलहारी तक राष्ट्रज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, तो बालकों, विद्यार्थियों और ब्राह्मणादि को तो यह राष्ट्रज्ञान प्राप्त करना ही चाहिए।

अब राष्ट्रज्ञान के फल का निरूपण किया जा रहा है :—

नरा नार्यश्च यत्र स्यू राष्ट्रज्ञानविचक्षणाः।
अराष्ट्रियास्तु तद्राष्ट्रं प्रभवन्ति न शासितुम् ॥43॥

जिस राष्ट्र में स्त्री और पुरुष दोनों राष्ट्रज्ञानी होंगे। अराष्ट्रिय लोग उस राष्ट्र का शासन नहीं कर पायेंगे।

हिताऽहितकरं सुखाऽसुखकरं प्रकारजातं सद्गुरुशास्त्रमर्यादया विजानीयात्। अथ सर्वेषामेषां त्रयाणामपि धर्मार्थकामानां मूलभूतो मोक्षो व्यावहारिकः पारमार्थिकश्च स्वातन्त्र्याऽपरपर्यायः सद्गुरुशास्त्र-मर्यादया विजानीयात। एतद्विज्ञानाभावे हि न नेतृत्वं कर्तुं पार्यते राष्ट्रस्येति तात्पर्यम्। अयमाशयः—स्वाभाविकार्यत्वस्याऽभावे आहार्या-र्यत्वेनाऽपि नेतृत्वं कर्तुं शक्यते। परन्तु तदार्यत्वं गुरुशास्त्रसहायतयैवाऽऽहर्तुं शक्यते इति बोधितं शास्त्रपदेन। राष्ट्रभाषापदं च धर्म्यभाषाया अप्युपलक्षणम्। 'तत्त्वतः' इत्यनेन च ज्ञानविज्ञानप्राप्तिर्यथा भवति तथा समभ्यसनीयमेतत्सर्वमिति ध्वन्यते। समित्युपसर्गेण च प्रमादालस्यादि सर्वथाऽत्र त्याज्यमिति ध्वन्यते। अथ च यः किलाऽध्ययनविधिरुपदिष्टो महात्मभिः स सर्वोऽपि समादरणीय इति ध्वन्यते सम्यक् पदेन। स च शास्त्रान्तरेषु विस्तरशो निरूपितस्तत एव बोध्यः। 'समभ्यस्येत्' इति लिङा विधिवाक्यमिति बोध्यते। अत्र राष्ट्रनेतृत्वं तावत्सिद्धमेवाऽऽतूद्य राष्ट्रभाषासमभ्यासो नियम्यते। एवमेव धर्मार्थकाममोक्षशास्त्राण्यपि समभ्यासेन नियम्यन्ते। अयं भावः–मनुष्यमात्राणां 'मनुष्यमात्रः' (रा 24) इत्यादिकारिकाभिः पूर्वं राष्ट्रभाषादीनामध्ययनं विहितमेव तदेवाऽत्राऽऽतूद्य राष्ट्रनेतरि नियम्यतऽस्तोऽयं नियमविधिः। राष्ट्रनेतृत्वस्य च पुनः सह गुणैरपूर्वविधिरेव "सोमेन यजेत" इति वत्। अन्यत्र हि सामान्यतो विधानं मनुष्यमात्राणां कृते। अत्र च विशेषतो विधान राष्ट्रनेतृकृते किं च नेतृत्वमेव तावत्स्वाभाविकं तदेव गुणविधानपुरःसरं राष्ट्रनेतृत्वं विधीयतेऽनया कारिकया इत्यादि सर्वं स्वयमेवोह्यं सुधीभिः। इदं पुन-र्बोध्यमेव यः खलु यावतां राष्ट्राणां नेता भवितुमिच्छति स तावतां

मनुष्य मात्र की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह अन्य का शासन नहीं चाहता है और स्वतन्त्रता चाहता है, यह उचित भी है, क्योंकि कारणगुण कार्य-गुणों का आरम्भ करते हैं। कार्य से कारण का अनुमान होता है तथा कारण से कार्य की सिद्धि होती है।

मनुष्यों में जो स्वातन्त्र्यप्रियता का गुण है, वह सर्वशक्तिमान् परमात्मा का ही गुण है। यद्यपि वस्तुमात्र की स्वातन्त्र्यप्रियता होती है, परन्तु जहां-जहां उसकी अधिकता होती है, वहां-वहां उत्कृष्टयोनिता होती है। जहां-जहां उसकी न्यूनता होती है, वहां-वहां अधमयोनिता होती है। अभिप्राय यह है कि जो वस्तुमात्र की अविरोधी स्वतन्त्रता चाहते हैं, वे वास्तव में स्वतन्त्रता के भक्त हैं। अतः वे

राष्ट्राणां राष्ट्रभाषां धर्मार्थकाममोक्षशास्त्राणि च समभ्यस्येत् । अन्यथा राष्ट्रनेतृत्वं नाऽवाप्तुं शक्यते इति । नेता खलु सर्वांशेन व्यवस्थां विधातुं समर्थ एव भवितुमर्हति नाऽन्यः । एतेन हानोपादानज्ञानाया-ऽऽर्याणामप्यनार्यत्वविज्ञानमप्यावश्यकमिति बोध्यते । इदं सर्वं 'क्रान्तिकामुद्यां' स्पष्टं प्रतिपादितं तत्तत एवाऽवगम्यम् । अल-मनेन ॥44॥

राष्ट्रनेतुरावश्यकगुणानेवं निरूप्य राष्ट्रपरिषद्विषये महाराष्ट्र-परिषद्विषये च निरूपयितुमाह—

महती राष्ट्रपरिषत् स्थापनीया तु राष्ट्रियैः ॥
पूर्वोक्तलक्षणास्तत्र विनियोज्याः सभासदः ॥45॥

महतीति । राष्ट्रियैः–तु–महती–राष्ट्रपरिषत्–स्थापनीया–तत्र–पूर्वोक्तलक्षणाः–सभासदः–विनियोज्याः । इति पदयोजनिका ।

'राष्ट्रे'=उक्तलक्षणे जाता राष्ट्रियाः चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धिनो राष्ट्रस्य राष्ट्रिया इत्युच्यन्ते । तु एवाऽर्थेऽव्ययमेतत् । 'महती'=विशाला सर्वाङ्गपूर्णा चेति पूज्या वा अन्तिमनिर्णायकतया वा महतो, समस्तराष्ट्राणां मान्यतया च महती वा । 'राष्ट्रपरिषत्'—राष्ट्राय=पूर्वोक्तलक्षणाय परिषत्=सभा राष्ट्रस्य वा परिषत्, राष्ट्रे च परिषत्, राष्ट्राणां च परिषत्, राष्ट्रेभ्यश्च परिषत् । 'स्थाप-नीया'=स्थिरा कार्या । अथ च 'तत्र'=परिषदि 'पूर्वोक्तलक्षणाः'—पूर्वं=प्रथमं 'शक्तित्रय' (रा. 34,35,36,) इत्यत्र 'राष्ट्रनेता' (रा 44)

कभी भी परतन्त्र नहीं होते हैं । जो केवल द्वैतभावमात्र देखने वाले हैं, अपनी स्वतन्त्रता से दूसरों को परतन्त्र करके रखना चाहते हैं, वे भी दूसरों के द्वारा परतन्त्र कर लिए जाते हैं । अतः वे अधमयोनियों में उत्पन्न होते हैं । वे पार-तन्त्र्यप्रिय कहलाते हैं ।

मनुष्यलोक में स्वातन्त्र्य का अधिक विकास मनुष्य में ही हुआ है । वे मनुष्य भी दो प्रकार के हैं—आर्य तथा अनार्य । आर्य भी दो प्रकार के हैं—एक तो स्वभाव से ही स्वातन्त्र्यप्रिय तथा दूसरे कर्तव्यबुद्धि से स्वातन्त्र्यप्रिय । अनार्य भी दो प्रकार के हैं—सन्देह से आकुल होने से पारतन्त्र्यप्रिय तथा अभि-निविष्ट होने से पारतन्त्र्यप्रिय ।

ये ही क्रम से आर्यराष्ट्रवादी, आर्यराज्यवादी, अनार्यराष्ट्रवादी, अनार्य राज्यवादी कहलाते हैं । अनार्य लोग अपनी अनार्यनीति के बल पर आर्यों को

इत्यत्र च 'उक्त' कथितं 'लक्षणं'=परिचायकं येषां ते पूर्वोक्तलक्षणाः 'सभासदः' - सभायां=परिषदि सीदन्ति ते सभासदः=सभ्या इति यावत् "सभासदः सभास्ताराः सभ्याः" (अमर 2/7/16) इत्यमरः । 'विनियोज्याः'—विशेषेण नितरां योजनीयाः विनियोक्तव्या इति यावत् इति । अत्रेदं तात्पर्यम् राष्ट्रसमुन्नतिः किल केवलमुपाय-परिज्ञानमात्रेणाऽन्तरा तदुपायजातप्रयोगं नैव सम्भवति । केवल-मिच्छाकरणेन वा न सम्भवति कार्यसिद्धिः । उक्तमपि—

उद्यमेन हि सिद्ध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः ।
न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः ।।

अतश्व पूर्वं राष्ट्रज्ञानवैचक्षण्यं सम्पाद्यत्वेनोक्तम् । इदानीं च तत्सम्प्रयोगोऽपि कथं कर्तव्य इत्युच्यते । तत्प्रयोगार्थं च पूर्वं प्रयोक्तॄणां नेतृभूतानां सावधानतायै तदावश्यकगुणा अपि निरूपिताः । यानन्तरेण नेतृत्वमेव नाऽवाप्यते । अथेदं बोध्यम् – सर्वाण्यपि कार्याणि राष्ट्रदृष्टि-मवलम्ब्यैव कार्याणीत्युक्तमेव पूर्वम् । व्यापकदृष्टिमवलम्ब्य कार्य-करणे व्याप्यस्याऽवश्यमेव हितं भवति । पूर्वमव यस्य दृष्टिर्व्याप्या स व्याप्य हितमपि न कर्तुं प्रभवति, व्याप्य हि तस्य व्यापकहिताधीन-त्वात् । एवं च पूर्वं राष्ट्रकल्याणाय चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धिभिः 'राष्ट्रपरिषत्' स्थाप्या । अत्र पूर्वकारिकातो राष्ट्रनेता इति पदमनुवर्तते । तच्च तृतीयबहुवचनान्ततया परिणमत्यात्मानं 'राष्ट्रियैः' इति पदेना-ऽन्वेति । तेन राष्ट्रनेतृभिः राष्ट्रियैः इत्यर्थो लभ्यते । तैः सर्वतः प्रथमं 'महती'=पूज्या राष्ट्रपरिषत् स्थापनीया । अत्रेद बोध्यम्—प्रथमं

परतन्त्र कर के उनके राष्ट्र का इच्छानुसार उपयोग करना चाहते हैं—क्योंकि अनार्यों का का ऐसा स्वभाव ही है । परन्तु जब तक आर्य लोग अपने आर्यभाव पर स्थिर रहते हैं, तब तक उन्हें कोई परतन्त्र नहीं कर सकता है । आर्यों के आर्यभाव में जब न्यूनता आ जायेगी, तो अनार्य लोग उन पर आक्रमण कर देंगे । स्वातन्त्र्य की अपेक्षा ही पारतन्त्र्य का आरम्भ है । कर्तव्य बुद्धि में जब संशय उत्पन्न होता है, तो व्यक्ति विनष्ट हो जाता है, कहा भी है—'संशयात्मा विनश्यति" ।।

जो संशयालु होते हैं, वे ही अपनी संकुचित स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लिए दूसरों को परतन्त्र करना चाहते हैं । वे उन बिरले कर्तव्य-परायणों को अपनी भेदनीति से भेदन कर, स्वयं अपने जैसे लोगों का संघटन कर आर्यों को

तावत्प्रस्तुतभाष्यकृताऽऽर्यराष्ट्रवादमवलम्ब्यैवोच्यते ग्रन्थस्याऽस्याऽऽर्यराष्ट्रवादप्राधान्यात् । राष्ट्रलक्षणं तु पूर्वमुक्तमेव । तत्तद्राष्ट्रलक्षणयुक्तराष्ट्राणां चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धिभी राष्ट्रनेतृगुणयुक्तै राष्ट्रियैः समस्तराष्ट्राणां सम्मान्यभूता महती राष्ट्रपरिषत् स्थापनीया । किमर्थमिति तु न शक्नोयम् । कल्याणेच्छा हि नाम समस्तस्याऽपि यतः स्वाभाविकीति । अत एव राष्ट्रेभ्यः=समस्तराष्ट्रेभ्यः या परिषद् भवति तादृशी राष्ट्रपरिषत् स्थापनीया । अयं भावः—समस्तराष्ट्राणि समाजाविरोधेन यथा वर्तेरन् तथा व्यवस्थां सम्पादयितुं महती राष्ट्रपरिषत् स्थापनीया । पारस्परिकसम्बन्धस्थापनं सा परिषत् नियमयेत् । अथ च किमपि राष्ट्रमनार्यतया राष्ट्रान्तरं माऽऽक्राम्यतु, एवं व्यवस्थां सा परिषद्विदध्यात् । अत्रेदं च बोध्यम्—परिषत् किल निग्रहेणाऽनुग्रहेण च समदर्शिनी भूत्वा सर्वाण्यपि राष्ट्राणि नियमयतु । सर्वाण्यपि राष्ट्राणि परिषदा स्वतन्त्राण्येव स्थाप्यानि । परतन्त्राणि स्वतन्त्रीकार्याणि । अन्यथा शान्तिसुखमाकाशपुष्पमेव भवितेत्यवश्यं मन्तव्यम् । एतच्च सर्वमपि 'महती' पदेन बोध्यते । पूर्णशान्तिसुखकामनायां परिषदध्यार्यतया महती स्थापनीया । अनार्या चेत्परिषद् अनार्या अपि न तां मानयन्तीति । अथ चदमप्यवगन्तव्यम्—तेषु तेषु च राष्ट्रेषु राष्ट्रकल्याणाय महती राष्ट्रपरिषत् स्थापनीया तन्नेतृभी राष्ट्रियैः । अयमर्थः-पूर्वं तावद्राष्ट्रज्ञानप्रचाराय परिषत् स्थापनीया इत्युक्तमेव । अथेदानीं विज्ञातस्य राष्ट्रज्ञानस्य प्रयोगाय परिषत्स्थापनमत्र विधीयते । एका तावत् महती राष्ट्रपरिषत् स्थापनीया महती=पूज्या । पूज्यत्वं किलाऽऽर्यतया राष्ट्रे हि तन्नेतृगुणमण्डितै राष्ट्रियैर्मिलित्वैव

एक-एक करके विभक्त करके परतन्त्र बना देते हैं । यह अनार्यों का दोष नहीं हैं, अपितु यह उनका गुण है । दोष तो उन आर्यों का है, जो स्वातन्त्र्य की अपेक्षा करते हैं । विचक्षण पद से ध्वनित होता है कि जो राष्ट्रज्ञानी हैं, उन पर कोई भी अनार्य शासन नहीं कर सकता है । जिस राष्ट्र में सभी स्त्री पुरुष राष्ट्रज्ञान में निपुण होंगे, उन पर अन्य राष्ट्र के लोग शासन नहीं कर सकेंगे । राष्ट्रज्ञानियों को संघशक्ति का ज्ञान होता है । शक्तिमान् ही संसार में सब कुछ प्राप्त कर सकते हैं । ज्ञान की प्राप्ति से ही मनुष्य सर्वशक्तिमान् होता है । ये करने, न करने य अन्यथा करने में भी समर्थ होते हैं । ये सभी मनुष्यों को स्पष्टतः समझा सकते हैं । अधीति, बोध, आचरण और प्रचार-चारों प्रकारों का

महती राष्ट्रपरिषत् स्थापनोया सर्वाङ्गपूर्णा । राष्ट्रस्य चतुर्विध-सम्बन्धेन सम्बन्धिता एव राष्ट्रियास्तैरेव स्थापनीयेति 'तु' इत्यनेन ध्वन्यते । सा हि समस्तमपि शासनमार्यभावेन विदध्यादित्यर्थमुः। आर्यभावस्यैव समुन्नतिसाधनत्वात् । परिषत् किल शास्ति यत्र तद्राष्ट्रं राष्ट्रान्तरैर्नाक्रामितुं शक्यते । अत्रेदं बीजम्—आर्यराज्यवादिराष्ट्रेषु किलैकायत्ततन्त्रत्वात्तस्या च पुत्रादिपरम्परयैकतोभद्रप्राधान्योत्पादकत्वेन वैषम्योत्पादकत्वात् । आर्याणां च वैषम्यस्याऽप्रियत्वात् । परिणामे अहितजनकत्वाच्च वैषम्यस्य । अत एव अनार्यराष्ट्रवादीनि राष्ट्रान्तराणि राज्यवादीनि राष्ट्राण्याक्रम्य परतन्त्रीकुर्वन्ति । इदं च बोध्यम्—आर्यराज्यवादिषु राष्ट्रेषु किल राजभक्ताः किल भवन्ति लोकाः प्रायः, राजानोऽपि राज्यभक्ता न राष्ट्रभक्ताः । अत एव अनार्याणां झटित्येव प्रवेशो भवति । ते खल्वनार्या वैयक्तिकं राजहिताऽहितं छद्मना बोधयन्तस्तत्रत्यान् स्वयमेव शासकपदं भेदनीत्या स्वाकुर्वन्ति । तत्रत्या राजभक्ताश्च राष्ट्रभक्त्यभावात् तमेवाऽनार्यशासकमपि स्वकीयं शासकं मन्यन्ते तेन ते भृत्यत्वमापद्य विनश्यन्ति । अतो वाऽनार्यराष्ट्रवादिनां सन्निधौ सांयुगीना भवन्त्यार्या अपि राज्यवादिनः । यत्र आर्यराज्यवादिनां साफल्यं दृश्यतेऽनार्यराष्ट्रवादिभिः सह सङ्गरे तत्राऽपि प्रच्छन्ना वा प्रकाशा वा राष्ट्रभक्तिरेव कारणं भवतीति समस्तेतिहासविदामपरोक्षमिदम् । अतो वैषम्योत्पादकतया राज्यवाद आर्याणामपि न चिरकालिक श्रेयः शान्तिसुखं च स्थापयितुं च प्रभवति । यत्र चाऽऽर्यराष्ट्रवादस्तत्र न वंशपरम्परागतमेव शासकत्वं, किन्तु गुणकर्मदर्शनेन सर्वैरपि राष्ट्रियै राष्ट्रज्ञानविचक्षणैर्नेतृपदैः योग्याऽयोग्यविवेचन-

---

उपयोग जिस राष्ट्र के सभी पुरुष करते हैं, उस राष्ट्र पर अराष्ट्रिय शासन नहीं कर सकते ।

भर्तृहरि ने विद्याविहीन व्यक्ति को पशु कहा है। राष्ट्र-ज्ञान में विचक्षणता ही राष्ट्र का मूल होता है । अतः आर्य युग में आर्य राष्ट्र वादी, आर्य स्त्री-युग तथा अनार्य पुंयुग में संशयाकुलता के कारण अनार्य राष्ट्रवादी एवं अनार्य स्त्री युग में मूढ़ता के कारण अनार्यराज्यवादी सर्वाधिक होते हैं ।

यह भी ज्ञेय है कि अद्वैतविद्या से सम्पन्न भी व्यक्ति विचक्षण होते हैं । उनमें पूर्व स्वातन्त्र्य-भाव और पूर्ण शक्ति होती है । वे न किसी पर आक्रमण करते हैं और न आक्रान्त होना चाहते हैं । इसी प्रकार राष्ट्र ज्ञानी राष्ट्रिय भी

पूर्वकं यथाकालं यथादेशं यथाकार्यं च स्थाप्यते, अत एव राष्ट्रान्तराण्यनार्याण्यपि राष्ट्रवादीन्यपि तादृशराष्ट्रं नाक्रामितुं प्रभवन्ति। यतस्तत्र सर्वतोभद्रप्राधान्याद्राष्ट्रभक्ता एव सर्वे इति राष्ट्रभक्तानां भेदनं दुःशकमिति। भवतु, एवं च शान्तिशासनमिच्छद्भ्द्री राष्ट्रपरिषत् स्थापनीया, साऽपि सवगुणसम्पन्नैव। अयमर्थः—परिषदः सर्वाण्यप्यङ्गानि उपाङ्गानि च आर्यविधया निर्मातव्यानि, यतो राष्ट्रसमुन्नतिर्भवति। अथ परिषच्च परितः सीदन्ति यत्र सा परिषत् इति परिषच्छब्दार्थतया सा सीदतां चेतनानामाक्षेपिकेति तेषां निरूपणां विना परिषत्पदार्थबोधाऽभावेन तान् निरूपयितुमाह—पूर्वोक्तेति। तत्र परिषदि विनियोज्याः सभासदः पूर्वोक्तलक्षणाः। अयमाशयः—परिषदि किल ये सीदन्ति ते सभासद इत्युच्यन्ते। सभायां सीदन्ति=गच्छन्ति ते सभासदः। भातीति भा पचादित्वादच् ततष्टाप्। तया सह वर्तते इति सभा सङ्घशक्तिः, तस्यां ये गच्छन्ति ते सभासदः। समस्तकल्याणकारितया प्रकाशनं भाशब्देन द्योत्यते तद्युक्ता या सङ्घशक्तिः सैवाऽत्र सभापदेन विवक्षिता तस्यां ये गच्छन्ति नियमादिविधानाय ते सभासदः इत्युक्ता अत्र। तदेतेषां सभासदां सम्मेलनमेव परिषत् इत्युच्यते। अथ ते सभासदः राष्ट्रियैरेव राष्ट्रनेतृभिर्विनियोज्याः चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धिनामेव राष्ट्रे स्वत्वात् सभाराष्ट्रपदे विनियोजयितुमति तेषामेवाऽधिकार इति व्यज्यते 'तु' पदेन। एतेन राष्ट्रियाणां नाऽधिकारः सभासन्निर्णयायेति ध्वन्यते। तत्तत्कार्यकरणाय विशेषेण नितरां च योज्याः। एतेन राष्ट्रियसम्मतिमन्तरेण न राष्ट्रपरिषत्सभासदत्वं प्राप्यते इति ध्वनितम्। अथ च राष्ट्रियसम्मतानामेव शासनेऽधिकारित्वं प्राप्यत इति च ध्वनितम्। 'राष्ट्रियैः' इति बहुवचनेनात्र नैकमात्र विनियुक्तानां सभासदत्त्वमिति ध्वन्यते। राष्ट्रियाश्च राष्ट्रज्ञानविचक्षणा एव

होते हैं। दूसरे राष्ट्र पर आक्रमण-प्रयास भी अनार्य ही करते हैं। अतः राष्ट्रज्ञान विचक्षणता ही स्वातन्त्र्य-प्राप्ति का हेतु है और वह सब सदा सर्वथा योग क्षेत्र से ही होना चाहिए। इन विचक्षणों का स्वभाव स्वाध्याय करने का होता है। वेद भी कहता है "स्वाध्याय से प्रमाद मत करो।"

अतः राष्ट्रज्ञान की विचक्षणता की प्राप्ति में कभी आलस्य या प्रमाद नहीं करना चाहिए। ज्ञान-विज्ञान के साधन धर्मग्रन्थों का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए राष्ट्रनेता के कर्त्तव्य का निर्देश किया जा रहा है—

विनियोक्तुमर्हन्तीत्यपि बोध्यमेव । ते च पूर्वोक्तलक्षणाः पूर्वमुक्तं लक्षणं येषां ते तादृशाः । पूर्वस्यां "राष्ट्रनेता" (रा 44) इति कारिकायां राष्ट्रनेतॄणां लक्षणमुपन्यस्तं, तेऽत्र परिषदि सभासद्पदे विनियोज्याः । अथ वा विधातव्या (रा. 34,35,36) इत्यादि कारिकात्रयोक्तलक्षणा एव विनियोज्याः । अत्रेद बोध्यम्—परिषत्स्थापनायामपूर्वविधिः । राष्ट्रियैरराष्ट्रियैरिति प्राप्तौ राष्ट्रियैरेवेति च नियमविधिः । अथ च यथा तथा वा न सभासदत्वं भवतीति ध्वननाय विनियोज्या इति पदम् । स्वयमपि स्वस्य विनियोजनं सम्भवति तद्वारयितुं राष्ट्रियैरिति पदम् । विनियोज्या इति पदेन च अपूर्वो विधिरिति ध्वन्यते । विनियोगाऽभावे च न सभासत्वं सम्मान्यमिति ध्वन्यते । विनियुक्तानां च पूर्णं सम्मान्यत्वम् । तेऽपि न यथा तथा विनियोगार्हाः किं तु राष्ट्रज्ञानविचक्षणा एवेति ध्वननाय पूर्वोक्तलक्षणा इति । अत्रेदं त्ववश्यमेवाऽऽकलनीयम्—अज्ञानिनः खलु सहस्रशोऽपि समेता अपि न कल्याणं कर्तुं पारयन्ति, ते हि कल्याणविधानोपायाऽज्ञानात् । अत एव न तेषां परिषत् परिषत्पदव्यवहारमवगाढ प्रभवति । मानुषशरीरं बिभ्राणा अपि पशुसमानभाववन्त एव बुद्धाविति । अतएवोक्तं मनुनाऽपि—

एकोऽपि वेदविद्धर्मं य व्यवस्येद् द्विजोत्तमः ।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाऽज्ञानामुदितोऽयुतैः (मनु. 12/113)
अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम् ।
सहस्रशः समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते ।। (म.नु. 12/114)

राष्ट्रनेता राष्ट्रभाषा धर्मग्रन्थान् विशेषतः
समभ्यस्येदर्थकाममोक्षशास्त्राणि तत्त्वतः ।।44।।

राष्ट्रनेता को चाहिए कि वह राष्ट्रभाषा का और विशेष रूप से धर्मग्रन्थों का अभ्यास करें । अर्थशास्त्र, कामशास्त्र तथा मोक्षसम्बन्धी शास्त्रों का तात्त्विक दृष्टि से सम्यक् रूप में अभ्यास करें ।

राष्ट्र, राष्ट्रनेता तथा राष्ट्रभाषा का विवेचन पहले किया जा चुका है । अब धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र तथा मोक्षशास्त्र (स्वातन्त्र्य) पर विवेचन किया जा रहा है ।

यह सम्पूर्ण जीवलोक पूर्ण शक्ति चाहता है, किन्तु प्राप्ति के उपायों का परिज्ञान न होने से कुछ प्राप्ति नहीं होती है । अतः यथार्थोपाय का जान लेना

तनश्च राष्ट्रज्ञानविचक्षणानामेवाऽधिकारो महत्यां राष्ट्रपरिषदि नाऽज्ञानामिति स्फटमेव। इदं च बोध्यम्—सभासदः कति नियोज्याः इत्यत्र विषये न किंचिद्विशेषेणोक्तं तद्ध्वनयति यत्—आवश्यकता-मालोच्य सङ्ख्यानियमः कार्यः। अत एव मनुना दशाऽऽवरा परिषदुक्ता निर्णये यथा—

त्रैविद्यो हेतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः॥
त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे परिषत्स्याद्दशाऽवरा॥

कार्यविभागमवलम्ब्य सङ्ख्यानियम उचितः। भवतु। अत्रेदं बोध्यम्—स्वतन्त्रराष्ट्रलक्षणे खलु विषयत्रयमेव मुख्यत्वेनोपात्तम्। तदङ्गान्येव सर्वाणीति व्यवस्थैवं भवितुमर्हति—एका महती राष्ट्रपरिषत्। तत्रैकः परिषदध्यक्ष एकश्चोपाध्यक्षः एको मन्त्री एकश्चोपमन्त्री एकः कोशाध्यक्ष, एकश्च कोषोपाध्यक्षः। ये 'खलु' राष्ट्रपतिं स्वात्मानमन्यं वा मुख्यनेतारं मन्यन्ते घोषयन्ति वा ते राष्ट्रवादाऽनभिज्ञा इति त उपेक्ष्या एव। राष्ट्रभूमिः खलु 'राष्ट्रियाणां जननीति सर्वेऽप्यविसंवादेन सम्मानयन्ति। तस्या मातुरेव स्वस्या ये पतित्वं भजन्तीच्छन्ति वा ते किं राष्ट्रवादिनो भवितुमर्हन्ति। अब्रह्मण्यम्। तथाऽऽधारवतामेषां कथमिव न भवेत्पतित्वं पापीयसां स्वमातुः पतित्वं भजमानानाम्। भवतु। यथाऽवसरमेतद्ग्रन्थान्तरे विवेचयिष्यते। अन्ये साधारणाः सभासदः। तत्राऽयं विवेकः—राष्ट्रस्य किल बहून्यङ्गानि तत्र एका

श्रेयस्कर हैं। यथार्थ उपाय तो राष्ट्रज्ञान में विचक्षणता प्राप्त करना ही है। राष्ट्रज्ञानवान् ही आर्य हैं। अपर अनार्य हैं। जिस प्रकार प्रति व्यक्ति के दो नेत्र होते हैं और प्रत्येक नेत्र में भी दो दृष्टियां होती हैं। परन्तु 4 दृष्टियां भी हों, तो भी वस्तु तो एक ही दिखाई देती है - यही दृष्टि की मर्यादा है. उसी प्रकार आर्यत्व अनुग्रह प्रधान है तथा अनार्यत्व निग्रहप्रधान ये दोनों प्रत्येक में होते हैं - अनुग्रह के दो भेद हैं। निग्रह के भी दो भेद हैं। इन चारों को जानने वाला पुरुष किसी कार्य को करने में, नहीं करने में तथा अन्यथा करने में समर्थ होता है। यही राष्ट्रज्ञान की विचक्षणता है। उसी से सम्पूर्ण शान्ति प्राप्त की जाती है। शिक्षा को अनुग्रह प्रधान उपाय बताया गया है तथा शासन को निग्रह प्रधान। ये दोनों ही नेता में समावृत होते हैं। अतः प्रथमतः राष्ट्रनेता का ही व्याख्यान करते हैं। जिस प्रकार हीरे को ही शाण पर घिसा जा सकता है तथा सुवर्ण को

नियमविधायिनी परिषत्। अपरा च नियमाऽनुकूलशासनव्यवस्था-कारिणी। एवमनेकास्तत्तत्कार्यसञ्चालनाय परिषदः स्थापनीयाः ताश्च सर्वा महत्या राष्ट्रपरिषदोऽधीनतया कार्याणि कुर्युः। एतत्सर्वं विनि-योज्या पदेन ध्वन्यते। इदं तु बोध्यमत्र—तत्र तत्र कार्येषु राष्ट्रनेतृभिः परिषदः स्थापनीयाः। महती च पुनरेकैव सम्भवति, तदपेक्षया पूज्या-न्तराऽभावात्। अत एव एकं पदं नोपात्तं कारिकायाम्। राष्ट्रे किल बहवः कार्यविभागा भवन्ति। तेषामेकैकं विज्ञं गृहीत्वैकैका परिषद्वि-धेया। विभागाः कार्याणि च राष्ट्रविषयकाण्युच्यन्त एवाऽनुपदम्। साधारणः सभासत्सङ्ख्यानियमः 'प्रतिग्रामम्' (रा. 40) इति कारिका-भाष्यावसरे उक्त एव, स एवाऽत्राऽपि तारतम्यमवलम्ब्य यथायथ-मूरीकर्तव्यो विशेषश्च स्वयमूह्यो राष्ट्रज्ञानविचक्षणैः ॥45॥

राष्ट्रसमुन्नत्यै राष्ट्रज्ञानवैचक्षण्यप्रयोगाय राष्ट्रशासनाय प्रथमं राष्ट्रपरिषत् स्थापनं महापरिषत्स्थापनं तत्र सभासदां विनियोज्यत्व च निरूप्य शासनेतिकर्तव्यतां विवक्षुः राष्ट्रकार्याणि कारयितुं वृत्तिदानं निरूपयन् आह—

वृत्तिं समुचितां दत्त्वा राष्ट्रकार्याणि कारयेत्।
संयोजयति कार्येषु सा हि गौरवकारिणी ॥46॥

वृत्तिमिति। सा—समुचितां—वृत्तिं—दत्त्वा—राष्ट्रकार्याणि—कारयेत्—हि—गौरवकारिणी सा—कार्येषु—संयोजयति। इति पदयोजनिका।

'सा'=पूर्वप्रकान्ता महती राष्ट्रपरिषत् 'समुचितां'—सम्यक्=सर्वथा उचिता=योग्या तां 'वृत्तिं'=जीविकां 'दत्त्वा'=प्रदाय 'राष्ट्रकार्याणि'—

ही निघर्षण, छेदन, ताप, ताडनादि से परीक्षा की जाती है, तज्जातीय अन्य की नहीं। उसी प्रकार स्वातन्त्र्य भाव की जातिगत विशेषता के कारण मर्त्यलोक में नर को ही नेतृपद का अधिकार माना गया है। नर शब्द में नर और नारी दोनों सम्मिलित हैं, ऐसा पहले कहा जा चुका है। मनुष्य का स्वाभाविक नेतृत्व भी मेघाच्छन्न आकाश की तरह सर्वदा दृष्टिगोचर नहीं होता है। जैसे बादलों के चले जाने पर पुनः वही आकाश की निर्मलता प्रकाशित होती है। इसी प्रकार राष्ट्रज्ञापन की विचक्षणता से पुरुष का स्वाभाविक नेतृत्व विकसित होता है। कहीं से नए रूप में लाया नहीं जाता है। सतयुग में भी पूर्ण आर्यत्व सम्भव नहीं है। जितने अंश में आर्यत्व होता है, उतने अंश में शान्ति भी अधिक होती है।

राष्ट्रं पूर्वोक्तलक्षणं, तस्य कार्याणि=कर्तुं योग्यानि कर्माणि सम्बन्ध-सामान्ये षष्ठी ततस्तत्पुरुषः। कृञो "ऋहलोर्ण्यत्" (पा. सू. 3/1/124) इति ण्यत्। 'कारयेत्'=समाचारयेत्। चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धवद्भी राष्ट्रियैरिति शेषः। 'हि'=यस्मात् कारणात् 'गौरवकारिणी'—गौरव=गुरुत्वं सम्मान्यत्वमिति यावत् कर्तुं शीलं यस्याः सा 'सुप्य-जातौ णिनिस्ताच्छील्ये' (पा. सू. 3/2/78) इति ताच्छील्ये णिनिः। 'सा' 'महत्या' राष्ट्रपरिषदा राष्ट्रियेभ्यो दत्ता वृत्तिः 'कार्येषु'=कार्यत्वा-ऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नेषु कर्तुंयोग्यं 'कार्यं तेष्विति भावः 'संयोजयति'—सम्यक्=कायवाङ्मनसैः योजयति=व्यापारयति। इति।

अत्रेदं तात्पर्यम्—वस्तुत्वाऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नं हि सर्वदा सर्वथा चात्मानमेव प्रीणयितुमिच्छति। प्रीणयत्येव वा समुचितमप्यतदेव खलु। आत्माऽतिरक्तस्य वस्तुनो वस्तुतोऽभावात्। प्रतीयमानताऽवच्छदकाऽव च्छिन्नस्यात्मत्वात्। यद्यत्प्रतीयमानताऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नं तत्तदात्मरूप-मेवेति व्याप्तेः। वस्तु च प्रतीयमानताऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नं च नेति सम्भव-त्येव न। सर्वमेतदात्मविलासे तद्व्याख्यायां च निरूपितं प्रस्तुतभाष्यकृतैव। भवतु। प्रकृते चात्मप्रीणनसाधनमेव जीविकाऽपरपर्याया वृत्तिरित्युच्यते। तां विना न किमपि कोऽपि कर्म कर्तुं प्रभवति। तदर्थमेव खलु सर्वोऽप्यं कलहकालकलः 'सर्वत्र' प्रसृमरो दरीदृश्यते। अथ च सर्वमपीदं वस्तुजातं स्वभावेनैव घस्मरमिति परस्परमत्तुं वाञ्छत्येव निजप्रीणनाय। तत्राऽपि स्वातन्त्र्यशक्तिविकासतारतम्येनाऽत्ताऽदनव्यवहारः। एवं तु सर्वमपि वस्तु जातमन्नमेव। तथा च श्रुतिः—"अद्यतेऽत्ति च भूतानि तस्मादन्नं

आर्यलोग आर्य युग को लाने का यत्न करते हैं और अनार्य लोग अनार्य युग को लाने का। अनार्य युग में अनार्यों का और आर्य युग में आर्यों का नेतृत्व होता है। शान्तियुग ही आर्य युग है। नेता आर्य होता है, तो सभी शान्ति प्राप्त करते हैं। सतयुग में तो सभी आर्य मानव होते हैं। तब राष्ट्रज्ञान की विचक्षणता भी स्वाभाविक होती है और शासन भी शान्तिपूर्ण होता है। उसमें मात्स्यन्याय का प्रचलन नहीं होता। अतः वह आर्यराष्ट्रवाद युग होता है। जब आर्य प्रति-क्षण अनार्यता की ओर अभिमुख होते हैं, तब कलियुग आता है। कलियुगान्त तक सब अपनी-अपनी दशा का उपभोग करते हुए अपने बिन्दु में लीन हो जाते हैं। इस प्रकार आरोहावरोहक्रम से सभी युगों का प्रारम्भ और अन्त होता है।

तदुच्यते" इति। व्यवहारस्य खलु द्वैतमवत्वात् कर्तृकर्मकरणा नामपि पार्थक्यं कल्प्यते। ततश्च वस्तुजात परस्परमन्नतया भवति। अत एवोच्यतेऽपि "जीवो जीवस्य जीवनम्" इति। उचितमप्येतत्। कारणगुणाः कार्यगुणानारम्भन्ते इति न्यायात्। कारणं च सर्वस्याऽपि परं ब्रह्मैव। यतः खलु समस्तमपि कल्पितं भवति सर्वमिदं यथा तथा "जन्माद्यस्य यतः" (ब्र सू 1/1/2/2) इति व्याख्यासूत्रे तस्य शाङ्करभाष्ये च स्पष्टं निरूपितम्। यदेव खलु कारणं भवति, तदेव सर्वं भक्षयत्यपि। अत एव बृहत्वाद् ब्रह्मरूप आत्मा सर्वस्याऽप्यत्ता भवति। अयं पूर्णचैतन्यरूपः। तथा 'च' "चैतन्यमात्मा" (शि. सू. 1/1) इति। अयं किल सर्वमपि कल्पितं चराऽचरमत्ति। तथा च श्रुतिः - "ब्रह्म क्षत्रं चोभे भवत ओदनः। मृत्युर्यस्योपसेचनम्" इति। एतत्सर्वमपि "अत्ता चराऽचरग्रहणात्" (ब्र.सू.-1/2/2/9) इत्यत्र व्याससूत्रे तच्छाङ्करभाष्ये च स्पष्टम्। एवं च जीविकार्थमेव परस्परं भोगेच्छा भवति। तत्रोचिततया जीविकां विदधाना आर्याः, अनुचिततया च जीविकां विदधाना अनार्याः। तत्र स्वतन्त्रा अत्तारः परतन्त्राश्च अदनीयानीति निसर्गः। बलवांश्च स्वतन्त्रो भवति। आर्याश्चेत्स्वतन्त्राः सर्वत्राऽनुग्रहवत्तया शान्तिपरिपूर्णया जीविकायाः प्रसारेण स्पृहणीयत्वं विराजते। अथ चेदनार्याः स्वतन्त्रास्तदा सर्वत्र निग्रहवत्तया अशान्तिपरिपूर्णया जीविकायाः प्रसारेण हेयत्वमवलोक्यते। अथेयं भोगेच्छाऽऽर्यशासनाऽभावेऽनार्यजुष्टेन पथा प्रसरन्ती सर्वत्र कलिमेवोत्पादयति। अत एवोक्तमप्यन्यत्र। यथा-"हृदयतृणकुटीरे दीप्यमाने स्मराग्नावुचितमनुचितं वा वेत्ति कः पण्डितोऽपि" इति। एवं च शासनमत्यन्तमपेक्षितं जीविकाव्यवस्थापनाय। तदप्यार्यमेव।

जिस किसी को संसार में शान्तिस्थापना की अपेक्षा है, वह पहले आर्यशासन के नेतृत्व का अवलम्बन ले। यदि वास्तव में राष्ट्र कीं उन्नति करनी है, तो सर्वप्रथम राष्ट्रभाषा का अच्छी प्रकार अभ्यास करना चाहिए। राष्ट्रभाषा में पूर्णरूपेण दक्ष हुए बिना कोई भी व्यक्ति राष्ट्र का नेतृत्व सम्यक्तया नहीं कर सकता हैं।

लोक धर्मप्राण होता है। अतः अधर्मविद् के द्वारा उसे प्रसन्न नहीं किया जा सकता है। अयथार्थकारिता व्यक्ति को उद्वेजित करती है। उद्विग्न व्यक्ति शान्तिभंग करता है। शान्तिभंग होने से अनार्यत्व का विकास होता है। अतः धर्मग्रन्थों का अभ्यास विशेष रूप से किया जाना चाहिए।

आर्यशासनमप्यार्यराष्ट्रवादिनामेव सर्वोत्तममिति पूर्वं निरूपितम्। आर्यराष्ट्रवादिनः किल परिषदं संस्थाप्य राष्ट्रशान्तियोगक्षेमार्थं यतमानाः साफल्यमधिगच्छन्तीत्यतः पूर्वं परिषत्स्थापनमुक्तम। तत्र सभासदोऽपि कीदृग्गुणा भवेयुरित्यपि पूर्वस्यां कारिकायां निरूपितम्। अतश्च सा महती राष्ट्रपरिषत् राष्ट्रियेभ्यो जीविकां समुचितां दत्त्वा राष्ट्रकार्याणि कारयेत्। अत्रेदं बोध्यम्—'कारयेत्' इत्यनेन परिषदः स्वातन्त्र्यं तेन सफलकोपप्रसादवत्त्वं तेन च सर्वतः सम्मान्यत्वं तेन चाऽनुल्लङ्घनीय-शासनवत्त्वं ध्वन्यते। अयं भावः-चतुर्विधयाऽपि नीत्या यथायथं कारयेदिति। कैरित्याकाङ्क्षायां राष्ट्रियैः इत्यनुवर्तते पूर्वकारिकातः। एवं च राष्ट्रियैः कारयेत् महती राष्ट्रपरिषत् राष्ट्रकार्याणि ते चेदव्यवस्थितवृत्तिमन्तो भवेयुस्तदा न कार्यकरणं सम्भवति। यतोऽवृत्तिमत्त्वं हि नामाऽनार्यकर्मप्रवृत्तौ बीजम्। कर्मणश्च स्वाभाविकतया वस्तुमात्रस्याऽनिवार्यत्वात्। अत एव कार्याऽकार्यव्यवस्थायै पूर्वमुचितवृत्तियोजना विधेया परिषदेति बोध्यते। औचित्याऽनौचित्यविवेकश्च राष्ट्रज्ञानवैचक्षण्येनैव भवति। तच्च साङ्गो-पाङ्गं पूर्वमेवाऽतएव प्राप्तव्यतयाऽभिहितम्। वृत्तिश्च राष्ट्रियेभ्यः सर्वेभ्योऽपि देया राष्ट्रकार्यकरणाय। वृत्तिरपि समुचिता देया। अयं भावः-वृत्तिः खलु -

चराणामन्नमचरा दंष्ट्रिणामप्यदंष्ट्रिणः।
अहस्ताश्च सहस्तानां शूराणां चैव भीरवः ॥ (मनु. 5/29)

इत्यादिरूपेण स्वाभाविक्येवेति वृत्तिव्यवस्थापना विधेयेति। नाऽत्र दानं नाम किमप्यपूर्वं, किन्तु स्वभावत एव प्राप्तमौचित्यविवेकेन समर्पणम्। तेन महत्या राष्ट्रपरिषदा वृत्तिव्यवस्थैव कर्तुं शक्येति

स्वराष्ट्र स्वतन्त्र हो अथवा परतन्त्र, सर्वदा उसका सम्मान ही किया जाना चाहिए। राष्ट्रवादी आर्य सब का कल्याण चाहते हैं। अतः वे परतन्त्र परराष्ट्र का भी अपमान नहीं करते हैं। वे सभी राष्ट्रों का मित्रवत् सम्मान ही करते हैं अपना राष्ट्र परतन्त्र भी हो, वो उसका सम्मान करते हैं। यदि परराष्ट्र परतन्त्र हो, तो ये स्वार्थलाभ के लिए इसका सम्मान करते हैं तथा स्वार्थहानि होने पर उसका अपमान करते हैं। अनार्य लोग संगठित होकर केवल अपने राष्ट्र का ही सम्मान करते हैं। परराष्ट्र सर्वदा संदेहाकुल दृष्टि से, परस्पर विनिमय की दृष्टि से प्रेरित होकर स्वतन्त्र राष्ट्रों का सम्मान करते हैं तथा परतन्त्र राष्ट्रों का अपमान करते हैं। अतः व्यक्तिवादी अनार्य स्वभाव से ही मूढ होते हैं, सबके शत्रु होते हैं, लुटेरे होते हैं, सब का अपमान ही करते हैं। आर्य भद्रप्रधान

ध्वन्यते। तेन च वृत्तिच्छेदनं महद्देवाऽनार्यकर्मेति तत्कर्तॄणां महापापत्वं ध्वन्यते। एवं च राष्ट्रे पुण्यं वा पापं वा शासनाऽधीनमिति सिध्यति। 'दत्त्वा'=प्रयुज्येत्यर्थः।' "समानकर्तृकयोः पूर्वकाले" (पा सू. 3/4/21) इति क्त्वा। राष्ट्रकार्यकारकत्वं वृत्तिप्रयोजनं च परिषन्निष्ठं समानमेव। इदं च बोध्यम्—राष्ट्रार्थं यद्यत् कर्तुं योग्यं कर्म तत्तदवच्छेदकाऽवच्छिन्नानि सर्वाण्यपि कार्याणि राष्ट्रपरिषत् कारयेत् राष्ट्रियैः। अराष्ट्रियेभ्योऽपि वृत्तिं दत्त्वा=राष्ट्रकार्याणि कारयेत्। अयं भावः-ये किल न चतुर्विध-सम्बन्धेन सम्बन्धिनो राष्ट्रस्याऽथापि जीवनाशया राष्ट्रे निवसन्ति आर्यस्वभावाश्च तेभ्योऽपि वृत्तिं दत्त्वा राष्ट्रकार्याणि कारयेत् परिषत्। दानं हि नाम यस्मै क्रियते तन्निष्ठस्वत्वाऽभाववत एव वस्तुनो दानं भवति। पूर्वमेव यत्र स्वत्वं प्रतिग्रहो वर्तते, तस्यान्यतो दानरूपेण न सम्भवति। राष्ट्रियाणां तावद्वृत्तौ पितृधने पुत्राणामिव स्वाभाविकं स्वत्वमिति तद्वि-भजने न दानप्रतिग्रहव्यवहारः। अतस्तत्र भ्रात्रेंऽशं ददाति इत्यादिव-द् गौणो दानव्यवहारः। स्पष्टं चेदं दायविभागप्रकरणे मिताक्षरा-मयूख-अपरार्क-विद्वन्मनोहरा-वीरमित्रोदयादौ। अराष्ट्रियाणां च वृत्तौ स्वत्वा-ऽभावात् तेभ्यो वृत्तिदानं युज्यते, अत एव दत्त्वा इति पदमुपात्तं कारि-कायाम्। दानीयानां च नोल्लेखः कृतः। आर्याणां खल्विदमेवार्यत्वं यत्सर्वमपि यथायोग्यं व्यवस्थापनं नाम। राष्ट्रकार्याणि तावदग्रेऽनुपदमेव वक्ष्यन्ते राष्ट्रकार्यार्थमेव हि वृत्तिव्यवस्था राष्ट्रियेष्वराष्ट्रियेभ्यश्च वृत्तिदानम्। वृत्तिरपि 'समुचिता'=सम्यक्=सर्वतोभावेन उचिता योग्या देया। अयमत्र सारांशः—यथा स्वाभाविकभोगेच्छा पूर्तिरार्य विधया सम्पद्येत, तथा वृत्तिर्विधेयेति। अत्रेदं तु न विस्मर्तव्यम्—स्वाभाविक-

---

(कल्याण प्रधान) होते हैं तथा अनार्य अभद्रप्रधान (अकल्याणप्रधान) होते हैं। उसमें भी राष्ट्रवादी सर्वतोभद्र नीति प्रधान, राज्यवादी एकतोभद्रनीतिप्रधान और सङ्घवादी एकतः अभद्रनीति प्रधान होते हैं। व्यक्तिवादी तो सर्वतः अभद्र नीति प्रधान हुआ करते हैं।

कौन से नियम लोकहित कारक हैं, कौन से नहीं—इसका जिनसे ज्ञान हो, वे धर्म ग्रन्थ कहलाते हैं। लोक के अनुग्रह और निग्रह के लिए गुरु और शास्त्र की सहायता से इनका अध्ययन करना चाहिए। जैसे सुवर्ण सभी अभूषणों के लिए उपयोगी होता हैं, वैसे ही पारसमणि के स्पर्श से निष्पन्न सुवर्ण भी सभी प्रकार के आभूषणों के योग्य हो जाता है। इन दोनों प्रकार के सुवर्णों में कोई भिन्नता नहीं है। इसी प्रकार राष्ट्रभाषा के अभ्यास से तथा धर्मग्रन्थों के

भोगेच्छात्र प्रस्तुतभाष्यकृता आशंसा इति सङ्केतिता। एतेन न्यूनामतिरिक्तां च वृत्तिं ददाना राष्ट्रपरिषत् राष्ट्रकार्याणि कारयितुं प्रभवतीति ध्वन्यते। अथ चैवं व्याख्येयम्—समुचितामपि वृत्तिं दत्त्वा राष्ट्रकार्याणि कारयेत्। दत्त्वा=छित्वा 'दोऽवखण्डने'। अयं भावः—राष्ट्रिया अपि दैवदुर्विदग्धतयाऽनार्यभावमापन्नाश्चेत्तेषां वृत्तिं जीविकां परिषत् दण्डनाय वृत्तिं =समुचितामपि छित्वा न्यूनतामापाद्य राष्ट्रकार्याणि कारयेत्। इत्यादि सर्वमपि 'समुचिता' पदेन ध्वन्यते। एतत्सर्वं कारणोपन्यासेन याथार्थ्यमाकलयन्नाह—संयोजयतीति। यस्मात् कारणात् गौरवकारिणी सा कार्येषु संयोजयति। अयमर्थः—समुचिता वृत्तिः प्रयुक्ता खलु कार्येषु=कर्तुं 'योग्येषु' कर्मसु संयोजयति—सम्यक्=सर्वतोभावेन कायेन मनसा 'वाचा' योजयति=व्यापारयति। समुचितवृत्तिमन्तः किलाऽनार्यवासविरहिताः। बुभुक्षवश्चाऽनार्या भवन्ति शासनारहिताः। अपूर्णाः सर्वदा साशंसा एव भवन्तीति निसर्गः पूर्णाश्च निराशंसाः। आशंसा एवाऽनार्यजुष्टा बुभुक्षेत्युच्यते प्रकृतभाष्यकृता सैवार्यजुष्टा आशंसेति परिभाष्यतेऽनेनैव। आशंसापूरणं चाऽनिवार्यमिति सा यया विधया पूर्येत सा व्यवस्थेति कथ्यते। अत एव बुभुक्षापूरणं नैव सम्भवति। अत एवोक्तं मनुनाऽपि—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाऽभिवर्धते॥ (मनु. 2/94)

तस्मात् बुभुक्षायाः पूरणाऽपेक्षया तदुच्छेदनमेव लाभावहमिति 'दत्त्वा'= अवखण्ड्येत्युक्तम्। एवं च पर्याप्ता वृत्तिर्न देयाऽनार्यभावमापन्नेभ्यो राष्ट्रियेभ्यः। अनार्येभ्योऽराष्ट्रियेभ्यस्तु न्यूनाऽपि वृत्तिर्न देयेत्यपि ध्वनितम्। अत एवोक्तमपि नीतिविद्भिः—

पाठ से अनार्य लोग भी आर्यभाव को प्राप्त हो जाते हैं। इसी प्रकार तत्त्वरूप में अर्थशास्त्र का, कामशास्त्र का तथा मोक्षशास्त्र का ज्ञान भी प्राप्त कर लेना चाहिए। व्यावहारिक एवं पारमार्थिक मोक्षशास्त्र स्वातन्त्र्य का पर्याय है—सद्गुरु तथा शास्त्रमर्यादा से इसका ज्ञान अर्जित करना चाहिए।

जो जितने राष्ट्रों का नेता होना चाहता है, वह उतने राष्ट्रों की राष्ट्रभाषा धर्म्यभाषा तथा धर्ममोक्ष कामशास्त्रों का अभ्यास करे, अन्यथा राष्ट्र का नेतृत्व प्राप्त नहीं किया जा सकेगा।

राष्ट्रनेता के आवश्यक गुणों का निरूपण करके अब राष्ट्रपरिषद् एवं महाराष्ट्रपरिषद् की स्थापना के सम्बन्ध में बताया जा रहा है—

मूषिका गृहजाताऽपि हन्तव्या स्वापकारिणी ॥
भक्ष्यप्रदानैर्मार्जारो हितकृत्प्रार्थ्यते जनैः ॥

आशंसा चोचितेति तत्पूरणमप्युचितमेव । तच्च सम्भवत्येव व्यवस्थया । सा च व्यवस्थाऽऽर्यपरिषदा समुचितवृत्तिदानरूपाऽवश्यमेव विधेया, राष्ट्रार्थं कर्तुं योग्यकर्मणां सम्पादना य । आशंसायाः स्वाभाविकत्वं, पूर्णादृष्ट्याऽधमत्वं, तस्याः पूरणस्याऽऽवश्यकत्वं च ध्वनितं वृत्तिसमुचितामित्यनेन । अत एव मनुनाऽप्युक्तम्—

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता ॥ (मनु. 2/2)
काम्यो हि वेदाऽधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः ॥
अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित् । (मनु. 2/4)
यद्यद्धि किंचित्कुरुते तत्तत्कामस्य चेष्टितम् ॥

अत एव निग्रहाऽनुग्रहाभ्यां व्यवस्था सम्पादनीया । आर्येष्वनुग्रहोऽनार्येषु च निग्रहः । एवं चाऽऽशंसायां पूरण बुभुक्षायां छेदनमित्युक्तं भवति वृत्तिविषये । अत एव श्रीमद्भागवतेऽप्युक्तमेवं व्यवस्थानं—

लोके व्यवायाऽमियमद्य सेवा
नित्याऽस्ति जन्तोर्न हि तत्र चोदना ॥
व्यवस्थितिस्तत्र विवाहयज्ञ—
सुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा ॥

एवं चेदं पर्यवसितम् वृत्तिः किलसमुचिता स्वभावेनैव वृत्तित्वस्य गौरवं=सम्मान्यत्वं करोति तेन च सन्तुष्टान्तःकरणाः कर्तुं योग्यान्यसाध्यान्यपि कार्याणि राष्ट्रार्थं कुर्वन्ति राष्ट्रियाः । इदं च बोध्यम्—

महती राष्ट्रपरिषद् स्थापनीया तु राष्ट्रियैः ।
पूर्वोक्तलक्षणास्तत्र विनियोज्याः सभासदः ॥45॥

राष्ट्रीय लोगों को (एक) बड़ी राष्ट्र परिषद् की स्थापना करनी चाहिए तथा उस परिषद् में पूर्ववर्णित लक्षणों वाले सभासदों की नियुक्ति करनी चाहिए ।

राष्ट्र की उन्नति केवल उपायों के जानने मात्र से नहीं होती । केवल इच्छा करने मात्र से भी कार्यसिद्धि नहीं होती है । नीतिशास्त्र में कहा भी है कि उद्यम से ही कार्य सिद्ध होते हैं, इच्छा करने से नहीं । सभी कार्य राष्ट्रदृष्टि के अनुसार किये जाने चाहिए । व्यापक दृष्टि से कार्य करने पर व्याप्य का हित अवश्य होता है ।

अराष्ट्रिया अपि आर्यभावमापन्ना आर्यराष्ट्रपरिषदा दत्तां समुचितां वृत्तिमुपलभ्य परिषन्निदेशाऽनुसारेण स्वगौरवसन्तुष्टान्तःकरणस्तत्तद्राष्ट्रकार्येषु सम्यक् युज्यन्त इति। अनार्यभावमापन्नाश्च राष्ट्रिया वृत्तिच्छेदादिनिग्रहभीताः कर्तुं योग्येषु कर्मसु सम्यक् प्रमादादिरहिताः सन्तो युज्यन्ते इति च ॥46॥

एवं वृत्तिदानमुक्तम्। तेन च राष्ट्रकार्यकारकत्वमपि परिषद उक्तम्। तत्र जीवनं तावद्वृत्त्याऽपि भवति भृत्याऽपि भवति। अथ च राष्ट्रकार्यकरणे केऽधिकारिणस्तैश्च किं कार्यमित्यादि निरूपणायाह—

गृहीत्वा वृत्तिमुचितां कुर्युः कार्याणि राष्ट्रियाः।
राष्ट्रियाणां राष्ट्रसेवां राष्ट्रमाहात्म्यकोविदाः ॥47॥

गृहीत्वेति। राष्ट्रमाहात्म्यकोविदाः—राष्ट्रियाः—उचितां—वृत्ति—राष्ट्रियाणां—कार्याणि—राष्ट्रसेवां—[च] कुर्युः। इति पदयोजनिका।

'राष्ट्रमाहात्म्यकोविदाः—राष्ट्र'=पूर्वोक्तलक्षणम्। तस्य माहात्म्यं महिमा, तस्मिन् कोविदाः=पण्डिताः, 'राष्ट्रियाः'=चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धिनो राष्ट्रस्य 'उचितां=योग्याम्। 'वृत्ति'=जीविकाम्, 'गृहीत्वा'=उपादाय 'राष्ट्रियाणाम्'=चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धिनां राष्ट्रस्य 'कार्याणि'=कर्तुं योग्यानि कर्माणि 'राष्ट्रसेवाम्'='राष्ट्रस्य=पूर्वोक्तलक्षणस्य 'सेवा'=शुश्रूषा तां च इति शेषः। कुर्युः=विदध्युः। अथ वा 'राष्ट्रसेवाराष्ट्रमाहात्म्यकोविदा' इति पाठः। राष्ट्रस्य='पूर्वलक्षणलक्षितस्य' सेवा='शुश्रूषा'। अथ च राष्ट्रमाहात्म्यं अनयोर्द्वन्द्वः तयोः कोविदाः=पण्डिताः इति वा व्याख्येयम्। अत्रेदमाकूतम्—पूर्वया कारिकया वृत्तिदानमुक्तम्। तत्र च वृत्तेः स्वाभाविकत्वेन स्वराष्ट्रे

अतः कृतिकार ने महती राष्ट्र परिषद् की स्थापना करने को कहा है। सभी राष्ट्र अविरोधभाव से रह सकें तथा उनकी व्यवस्था की जा सके—इस हेतु महती राष्ट्रभाषा की स्थापना की जाय। यह परिषद् निग्रहानुग्रह में समदर्शी होकर परस्पर सम्बन्धों का नियमन करें। परिषद् सभी राष्ट्रों को स्वतन्त्र रक्खे। परतन्त्र राष्ट्रों को स्वतन्त्र करावें। ऐसा न करने पर सुख एवं शान्ति आकाशपुष्प के समान हो जायेगी।

पहले कहा गया था कि राष्ट्रज्ञान के प्रचार के लिए परिषद् की स्थापना की जानी चाहिए। अब राष्ट्रज्ञान के जान लेने पर उसके प्रयोग के लिए परिषद् की स्थापना करने को कहा गया है।

राष्ट्रियाणां स्वत्वस्य तद्दानरूपेण प्रतिग्रहस्याऽसम्भवात् । 'तस्य' उचिततया स्वीकारश्च युक्त इति ध्वनितं गृहीत्वा वृत्तिमुचितामित्यनेन । अयं भावः दानं हि नाम तद्भवति यत्र दातुः स्वत्वं निवर्त्य प्रतिग्रहीतु. स्वत्वं स्थाप्यते देयवस्तुनि । अत एव पूर्वमेव यस्य स्वत्वं वर्तते तस्य स्वत्वं नाम पुनः किमापाद्यमिति स न दानीयो भवति । अथ च यस्य स्वत्वं पूर्वं नाऽस्ति, स तु प्रतिग्रहीतुं शक्नोति, इत्यादि सर्वं पूर्वस्याः कारिकाया भाष्ये निरूपितम् । तत्र वृत्तिदानं वृत्तिग्रहणमाक्षिपति । एवमेव कार्यकारकत्वं कार्यकर्तृत्वमाक्षिपति । अतस्तद्विषयेऽपि वक्तुमुचितमेव । किं च कार्यकारकत्वं परिषन्निष्ठम् । परिषच्च स्वयं स्वरूपेण सभासदाऽतिरिक्ता न काऽप्यन्या, सभासदां वृन्दमेव परिषदित्युच्यते । अतः सभासद एव कारकाः त एव च कर्तारः । ततश्च तेषामुपदेशेनैव सार्थक्यं परिषदोऽपि भवेदिति, त एवोपदिश्यन्त इदानीम् । इयांस्तु विशेषः, एकेन कृतं न तादृक्कल्याणकरं सर्वेषामिति सर्वः सम्भूय हिताऽहितविवेचनपूर्वकं सर्वेषामैकमत्येन कार्यकरणे सर्वतोभद्रं स्यात् । अतश्चार्यराष्ट्रवादिनां यत्र शासनव्यवस्था भवति, तत्र राष्ट्रे खलु अस्मिन् पार्थिवलोक एव स्वर्गसाम्यं भवति । तत्र सर्वेऽपि सुखिनो भवन्तीति निश्चयः । यथा प्रस्तुतभाष्यकृतैव स्वोपज्ञे 'छन्दोविश्वम्भरे' वर्णितमेतत्—

> **मनुजा निजधर्मकर्मशीलाः**
> **सुखसाधनराष्ट्रनीतिविज्ञाः ॥**
> **मनसैकमता भवन्ति यस्यां**
> **वसुधा सुरराजधाम सा स्यात् ॥**

राष्ट्रभक्त नेताओं के द्वारा एक महती राष्ट्र परिषद् की भी स्थापना की जानी चाहिए । यह महापरिषद् सर्वांग परिपूर्ण होनी चाहिए । जहां यह परिषद् शासन करती है, वह राष्ट्र कभी दूसरे राष्ट्रों पर आक्रमण नहीं कर सकता है ।

आर्यराज्यवादी राष्ट्रों से राजभक्त लोग होते हैं । राजा भी राज्यभक्त होते है, न कि राष्ट्रभक्त । अनार्य लोग जब भेदनीति का आश्रय लेकर किसी राष्ट्र पर आक्रमण करते हैं, तो उस राष्ट्र के राष्ट्रभक्त लोग भी उस अनार्य शासक को ही अपना शासक मान लेते हैं और वे भृत्य भाव को प्राप्त कर विनष्ट हो जाते हैं ।

एवं च वृत्ति=जीविकामुचितां=योग्यां गृहीत्वा=स्वीकृत्य राष्ट्रियाः कार्याणि कुर्युः। अत्रेदं बोध्यम् परिषदि ये नियुक्तास्त एव नोपदिश्यन्तेऽनया कारिकया, किन्तु नियुक्ता अनियुक्ताः सर्वेऽपि राष्ट्रियत्वाऽवच्छेदकाऽवच्छिन्ना उपदिश्यन्ते। कर्मणा स्वाभाविकतया वस्तुमात्रस्य, आर्यत्वयोगक्षेमनिमित्तं कार्याण्येव कुर्यू राष्ट्रिया इत्युपदिष्टमेव पूर्वम्। तदनुवादेनैव विशेषनियमबोधनायाऽत्रोपदिश्यते कार्याणि कुर्युरिति। गुणविधिरयम्। दध्ना जुहोतीतिवत्। असमर्थः—वृत्तिग्रहणे स्वतन्त्रा राष्ट्रियाः। अतस्त उचितामनुचितामपि यथेच्छं विकल्पेन वृत्तिं ग्रहीतुं प्रभवन्ति। ते उचितामेव हिते वृत्तिं गृहीत्वेति नियम्यन्ते। ननु तेषां परिषत् पारतन्त्र्यात् या हि परिषन्नियमिता समुचिता वृत्तिस्तामेव ग्रहीतुं प्रभवन्ति नाऽनुचितामिति कथं पाक्षिकमनुचितं वृत्तिग्रहणं सम्भवतीति चेदत्र ब्रूमः– महत्यां परिषदि ये नियुक्तास्ते हि नाम येषामपेक्षया स्वतन्त्राः, अतस्ते तु सम्भूय सर्वेऽपि परस्परसम्मत्याऽनुचितामपि वृत्तिं ग्रहीतुं प्रभवन्ति, तेषामपि तदनुचितवृत्तिग्रहणं वारयितुमुचितामित्युक्तं तदुचितमेव। एतेनाऽनुचितवृत्तिग्रहणेन कार्याण्यपि कुर्वतामयोग्यत्वमेवेति ध्वन्यते। अथ येऽन्येऽनियुक्तास्तेषामपि ग्रहणमनुचिताया वृत्तेर्युज्यते, तथा हि—महत्याः परिषदोऽतिरिक्ताः सन्ति सहस्रशः परिषदः यत्र च विनियुज्यन्ते सहस्रशो राष्ट्रियाः तेऽपि स्वस्वातन्त्र्येणाऽनुचितां वृत्तिं न गृह्णीयुरिति युक्तमेवोक्तमुचितामिति। अथ चेदमपि सम्भवति ये राष्ट्रियाः परिषन्नियुक्तराष्ट्रियाणां परतन्त्रतया—अनुचितामपि वृत्तिं गृह्णन्ति, तत्राऽप्यनया कारिकया नियम्यत उचितामेव गृहीत्वेति। अयं भावः—स्वातन्त्र्येणाऽधिकवृत्तिकल्पनं स्वार्थं सम्भवति पारतन्त्र्येण च

अतः राष्ट्रपरिषद् की स्थापना आवश्यक है। उसके समस्त अङ्गोंपाङ्गों का निर्माण आर्य विधि से किया जाना चाहिए। यदि यह परिषद् असमर्थ होगी, तो उसके अङ्गोपाङ्ग भी असमर्थ ही होंगे। हजारों अज्ञानी भी यदि संगठित हो जायं, तो भी वे कल्याण नहीं कर सकते हैं, क्योंकि वे कल्याण के उपायों को नहीं जानते हैं।

परिषद् में जो बैठते है, वे सभासद् कहलाते हैं। ये सभासद् जनकल्याण के नियमों का निधारण करने के लिए उस सभा में जाते हैं। उन सभासदों का सम्मेलन ही परिषद् कहलाती है। इन सभासदों का नियोजन राष्ट्रियराजनेताओं द्वारा किया जाना चाहिए। यहां अराष्ट्रियों का कोई अधिकार नहीं है।

न्यूनवृत्तिकल्पनमपि सह्यते परतन्त्रैरिति द्विधाऽप्यनुचितवृत्तिग्रहणं न कार्यमिति नियम्यते उचितामिति पदेन । वृत्तिमित्यनेन च 'वृत्तिरेव ग्रहीतव्या राष्ट्रियैरिति ध्वन्यते । 'गृहीत्वा'='स्वीकृत्य' भोजनाच्छादनाद्यर्थम् । यया स्वस्य सकुटुम्बस्य सम्यक् जीवनं भवति, साऽत्रोचिता भवति । अयमर्थः । धर्मार्थकाममोक्षेति चतुर्विधपुरुषार्थोपयोगिनी वृत्तिर्ग्राह्येति । पुरुषार्थानां स्वाभाविकत्वात् तेषां पूरणस्योचिततमत्वात् । एतादृशीं वृत्तिं गृहीत्वा कर्तुं योग्यानि कर्माणि कुर्युः । केषां कर्तुं योग्यानीत्याह— राष्ट्रियाणामिति । 'राष्ट्रियाणाम्'-राष्ट्रियत्वाऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नानानाम् । अयमर्थः—यानि किल राष्ट्रियनिष्ठकर्तृत्वनिरूपितकर्मत्ववन्ति । तानि राष्ट्रियाणां कार्याणि । कर्तरि षष्ठी । अथ च कर्मण्यपि षष्ठीयम् । तेन राष्ट्रियनिष्ठकर्मत्वनिरूपितकर्तृत्ववन्ति चेति बोध्यते । राष्ट्रिया यानि कर्माणि कुर्वते तानि, राष्ट्रियार्थं च यानि कर्माणि क्रियन्ते तानि चेति द्विविधान्यपि राष्ट्रियाणां कार्याणि भवन्ति तानि कुर्युः, राष्ट्रियाः राष्ट्रिया एव । पुंस्त्वमविवक्षितम् । तेन स्त्रीपुंससाधारणानामयमुपदेश इति गम्यते । अत्र हेतुगर्भविशेषणमाह—राष्ट्रेति । राष्ट्रसेवाराष्ट्रमाहात्म्यकोविदाः—राष्ट्रस्य=पूर्वोक्तलक्षणस्य, सेवा=शुश्रूषा । सेवापदेनाऽत्राऽतीव पारतन्त्र्यं सूच्यते । तेन सेवकस्य न किमपि वस्तु स्वं भवति इति ध्वन्यते । राष्ट्रसेवकस्य च सर्वमपि राष्ट्रपरतन्त्रं, तस्य सर्वोऽपि व्यापारो राष्ट्रार्थमेव भवति स किल राष्ट्रदृष्ट्या करणरूपेन

सामान्य लोगों को सभासद् नहीं बनाना चाहिए । राष्ट्रज्ञान में जो विचक्षण हों, उन्हीं को बनाना चाहिए । प्रश्न उपस्थित होता है कि कितने सभासद् होने चाहिए । इसका उत्तर यह है कि आवश्यकता और कार्य-विभाग के अनुसार इसकी संख्या का निर्धारण करना चाहिए ।

महती राष्ट्र परिषद् में एक अध्यक्ष, एक उपाध्यक्ष, एक मन्त्री, एक उपमन्त्री, एक कोषाध्यक्ष, एक उपकोषाध्यक्ष तथा अन्य साधारण सभासद् होने चाहिए ।

राष्ट्र के अनेक अंग हैं—जैसे एक नियम विधायिनी परिषद् हो । दूसरी परिषद् अनुकूलशासन-व्यवस्था कारिणी हो । इसी प्रकार तत्तत्कार्यसञ्चालन के लिए अनेक परिषदों का गठन किया जा सकता है । ये सभी परिषदें महती राष्ट्र परिषद् के अधीन कार्य करें । परिषदें अनेक भले हों, किन्तु महती राष्ट्र

कर्त्तृरूपः। अतएव राष्ट्रसेवकस्य कायवाङ्मनसानां सर्वेऽपि व्यापारा राष्ट्रस्यैव भवन्ति शुष्कवर्णव्यापारा वायोरिव। राष्ट्रं खलु व्यावहारिकाऽऽत्मरूपं, तदेव चतुर्विधपुरुषार्थनिदानभूतमिति तदेव सेव्यम्। तत्सेवा हि नाम समस्तानि कल्याणानि सूते। व्यवहारदृष्ट्या सर्वोत्तमं सेव्यं राष्ट्रमेव। तस्य मातृत्वात्, पितृत्वात्, आचार्यत्वात् च सर्वदा च येन कर्मणा राष्ट्रहितं भवेत् तदेव कर्म कार्यमिति। सेयं सेवा राष्ट्रस्य। सा च राष्ट्रमाहात्म्यं चेति तयोर्द्वन्द्वः तत्र कोविदाः पण्डिताः। माहात्म्यं च राष्ट्रस्यैतदेवं यत समस्तमनोरथान् पूरयति यथायथं सेवितमिदमिति। अथवा राष्ट्रसेवा=उक्तलक्षणा राष्ट्रं चोक्तलक्षणं तयोर्द्वन्द्वः ततः षष्ठीतत्पुरुषः। अयं भावः–राष्ट्रसेवाया माहात्म्ये राष्ट्रस्य च माहात्म्ये कोविदाः पण्डिताः। एतेन एतत्कोविदानामेतदेवोचितमिति ध्वन्यते। अथवा ये न कोविदाः ते द्वयोरपि कोविदा भूत्वा राष्ट्रियाणां कार्याणि कुर्युः। अथ च राष्ट्रस्य सेवायां राष्ट्रस्य च माहात्म्ये कोविदा यस्मात् कारणात् तस्मात् उक्तानि कार्याण्युक्तविधया कुर्युः। एतेनैतदकोविदानां नाऽयमुपदेश इति ध्वन्यते। उचितमप्येतत्। ये किल राष्ट्रसेवाया राष्ट्रस्य च माहात्म्यमेव न जानन्ति तेषामज्ञत्वात्प्रवृत्तिरेव नादौ। परप्रेरणया प्रवृत्तौ कदाचिदुत्पन्नायामपि अज्ञतया न कार्याधिकार इत्यपि ध्वनितम्। अयं भावः—आचरणे तावदध्ययनबोधावन्तरेण नाऽधिकारः तेनाऽऽचरणेन कार्यकरणे शासनादौ राष्ट्रसेवाराष्ट्रमाहात्म्यकोविदानामेवाऽधिकार इति ध्वन्यते ते चेद् राष्ट्रियाः।

इदं च बोध्यम्—राष्ट्रिया यानि न कर्तुमर्हन्ति, अनार्यजुष्टत्वात्कर्माणि तान्यकार्याणि न कुर्युः। अथ च राष्ट्रान्तरजातानां न कार्याणीति ध्वनिः। उचितां वृत्तिगृहीत्वैव कुर्युः। तस्याः स्वाभाविकत्वात्। इदं च बोध्यम्—पूर्वस्यां कारिकायां वृत्तिदानमराष्ट्रियेभ्योऽपि सम्भवत्येतदुक्तम्। तत्राऽयं विशेषः—तेऽपि उचितां वृत्तिं गृहीत्वा राष्ट्रियाणां कार्याणि कुर्युर्नाऽराष्ट्रियाणाम्। यतः खलु राष्ट्रसेवा राष्ट्रमाहात्म्यकोविदास्ते। अत एवाऽऽर्यस्वभावा राष्ट्रान्तरजाता अपि। अत एव चाऽऽर्यराष्ट्रवादिराष्ट्रपरिषद आनृशंस्यात्प्राप्तोचितवृत्तयस्ते। किं चाऽनुचितवृत्तिप्राप्त्यर्थं स्वगुणगणाऽभिमानपुञ्जवशीभूता मा भवेयुरित्युप्युचितां वृत्तिं गृहीत्वेत्युक्तम्। किं च यतो राष्ट्रात् वृत्तिः प्राप्ता, तत्सेवां कुर्युः। एवं च 'राष्ट्रसेवां' इति पाठे व्याख्येयम्। तत्पाठे राष्ट्रिया अपि राष्ट्रसेवां राष्ट्रियाणां कार्याणि कुर्युः इति व्याख्येयम्। अत एव कारिकायां समुच्चायकस्याऽव्ययस्य नोल्लेखः। सेवया किल सर्वमपि प्राप्यते। अत एवोक्तमपि—

सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः ।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ।।

सेवा च राष्ट्रस्यैव व्यवहारे समुचिता तस्याऽऽत्मरूपत्वादिति तु ध्येयमेवेत्यलम् ।।47।।

राष्ट्रियैर्वृत्तिरुचिता स्वीकार्या जीवनाय राष्ट्रियाणां कार्याणि कर्तुमित्युक्तम् । तत्र जीवनं भृत्याऽपि सम्भवति वृत्त्याऽपि, कदाचित्कश्चित् भृतिमपि गृह्णीयात् तन्निषेध इदानीं कारणोपन्यासपुरःसर प्रतिजानान आह—

भृतिं गृहीत्वा कार्याणि न कुर्युर्जातु राष्ट्रियाः ।।
कुरुते सा नरं नूनं राष्ट्रकार्यबहिर्मुखम् ।।48।।

भृतिमिति, राष्ट्रियाः जातु भृतिं गृहीत्वा कार्याणि न कुर्युः, सा नरं नूनं राष्ट्रकार्यबहिर्मुखं करोति, इति पदयोजनिका ।

'राष्ट्रिया' चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धिनो राष्ट्रस्य 'जातु'=कदाचित् भृतिम्=वेतनं 'गृहीत्वा'=स्वीकृत्य जीवनार्थमिति शेषः । कार्याणि कर्तुं योग्यानि कर्माणि न=मा 'कुर्युः'=विदध्युः । सा=भृतिः नरं=पुरुषं ज्ञानवन्तमपि 'राष्ट्रकार्यबहिर्मुखम्' राष्ट्रार्थं यानि कर्तुं योग्यानि कर्माणि तेभ्यः बहिः=बाह्यं मुख=आननं यस्य तादृशं 'करोति' विदधाति । अनार्यभावमापादयतीति भावः इति । इदमस्याः कारिका·

वृत्ति जीविका के पर्याय का ही नाम है । इसके विना कोई व्यक्ति किसी कार्य को करने में समर्थ नहीं होता है । उस वृत्ति को प्राप्त करने के लिए ही संसार में यह कोलाहल हो रहा हैं ।

इस संसार की सभी वस्तुएं उपयोग के योग्य हैं तथा स्वयं को प्रसन्न करने के लिए हैं । अतः सभी वस्तुओं को अन्न कहा गया है । प्राणियों के द्वारा जिसे खाया जाता है अथवा प्राणी जिसे खाता है, वह अन्न है । (समस्त) व्यवहार द्वैतमय होता है । कर्तृ, कर्म एवं करण की भी वृद्धावस्था होती है । अतः परस्पर सभी वस्तुएं अन्नमय होती हैं । एक अन्न दूसरे अन्न को खाता है । इसीलिए कहा गया है कि "जीव ही जीव का जीवन है" । यह उचित भी है क्योंकि कारणगुण कार्यगुण का आरम्भ करते हैं । सबका ही कारण परब्रह्म है । जिससे दृश्यमान सभी कुछ कल्पित होता है, जैसा कि ब्रह्मसूत्र में कहा गया है –
"जन्माद्यस्य यतः"

यास्तात्पर्यम्—जीवनं मनुष्यमात्रस्य स्वाभाविकमिति सर्वजनविदितो वृत्तातः। वस्तुतस्तु न केवल मनुष्यमात्रस्य प्रत्युत वस्तुमात्रस्याऽपि स्वाभाविकमिति पूर्णदृशा पश्यतां नाऽगाचरम्। स्वतन्त्राणां जीवनं परतन्त्राः, इति तु पूर्वमेवोक्तम्। इदं च बोध्यम्-स्वतन्त्राः पुनर्जीवने स्वाभाविकतया स्वत्वं मन्यन्ते। परतन्त्राश्च पुनः पराऽवलम्बिन इति। अज्ञा इति दुर्बलजीवने स्वतन्त्राणामिव स्वत्वविषये न बुध्यन्ते। अत एव जीवनज्वालाशान्त्यै स्वतन्त्रेभ्यो भृतिमङ्गीकुर्वन्ति, भृतिं गृहीत्वा तेषां निदेशेन कार्याणि कुर्वन्ति, तदेवं भृतिग्रहणं वृत्तिग्रहणं च द्वयमपि सर्वेषां सम्भवति। तत्र राष्ट्रसेवामाहात्म्यकोविदाः खलु स्वत्वादिविषये राष्ट्रज्ञानविचक्षणा इति ते वृत्तिं गृह्णीयुरित्युक्तम्। परन्तु परतन्त्राश्चेत् ते पारवश्येन भृतिमपि नाम गृह्णीयुर्जीवनस्याऽनिवार्यत्वादिति जानानामपि भृतिग्रहणं सम्भवति, अजानतां तु भृतिग्रहणमज्ञतयैव सम्भवति। तन्निवारयितुमनया कारिकया भृतिग्रहणं निषेधति भृतिमिति। राष्ट्रियाः जातु भृतिं गृहीत्वा कार्याणि न कुर्युरिति। भृतिर्नाम वेतनम्। "भृतयो भर्म वेतनम्" इत्यमरः। डुभृञ् धारणपोषणयोः। ततो भावे स्त्रियां क्तिन्। धारणं पोषणं च स्वामिकर्तृकं सेवकस्य बोध्यते भृतिपदेन। तत्र स्वामिसेवकभावे वैषम्यं स्वयमन्तर्लीनं सत् पूर्वं कालक्रमेणानार्यभावमवश्यमेवोत्पादयति। यतः खलु वैषम्यं किल पक्षपातः स चाऽनार्यताया बीजम्। यत्र यत्र पक्षपातस्तत्र तत्र न्यायस्य हिंसा भवति।

जो कारण होता है, वही सबका भक्षण करता है। इसीलिए बृहत् होने से ब्रह्मरूप आत्मा सबका अत्ता होता हैं। यह पूर्ण चैतन्य रूप है। जीविका के लिए ही परस्पर भोग की इच्छा होती है। आर्य लोग उचित रीति से जीविका का अर्जन करते हैं। तथा अनार्य अनुचित रूप से।

अत्ता (भोक्ता) स्वतन्त्र है और अदनीय (भोज्य) परतन्त्र है। बलवान् ही स्वतन्त्र होता है। यदि आर्य स्वतन्त्र, अनुग्रही, शान्तिपूर्ण जीविका के प्रसार से स्पृहणीयता को प्राप्त होते हैं, तो अनार्य स्वतन्त्र होते हुए भी निग्रह के कारण अशान्ति परिपूर्ण जीविका के प्रसार से हेयत्व को प्राप्त होते हैं। आर्यशासन भी आर्यराष्ट्रवादियों का सर्वोत्तम होता है, यह पहले ही बताया जा चुका है। आर्यराष्ट्रवादी इस परिषद् की स्थापना करके राष्ट्र-शान्ति और उसके योगक्षेम के लिए प्रयत्न करते हुए सफलता प्राप्त करते हैं। अतः पहले परिषद् की स्थापना

यत्र च न्यायाऽभावो भवति, तत्र सुखशान्तिलेशस्याऽपि न सम्भवः। एवं च वैषम्यमेव नैर्घृण्यमति प्रादुर्भावयति। नैर्घृण्यं च नानाविधानर्थान् सम्पादयति। एवं च भृतिर्न समीचीना स्वरूपत एव। किंचेदमपि बोध्यम्—येषां किल स्वकीयं जीवनं नास्ति, त एवाऽन्यानर्थयन्ते जीवन-मित्युसर्गः। जीवनं च स्वाभाविकमित्यनिवार्यं तत्। अथ ते स्वकीय-जीवनाऽभावात् परेभ्यो भृतिमङ्गीकुर्वन्ति, तेषां निदेशाऽनुसारेण तेषां कार्याणि कुर्वन्ति। ते च यथेच्छ स्वहितानि स्वरुचितानि च स्वामिभावेन कारयन्ति कार्याणि। ते किल भृत्यानां न सुखं वा दुःखं वा तेषामिष्ट वाऽनिष्टं वा विचारयन्ति, यतः खलु त आर्या अपि भृत्यानां सुखदुःखेष्टा-निष्टानि स्वाम्यानुकूलान्येव सर्वाणीति स्थापयन्ति, भृत्यानां च जडत्वात् तद्विषयकविचारस्याऽवश्यकतैव नास्तीति मन्यन्ते। अनार्याणां तु कथैव का। वस्तुतस्त्वार्येषु भृत्यस्वामिभाव एव नास्ति। साम्यप्रियत्वात्तेषाम्। अत एव सर्वतोभद्रनीतिप्रधानानां, परस्पर-सम्भावनामात्रसाराणां राष्ट्रवादिनां युगे न दृश्यते स्वामिभृत्य-भावः। तदेव खलु कृतयुगं भवितुमर्हति एकतोभद्रनीतिप्रधानानां परस्परदानपरायणानां, कर्तव्यं पाजयतां राज्यवादिनां युगे दृश्यते पुन-रादर्श इव स्वामिभृत्यभावः। न खलु स व्यक्तिवादिनामिव सङ्घवा-

---

अपेक्षित है। सभासद कैसे होने चाहिए इसका भी पहले उल्लेख किया जा चुका है। अतः महती राष्ट्रीय परिषद् को राष्ट्रवासियों की समुचित जीविका प्रदान कर उनसे राष्ट्र-कार्य सम्पन्न कराना चाहिये। यदि महाराष्ट्रिय परिषद भी अव्यवस्थित कार्य करने लगे, तो उसमें कार्य करना सम्भव नहीं होगा। क्योंकि जब लोगों को आजीविका नहीं मिलेगी, तो वे बुरे कामों में प्रवृत्त होंगे। अतः परिषद् को कार्याकार्य-व्यवस्था के लिए और राष्ट्रकार्य करवाने के लिए समस्त के लिए विशेषतः राष्ट्रियों के लिए वृत्ति देने की व्यवस्था करनी चाहिए। जो किसी की वृत्ति का छेदन करते हैं, वे महापापी कहलाते हैं। राष्ट्र में जो पुण्य व पाप होता है, वह शासनाधीन ही होता है। राष्ट्र में जो भी कार्य करने योग्य हैं, उन्हें राष्ट्रपरिषद् करें। अराष्ट्रीय व्यक्तियों को भी वृत्ति प्रदान कर उनसे राष्ट्रीय कार्य करवाने चाहिए। साधारण भोगों की पूर्ति हो जाय—इसे दृष्टि में रखकर आर्यविधान से वृत्ति की व्यवस्था की जानी चाहिए। अराष्ट्रीय अनार्यों को थोड़ी सी भी वृत्ति नहीं दी जानी चाहिए। नीतिकारों ने कहा भी है :—

दिनामिव वा दुःखजनकः। स खलु महाकविना भारविणैवमुपश्लोकितः—

सखीनिव प्रीतियुजोऽनुजीविनः।
समानमानान्सुहृदश्च बन्धुभिः॥
स सन्ततं दर्शयते गतस्मयः।
कृताऽधिपत्यामिव साधु बन्धुताम्॥ (किरा. 1/10)

यद्यपि राज्यवादिनां युगे न तथा दुःखं जनयति स्वामिभृत्यभावस्तथाऽपि वैषम्योत्पादकतया स न केनाऽपि महीयसा पुरुषेणोपादेयतयेष्यते। यतः खलु सुखे सर्वस्याप्युपादित्सा लोकस्य दुःखे च जिहासेति विधिसर्गनिसर्गः। सुखं च स्वातन्त्र्ये एव पारतन्त्र्ये च दुःखमेवेति सर्वेऽपि जानन्त्येव। अत एव मनुरप्याह —

सर्वं परवशं दुःखं।
सर्वमात्मवशं सुखम्॥ (मनु. 4/160)

भृत्यो हि परवश एव सर्वदेति दुःखीति स्वामी भवितुमिच्छति स्वसुखाय। स्वामी च स्वामित्वे एव स्थातुं समीहते सर्वदा स्वसुखायैव। एतदेवाऽनार्यत्ववृद्धौ बीजम्। यत्तु—

उपकार करने के कारण घर में उत्पन्न होने वाली मूषिका को भी मार दिया जाता है और उपकार करने वाली बिल्ली को लोग भोजन देकर अपने घर में रखते हैं।

राष्ट्र के कार्य करने के कौन अधिकारी हैं? तथा क्या किया जाना चाहिए? इसका निरूपण करते हुए वृत्ति-प्रशंसा की जा रही है—

गृहीत्वा वृत्तिमुचितां कुर्युः कार्याणि राष्ट्रियाः।
राष्ट्रियाणां राष्ट्रसेवा राष्ट्रमाहात्म्यकोविदाः॥ 47॥

राष्ट्र-सेवा तथा राष्ट्र-माहात्म्य को जानने वाले राष्ट्रिय लोग उचित वृत्ति लेकर राष्ट्रियों के सम्पूर्ण कार्य करें।

(पाठ भेदतः "राष्ट्र सेवा" पद यदि पृथक् है, तो अर्थ इस प्रकार होगा— राष्ट्र के माहात्म्य को जानने वाले राष्ट्रिय लोग उचित वृत्ति लेकर राष्ट्रियों के कार्य तथा राष्ट्र की सेवा करें)।

किमपेक्ष्य फलं पयोधरात् ।
ध्वनतः प्रार्थयते मृगाऽधिपः ।।
प्रकृतिः खलु सा महीयसः ।
सहते नाऽन्यसमुन्नतिं यया ।। (किरा. 2/21/)

इति भारव्युक्तं तदनार्यमानसानामेव शोभते । राज्यवादोऽपि खलु नाऽऽर्यत्वपूर्णः । अस्तु । परंतु जीवनज्वालाशान्त्यै स्वकीयजीवनाऽभावेन परेषां भृत्यत्वमङ्गीकुर्वन्ति साधारणतया ज्ञानवन्तोऽपि । किं च भृतिः किल न स्वाभाविकीति सर्वदा वैषम्यमवाऽवहति । स्वामिनं द्वेष्टि भृत्यः, तं सुखिनमात्मानं च परवशतया दुःखिनं दृष्ट्वा । स्वामी च भृत्यं परवशमपि सुखवाञ्छकं दृष्ट्वा । एवं परस्परं विद्विषन्तः परस्परायाऽपकुर्वाणाः सममेव नश्यन्ति । भवतु यदि नाम येषां स्वं जीवनं न किमप्यस्ति । ते यदि गृह्णन्ति भृतिं तदा गृह्णन्तु नाम ते, परन्तु येषां स्वकीयं जीवनमस्ति तेषां पुनर्न युक्तं भृतिग्रहणम् । राष्ट्रियाश्च स्वराष्ट्र जीवनवन्त एवेति जातु=कदाचित्, भृतिं=वेतनं, गृहीत्वा'=प्रतिपद्य 'कार्याणि'=कर्तुं योग्यानि कर्माणि 'न'=मा कुर्युः=विदध्युः । अयं भावः-कस्मिन्नपि काले, सम्पत्समये तु प्रायो न गृह्णन्ति परन्त्वापत्तिसमयेऽपि न गृह्णीयुः । भृतेः समस्ताऽन्यायनिदानत्वात् । आर्याः खलु राष्ट्रियाः कदाऽपि न्याय्यपथान्नेतस्ततः पदमपि प्रचलन्ति । अत एव भर्तृहरिरप्याह—

दान उसे कहते हैं, जब दाता उस वस्तु पर अपना अधिकार छोड़ देता है और दान ग्रहण करने वाले को वह अधिकार दे देता है । जिस वस्तु पर पहले ही किसी का अधिकार है, उस वस्तु का दान कैसे किया जा सकता है ? कार्य का जो कारक होता है, उसी पर कार्य के कर्त्तव्य का आक्षेप किया जाता है । अतः सभासद ही कारक हैं, वे ही कर्ता हैं ।

एक व्यक्ति द्वारा किया गया कार्य उतना कल्याण कारक नहीं होता है, जितना सबके द्वारा मिलकर, एकमत से हिताहित का विवेचन करके कार्य किमा जाय । इस स्थिति में वह सर्वकल्याणकारी होता है । जहां आर्य राष्ट्रवादियों की शासनव्यवस्था होती है, वहां का पार्थिव लोक स्वर्ग के समान होता है । इस शासन में सभी सुखी होते हैं । नियुक्त या अनियुक्त सभी राष्ट्रिय लोग आर्यो के योगक्षेम के लिए कार्य करें । राष्ट्रिय लोग वृत्ति ग्रहण करने में स्वतन्त्र हैं । वे इच्छानुसार उचित अनुचित वृत्ति ग्रहण कर सकते हैं ।

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु ।
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ।।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा ।
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ।। (भ.नी. 84)

अथाऽनार्या अपि राष्ट्रियाः भृतिं नैव गृह्णीयुस्तेषां राष्ट्रे स्वत्वात् स्वकीयजीवनवन्तः । यत्तु पूर्वकारिकायामनार्याणां वृत्तिच्छेद उक्तः स न तेषां स्वत्वं नास्तीति किन्तु तेषामार्यत्वप्राप्त्या अनार्यत्वनाशाय च । उपरि निग्रहरूपत्वेऽप्यन्तरनुग्रहरूप एव । एवं च राष्ट्रिया आर्या अनार्या अपि स्वराष्ट्रे कदाचिदपि न भृतिं गृहीत्वा कार्याणि कुर्युः । इदं च बोध्यम्—कर्तव्यत्वेन कार्याण्येव भवन्ति । आर्याश्च त एव ये सदा कर्तुं योग्यान्येव कर्माण्याचरन्ति, कर्तुमयोग्यानि च परिहरन्ति । अत एव वशिष्ठः—

कर्तव्यमाचरन् कर्म त्वकर्तव्यमनाचरन् ।
तिष्ठति प्राकृताचारो यः स आर्य इति स्मृतः ।।

इत्येवमार्यलक्षणमाह । वृत्तिं वा गृहीत्वा भृतिं वा गृहीत्वाऽकार्याणामाचरणं निषिद्धत्वादेव न प्राप्यते । आर्याश्च परिहरन्त्यपि । अनार्याः

महती राष्ट्रिय परिषद् में जो नियुक्त हैं, वे सामान्य परिषद् की अपेक्षा स्वतन्त्र हैं । वे सब मिलकर परस्पर सहमति मे अनुचित वृत्ति भी ग्रहण कर सकते हैं, अतः कारिका में नियमन के लिए ही उचित पद का प्रयोग किया गया है । कुटुम्ब का सम्यक् भरण-पोषण हो जाय, उतनी ही वृत्ति ग्रहण करनी चाहिए । वह उचित है । साथ ही धर्म अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों के लिए उपयोगिनी वृत्ति ग्रहण करके कर्तव्य कर्म करने चाहिए ।

राष्ट्र की उन्नति की बात करना तो सरल है, किन्तु राष्ट्र की सेवा करना बहुत कठिन है । जिन्होंने इस मार्ग पर अपना पैर रक्खा, उन्होंने लाखों आपत्तियों को सहन किया है ।

पुनरनार्या इति भृतिं वा वृत्तिं वा गृहीत्वा कार्याणि विद्विषन्तोऽकार्याण्येवाऽऽचरन्ति । अत एव तेषां वृत्तिच्छेद उक्तः । वृत्तिच्छेदात्क्लिश्यमानाः पुनरपि शिक्षादिभिरार्या भविष्यन्त्यनार्याः । एवमयं निष्कर्षः—चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धिनो राष्ट्रस्य स्वराष्ट्र आर्या अनार्या वा भृतिं नैव गृह्णीयुरिति । अथ च तां गृहीत्वाकार्याण्यपि न कुर्युः । यतः खलु परतन्त्राणां सम्मतिदानाऽयोग्यतया तानि कार्याणीत्यस्याऽनिर्णयात् । स्वतन्त्राणामेव कार्याऽकार्यनिर्णयज्ञानं भवति । तेन यानि परतन्त्राः कार्याणीमानीति मन्यन्ते स्वामिनामेव कार्याणि तानीति तज्जन्यफलोपभोगोऽपि स्वामिनामेव भवति । भृत्यानां च सर्वदा दुःखोपभोग एव । अत एव पण्डितराजो जगन्नाथोऽपि भृतिनिन्दां विदधान आह—

श्ववृत्तिव्यासङ्गो नियतमथ मिथ्या प्रलपनं ।
कुतर्केष्वभ्यासः सततपरपैशुन्यमननम् ।
अपि श्रावं श्रावं मम तु पुनरेवं गुणगणान् ।
ऋते त्वत्को नाम क्षणमपि निरीक्षेत वदनम् ।। (गं.ल. 31)

अपि च—

पुरो धावं धावं द्रविणमदिराघूर्णितदृशां'
महीपानां नानातरुणतरखेदस्य नियतम् ।।
ममैवाऽयं मन्तुः स्वहितशतहन्तुर्जडधियो
वियोगस्तेमातर्यदिह करुणातः क्षणमपि ।। (गं.ल. 19)

राष्ट्र और राष्ट्रियों के लिए जो कार्य किये जाते हैं, वे राष्ट्रिय कार्य होते हैं। सेवा ही समस्त कल्याणों को उत्पन्न करती है। व्यवहार-दृष्टि से भी सर्वोत्तम सेव्य राष्ट्र ही है। उसी में मातृत्व, पितृत्व एवं आचार्यत्व है। सदा जिस कार्य से पूर्णरूप से राष्ट्र का हित हो, वही कर्म करना चाहिए—यही राष्ट्र की सेवा है। राष्ट्र-सेवा और राष्ट्र-माहात्म्य के ज्ञाता पण्डितों का ही अधिकार है। वस्तुतः अनार्यजुष्ट कर्म नहीं करने चाहिए। उचित वृत्ति होकर भी राष्ट्रियों के कर्म करने चाहिए, अराष्ट्रियों के नहीं।

राष्ट्र का यह माहात्म्य है कि वह सेवा किये जाने पर समस्त मनोरथों की पूर्ति करता है। जिस राष्ट्र में हमें वृत्ति प्राप्त होती है। उसकी सेवा भी हमे करनी चाहिए। सेवा से सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है।

राष्ट्रियों को अपने जीवन यापन के लिए समुचित वृत्ति ही स्वीकार करना चाहिए। भृति को कदापि न ग्रहण करना चाहिए। इसी का सकारण उपन्यास किया जा रहा हैं।

राष्ट्रिया भृतिं नैव गृहीत्वा कार्याणि कुर्युः। भृतेरेवाऽ कार्यत्वाद्राष्ट्रियस्येत्यनया कारिकयोपदिश्यते। तत्र कारणमाह—कुरुत इति। सा=भृतिर्निश्चयेन ज्ञानवन्तमपि पुरुषं राष्ट्रकार्यबहिर्मुखं कुरुते। अयमाशयः-पूर्वोक्तलक्षणराष्ट्रहिताय यानि कर्तुं योग्यानि कर्माणि तेभ्यो बाह्यं मुखं यस्य तादृशं ज्ञानवन्तमपि कुरुते किं पुनरज्ञानिनम्। राष्ट्रं हि नामात्मा राष्ट्रियाणाम्। तच्च समस्तपुरुषार्थनिदानं स्वं स्वतन्त्रं चेत्युक्तं पूर्वम्। परतन्त्रं च पुरुषार्थविघटकमिति च। अतः सर्वदा स्वराष्ट्रस्वातन्त्र्ययोगक्षेममेव चिन्तनीयौ सदाचारेण च भावनीयौ राष्ट्रियैरित्युपदिष्टमेव। तत्र स्वातन्त्र्ययोगक्षेमयोर्स्मृतिग्रहणं मूले कुठारहननकर्मेति सर्वदा परिहरणीयमेव राष्ट्रियत्वाऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नैः। इदं चाऽत्र बोध्यम्—ये राष्ट्रियाः सम्प्रति, तैरथ च ये नरा इति राष्ट्रिया भवितुमिच्छन्ति तैरपि भृतिर्न ग्राह्या। राष्ट्रसमुन्नतिकरणकार्येभ्यो व्यावर्तयति खलु भृतिः। अयं भावः—भृत्या परतन्त्रता भवति परतन्त्रता च जाड्यमापादयन्ती नरत्वं विनाशयन्ती पशुत्वं च ददती निश्चयेनाऽकार्येष्वेव योजयति। तेन भृतिग्रहणमनार्यत्वापादकं राष्ट्रघातित्वप्रापकमित्यादिमहापापकरमिति त्याज्यमेव। इदं च बोध्यम्—अराष्ट्रियाश्चेदार्या भवितुमिच्छन्ति तदा तैरपि भृतिर्न ग्राह्या इति ध्वनितम्। ते चेदनार्या भवितुमिच्छन्ति नाम गृह्णन्तु ते भृतिमिति किं तैर्देवानां-

---

भृतिं गृहीत्वा कार्याणि न कुर्युर्जातु राष्ट्रियाः।
कुरुते सा नरं नूनं राष्ट्रकार्यबहिर्मुखम् ॥ 48 ॥

राष्ट्रिय लोग भृति ग्रहण करके थोड़ा सा भी कार्य न करें। वह भृति (वेतन) व्यक्ति को निश्चय ही राष्ट्रकार्य से बहिर्मुख कर देती हैं।

यह सभी जानते हैं कि मनुष्य मात्र का जीवन स्वाभाविक है। केवल मनुष्यमात्र का ही नहीं, अपितु वस्तुमात्र का जीवन भी स्वाभाविक है। जो जीवन की ज्वाला को शान्त करने के लिए स्वतन्त्र लोगों से वृत्ति को स्वीकार करते हैं, वृत्ति ग्रहण करके उनके निर्देश से कार्य करते हैं। उनके भृति-ग्रहण एवं वृत्ति-ग्रहण दोनों कार्य हो जाते हैं। स्वामी तथा भृत्य में विषमता उत्पन्न हो, यह कोई भी महापुरुष नहीं चाहता है। यह सभी मानते हैं कि स्वतन्त्रता में सुख है और परतन्त्रता में दुःख है। भृत्य सर्वदा परतन्त्र रहता है तथा स्वामी अपने स्वामित्व को बनाये रखना चाहता है—इस भाव से ही अनार्यत्व की वृद्धि होती है।

प्रियः। पारतन्त्र्ये ऽप्यार्यायन्त्यनार्या वा ये स्वभावेन ते प्राणात्ययेऽपि भृतिं मा नाम गृह्णीयुः। यद्यपि भृतिं गृहीत्वाऽपि स्वामिभक्त्या कार्याण्येव कुर्वन्ति। ते परवशानां सम्मतिदानेऽनधिकारात्। अतो वेदेऽपि श्रूयते—

परे हि विग्रमस्तृतमिन्द्रं पृच्छाविपश्चितम्।
यस्ते सखिभ्य आवरम्॥ ऋक्. 1/4/4

एवं च राष्ट्रकार्यबहिर्मुखकारितया अतिपापकारित्वं भृतेर्वदता राष्ट्रियेभ्य उचिता वृत्तिरेव नहि निन्दां निन्दितुं प्रवर्तते। किन्तु विधेयं प्रति स्तोतुम् इति न्यायेन ग्राह्यत्वेन विधीयते राष्ट्रियाणाम्। इदं च बोध्यम्-स्वराष्ट्रस्वातन्त्र्ययोगक्षेमार्थं राष्ट्रान्तरेऽपि भृतिर्न ग्राह्या, किंतु वृत्तिरेव। नूनमित्यनेन च सन्देहोऽपि निराक्रियते राष्ट्रकार्यबहिर्मुखकारित्वे भृतः। 'भृतिमित्यादि निषेधविधिः कुरुते' इत्यादि अर्थवादवाक्यं, तदेकवाक्यतया तदर्थबोधकं च। "बर्हिषि रजतं न देयम्" इत्यस्य अश्रुज हि रजतमितिवत्। एवं चाऽस्य निषेधस्योल्लङ्घने दण्डयता प्रायश्चित्तीयता चा तीति बोध्यते। इदं च बोध्यम्-येषां स्वं किमपि जीवनं नाऽस्ति, तैरपि भृतिर्न ग्राह्या। वस्तुतस्तु सूक्ष्मेक्षिकया पर्यालोचयतामिदं नाऽपरोक्षं यत् स्वकीयजीवनविरहिताः केऽपि न सन्तीति। अनार्यशासने जीवनच्छेदस्तु सम्भवति। अत एव त्वनार्यशासनं समस्तदुःखमूलमिति हेयमिति,

---

परस्पर विद्वेष करते हुए, परस्पर अपकार करते हुए व्यक्ति एक साथ ही नष्ट होते हैं। राष्ट्रिय लोगों को समृद्धि के समय तो वेतन ग्रहण नहीं करना चाहिए, किन्तु आपत्ति के समय वेतन ग्रहण कर लेना चाहिए। आर्य-राष्ट्रिय-लोग कभी भी न्याय के मार्ग से विचलित नहीं होते हैं। भर्तृहरि के नीतिशास्त्र में यही कहा भी है—

नीतिवेत्ता निन्दा करें अथवा स्तुति करें, लक्ष्मी आवे या चली जाय, मृत्यु आज हो या कल्पान्त में, किन्तु धीर पुरुष न्यायोचित मार्ग से एक कदम भी नहीं डिगते।

आर्यों को अपना कर्तव्य समझ कर राष्ट्र-कार्य करना चाहिए, न कि राष्ट्र से वेतन लेकर।

जब स्वामी और भृत्य परस्पर मित्रभाव से एक दूसरे के उपकारक होते हैं, तब राष्ट्र में सुखसमृद्धि की वृद्धि होती है। जहां-जहां पक्षपात होता है, वहां-वहां न्याय की हिंसा होती है। प्रकृत आचरण करने वाले, कर्तव्य के आचरण करने वाले को ही आर्य कहते हैं।

समस्तपुरुषार्थसाधनक्षमं शान्तिसुखसंस्थापकमिति चार्यशासनं सर्वैरप्यभिलष्यते । अलमनेन ।। 48 ।।

एवं भृतिग्रहणपूर्वकं कार्यं निषिद्धमिति प्रतिपादितम् । तत्र च राष्ट्रकार्यबहिर्मुखकारित्वरूपो हेतुरप्युपन्यस्तः । अथेदानी भृतिवृत्तिभेदं भृतेर्ग्रहण निषधं च हेतूपन्यासपुरःसरं विवक्षुराह —

भृतिरन्या वृत्तिरन्या भृतिर्ग्राह्या न राष्ट्रियैः ।।
भृतिं गृह्णन्ति ते भृत्या निर्दिश्यन्ते न वृत्तिलाः ।। 49 ।।

भृतिरिति । भृतिः - अन्या—वृत्तिः—अन्या—राष्ट्रियैः—भृतिः—न—ग्राह्या [ये] भृतिं गृह्णन्ति—ते—भृत्या–निर्दिश्यन्ते—वृत्तिलाः–न—[भृत्या]—निर्दिश्यन्ते । इति पदयोजनिका ।

वृत्तिच्छेद हो जाने से, क्लेश प्राप्त करते हुए आर्य भी अनार्य हो जाते हैं । यह भृति (वेतन) निश्चय ही ज्ञानवान् पुरुष को भी राष्ट्रकार्य से बहिर्मुख कर देती है । स्वतन्त्रराष्ट्र राष्ट्रियों का आत्मा होता है । वह राष्ट्र समस्त पुरूषार्थों का मूल कारण होता हे । परतन्त्र राष्ट्र पुरुषार्थ विघटक होता है । अतः राष्ट्रिय पुरुषों को अपने स्वतन्त्र राष्ट्र के योगक्षेम के सम्बन्ध में ही सर्वदा विचार करना चाहिए । भृत्या एक प्रकार की परतन्त्रता है तथा परतन्त्रता जड़ता को उत्पन्न करती है । नरत्व का विनाश करती है तथा पशुत्व का विकास करती है ।

यदि अराष्ट्रिय लोग भी आर्य होना चाहते हैं, तो उन्हें भृति ग्रहण नहीं करनी चाहिए, क्योंकि भृति अतिपापकारी है । अपने स्वतन्त्र राष्ट्र के योगक्षम के लिए अन्य राष्ट्रों से भी भृति ग्रहण नहीं करनी चाहिए । अनार्य शासन में जीवन का छेदन सम्भव है । अतः अनार्य शासन समस्त दुःखों का मूल है । सभी पुरुषों को प्राप्त कराने में समर्थ तथा शान्ति सुख के संस्थापक (आर्यों के) शासन की सभी लोग अभिलाषा करते हैं ।

पूर्व कारिका के सन्दर्भ में यहां भी भृति और वृत्ति का अन्तर बताते हुए भृति के ग्रहण में निषेध का उपन्यास किया जा रहा है—

भृतिरन्या वृत्तिरन्या भृतिर्ग्राह्या न राष्ट्रियैः ।
भृतिं गृह्णन्ति ते भृत्या निर्दिश्यन्ते न वृत्तिलाः ।।49।।

भृति और वृत्ति अलग-अलग हैं । राष्ट्रिय लोग भृति न ग्रहण करें । जो भृति ग्रहण करते हैं, वे भृत्य कहे जाते हैं, और वृत्ति लेने वाले भृत्य नहीं कहे

'भृतिः'=भरणम् 'अन्या'=पृथक् 'वृत्तिः'=वर्तनम् 'अन्या'=पृथक् 'राष्ट्रियैः=राष्ट्रस्य चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धिभिः विद्यमानैर्बुभूषिभिश्च 'भृतिः=वेतनरूपं भरणम्। 'न' मा 'ग्राह्या'=आदेया स्वीकर्तुं योग्येति यावत्। भृतिं=वेतनं 'गृह्णन्ति'=आददते 'ये' इति शेषः। 'ते=भृतिमाददानाः' 'भृत्याः'=पोष्या इति दासा इति यावत् 'निर्दिश्यन्ते'=कथ्यन्ते 'वृत्तिलाः'— वृत्तिं=जीवनं लान्ति=आददते ते वृत्तिला 'आ' आदाने "आतोऽनुपसर्गे कः" (पा सू. 3।2।3) इति कः। वृत्तिं स्वीकुर्वाणा इति यावत् 'न'=मा निर्दिश्यन्ते मध्यमणिन्यायेनोभयत्राऽपि सम्बध्यते भृत्या इति शेषः। वृत्तिला दासपदवाच्या न भवन्ति लोके इति भवः। अत्रेदमाकूतम्–कर्मताऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नस्य वस्तुमात्रं प्रति स्वाभाविकतया कार्यं वा सुकार्यं वा कर्म मनुष्यताऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नस्यानिवार्यमवेति निश्चप्रचमेव। तच्च शरीरसाधनमिति शरीरयात्राया आवश्यकमेव कर्मजातम्। तत्रार्याणामार्यतैवाशंसापूरणाय कार्येषु प्रवर्तयत्यकार्येभ्यश्च निवर्तयति। अनार्याणामनार्यतैव बुभुक्षापूरणायाऽकार्येषु प्रवतयति कार्येभ्यश्च निवारयति। अथ व्यवहारस्तावच्छरीरप्रधान इति शरीरधारणपोषणाय प्रयतते सर्वोऽपि जीवलोक उचितमपि तत्। शरीरधारणपोषणयोश्चोपायो द्विविधः एका वृत्तिरेका च भृतिः। तत्र वृत्तिरनिवार्या स्वाभाविकत्वात्। स्वभावः खलु दुरतिक्रमो भवतीति

जाते हैं। अर्थात् भृति ग्रहण करने वाले दास कहे जाते हैं, पर वृत्ति ग्रहण करने वाले वृत्तिल दास नहीं कहलाते हैं।

एक वृत्ति है, एक भृति है। स्वाभाविक होने से वृत्ति अनिवार्य है। कल्पित होने से भृति निवार्य है। जीवन को तो किसी न किसी प्रकार से बचाना ही है। उपादेय होने से उसे त्यागा नहीं जा सकता है। जब वस्तु के स्वभाव की हानि हो जायेगी, तो वस्तु का ही विनाश हो जायेगा। वास्तव में जीवन वृत्ति रूप है। वृत्ति न्यूनाधिक हो सकती है।

पशु अधिक आहार से कृतार्थ होते हैं, किन्तु युवकों को अधिक आहार से तृप्ति नहीं होती हैं, क्योंकि शरीर धारण करने के लिए अधिक आहार की आवश्यकता नहीं होती है। अतः राष्ट्रियों के लिए वृत्ति का दान सम्भव नहीं है, किन्तु उनकी व्यवस्था मात्र करना सम्भव है।

वृत्ति मनुष्य मात्र के लिए अथवा वस्तुमात्र के लिए स्वाभाविक है। भृति की तो प्राप्ति भी सम्भव नहीं है, तो उसका निषेध तो कहा ही जा सकता

सर्वं जनविदितमेव । भृतिश्च निवार्या भवति तस्याः कल्पितत्वात् । अयं भावः—जीवनं तावत्कथं नु कथमपि कार्यमेवेति तन्नोपादेयमपूर्वतया हातुं वा न शक्यते तत्स्वभावतया । स्वभावहानौ वस्तुन एवाऽपायसम्भवात् । तच्च जीवनं वृत्तिस्वरूपं वस्तुतः । अतस्तस्या ग्रहणं वाऽग्रहणं वा न सम्भवतीति तस्या औचित्येन व्यवस्थामात्रं विधेयमिति पूर्वं प्रतिपादितमेव । अत एव तत्र "वृत्तिं समुचिताम्" (रा 46) इत्यत्र "गृहीत्वा वृत्तिमुचिताम्" (रा. 47) इत्यत्र च समुचिताम् इति उचिताम् इति च पदमुपात्तम् । तस्याऽयं भाव :—वृत्तौ न्यूनाऽधिकभावः सम्भवति तत्तत्तारतम्येन । औचित्यं हि तत् न तद्वैषम्यं नैर्घृण्यं वा यथा शिशूनामल्पाहारेण कृतार्थता भवति, परं यूनां नाऽल्पाहारेण तृप्तिस्तेषां शरीरधारणायाऽवश्यकताऽधिकाहारस्येति तेभ्योऽधिकाऽऽहार एव दातुं योग्यः। अत एव देशकालवस्तुपर्यालोचनयाऽऽर्यविधया यदेव जीवनोपयोगि तदेव वृत्तिपदाऽभिधेयमिति प्रस्तुतभाष्यकृतो मतम् । प्रस्तुतभाष्यकृतो मतमपि त्वार्यरार्यराष्ट्रवादिनः सर्वेऽपि मन्यन्ते । राज्यवादिनां मते स्वामिभृत्यभावः प्रसृत्वरो दरीदृश्यतेऽथापि कर्तव्यप्राधान्येन भद्रचिन्तनतया च मित्रवव्यवहार इति च वृत्तिसाम्यं भृतेरिति वृत्तियुगेऽन्तर्भाव आर्यस्त्रीयुगस्य कृतः प्रस्तुतभाष्यकृतेति न विप्रतिपत्त्यवसरलेशोऽपीत्यवगन्तव्यमेव ।

है । इस सम्बन्ध में कहा है कि भृति की प्राप्ति तो परतन्त्रता से होती है । परतन्त्रता तो अनार्य शासन का जीवनसर्वस्व है ।

अकेला खाने वाला केवल पाप को खाता है । राष्ट्रियों के लिए पुनः पुनः भृति का निषेध किया गया है । कभी पूर्ण नहीं होने वाली बुभुक्षा भृति से भी पूर्ण नहीं की जा सकती है । पाप का मूल कारण, बुभुक्षा ही है । वृत्ति तो प्रशस्य और मुमुक्षा स्वरूप है, पुण्य का मूल है । भृति एवं वृत्ति का सम्बन्ध तम व प्रकाश की तरह है । तम अनार्यों का स्वभाव है तथा प्रकाश आर्यों का । सभी प्रकार के दुःखों का मूल कारण होने से भृति को ग्रहण नहीं करना चाहिए । अनार्य पुंस्त्रीयुग में उत्पन्न होने वाले प्रायः अन्धे ही होते हैं, क्योंकि ये दोनों युग बुभुक्षा-प्रधान है । भृत्य कहीं भी मान्य नहीं होते हैं । क्योंकि उनका जीवन दासता से युक्त होता है । आर्यलोग भृत्य-भाव की निन्दा करते हैं । नीतिकार भर्तृहरि ने भृत्य की इस चाटुकारितापूर्ण जीवन की कटु शब्दों में निन्दा की हैं—

'वृतु वर्त्तने' ततो भावे स्त्रियां क्तिन्। अत एव वृत्तेर्न दानं सम्भवति राष्ट्रियेभ्यः, किंतु व्यवस्थामात्रं सम्भवतीत्युक्तम्। अराष्ट्रियाणां तु राष्ट्रान्तरे वृत्तेरस्वाभाविकतया तेभ्यो दानमपि सम्भवतीत्यप्युक्तमेव। एतदप्युक्तचरम्। किं चैतदेव समभिप्रेत्याऽत्र कारिकायां पृथग्रूपेण भृतेरेव निषेधविधिः प्रतिपादितः। वृत्तेश्चोपादेयतयाऽपि नाऽपूर्वतया विधिः प्रतिपादितः। तेन वृत्तिविषये नियमविधिरेव। किंचेदमपि बोध्यम्—वृत्तिर्मनुष्यमात्रस्य वस्तुमात्रस्य वा स्वाभाविकीत्येव चेत् भृतेः प्राप्तिरेव न सम्भवतीति कथं तस्या निषेधो वक्तुं युज्यते इति चेत्तत्र ब्रूमः:—भृतेः किल पारतन्त्र्येण प्राप्तिर्भवति। पारतन्त्र्यं चाऽनार्यशासनजीवनसर्वस्वम्। अयं भावः:—अनार्या किल बुभुक्षावन्त इति सङ्कुचितस्वार्थाऽघा इति केवलादिनो भवितुमिच्छन्ति। ते च केवलपापरूपत्वेन श्रुताऽवप्युक्ताः। यथा–"केवलाघो भवति यः केवलादी" इति। अनार्यत्वं चाऽस्वाभाविकम्। अतस्तेषां बुभुक्षाऽप्यस्वभाविकी। अत एव तस्या पूरणाय स्थाप्यमाना भृतिरप्यस्वाभाविक्येव। नन्वस्वभाविकं तावन्न शङ्कासमाधानविषयमवगाहते। शङ्कासमाधानविषयाणामवगाहमानं च स्वाभाविकं च नेति विरुद्धमेवेति चेत् सत्यमङ्ग ब्रवीति भवान् किं तु नैतद्विचारयति सुष्ठुतया, यतः खल्वस्वाभाविकमनार्यत्वमुपादेयतयेति तात्पर्यं प्रस्तुतभाष्यकृतः। हेयतया तु स्वाभाविकमस्त्येवाऽनार्य-

---

कुत्ता, भोजन-दाता के सम्मुख पूंछ हिलाना, उसके चरणों में लोटना, भूमि पर गिरकर अपना मुख तथा पेट दिखाना आदि कर्म करता है, परन्तु गजराज तो भोजनदाता की ओर गम्भीरता से देखता है तथा सैंकड़ों खुशामदों से खाता है।

आर्य राष्ट्रवादी स्वभाव से ही भृति को ग्रहण करने से विमुख होते हैं। न तो वे भृति को ग्रहण करते हैं, न ग्रहण कराते हैं, परन्तु अनार्य राज्यवादी इसके विपरीत ही अपना कार्य करते हैं। वे परस्पर ही एक दूसरे को नष्ट कर देते हैं। भगवान् वासुदेव ने अर्जुन को कहा है—ये उग्रकर्मा जगत् के क्षय के लिए प्रवर्तित होते हैं।

इस प्रकार भृत्यत्व अत्यन्त निन्दनीय, सभी दुःखों का खजाना, सभी पापों का कारक होता है। जिनके पास धन नहीं होता है, उनका पोषण किया जाता है। वृत्तिल भृत्य नहीं होते हैं। वे धन-रहित भी नहीं होते हैं। स्वातन्त्र्यप्रिय

त्वमेतन्मतेऽपि। परमेतेन नाऽस्य भाष्यकृतो हानिः प्रत्युत लाभ एव। अत एव भृतिनिषधो वारंवारमुद्घोष्यते राष्ट्रियाणां कृते। किंचेदमपि बोध्यम्-वृत्तित्वं तावद् व्यापकम्। भृतित्वं च व्याप्यम्। या च भृतिसापेक्षा वृत्तिः सा तु व्याप्यैव वृत्तिरिति। अयंभाव :—पारवश्येन क्रियमाणा वृत्तिरेव भृतिरित्युच्यते। स्वातन्त्र्येण क्रियमाणा वृत्तिरित्युच्यते। इदं च बोध्यम्-आर्यपुंयुगमार्यस्त्रीयुगं च वृत्तियुगम्। अनार्यपुंयुगमनार्यस्त्रीयुगं च भृतियुगम्। आर्यपुंयुगे स्वाभाविकी वृत्तिः, आर्यस्त्रीयुगे च कल्पिता वृत्तिः। अनार्यपुंयुग उचिता भृतिः अनार्यस्त्रीयुगे चाऽनुचिता भृतिः विष्टिरूपेति। अतश्च सूपपादितं भृतिरन्या वृत्तिरन्येति। अयं भावः-भृतिः खलु हेयतया वृत्तेर्विरुद्धैव वृत्तिश्चोपादेयतया भृतेर्विरुद्धैव। महावृत्तभेदाविमौ द्वौ वृत्तिर्भृतिरिति च। एका चाशंसापूरणा वृत्तिरित्याख्यायते। इयमेवाऽन्येषां विदुषां मते शुद्धकामरूपा। अन्या च बुभुक्षापूरणी भृतिरित्याख्यायते। इयमेवाऽन्येषां विदुषां मते अशुद्धकामरूपा। बुभुक्षा हि न भृत्याऽपि पूरयितुं शक्यते, तस्या दुरन्तपूरतया इति त्वन्यत्। अत एव तस्याः पूरणं निषिध्यते सर्वैरपि विपश्चितामपश्चिमैः। भृतिः समस्तराष्ट्रकार्य-बहिर्मुखकारितया महापापरूपेति तां बुभुक्षावन्त एव स्वीकुर्वन्ति। बुभुक्षायाः पापमूलत्वात्। वृत्तिश्च समुचिताऽऽशंसापदमवगाहमाना मुमुक्षा, सा च समस्तकार्यसंयोजकतया महापुण्यरूपेति तां मुमुक्षावन्त एव स्वी-

---

इनका सर्वत्र सम्मान ही होता है। भृत्य शब्द से परतन्त्रता ध्वनित होती है, वृत्तिल शब्द से स्वतन्त्रता ध्वनित होती है।

शिवसंकल्प की कामना करने वाले व्यक्ति ही आचार्य युग को लाने में समर्थ हो सकते है। सब कार्यों का मूल संकल्प ही है। आर्य लोग इसी संकल्प के बल से सभी अनार्यों को आर्य बनाने का प्रयत्न करते हैं। मनु ने भी कहा है—

"संकल्पमूलः कामो वै यज्ञाः संकल्पसम्भवाः।
व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः॥"

इस प्रकार जो लोग पूर्ण स्वतन्त्रता से रहना चाहते हैं, वे न तो स्वयं भृत्य बनना स्वीकार करते हैं, न दूसरों को भृत्य बनाना। अनार्यों को आर्य बनाने के लिए अवसर पाकर उनका वृत्तिच्छेद तो कर देना चाहिए, परन्तु इसमें बड़ी सावधानी की आवश्यकता है। यदि अच्छी प्रकार उपयोग किया जाय, तो विष

कुर्वन्ति मुमुक्षायाः पुण्यमूलत्वात्। एवं चाऽनयोस्तमःप्रकाशयोरिव विरुद्धत्वमवगम्यते भृतिवृत्त्योः। तमश्चाऽनार्यस्वभावो दुःखरूपः। प्रकाशश्चार्यस्वभावः सुखरूपः। तत्र च सुखमुपादेयं दुःखं च हेयम्।

सुखं वा यदि व दुःखं स योगी परमो मतः। (गी. 6/32)

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ। (गी. 2/15)

भृतिश्च पारवश्ययोगक्षेमसाधनतया न ग्राह्या राष्ट्रियैः। अयं भावः– राष्ट्रस्य चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धिभिः स्वराष्ट्रे परराष्ट्रे वा समस्तविध-दुःखबीजतया भृतेः, कदाऽपि तस्या ग्रहण न कार्यमिति। अत्र ग्रह धातोः "ऋहलोर्ण्यत्" (पा. सू 3।1। 124) इति ण्यत्। ग्रह उपादाने। ग्रहीतुं योग्या ग्राह्या प्रलोभनादिनाऽपि दीयमाना न ग्राह्या। अथ च राष्ट्रियैर्न ग्राह्या ग्राहयितुं योग्या। पापबीजतयास्याः समस्तविधशक्तिसमृद्धै रार्यैः सर्वथा कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थैरपि प्रलोभनेन, वञ्चनेन, रभसेन, अन्यया वा कयाऽपि विधया केभ्योऽपि नोपपादेयतया बोधनीया। मुमुक्षावन्तः खलु स्वातन्त्र्ययोगक्षेमैकप्रियतया नैतादृगकार्यं विदधते। ते हि स्वयं भृतिं नोपाददताऽथ च परेभ्योऽपि नोपदापयन्ते। यतः खल्वार्याणामयमेव स्वभावः, यत्सर्वस्याऽपि भद्रमेव चिन्तनीयमिति। एवं च स्वातन्त्र्ययोगक्षेमपरायणैरार्यैः स्वराष्ट्रस्य चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धिभ्यः परराष्ट्रसम्बन्धिभ्यो वा येभ्यः केभ्योऽपि न भृतिर्ग्राह्या। स्वयं तु नैव ग्राह्यमित्युक्तमेव। स्वराष्ट्रियेभ्यः परराष्ट्रियेभ्यश्च भृतिर्न ग्राह्या। अत एवोक्तमपि—

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

आत्मवत्सर्वभूतानि यः पश्यति स पश्यति॥

स्वार्थान्धा अनार्या यदि न पश्यन्ति सर्वभूतानां सुखं दुःखं चेति मा पश्यन्तु नाम ते। तेषामन्धतया शोभत एव तत्। उक्तमप्यत एव "न पश्यति तु जन्मान्धः कामान्धो नैव पश्यति"। अनार्यपुंस्त्रीयुगभवाः किल प्रायोऽन्धा एव भवन्ति, यतो बुभुक्षाप्रधानत्वमनयोर्युगयोः। तत्राऽपि कलियुगस्य कामयुगत्वात्तत्साधनस्य चार्थस्य द्वापरयुगे प्राधान्यादर्थयुगस्य कामलग्नत्वनियमात्। भृतिप्राधान्यमनयो–

भी अमृत हो जाता है। यदि अणुमात्र भी असावधानी हो जाय, तो विष खाने वाले के प्राण भी चले जाते हैं। शिवसंकल्प के कारण ही विष अमृत बनता है।

वृत्ति के विनियोजन करने का राष्ट्र-नेताओं का अधिकार है। तद्विषयक कर्त्तव्य का निरूपण किया जा रहा है :—

युगयोः । अत एवऽनार्यराज्यवादिनामिवाऽनार्यराष्ट्रवादिनामपि पदे पदे दुःखभोक्तृत्वमेव । अत एव भण्यतेऽपि लोके—'अन्धस्येवाऽन्धतमस्य विनिपातः पदे पदे' । अत एव पूर्वं वृत्तिदानं तु विहितमेव प्रस्तुत-भाष्यकृता । आर्याणां तु चक्षुष्मत्वेन नेदं शोभते । अत एव समदर्शि-नामेवामृतत्वलाभ उक्तो भगवता श्री कृष्णेनाऽर्जुनं प्रति । तथा हि—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन । (गी. 6/32)
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ।। (गी. 2।15)

समशब्दो ऽत्र सर्वपर्यायः तत्र विशेषस्वारस्यात् । अस्तु, भृतिः खलु न ग्रहणग्राहणयोग्या राष्ट्रियाणामिति निष्कर्षः । परिशेष्यात् वृत्तिरेव ग्रहणग्राहणयोग्या राष्ट्रियाणामित्यपि निष्कृष्यत एव । तत्र हेतुमपि निन्दार्थवादं दर्शयति—भृतिमिति । ये किल भृतिं गृह्णन्ति ते भृत्या इति निर्दिश्यन्ते । अयं भावः—भृत्याः किल न क्वाऽपि मान्या भवन्ति । दास-त्वात्तेषां, दासानामेव जीवनमेतत् न स्वामिनाम् । एतच्च भृतिग्रहणेन प्राप्यते । आर्याश्च भृत्यभावमतीव निन्दन्ति । अतश्च निन्दाविषयं हेयम् । अत एव मनुना ब्राह्मणार्थं जीवनं सेवाऽतीव निषिद्धा । तथा हि—

ऋताऽमृताभ्यां जीवेत्तु मृतेन, प्रमृतेन वा
सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्या कदाचन ।। (मनु. 4/4)

ब्राह्मणश्चार्यराष्ट्रवादिस्वभाव इति तदर्थं शोभत एवैष उपदेशः । सेवा दास्यं श्ववृत्तिरित्युक्तम् । भृतिं गृह्णानाश्च दासपदवीं यान्ति पारव-श्येन । यतः श्वेव जीवनं तत् दासस्य । तथा चाह भर्तृहरिः श्वा किं किं कुर्वाणो जीवनोपभोगं करोतीत्यस्य विषये—

लाङ्गूलचालनमधश्चरणाऽवपातं
भूमौ निपत्य वदनोदरदर्शनं च ।।
श्वा पिण्डदस्य कुरुते गजपुङ्गवस्तु
धीरं विलोकयति चाटुशतैश्च भुङ्क्ते ।। (भ. नी. 31)

एतत्सर्वमपि बुभुक्षाविलसितम् । इदं च बोध्यम्—आर्यराष्ट्रवादि-नस्तावत् स्वभावेनैव भृतिविमुखा ग्रहणे ग्राहणे च । आर्यराज्य-वादिनश्च ग्रहणे स्वभावेन विमुखा ग्राहणे च कर्तव्यबुद्ध्या । अनार्य-राष्ट्रवादिनश्च ग्राहणे भृतेः स्वभावेन प्रवृत्ता ग्रहणे च पारवश्येन प्रवृत्ताः । अनार्यराज्यवादिनश्च ग्रहणे ग्राहणे च परस्परपारवश्येन

बुभुक्षयाऽभिनिविष्टमूढतया प्रवर्त्तन्तेऽत एव नाशाय भवन्ति परस्परस्य। अत एवोक्तमपि भगवता वासुदेवेन पार्थं प्रति—

प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः । (गी. 16/9)

एवं च भृत्यत्वमतिनिन्द्यं सर्वदुःखाकरं सर्वपापकरमिति तन्नैव कदाऽपि विधेयम्। वृत्तिलाश्च न भृत्या इति निर्दिश्यन्ते। अयं भावः— भृत्यशब्देन पोष्यत्वमवगम्यते। पोष्यत्वं च निःस्वानां भवति। निःस्वत्वं दासत्वं तदपि निन्द्यम्। वृत्तिलाः पुनर्नं तथा। वृत्तिं लान्ति ते वृत्तिला, एतेषां न निःस्वत्वं बोध्यते। तेन च स्वातन्त्र्यप्रियाणामेषां सर्वत्र सम्मान एवं भवतीति ध्वन्यते। भृञ् धातोः "भृञोऽसंज्ञायाम्" (पा. सू 3/1/112) इत्यनेन क्यप्। "ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्" (पा, सू 6/1/71) इति तुक्। कर्मण्ययं क्यप्। भृत्यशब्देन पारवश्यं ध्वन्यते। 'वृत्तिल' शब्दे च आतोऽनुपसर्गे कः (पा. सू 3/2/3) इत्यनेन कर्तरि कप्रत्ययः स च स्वातन्त्र्यं ध्वनयति। तदेवं राष्ट्रस्वातन्त्र्ययोगक्षेमार्थं भृत्यत्वमतीव विपरीतमिति बोध्यते। वृत्तिलत्वं चाऽतीवानकूलमिति च। तदयं निर्गलितोऽर्थः–भृतिः पारतन्त्र्यकारिणीति राष्ट्रियैः स्वराष्ट्रे परराष्ट्रे च न ग्रहीतव्या। न च ग्राहयितव्या पूर्णार्यत्वयोगक्षेमाऽभिलाषिभिः। वृत्तिश्च स्वयमपि ग्रहीतव्या स्वराष्ट्रे परराष्ट्रे च स्वातन्त्र्यकारिणीति, ग्राहयितव्या च, अनार्यत्वं समूलघातं हन्तुमभिलषद्भिरिति। नन्वनार्याणां भृत्यीकरणे का हानिस्तेषां तु स्वाभाविकं तदिति चेदेवं वदन् भवान् नाऽऽर्य इत्येव ध्वन्यते। यतः खलु य आत्मसाम्येन पश्यति न, स नाऽमृतत्वं लभते इत्युक्तं पूर्वम्। येऽनार्यानपि भृत्यीकर्तुमिच्छन्ति तेऽप्यवश्यमेव भृत्यभावमापाद्यन्ते ऽनार्यैरपि। सर्वस्याऽत्मरूपत्वात्। अत एव भगवताऽप्युक्तम्—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्माऽनुवर्त्तन्ते मनुष्याःपार्थ सर्वशः (गी. 4/11)

यावदेवानार्यत्वं तावदेवं पारतन्त्र्यमपि। यावदेवार्यत्वं तावदेव स्वातन्त्र्यमपि। शिवसङ्कल्पोपासनेन च यथाकामता तया चाऽऽर्ययुगाऽनयनं सम्भवति। सर्वस्याऽपि मूलं सङ्कल्प एव। अत एवोक्तमपि—'काम जानामि ते मूलं संकल्पात्किल जायसे।' इति। आर्याः किल समस्तान्प्यार्यीकर्तुं स्वसंकल्पप्रभावतः संकल्पन्ते। अत एवैकतोभद्रेभ्यः सर्वतो भद्राः प्रबला भवन्ति। अत एवोच्यतेऽपि—

धिग्बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजोबलं बलम् ।

संकल्पेनैव हि सर्वमपि भवतीत्युक्तमन्यत्राऽपि । तथा हि मनुः—

संकल्पमूलः कामो वै यज्ञाः संकल्पसम्भवाः ।।

व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः । । (मनु. 2/3)

एवं च ये तावत्स्वयं पूर्णस्वतन्त्रतया स्थातुमीहन्ते कथमपि भृत्यीकरणाय स्वस्य वा स्वेतरेषां वा नेच्छन्त्विवति बोध्यते । समीहन्तां च सर्वदा वृत्तिलत्वाय स्वस्य स्वेतरेषां च । अनार्याणामार्यीकरणाय वृत्तिच्छेदस्तु यथाऽवसरं यथायथं चोपयोक्तव्यः । परन्तु तत्र महती सावधानताया अपेक्षा भवति । यथा किल सम्यग्विधिनोपयुक्तं विषमप्यमृतायते । अणुमात्रमप्यसाऽवधानतया प्राणानेव नाशयति विषभोक्तुः । संकल्पस्यैव शिवत्वादमृतायते विषमपि । एतत्समस्तध्वननाय ग्राह्या इत्युक्तम् । अराष्ट्रियास्तु नोपदेश्यास्तेषामभावात् । राष्ट्रियशब्दस्य राष्ट्रियत्वाऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नपरत्वात् । अत एव स्वपरशब्दानामुपादान न विहितमिति ध्येयम् । ननु येषामनार्यपारतन्त्र्येण राष्ट्रियत्व नष्टं तैः किं कार्यम् इति चेच्छ्रूयताम् । येषां राष्ट्रियत्वं नष्टं ते यत्र निवसन्ति राष्ट्रे तत्रैव पूर्णं राष्ट्रियत्वं स्थापयन्तु परन्त्वार्यविधयेति पूर्वमुपपादितं भाष्यकृतैव । तत्प्रकारोऽपि 'पितृपुण्य' (रा. 4) इत्यस्याः कारिकाया भाष्याऽवसरे इति तत्रैवाऽवालोकनीयम् । अलमनेन ।।49।।

एवं शिक्षानिरूपणाऽनन्तरं तत्प्रयोगाय महत्वात् राष्ट्रपरिषदः स्थापनमुक्तम् । तच्च राष्ट्रनेतॄनन्तरेण न सम्भवति । तेषां निरूपणं "राष्ट्रनेता" (रा. 44) इत्यनया कारिकया निरूप्य महती (रा. 45) इत्यनया तत्तात्परिषदः स्थापनं निरूप्य समुचितवृत्तिदानेन राष्ट्रकार्याणां कारणं 'वृत्ति समुचितां' (रा. 46) इत्यनया निरूप्य राष्ट्रियाणां वृत्तिग्रहणपूर्वकं कार्यकरणं 'गृहीत्वा' (रा. 47) इत्यनया निरूप्य भृतिग्रहणपूर्वकं कार्यकरणं च निषिध्य 'भृतिं गृहीत्वा' (रा. 48) इत्यनया च निषिध्य "भृतिरन्या" (रा 49) इत्यनया भृतिवृत्तिभेदनिरूपणपूर्वकं भृतिं, तद्ग्रहीतॄणां निन्दनीयत्वस्थापनपूर्वकं ग्रहणे ग्राहणे च निषिध्य तयैव कारिकया वृत्तिलानामनवद्यत्वं प्रतिपादितम् । इदानीं च वृत्तिविनियोजने राष्ट्रनेतॄणामधिकारात् समस्तशासनस्य तेषामधीनत्वात् तद्विषयकं कर्तव्यं समस्तराष्ट्रियाणां वृत्तियुक्तत्वविधानं प्रतिपादयितुमाह—

वृत्तियुक्ता विधातव्या राष्ट्रिया राष्ट्रनेतृभिः ।
राष्ट्रियाणां समस्तानां राष्ट्रे, स्वत्वेन जन्मतः ।।50।।

वृत्तियुक्ता इति । राष्ट्रनेतृभिः–राष्ट्रियाः–वृत्तियुक्ताः–विधातव्याः–समस्तानां–राष्ट्रियाणां–जन्मतः–राष्ट्रे–स्वत्वेन । इति पदयोजनिका ।

राष्ट्रनेतृभिः—राष्ट्रस्य=पूर्वलक्षणलक्षितस्य नेतारः=पूर्वोक्तलक्षणा नायकाः तैः राष्ट्रियाः=चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धिनः वृत्तियुक्ताः–वृत्त्या' तत्तदनुकूलजीविकया युक्ताः=सहिता 'विधातव्याः' कार्याः । 'समस्तानां' सम्पूर्णानां 'राष्ट्रियाणां'=पूर्वोक्तलक्षणलक्षितानां 'जन्मतः'=उत्पत्तिसमयमारभ्यैव राष्ट्रं=पूर्वोक्तलक्षणलक्षितं 'स्वत्वेन'=स्वकीयत्वेन । अयमभिप्रायः–नानाविधपदार्थसार्थपूरिते ब्रह्माण्डे शांतिस्तावदव्यवस्थाऽधीना । तां च निःश्रेयसकरीं सर्वोऽपि जीवलोक आकाङ्क्षते व्यवस्था च नियामकशक्त्यधीना । तस्याश्च नियामकशक्ते रूपद्वयम् निग्रहाऽनुग्रहेति भेदेन । तयोश्चाऽनन्ताऽन्येव रूपाणि तेषां साक्षात्कारं कृत्वा नेतारो मर्यादां विधिनिषेधरूपां स्थापयन्ति लोककल्याणाय । तत्प्रतिपादकं वाङ्मयं शास्त्रमभिधीयते । तच्छास्त्रं च सद्गुरुसम्प्रदायपूर्वकमधीत्याऽन्येऽपि नेतारो भवन्ति । अनन्तरं च निजशास्त्रज्ञानविज्ञानाभ्यां जीवलोकं व्यवस्थापयन्तः सर्वत्र शान्तिं विस्तारयन्ति लोकाऽभिलषणीयाम् । एतदेव भगवताऽर्जुनं प्रत्युक्तम्—

वृत्तियुक्ता विधातव्या राष्ट्रिया राष्ट्रनेतृभिः ।
राष्ट्रियाणां समस्तानां राष्ट्रे, स्वत्वेन जन्मतः ।।50।।

राष्ट्र के नेताओं को चाहिए कि वे राष्ट्रिय लोगों को वृत्तियुक्त करें, क्योंकि समस्त राष्ट्रिय लोगों का अपने राष्ट्र पर जन्म से ही अपनापन होता है ।

अनेक प्रकार के पदार्थों से पूर्ण इस ब्रह्माण्ड में शान्तिव्यवस्था के अधीन होती है । निग्रह तथा अनुग्रह के रूप में नियामक शक्ति दो प्रकार की होती है । इन दोनों के अनन्त रूप हैं, जिनका साक्षात्कार करके नेता लोग लोककल्याण के लिए विधि निषेधरूप मर्यादा की स्थापना करते हैं । उसका प्रतिपादक वाङ्मय शास्त्र कहलाता है । उस शास्त्र को संग्रह कर, सम्प्रदाय पूर्वक पढ़कर अन्य लोग भी नेता होते हैं । तदनन्तर अपने ज्ञान विज्ञान से जीवलोक की व्यवस्था करते हुए लोक द्वारा चाही गई शान्तिविधि का विस्तार करते हैं । भगवान् ने अर्जुन के प्रति यही तो कहा है :—कि जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।। (गी. 4/7)
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे-युगे । (गी. 4/8)

शान्तेः किलाऽऽकाङ्क्षा अशान्तत्वे एव सम्भवति । अशान्तिश्चाऽव्यवस्थया । अव्यवस्था च बुभुक्षया भवति ।बुभुक्षा चाऽनार्यजनस्वभावः । इयं बभुक्षैव वैषम्यमापादयन्ती भृत्यस्वामिभावमुत्पादयति । अयं भावः - आशंसैव किलाऽपूरिता बुभुक्षा रूपमवलम्बते । अत आशंसापूरणमतीवावश्यकम् । सा च सर्वस्याऽपि वस्तुनो भवतीति किमु वक्तव्यं मनुष्यविषये । एवं च सर्वतः पूर्वं शान्तिस्थापनाय वृत्तिव्यवस्थापनमावश्यकमिति निर्णीतं भवति । इदं च बोध्यम्—जीवनं वृत्याऽपि क्रियते भृत्याऽपि क्रियते । जीवनं कर्मरूपमिति कर्मायत्तं जीवनम् । तत्र साम्येन जीवनं वृत्तिः, वैषम्येण जीवनं भृतिः । साम्ये शान्तिः, वैषम्ये चाऽशान्तिः । साम्येन जीवन्तोऽकार्यं प्रायो न कुर्वन्ति, वैषम्येण च जीवन्तः प्रायोऽकार्यमेव कुर्वन्ति । ये च साम्येन जीवन्तोऽप्यकार्यं कुर्वते ते तदानीमेव यथोचितं दण्डनोयाः परिषन्नियुक्तै राष्ट्रनेतृभिः । जीवनाय हि नानाविधानि कर्माणि वर्तन्ते । तत्र कानिचिदुपादेयानि कानिचिच्च हेयानि । तत्राऽयं विवेकः–यैरार्यत्वं वर्धते शान्तिश्च स्थाप्यते

है, तब मैं (अवतार रूप में) प्रकट होता हूं । मैं सज्जनों की रक्षा के लिए और दुष्कर्म करने वाले अत्याचारियों के विनाश के लिए तथा धर्म को स्थापित करने के लिए युग-युग में जन्म लेता हूँ ।

अशान्ति होने पर ही शान्ति की आवश्यकता होती है । अव्यवस्था से अशान्ति फैलती है । अव्यवस्था भूख से होती है तथा भूख अनार्य लोगों के स्वभाव से होती है । आशंसा की पूर्ति न होने से ही बुभुक्षा होती है । अतः आशंसा की पूर्ति करना अतीव आवश्यक है । सब से पहले शान्ति-स्थापन के लिए वृत्ति की व्यवस्था आवश्यक है । जीवन-यापन वृत्ति से भी किया जाता है, और भृति से भी । साम्य में शान्ति है, वैषम्य में अशान्ति । साम्य से जीवन बिताने वाले लोग अकार्य नहीं करते हैं और वैषम्य से जीवन बिताने वाले लोग अकार्य ही करते हैं । जो साम्य से जीवन बिताते हुए भी अकार्य करते हैं, उन्हें परिषद् द्वारा नियुक्त राष्ट्रनेताओं द्वारा यथोचित दण्ड दिया जाना चाहिए ।

तान्युपादेयानि यैश्चानार्यत्वं वर्धतेऽशान्तिश्च स्थाप्यते तानि हेयानि । इदं च बोध्यम्—साम्ये स्वातन्त्र्यं सम्मानश्च विद्यतेऽत एव तद्रक्षा यत्रैव जीवने भवेत् सा वृत्तिः । अथ च वैषम्ये पारतन्त्र्यमपमानश्च विद्यतेऽत एव एतद्यत्र पदे पदेऽनुभूयते सा भृतिः । यान्येव कार्याणि वृत्तिं गृहीत्वा कर्तुं शक्यन्ते तान्येव भृतिं गृहीत्वाऽपि कर्तुं शक्यन्ते, परन्तु परिणामे महदन्तरम् । वृत्तिग्रहणपूर्वकं कार्यकरणे समस्तानां हितम् । भृतिग्रहणपूर्वकं च कार्यकरणे समाजानामहितम् । इदं च बोध्यम्—शासनपरिषदि नियुक्तानां राष्ट्रनेतॄणां सर्वादाविद मुख्यं कार्यम्—यत् स्वशासनीयराष्ट्रे केषां केषां समुचिता वृत्तिर्नास्ति तदालोच्य येषां समुचिता वृत्तिर्नास्ति तेषां सपद्येव वृत्तिव्यवस्थाविधानम् । वृत्त्यभावे ते भृत्या भविष्यन्तो राष्ट्रं भृत्यीकरिष्यन्तीति भृत्याः खलु जीवनज्ज्वालादग्धान्तःकरणा न विचारयितुं पारयन्ति यत् कस्य भृत्यभावोऽङ्गीकर्तव्यं कस्य वा नेति । ते तु केवलं जीवनज्वालाशान्त्यै कीलालमाकाङ्क्षन्ते । अतस्त आर्याऽनार्यविचारं सुदृढमुत्सृज्य पारिणामिकं हिताहितं विचारं च विनाश्य, व्रीडां विक्रीय, शीलमम्भसि निपात्य, कुलविचारमग्नौ निक्षिप्य, धर्माऽधर्मविचारं पाखण्डत्वेन विभाव्य, घृणामेव घृणितां निरीक्ष्य, शंकां कुशंकां मत्वा जातिरसातलकुहरक्षेपणीयामवबुद्ध्य सर्वेषां भृत्या भवन्ति । अथ चान्यानपि भृत्याकुर्वन्ति । अतः समस्ता अपि राष्ट्रिया यथायथं वृत्तियुक्ता एव विधातव्याः । 'विधातव्या' इत्यनेन शासनाऽधिकृतानां राष्ट्र-

---

जीवन के लिए अनेक प्रकार के कार्य हैं—कुछ उपादेय तथा कुछ हेय । जिन कर्मों से आर्यत्व बढ़ता है, शान्ति स्थापित होती है, वे उपादेय कर्म हैं । जिनसे अनार्यत्व बढ़ता है, अशान्ति स्थापित होती है, वे हेय कर्म है । वे ही कार्य भृति-ग्रहण करके भी किये जा सकते हैं, किन्तु दोनों के परिणाम में महान् अन्तर है । वृत्ति-ग्रहणपूर्वक कार्य करने में सबका हित है । भृतिग्रहणपूर्वक कार्य करने में सबका अहित है । राष्ट्रनेता यदि सब के लिए वृत्ति की व्यवस्था नहीं करेंगे, तो इसका परिणाम अनर्थकारी ही होगा । वृत्ति के अभाव में वे स्वयं भृत्य होंगे और राष्ट्र को भी भृत्य कर देंगे । वे तो आर्य-अनार्य का विचार न करके हित अहित का विनाश करके, लज्जा बेचकर, शील को जल में और कुल-विचार को अग्नि में फेंक कर धर्म-अधर्म का पाखण्ड रूप समझ कर घृणा और शंका से ग्रस्त होकर जाति को रसातल में क्षेपणीय मानकर स्वयं भृत्य हो जाते हैं और दूसरों को भी भृत्य बना देते हैं । अतः सभी राष्ट्रियों के लिए वृत्ति की व्यवस्था राष्ट्रनेताओं को

नेतृणामेतदनालोचने एतदकरणे च दण्ड्यत्वं बोध्यते । इदं च बोध्यम्–वृत्तिव्यवस्थाऽभावे ये तावदनार्यास्ते यथेच्छाऽऽचाराकाङ्क्षिणोऽविवेकिनश्चेति चौरा दस्यवो वञ्चकाः, पाखण्डिनो, भूत्वा नानाविधाऽकार्याण्याचरन्त आर्यान् पीडयन्ति । बुभुक्षाज्वालाशान्त्यन्ते, अग्निदा, गरदा, भवन्ति नानाविधैरनार्योपायैर्धनाऽपहारिणो, दाराऽपहारिणो भूम्यपहारिणश्च भवन्ति, तदर्थमेव च सर्वदा ते शस्त्राऽस्त्रोपयोगं विदधति । अथार्या अपि वृत्तिरहितास्तत्पूर्तये नानाविधान्यकार्याण्याचरन्ति केचिद्धर्मध्वजिनो भवन्ति, केचिद्भिक्षाशितामधिगच्छन्ति, अन्ये भृत्या भवन्ति, अपरे आत्महत्यामाचरन्ति, इतरे चत्वनार्या भवन्ति । एवं हि वृत्तिव्यवस्थाया अभावे सर्वतोभावेनाऽनार्यत्वप्रसारेण सर्वेऽपि दुःखिता भूत्वा परस्परस्य नाशाय प्रयतन्ते । अतः सर्वादौ वृत्तिव्यवस्था विधेया समस्तानामपि राष्ट्रियाणाम् । आर्याननुगृह्याऽनार्यांश्च निगृह्येति तु ध्येयमेव । भृत्यभावश्च नाशयितव्यः । इदं च बोध्यम्—भृत्यभावश्च बहुविधो भवति–यथा भृत्येच्छया भृत्याः, स्वामीच्छया भृत्याश्च तत्र भृत्येच्छया ये भृत्यास्ते न रभसात्कृता इति स्वेच्छाभृत्या इति सङ्केत्यन्ते प्रकृतभाष्यकृता । ये च स्वामीच्छया भृत्यास्ते विष्टिनः सर्वथाऽपि पारतन्त्र्यविकासतारतम्येन नानाविधा भृत्या भवन्ति । ते सर्वेऽपि भृतिं च्छित्वा वृत्त्या च संयोज्य राष्ट्रदृष्टिसम्पन्नाश्च कृत्वा आर्यीकर्तव्याः ।

और शासन को भी करनी चाहिए । इसके अभाव में वे अनार्य, चोर, दस्यु, पाखण्डी होकर अनेक प्रकार के उत्पात उत्पन्न कर आर्यों को पीड़ा पहुंचायेंगे । आर्य भी जब वृत्तिहीन हो जाते हैं, तब वे धर्मध्वजी हो जाते हैं, कुछ भिक्षुक हो जाते हैं, कुछ भृत्य हो जाते हैं और कुछ आत्महत्या कर लेते हैं । वृत्ति-व्यवस्था के अभाव से, अनार्यत्व के प्रसार से दुःखी होकर सभी परस्पर नाश करने में लग जाते हैं ।

भृत्य भाव भी अनेक प्रकार का होता है, जैसे भृत्य की इच्छा से भृत्य और स्वामी की इच्छा से भृत्य । भृत्य की इच्छा से जो भृत्य हैं, वे जबर्दस्ती बनाये गये भृत्य नहीं हैं । स्वामी की इच्छा से जो भृत्य हैं, वे जबर्दस्ती बनाये गये परतन्त्र किये गये भृत्य होते हैं । ऐसे सभी प्रकार के भृत्यों (बंधुआ मजदूरों) की भृति का छेदन करके (उन्हें छुटकारा दिलाकर) उन्हें वृत्ति से जोड़कर, राष्ट्रदृष्टि-सम्पन्न करके आर्य बना लेना चाहिए ।

विष्टिन एव पारतन्त्र्यदुःखेन चौरादिवृत्तिमुपजीवन्ति । इदम् च बोध्यम्—वृत्तिरपि बहुविधा । स्वातन्त्र्येण जीवनं वृत्तिरिति तु न विस्मर्तव्यम् । इन्द्रियविषयेच्छोपभोगः कामः स एव च सर्वेषामभिप्रेतो जीवलोकस्य, तच्च जीवनं सर्वेषामनिवार्यम् । तत्साधनं चाऽर्थः, स चार्थो धर्मेण व्यवस्थाप्यते, सोऽपि धर्मो मोक्षमूलः । मोक्षोऽप्यनुग्रहप्रधानो निग्रहप्रधानश्च । तदेवं निष्पद्यत अनुग्रहप्रधानमोक्षो यत्र तदेव कार्यं तदेव च कार्यं कर्म धर्मपदवाच्यं तेनैवार्थोपाजनं तेनार्थेन कामपूरणं शान्तिकरम् । एवमेव निग्रहप्रधानमोक्षो यत्र तदेव कार्यं तदेव चाऽकार्यं कर्माऽधर्मपदवाच्यं तेनैवाऽर्थोपार्जनमनर्थः, तेन चार्थेन कामपूरणं, बुभुक्षापूरणमशान्तिकरम् । एतदेवार्याऽनार्यव्यवस्थाविज्ञानम् । तत्रार्यव्यवस्था ग्राह्या, अनार्यव्यवस्था च त्याज्या इति विवेकः । तत्र राष्ट्रनेतृभिरर्थोपार्जनोपायास्तथा स्थाप्या यथा वैषम्यं नोत्पद्येत, तेन बुभुक्षानिवृत्तिर्भविष्यति जीवनज्वाला च शान्ता भविष्यति । अत एव तत्तत्कार्यसम्पादनाय पूर्णव्यवस्थायै वर्णजातिव्यवस्था कार्या स्वाभाविकाऽस्वाभाविकज्ञानक्रियाप्रसारतारतम्यमवलोक्य । तत्रेदमपि बोध्यम्—ज्ञानप्रधानं वर्णद्वयम् । क्रियाप्रधानं च वर्णद्वयम् । पूर्वत्र च भेदद्वयम्—विज्ञानवदेकं, ज्ञानवच्चैकम् । एतदेवार्यवर्णद्वयम् । परत्रापि भेदद्वयम्—क्रियाप्रधानमेक विक्रियाप्रधानं चैकम् । एतदेव चाऽनार्यवर्णद्वयम् । एवं वर्णचतुष्टयी सम्पद्यते । ज्ञानप्रधानं शासकं क्रियाप्रधानं शास्यमित्यार्या-

---

स्वतन्त्रता पूर्वक जीवन व्यतीत करना ही वास्तव में वृत्ति है, इस बात को भी नहीं भूलना चाहिए । इन्द्रिय-विषय की इच्छा, उपभोग, काम सबको प्रिय है, क्योंकि जीवन सबके लिए अनिवार्य है । इस काम का साधन अर्थ है । यह अर्थ धर्म से व्यवस्थापित होता है । वह धर्म भी मोक्षमूलक होता है । मोक्ष अनुग्रह प्रधान और निग्रह प्रधान द्विविध होता है । आर्य-व्यवस्था ग्राह्य है और अनार्य-व्यवस्था त्याज्य । अतः राष्ट्रियों को अर्थोपार्जन इस प्रकार करना चाहिए कि वैषम्य न उत्पन्न हो । इसमें बुभुक्षा-निवृत्ति होगी और जीवन-ज्वाला शान्त होगी ! अतः पूर्ण व्यवस्था के लिए स्वाभाविक वर्ण-जाति-व्यवस्था की आवश्यकता है ।

दो वर्ण ज्ञान प्रधान हैं तथा दो वर्ण क्रिया प्रधान । ज्ञान-प्रधान के भी दो भेद हैं—एक विज्ञानवान्, एक ज्ञानवान् । इसी प्रकार आर्य वर्ण भी दो प्रकार के

ऽऽशंसा शान्तिजननी। ज्ञानप्रधानं शासनीयं क्रियाप्रधानं च शासकमित्यनार्यबुभुक्षा अशान्तिजननी। इति। एवमेव सर्वं पर्यालोच्य समस्ता या क्रिया वृत्तियुक्ता विधातव्या। ननु वृत्तौ स्वत्वं येषां भवति त एव खलु वृत्तियुक्ता विधातुं उचिताः। अतः पूर्वमिदमालोचनीयं यत् वृत्तौ स्वत्वं केषामस्ति तदर्थमेवाह–राष्ट्रियाणामिति। अयं भावः—जन्ममात्रेणैव हि समस्तानां राष्ट्रियाणां राष्ट्रे स्वत्वं भवति। यत्रैव राष्ट्रे यस्य राष्ट्रियस्य जन्म वीक्ष्यते तत्रैव तस्य स्वत्वमपि। इदं च बोध्यम् जन्मशब्देनाऽत्र न शरीरस्य जन्म ग्राह्यं किन्तु चतुर्विधसम्बन्धस्य प्रादुर्भावो ग्राह्यः। "पितृपुण्य" (रा. 4) इति कारिकैकवाक्यतया तथा व्याख्यानात्। "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम्" इति नियमात्। अत एव "पङ्क्तिविंशति" (पा. सू. 5/1/59) इति सूत्रे महाभाष्ये महर्षिणा पतञ्जलिनोक्तमपि—"नाऽसूया कर्तव्या यत्राऽनुगमः क्रियते" इति। एवं च सर्वेऽपि मनुष्याः प्रादुर्भावसमयादेव राष्ट्रिया भवन्ति। अथ येन राष्ट्रेण येषां चतुर्विधोऽपि सम्बन्धो वीक्ष्यते, तत्र राष्ट्रे ते राष्ट्रिया इति व्यवहारपदाश्रिता भवन्ति। तेषां च समस्तानामपि समानमेव राष्ट्रे स्वत्वमपि। अत एव ते तत्र राष्ट्रनेतृभिः वृत्तियुक्ता अवश्यमेव विधातव्याः। इदं च बोध्यम्—जन्मत इति ल्यप्लोपे पञ्चमी ततस्तसिल्। प्रादुर्भावं स्वत्वेन हेतुना वीक्ष्येत्यर्थः। समस्तानां राष्ट्रियाणां चतुर्विधसम्बधेन सम्बन्धिनां राष्ट्रे स्वत्वं निरूपितदिशा वर्तते एव तेन हेतुना जन्म वीक्ष्य वृत्तियुक्ता विधातव्याः। इति। एवमपि व्याख्येयम्—जन्म

हैं। एक क्रिया प्रधान, दूसरा विक्रिया प्रधान। इसी प्रकार अनार्यों के भी दो वर्ण हैं। इस प्रकार चार प्रकार के वर्ण हैं।

समस्त राष्ट्रियों का जन्म लेने मात्र से ही राष्ट्र में स्वत्व हो जाता है। सभी मनुष्य उत्पन्न होते समय ही राष्ट्रिय हो जाते हैं। वर्ण जाति का विवेक करके तदनुकूल ही वृत्ति की व्यवस्था की जानी चाहिए।

जो अनार्य हो चुके हैं, उन्हें वृत्तिच्छेदन से, कारागारादि में डालने से, अध्यापनादि के द्वारा आर्य बना देना चाहिए। उन्हें राष्ट्र से निकालना नहीं चाहिए। उनकी आशंसा की पूर्ति तो करनी ही चाहिए।

पंगु अन्धादिकों का भी राष्ट्र में स्वत्व है। उनकी वृत्ति की व्यवस्था भी आवश्यक है—इसका निरूपण किया जा रहा है—

उत्पत्तिः तद्वीक्ष्य वृत्तियुक्ता विधातव्याः। अयमाशयः—वर्णजातिविवेकं कृत्वा तदनुकूलं वृत्तियोजनं कार्यमित्यर्थः। एवमपि व्याख्येयम्—स्वत्वे इति सप्तम्यन्तम्। समस्तानां राष्ट्रियाणां राष्ट्रे स्वत्वे सति वृत्तियुक्ता विधातव्याः न जन्मतः। अयमाशयः—यदि समस्तानां राष्ट्रियाणां राष्ट्रे स्वत्वमस्ति तदा समस्ता अपि वृत्तियुक्ता विधातव्या न केवलं जन्मतः शरीरग्रहणमात्रेण वृत्तियोजनं तत्र राष्ट्रे कार्यम्। यत्र कुत्राऽपि राष्ट्रे केवलं शरीरजन्ममात्रेण न वृत्त्यधिकारस्तत्र किंतु चतुर्विधसम्बन्ध आवश्यकः स्वत्वे। येषां च स्वत्वं तेऽवश्यमेव वृत्तियुक्ता विधातव्याः स्वस्वराष्ट्रे तु सर्वेषामेव स्वत्व भवत्येवाऽत एव वृत्त्यधिकारोऽपि। एतेन राष्ट्रान्तरे राष्ट्रान्तरजातानां जन्ममात्रेण न वृत्यधिकार इति बोध्यते। एतेन प्रथमार्यत्वतारतम्येन राष्ट्रनेतृभिः परिषन्नियुक्तैः स्वस्वशासनाऽन्तर्गतानां सम्बन्धतारतम्येन वर्णजात्यादितारतम्येन चाऽनुग्रहाय वृत्तियुक्तत्वं व्यवस्थापनीयम्। भृत्यत्वं च विनाश्यम्। येषां यावानेव सम्बन्धस्तेषां तावदेव वृत्तौ स्वत्वम्। अथ ये राष्ट्रान्तरजास्तत्र निवसन्ति ते चेदार्यास्तेषामतिथिवत्परिचर्या कार्या वृत्तौ च तेषां स्वराष्ट्रे एवाऽधिकारः। अनार्याश्चेन्निःसारणीयाः। अथ ये स्वराष्ट्रस्य चतुर्विधसम्बन्धिनोऽनार्यभावमापन्नास्ते वृत्तिच्छेदेन कारागारादिनिक्षेपेण, अध्यापनादिना चार्यीकर्तव्याः। न च निःसारणोया राष्ट्रात। आशंसा च पुनःपूरयितव्यैव तेषामपि। सर्वथाऽपि चतुर्विधेनाऽप्युपायजातेनाऽऽर्यीकर्तव्यास्ते इति तात्पर्यम्। अथ च राष्ट्रकार्याणि यथायोग्यं कारयितव्यानि। तदयं निर्गलितोऽर्थः – केवलं जन्ममात्रेण न वृत्तौ स्वत्वम्। चतुर्विधसम्बन्धेन राष्ट्रे यत्पूर्वं स्वत्वमुपपादितं तत्सत्त्वे एव कुलशीलादि वर्णाश्रमजात्यादि च विविच्य राष्ट्रिया एव समस्ता एव वृत्तियुक्ता एव च विधातव्या एव। इति। पुंस्त्वं चाऽविवक्षितम्। अथ च वृत्तिस्वत्वे समस्तानामधिकारात् समस्तवर्णानां समस्तजातीनां समस्ताऽऽश्रमाणां च वृत्तौ स्वत्वं भवतीति सर्वेऽपि वृत्तियुक्ताः कार्या यथायथम्। भवत्वलमनेन ।।50।।

इदानीं पङ्ग्वन्धादीनामपि राष्ट्रे स्वत्वेन तेषामपि वृत्तिसंयोजनमावश्यकमिति तद्विवक्षुराह

पङ्ग्वन्धबधिराशक्ता रोगिणो राष्ट्रियास्तु ये ।।
तेभ्योऽपि वृत्तिर्दातव्या राष्ट्रे तेषां निजत्वतः ।।51।।

पङ्ग्वन्धेति। ये–तु–राष्ट्रियाः-पङ्ग्वन्धबधिराऽशक्ताः–रोगिणः–तेषां–राष्ट्रे–निजत्वतः–तेभ्यः–अपि–वृत्तिः–दातव्या। इति पदयोजनिका।

'ये'=वक्ष्यमाणाः 'तु' व्यवच्छेदेऽव्ययमेतत्। 'राष्ट्रियाः'=चतुर्विधसम्बन्धेन 'सम्बन्धिनो राष्ट्रस्य' पूर्वोक्तलक्षणलक्षितस्य पङ्ग्वन्धबधिराऽशक्ताः'—'पङ्गवः'=चरणहीनाः 'अन्धाः'='नेत्रहीनाः' 'बधिराः' श्रवणहीनाः 'अशक्ताः'=तत्तत्कार्यकरणेऽसमर्थाः' 'रोगिणः'–रोगः अस्ति येषां ते 'अत इनिठनौ' (पा. सू. 5/2/115) इत्यनेन मत्वर्थे इनिः। नानाविधरोगाऽऽक्रान्ताः। तेषाम्'=एतादृशानां राष्ट्रियाणां 'राष्ट्रे'=पूर्वलक्षणलक्षिते 'निजत्वतः'='स्वत्वतः' 'तेभ्योऽपि'=पूर्वोक्तविधराष्ट्रियेभ्योऽपि 'वृत्तिः' आशंसापूरणाय साम्येन जीवनं 'दातव्या'=प्रतिपादयितव्या व्यवस्थापनेन। इति। इदमत्र तात्पर्यम् - पूर्वं हि राष्ट्रकार्याणि कुर्यूः राष्ट्रिया इत्युक्तम्। राष्ट्रकार्यकरणार्थं च वृत्तिव्यवस्थापनं चोक्तम्। कार्याणि च ये न कुर्वन्ति तेषां वृत्तिच्छेदोऽप्युक्तः। तदेवं राष्ट्रकार्यकरणे रोगादिना वा प्राग्भवसञ्चितपापपुञ्जवशात्तत्तदिन्द्रियरहितत्वेन वाऽशक्तास्तेषामपि वृत्तिच्छेदः प्राप्नोति, परं त्वनार्याणां तु वृत्तिच्छेद उचितस्तेषामकार्यकरणप्रवृत्तेः। परं तु ये ऽकार्ये वा कार्ये वा शक्ततयैव न प्रवर्तितुं शक्नुवन्ति तेषां वृत्तिच्छेदो न प्राप्नोति। नन्वशक्तानां वृत्यधिकार एव नास्ति कार्यकरणसामर्थ्याभावात् इति चेन्नेदं वचनं युज्यते इत्येव वक्तुमस्याः कारिकाया आरम्भः। ये किल राष्ट्रियाः=राष्ट्रस्य चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धिनः तेषां सर्वेषां राष्ट्रे=

पङ्ग्वन्धबधिराऽशक्ता रोगिणो राष्ट्रियास्तु ये।
तेभ्योऽपि वृत्तिर्दातव्या राष्ट्रे तेषां निजत्वतः ॥51॥

जो राष्ट्रिय पंगु, बधिर, अन्ध आदि हैं, उनका भी राष्ट्र में स्वत्व है, अतः उन्हें भी वृत्ति प्रदान की जानी चाहिए।

जो चरणहीन हैं, नेत्रहीन हैं, श्रवणहीन हैं, उन-उन कार्यों को करने में असमर्थ हैं, रोगी हैं, उनकी वृत्ति की व्यवस्था भी की जानी चाहिए। यह विचार अनुचित है कि वे कार्य करने में असमर्थ हैं, अतः उन्हें वृत्ति का अधिकार नहीं है। पूर्वजन्म के सञ्चित पाप कर्मों के प्रभाव से अंगहीन हो गये हैं या विविध प्रकार के रोगों से ग्रस्त हो गये हैं, उनकी वृत्ति का छेदन नहीं करना चाहिए। क्योंकि वे तो कार्य करने में असमर्थ हो चुके हैं। उपनिषद् में कहा है कि मनुष्य को कार्य करते हुए ही सौ वर्ष तक जीवित रहने की इच्छा करनी चाहिए। गीता में भी कहा है—यदि कर्म नहीं करेंगे, तो शरीर-यात्रा भी सिद्ध नहीं होगी।

पूर्वोक्तलक्षणे 'निजत्वतः'=स्वत्वतः 'तेभ्यः'=कार्याऽसमर्थेभ्योऽपि 'वृत्तिः'=समुचिता वृत्तिः 'दातव्या'=अवश्यमेव देया। अयं भावः—वृत्तौ हि स्वाभाविकं स्वत्वमेव निमित्तमाहोस्वित् कार्यकरणसामर्थ्यमसामर्थ्यं वेत्यत्र क्रमः वृत्तौ स्वाभाविकं स्वत्वमेव निमित्तम्। कार्यकरणसामर्थ्यं च नेतृत्वे निमित्तं भवति। ये समर्थास्ते नेतारः कार्या, ये चाऽसमर्थास्ते न नेतारः कार्या इति। किं च कार्यकरणसमर्था यदि न कार्यं कुर्युस्तदाऽकार्ये ते प्रवृत्ता भवेयुः, अकार्ये प्रवृत्ताश्च ते राष्ट्रं नाशयेयुरिति ते वृत्तिच्छेदादिनोपायजातेन दण्ड्याः। कर्मणः स्वाभाविकत्वात् शरीरिणः। तदकार्यं नेति त्वन्यदेतत्। अकर्मवत्त्वेन पुनः शरीरवतां स्थानमसम्भवमेव। शरीरवान् खलु किमपि तु किमपि शुभमशुभं वा कुर्वन्नेव जीवति। अत एवेशावास्योपनिषद्युक्तमपि सुकर्माणि कुर्वन्नेव जीविषेदिति। तथाहि—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे. (ई. उ. 2)

भगवताऽर्जुन प्रत्युक्तमत एव—

शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः। (गी. 3/8)

सर्वतः श्रेयस्करं कर्म पारतन्त्र्यहानं स्वातन्त्र्यप्राप्तिश्चेत्युक्तम्। स्वातन्त्र्ययोगक्षेमकराणि कार्याणि राष्ट्रदृष्ट्या ये न कुर्वन्ति शक्ता अपि भूत्वा तेषां दण्डो विधेय एव। परन्तु ये तावत् पङ्गवः पादहीनतया गमनाऽऽगमनाऽसमर्थाः, अथ च येऽन्धाः दृष्टिहीनतया न कार्याणि कर्तुं शक्नुवन्ति, अथ च ये बधिराः शब्दश्रवणशक्तिरहिताः, अत एवाऽशक्ताः=असमर्थास्तत्तत्कार्यकरणे रोगिणः=नानाविधरोगादिभिः परिपीडितास्ते सर्वेऽपि राष्ट्रिया इत्येव वृत्त्यधिकारिणः। वस्तुत एव कार्यकरणेऽशक्ता इति ध्वननाय पङ्ग्वन्धबधिरा इत्युक्तम्। रोगिणः इति तु

आधिव्याधि से ग्रस्त शरीर वाले की राष्ट्रिय कार्य करने में सामर्थ्य नहीं होती है, किन्तु उन्हें भी जीवित तो रहना ही है। यदि इन्हें जीविका नहीं दी जायेगी, तो ये लोग अशिवसंकल्पवान् होकर राष्ट्र का विनाश कर डालेंगे। अतः उन्हें वृत्ति देनी चाहिए। दान का प्रयोग नितान्त अशक्तों के लिए है। उनके लिए राष्ट्रीय लोगों को औषधालय आदि खोलने की व्यवस्था की जानी चाहिए। उनकी शुश्रूषा के लिए योग्य चिकित्सकों की व्यवस्था की जानी चाहिए। राष्ट्र में स्वास्थ्य विभाग की पृथक् से स्थापना की जानी चाहिए। रोगियों को तो

वृत्तिच्छेदनिवारणायोपात्तम् । पङ्ग्वन्धेत्यादिषु एकेनैव सार्थक्ये गोब-
लीबर्दन्यायेनाऽन्येषामुपादानं तत्तद्वैशिष्ट्यज्ञानेन कार्याऽकार्यसामर्थ्यविवे-
चनाय । अयमर्थः--आधिव्याधिग्रस्तं शरीरं राष्ट्रकार्येष्वसामर्थ्यमुत्पा-
दयति । जीवन त्वपेक्ष्यत एव, तस्य स्वाभाविकत्वेनाऽनिवार्यत्वात् ।
स्वाभाविकत्वं तस्य यथा तथा पूर्वमुपपादितम् । तत्र जीविकाच्छेदनं नैव
योग्यं किन्तु, तेषां पूर्णा जीविका देयाऽन्यथा तेऽशिवसङ्कल्पान् कृत्वा राष्ट्रं
नाशयेयुः । अतस्तेभ्योऽपि वृत्तिर्दातव्या । अत्र यद्यपि दातव्या इत्यनुचितं
राष्ट्रियाणां पङ्ग्वन्धादीनां विषये तेषां स्वाभाविकवत्त्वाद्राष्ट्रे,
दानीयस्वत्ववतो वस्तुनो दानाऽसम्भवात् । तथाऽपि दातव्या इत्युपादानम-
न्येभ्यः कार्यकर्तृभ्यः साम्येन व्यवस्थां बोधयति । अयं भावः--ये
तावद्राष्ट्रकार्याणि कुर्वन्ति, तेभ्यो न्यूना न वृत्तिर्व्यवस्थाप्याऽशक्तानां
कार्यकरणे । अपितु तत्तद्रोगाऽपाकरणायाऽपि किंचिदाधिक्यनैव देया
वृत्तिः इति । इदं च बोध्यम् - रोगिणां रोगनिवृत्तिपर्यन्तं राष्ट्रकार्या-
करणेऽपि वृतिरधिका तत्पर्याप्ता देयैव । अथ च पङ्ग्वन्धादीनां च
यावज्जीवं देया । पङ्ग्वन्धबधिरा इत्युपलक्षणं मूकादीनाम् । अकार्य-
करणे तु नैव देयेत्यपि ध्येयमेव । कार्यकरण ऽशक्तास्ते ये सर्वेऽप्यनेन
सङ्गृह्यन्ते । अत एव वृद्धाः कार्याण्यकुर्वाणा अपि वृत्तियुक्ता विधातव्या
एव । अत्राऽपि पुंस्त्वाऽविवक्षा ज्ञेया वृत्तौ सर्वस्याऽपि स्वत्वात् । अका-
र्यकारिणां तु दण्ड्यत्वं पूर्वमुक्तमेव । यस्मिन् राष्ट्रे येषां च चतुर्विधो-
ऽपि सम्बन्धस्ते राष्ट्रियाः तेषामेव तत्र राष्ट्रे निजत्वम् । ते कार्याणि
कुर्वन्तु; मा वा कुर्वन्तु, निजत्वेनैव वृत्तावपि स्वत्वम् । कार्यकरणे शक्ताना

रोगनिवृत्ति तक पर्याप्त वृत्ति देनी चाहिए । पंगु-अन्ध-बधिर आदि की तो जीवन पर्यन्त वृत्ति दी जानी चाहिए, क्योंकि वे इन्द्रियों के अभाव में कार्य करने में, असमर्थ हैं । हां, ऐसे प्रयास किये जाने चाहिए कि वे यथाशीघ्र समर्थ हो सकें । फिर स मर्थ्यानुसार चिकित्सालय रुग्ण-पशु-सेवा, दवा-वितरण (सम्प्रति टेलीफोन सेवा, गैस एजेन्सी) आदि कार्यों में लगाया जा सकता है । इसे अगली कारिका में स्पष्ट किया गया है ।

इन अशक्त व्यक्तियों से भी कुछ न कुछ कार्य तो करवाना ही चाहिए—अब इसका निरूपण किया जा रहा है—

तु कार्याऽकरणे दण्ड्यत्वमिति त्वन्यत् । कार्यकरणाऽशक्तानां तु यथायथं विशेषतोऽनुग्राह्यत्वमप्यनेन ध्वन्यते । अराष्ट्रियाणां तु रोगिणां पङ्ग्वन्धादीनां च न वृत्तौ स्वत्वम् । किन्तु यावत्कालमतिथि रूपेण निवसन्ति तावत्कालमेव स्वयं वृत्तावसमर्थाश्चेत् तेभ्योऽपि वृत्तिर्दातव्या । आर्यजुष्टोऽयं पन्थाः । अथेदमपि ध्येयमेव पूर्ववत् यत् आर्याणामराष्ट्रियाणामतिथिवत्परिचरणमनार्याणां च सपद्य व राष्ट्राद्बहिर्निःसारणमिति । पङ्ग्वन्धादीत्यनाथानामप्युपलक्षणम् । तेनाऽनाथाः स्त्रियः पुरुषा वृत्तिदानेन संयोज्याः । केनैतत्कार्यमित्यत्र तू पूर्वतोऽनुवर्तत एव राष्ट्रनेतृभिरिति । परिषन्नियुक्तै राष्ट्रनेतृभिः सर्वमेतत्कार्यम् । दातव्या इत्यनेन विधित्वमस्य बोध्यते । राष्ट्रियास्तु इत्यनेन अराष्ट्रियविषये ऐच्छिको विकल्प इति ध्वन्यते । अत्रेदमप्याकलनीयम्—पङ्ग्वन्धबधिरादीनां रोगिणां च यदिदं वृत्तिदानमुक्तं तदेव नयति यत्—तेषां रोगादिनिवृत्तये राष्ट्रनेतृभिर्यतनीयमिति । अथ चैतदनाथानामप्युपलक्षणमित्युक्तं, तेनैतदवगम्यते यत् तेषां कृते राष्ट्रे तत्र तत्रौषधालयाः रुग्णशुश्रूषालयाः स्थापनीयाः । अथ च तत्र योग्याश्चिकित्सकाः स्थापनीया वृत्तिदानपुरःसरम् । रुग्णशुश्रूषालयेषु च योग्या औषधोपचारादिभिः परिचारका वृत्तिदानपुरःसरं स्थापनीया इति । सर्वथाऽपि राष्ट्रकार्यकरणसामर्थ्यं यथा भवेत्तथा सर्वाण्यापि साधनानि राष्ट्रनेतृभिरुपस्थाप्यानि । तदेवमेतेन चिकित्सालय-रुग्णशुश्रूषालय-भेषजालयादीनां स्थापनाऽनया कारिकया ध्वनिता इति । पूर्वं 'पूर्णाऽष्टवर्षका' (रा. 28) इति कारिकायां 'संरक्षिता' भिषग्वर्यैः इत्यनेऽनापि ध्वन्यत एतत् । यत् राष्ट्रे स्वास्थ्यविभागः स्थापनीय इति । भवत्वलमनेन ।।51।।

तेभ्योऽपि यथाशक्ति कार्यकरणमावश्यकमिति वक्तुकाम आह—

यथाशक्ति च तेभ्योऽपि राष्ट्रकार्याणि कारयेत् ।।
नानाविधानि शिल्पानि तेषां योग्यानि शिक्षयेत् ।।52।।

यथाशक्तीति । तेभ्यः—अपि—यथाशक्ति च राष्ट्रकार्याणि—'कारयेत्'—तेषां–'योग्यानि'—नानाविधानि—'शिल्पानि'–'शिक्षयेत् ।' इति 'पदयोजनिका' ।

'तेभ्यः'=पूर्वकारिकावर्णितेभ्यो वृत्तिदानविषयेभ्यः पङ्ग्वादिभ्यः । 'अपि' समुच्चयेऽव्ययम् । शक्तेभ्यस्तु पूर्वमुक्तमेव समुच्चितमनेनाऽपि शब्देन । 'यथाशक्ति'—'शक्ति'=सामर्थ्यं अनतिक्रम्य च त्वर्थेऽव्ययम् ।

'राष्ट्रकार्याणि'—'राष्ट्रस्य'=पूर्वलक्षणलक्षितस्य 'कार्याणि'=कर्तुं 'योग्यानि' कर्माणि 'कारयेत्'=सम्पादयेत् 'राष्ट्रपरिषदिति' शेषः। तेषां='पङ्ग्वादीनां' 'कृत्यानां कर्तरि वा'= (पा. सू. 2/3/71) इत्यनेन षष्ठी। 'योग्यानि'='उचितानि' 'नानाविधानि'—नाना=अनेकाः विधाः='प्रकाराः' येषु तानि नानाविधानि 'शिल्पानि'=कार्यकौशल्यानि 'शिक्षयेत्'='ग्राहयेत्। इति। अत्रेदमाकूतम्—वृत्ति–ग्रहणे खलु तेषामेवाऽधिकारो ये राष्ट्रियाः। ते च यदि सशक्तास्तदा तेषु तेषु राष्ट्रकार्येषु व्यापारणीयाः परिषदा मात्स्यन्यायवारणाय। अयं भावः—ये न कार्येषु व्यापृतास्तेऽवश्यमेवाऽकार्येषु संलगिष्यन्ति। अकार्यसंलग्नाश्चाऽनार्यीभूताः परस्परं मत्स्यवत् पीडयिष्यन्ति इति। तदेतत्कार्यव्यापारेण निवार्यते। अथ ये पङ्ग्वादयस्तेऽपि कार्येषु व्यापारणीयाः। तत्राऽपि ये हि यानि कार्याणि कर्तुं प्रभवन्ति तेषु कार्येष्वेव प्रवर्तनीयाः। ननु ये तावद्रोगिणो वार्धक्ये न वाऽशक्तास्तेऽपि यथाशक्ति व्यापारणीया एवाऽकार्येषु प्रवृत्तिस्तेषां माभूदिति। अथ च ये तावदुन्मादाऽपस्माराद्यसाध्यरोगैर्ग्रस्तास्ते तु कार्यकरणेऽत्यन्तमसमर्था इति तेभ्यो न कारयेदित्यादि ध्वनयितुमेवोक्तं यथाशक्तीति। शक्तिमनतिक्रम्य कारयेत्। एतेनाशक्तेभ्यो रभसा लोभाद् अन्यथा वा यथाकथंचित्कारणे राष्ट्रपरिषदि नियुक्तानां राष्ट्रनेतॄणां दण्ड्यत्वं बोध्यते। एवं सशक्तेभ्यश्चाकरणेऽपि दण्ड्यत्वं दोषित्वं तेन च नेतृपदस्थित्यनर्हत्वं बोध्यते। अत्रेदं चाऽवगन्तव्यम्—यैः किल पङ्ग्वादयः शरीरजन्मकालादारभ्यैव, एवं ये च रोगिणोऽपि तादृशास्ते खलु कथं कर्तुं शक्नुवन्ति कार्याणि। अथ च ते कार्याण्यकुर्वाणा एव लभेरंश्चेद्वृत्तिं तदा तान् दर्शं दर्शमन्येऽपि कार्यकरणपरिश्रममनिच्छन्तोऽपलापेनैव रोगिणो भूत्वा वृत्तिं गृह्णीयुरिति महत्यनवस्था

यथाशक्ति च तेभ्योऽपि राष्ट्रकार्याणि कारयेत्।
नानाविधानि शिल्पानि तेषां योग्यानि शिक्षयेत् ॥52॥

यथाशक्ति उन (पंगु-अन्ध व्यक्तियों) से भी राष्ट्र के कार्य करवाने चाहिए और उन्हें उनके योग्य अनेक प्रकार के शिल्प आदि की शिक्षा भी देनी चाहिए।

वृत्ति ग्रहण करने का उनका अधिकार है, जो राष्ट्रिय हैं। अतः सशक्त व्यक्तियों को तो उन-उन वृत्तियों में लगाना चाहिए, ताकि मात्स्य-न्याय न पनपे। भाव यह है कि जो लोग कार्यों में नहीं लगे होंगे, वे अवश्य ही अकार्यों में संलग्न होंगे। जो अकार्यों में संलग्न होंगे, वे अनार्य हो जायेंगे।

स्याद्राष्ट्रकार्यविषय इति चेन्नाऽयं तादृग्भीतिविषयः। मूषकभयेन गृहनिर्माणं कस्त्यजति। यूकाभयेन परिधानत्यागं वा कः करोति। सत्यं खलु निह्नोतुं शक्यं सर्वदा किं च राष्ट्रनेतारो नानाविधकार्यकरणाय नानाविधाः परिषदः स्थापयेयुरित्युक्तमेव पूर्वम्। तत्रैका परिषद्राष्ट्रियरोगिपरीक्षाया अपि स्थापनीयैव। ततश्च रोगिपरीक्षकैः परीक्षितानामेवान्तरेणाऽपि कार्यकरण वृत्तिलाभ इति न शक्यत एवं कर्तुं सर्वैः। यश्च तथाऽप्यनार्यतया करिष्यत्यवश्यकार्यं स विविधचारपरिषदा वक्ष्यमानो दण्डमपि प्राप्स्यत्येव। चारपरिषत् स्थापनमप्यग्रे वर्णयिष्यत एव। अथ ये पङ्ग्वादयः, ते शिल्पादिषु निपुणाः कार्याः। अयं भावः ये हि जन्मतः एव वधिराः मूकाश्च ते न विद्याध्ययनं कर्तुमर्हन्ति ते च कार्याणि कथं कुर्युस्तदर्थमाह—नानेति। ते हि तत्तयोग्यताऽनुकूलशिक्षया शिक्षणीयाः शिक्षयेदित्यत्र राष्ट्रपरिषत् इति शेषः। शिल्पं च कौशलमित्युच्यते। अयमर्थः—ये तावद्विद्याध्ययनाय प्रभवन्ति तेऽध्याप्याः, ये च शिल्पाऽध्ययनाय प्रभवन्ति ते शिल्पशिक्षाया शिक्षणीयाः। एतेन राष्ट्रे नानाविधिशिल्पशिक्षायै शिल्पशिक्षालयाः स्थापनीया इत्यपि ध्वनितम्। तत्राऽपीद बोध्यम् पङ्गूनां कृते पङ्गुशिक्षालयः, अन्धानां कृतेऽन्धशिक्षालयः वधिराणां कृते वधिर-शिक्षालयः मूकानां कृते मूकशिक्षालयः इत्यादि शिल्पशिक्षादीनां देशकालवस्तुवर्णाश्रमजात्यनुरूपं समस्तं राष्ट्रपरिषद्विविच्य कुर्यात्। एतत्सर्वमपि नानाविधानि योग्यानि चेत्यादिपदैरवगम्यते। सर्वथाऽपि तेषु तेषु यथायोग्यं साम्येन जीवनशक्तिमुत्पाद्य जीविकाव्यवस्थापनपुरःसरं राष्ट्रकार्याणि यथाशक्ति सर्वेभ्योऽपि कारयेदेवेत्यभिहितं भवति। एवं च राष्ट्रे राष्ट्रियमात्रस्य वृत्तौ स्वत्वेन सर्वेषामपि यथायथं वृत्तियोजनापुरःसरं राष्ट्रकार्येषु यथाशक्ति सर्वानपि राष्ट्रियान् व्यापारयन्ती राष्ट्रपरिषत् राष्ट्रहितं भावयेत्। अनार्यत्वं येनैव प्रकारेण विनश्येतार्यत्वं च समभिवर्धेत तथा प्रयतनीयं

जो पंगु-अंध हैं, वे जो भी कार्य कर सकते हैं, उन्हें उन कार्यों में लगाना चाहिए। जो रोगी हैं अथवा वृद्धावस्था के कारण अशक्त हैं, उन्हें भी तत्तत् कार्यों में लगाना चाहिए। ऐसा करने से उनकी अकार्यों में प्रवृत्ति नहीं होगी। उन्हें जो कार्य करने को दिया जाय, उनकी शक्ति के अनुरूप ही दिया जाय।

यदि ये अपंग लोग कार्य नहीं करते हुए वृत्ति प्राप्त करते रहेंगे, तो उन्हें देख-देख कर अन्य लोग भी कार्य करने में जो परिश्रम होता है, उससे बचना चाहेंगे तथा वे भी अपंग-रोगी बनकर वृत्ति ग्रहण करना चाहेंगे। इससे समाज में बहुत अधिक अव्यवस्था फैल जायेगी। अतः एक राष्ट्रीय रोगि-परीक्षा-परिषद

सर्वदा सर्वथा च महत्या राष्ट्रपरिषदा इति बोध्यते । वृत्तिराहित्यमेवाऽनार्यताबीजमिति । तत्सर्वथा परिहर्तव्यम् । भृतिश्चार्यताया विघातिनीति सा सर्वैरप्युपायैः परिहर्तव्यैव । एतेन राष्ट्रसमुन्नतिसाधनेषु राष्ट्रशासने सर्वादौ वृत्तिसंयोजनमेव राष्ट्रियाणां कार्यमिति राष्ट्रपरिषदः प्रथमं शासनसाफल्यकरं कार्यत्वेनाऽभिमतं कर्मेति प्रतिपाद्यते । तथैव भृतिवियोजनं च सममेव कार्यमित्यपि प्रतिपादितं भवति । अलमनेन ।।52।।

ये तस्य उचितवृत्तिलाभे, राष्ट्रकार्यकरणे च शक्ता, अथाऽपि भिक्षाशिनो भवन्ति ते दण्डनीया इत्याह—

भिक्षाशिनो दण्डनीया विहायात्मविचारिणः ।
अदम्भिनो बुद्धिमतो राष्ट्रसेवापरायणान् ।।53।।

भिक्षाशीति । अदम्भिनः–बुद्धिमतः राष्ट्रसेवापरायणान् आत्मविचारिणः—विहाय भिक्षाशिनः–दण्डनीयाः । इति पदयोजना ।

'अदम्भिनः'—दम्भः=बाह्याडम्बरं अस्ति येषां ते न भवन्ति ते अदम्भिनः मत्वर्थे इनिप्रत्ययः तान् । बुद्धिमतः—बुद्धिः=ज्ञानं प्रशस्तं येषां अस्ति ते तान् बुद्धिमतः प्राशस्त्येऽत्र मतुप् । कार्याऽकार्यनिश्चयवतः इति यावत् राष्ट्रसेवापरायणान्—राष्ट्रं=पूर्वलक्षणलक्षितं तस्य सेवा

की स्थापना की जानी चाहिए । रोगि-परीक्षकों द्वारा परीक्षित रोगियों को ही सुविधा दी जानी चाहिए । इस प्रकार सभी अनुचित लाभ नहीं उठा पायेंगे । यदि कुछ अनार्य ऐसा करेंगे, तो दण्ड के भागी होंगे । वक्ष्यमाण चार परिषत् (दूत परिषत्) इसमें सहायक सिद्ध होंगे ।

पंगु आदिकों को शिल्पकला में निपुण करवाना चाहिए । जो जन्म से ही बधिर और मूक हैं, वे विद्याध्ययन आदि नहीं कर पाते है, वे कार्य कैसे करेंगे ? अतः उनके योग्यशिल्प आदि की शिक्षा-व्यवस्था ही उनके अनुकूल होगी । अतः राष्ट्रिय लोगों को इनके लिए शिल्पशाला आदि की व्यवस्था करनी चाहिए । यथाहि पंगुशिक्षालय, अन्ध-शिक्षालय, बधिर-शिक्षालय, मूक-शिक्षालय आदि की स्थापना तत्तद् रोगियों के लिए की जानी चाहिए ।

इस प्रकार यथोपयुक्त वृत्तियोजनापूर्वक सभी राष्ट्रियों को राष्ट्र-कार्य में लगाते हुए राष्ट्र-परिषत् को राष्ट्रहित करना चाहिए । ऐसे उपाय भी करने

सर्वतोभावेन तद्धिताचरणं तत्र परायणाः=तत्पराः तान् 'आत्मविचारिणः'—आत्मनः समस्तवस्तुनिदानभूतस्य वास्तवस्य सर्वत्रौतप्रोतभावेन विराजमानस्य 'विचारः'=विज्ञानं अस्ति येषां ते मत्वर्थे इनिः। अथवा आत्मानं विचारयितुं शीलमस्ति येषां ते आत्मविचारिणः ताच्छील्ये णिनिः। विहाय=त्यक्त्वा 'भिक्षाशिनः' भिक्षां= याचितमन्नपानादि अशितुं भोक्तुं शील=स्वभाव. येषां ते भिक्षाशिनः 'दण्डनीयाः'=दण्डयितव्याः। इति।

अत्रेदमाकूतम्- मनुष्यमात्राणां खलु स्वस्वराष्ट्रे तावद्वृत्तौ स्वत्वेन नानाविधा वृत्तयो भवन्ति। तत्र स्वातन्त्र्येण वर्तनं वृत्तिरित्युच्यत इत्युक्तम्। पारतन्त्र्येण च वर्तनं भृतिरित्युक्तम्। वृत्तिभेदेषु भिक्षाऽपि वृत्तिरेवैका। अयं भावः—जीवनसाधनानि सर्वाण्यपि वृत्तय एव तासु भिक्षा खलु निःस्वैरेव क्रियते। येषां च स्वमस्ति, ते न निःस्वा इति तैर्न भक्षितव्यम्। इयं च निन्दिता वृत्तिः। यद्यपि भृत्यपेक्षयाऽत्र स्वातन्त्र्यमस्ति तथाऽपि वृत्तिषु तु निन्द्यत्वमेवास्या इत्येतया न वृत्तिः कार्या। एतां ये वृत्तितया उपयुञ्जन्ति ते दण्डनीयाः। एतदेव ज्ञापयितुं ताच्छील्ये णिनिः प्रयुक्तः। तेन यदा कदाचिदापत्तिसमये तथा करणे न दोषः इति बोध्यते। एतस्या निन्द्यत्वं मनुना प्रतिपादितम् -'मृतं तु याचितं भैक्षम्' — (मनु 4।5)। अथवैवं व्याख्येयम् — भिक्षा= याचितं आशः=भोजनाच्छादनादिभोगः नित्यत्वेन अस्ति येषां ते,

---

चाहिए, ताकि अनार्यत्व का विनाश हो सके। वृत्ति-विहीनता अनार्यता का बीज है, उसे दूर करना चाहिए। आर्यता को विनष्ट करने वाली भृति का भी सर्वथा परिहार करना चाहिए। इस प्रकार महती राष्ट्रपरिषद् को सर्वदा आर्यत्व की वृद्धि एवं अनार्यत्व के अपचय के सम्बन्ध में विचार करना चाहिए।

जो राष्ट्र का कार्य करने में समर्थ होते हुए भी भिक्षा खा कर जीवन-यापन करते हैं, उन्हें दण्ड देना चाहिए—इस सन्दर्भ में निरूपण किया जा रहा है :—

भिक्षाशिनो दण्डनीया विहायात्मविचारिणः।
अदम्भिनो बुद्धिमतो राष्ट्रसेवापरायणान् ।।53।।

जो दम्भरहित हैं, बुद्धिमान् हैं, राष्ट्रसेवा में लगे हुए हैं और आत्मविचार में लगे हैं, इनके अतिरिक्त जो भी भिक्षा लेकर जीवन-यापन कर रहे हैं, उन्हें दण्ड दिया जाना चाहिए।

अशनं आशः, अश भोजने ततो भावे घञ्। ततो निन्दारूपे मत्वर्थे इनिः। इदं च बोध्यम्—परराष्ट्रे तावत् स्वत्वाऽभावेन भिक्षाशिनः परराष्ट्र-जाता अपि दण्डनीयाः। स्वराष्ट्रे च निःस्वत्वाऽभावेन दण्डनीयाः परन्तु न सर्वे ते इत्यपवादभूतानाह—विहायेत्यादि। ये तावदात्मविचारिण आत्मविज्ञानिनः। ते भिक्षाशिनोऽपि न दण्डनीयाः। चर गतिभक्षणयोः ततो भावे घञ् चारः=ज्ञानं ये गत्यर्थास्ते ज्ञानार्थाः इति नियमात्। विशिष्टश्चारो विचारो यथेष्टं भावनिर्माणशक्तिरूपः, विज्ञानमिति यावत्, आत्मनः—सच्चिदानन्दकन्दस्य वस्तुनः विज्ञानमस्ति येषां ते मत्वर्थे प्राशस्त्ये इनिः। आत्मविज्ञानादधिकं न किमपि श्रेष्ठं वर्तत इति सर्वेषामपि विदुषां विदितमेव। आत्मविज्ञानविषयमधिकृत्य सर्व-मपि सुनिरूपितं स्तुतभाष्यकृतैवात्मविलासे तद्व्याख्यायां चेति तत एवाऽवलोकनीयम्। अथ चात्मानं विचारयितुं=विवेचयितुं शीलं स्वभावो येषां ते तान् आत्मविवेकपरायणानित्यर्थः। एतेन त्यक्तसांसा-रिकवासनानां विरक्तानामात्मविदुषां, आत्मविविदिषावतां वा न भिक्षाशित्वे दण्ड्यत्वमिति बोध्यते। यतः खलु शरीरमात्रधारणपर्याप्त-भोजनाच्छादनपर्याप्तमैहिकसमस्तपदार्थविरक्ततया याचतो न पापले-शोऽपि भवति। प्रत्युताऽऽत्मज्ञानसम्पन्नतया तत्सेवनादेव समस्तलोक-कामना पूर्तिसम्भवः। अत एवैतादृशः पुरुषानुद्दिश्य भगवद्गीतास्व-प्युक्त--

'शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।' (भ.गी. 4।21)

बाह्य आडम्बर के बल पर जो लोगों को प्रभावित कर लेते हैं, वे दम्भी कहलाते हैं। प्रशस्त बुद्धिवाले व्यक्ति बुद्धिमान् कहलाते हैं। मांगे हुए अन्न-पान आदि को खाने का जिनका स्वभाव पड़ गया है, वे भिक्षाशी (भिक्षुक) कहलाते हैं।

वृत्तियां अनेक प्रकार की होती हैं। स्वातन्त्र्यपूर्व व्यवहार वाली वृत्ति तथा पारतन्त्र्य के व्यवहार वाली वृत्ति भृति कहलाती है। ध्येय हैं कि वृत्ति के भेदों में भिक्षा को भी एक वृत्ति कहा गया है। जीवन-यापन के सभी साधन भृति कहलाते हैं। जिन के पास धन नहीं होता है, वे भिक्षा करते हैं। इस भिक्षा-वृत्ति को निन्दितवृत्ति कहा गया है। किन्तु जो कुछ विशिष्ट गुणों से युक्त

अथ चेदं वोध्यम्—स्वकीयं किमस्वकीयं किमिति विचारयितुं शीलं येषां तेषां राष्ट्रे कस्तावद्राष्ट्रं स्वकीयं मनुतेऽथ च कः परकीयं मनुत इति विचारयितुं विशेषेण ज्ञातुं शीलं येषां ते चारपदे नियुक्ताः राष्ट्रपरिषदा तान्, आत्मगोपनाय भिक्षाशिनो न दण्ड्यत्वम्। अय भावः—चाराणां नानावेषधरतया स्थानात् स्थानान्तरं पर्यटतां राष्ट्रहिताऽहितचिन्तकानां विज्ञानाय जातु भिक्षाशित्वमपि सम्भवति सन्न्यासिवेषधारणेनाऽतो न दण्ड्यत्वं तेषामिति। अथाऽपि ते चेददम्भिनः दम्भः=कपटं सोऽस्ति येषां तथा न चेत्स्युस्ते। अयं भाव —राष्ट्रे ये तावदात्मविचारिण इति प्रच्छन्नतया प्रकटतया वा प्रथिता. ते चदम्भिनो भिक्षाशिनश्च तदा दण्डनीयाः। परिश्रमे आलस्येन लोभाद्वा, ये भिक्षाशिनो भवन्ति, आत्मविचारिणां चाऽदण्ड्यत्वमवगम्य तदीयं वेषादिकं कपटेन धारयित्वा ये भिक्षाशिनो भवन्ति ते दण्ड्या एव। अत्रेदं बोध्यमेव ये तावत्सांसारिवस्तुजाते वैराग्यं नाटयन्तो दम्भेन कामार्थलोलुपा भिक्षाशिनो भवन्ति ते दण्डनीयाः। एवमेव राष्ट्रहिताऽहितज्ञानाय विचरतां नियुक्तानामनियुक्तानां वा चाराणां कपटेनाऽनुकुर्वाणानां दण्ड्यत्वमेवेति। अतश्च परिषद इदमवश्यमालोचनीयं यदेते भिक्षाशिन आत्मविचारिणो वस्तुतो वाऽवस्तुतो वा वस्तुतस्तु न दण्ड्या दम्भिनश्च दण्ड्या एव। अथ च बुद्धिमतो विहाय। बुद्धिः कार्याऽकार्यज्ञाननिश्चयो ऽस्ति

विचारशील व्यक्ति राष्ट्रसेवा में लगे हुए हैं, उनके अतिरिक्त व्यक्ति यदि भिक्षा कर के जीवन-यापन कर रहे हैं, तो वे दण्डनीय हैं। जैसे जो न संसार-त्यागी हैं और न दूत-वे भी यदि भिक्षाटन करते दिखें, तो दण्ड दिया जाना चाहिए।

सच्चिदानन्द कन्द रूपी वस्तु का विज्ञान ही आत्मविज्ञान है। आत्मविज्ञान से अधिक श्रेष्ठ वस्तु इस जगत् में और कुछ नहीं हैं, विद्वान् लोग ही इस रहस्य को जानते हैं। शरीरमात्र को धारण करने के लिए समस्त पदार्थों में विरक्त भाव होने से, याचना करने पर पाप का लेशमात्र भी नहीं होता है। प्रत्युत आत्मज्ञानसम्पन्न होने से, उस भोजन के सेवन से समस्त लोक की कामना की पूर्ति ही होती है। गीता में भी कहा है कि :—

संयत, त्यागी और आशारहित पुरुष केवल शरीर सम्बन्धी कर्म करता हुआ भी पाप को नहीं प्राप्त होता है—"शरीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्"।

येषां ते तान् विहाय । अयमाशयः—ये हि न त्यागिनः संसारस्य, न च चारपुरुषाः, ते चेत्कदाचिद्भिक्षाशितया दृष्टिपथमीयुस्ते न दण्ड्याः। यतः खलु बुद्धिमतामकार्यकरणं न सम्भवति। किं तु तत्कारणं गवेषणीयम्। तेऽपि दम्भिनस्तु दण्ड्या एव। एवं ये राष्ट्रसेवापरायणाः राष्ट्रस्य हि पूर्वोक्तलक्षणस्य सेवा विविधा भवन्ति, तासु ये तत्पराः, तेऽपि भिक्षाशिनश्चेद्दृष्टपथमवतरेयुस्तेऽपि न दण्ड्याः। अयमाशयः—समस्तेष्वपि भिक्षाशिषु वृत्तिहीनतया भिक्षाशिनो बुद्धिमन्तो, राष्ट्रसेवापरायणा आत्मविचारिणः संन्यासिनश्चाराश्चाऽदम्भिन एव न दण्डनीया दम्भिनश्च पुनः दण्डनीया एव। अथ च तेऽदम्भिनः सवृत्तिकाः कार्याः तत्राऽपि ये संन्यास्यादयो न वृत्तिं भिक्षाऽतिरिक्तां स्वीकुर्वन्ति निर्लोभतया यथेच्छं च बुद्धिमत्तया राष्ट्रसेवापरायणतया वा ते न कदाऽपि दण्डनीया भिक्षाशिनोऽपि। अथ च नियुक्ता राष्ट्रपरिषदा गूढं विचरितुं तेऽपि भिक्षाशिनो न दण्डनीयाः। इदं च बोध्यम्—भिक्षावृत्तिः किलौचित्येन स्थापनीयैव, चारादिसञ्चारायाऽऽत्मविचारिणां च कृते। विशिष्टप्रकारकराष्ट्रसेवापरायणानां कृते प्रशस्तबुद्धिमतां चार्थे। एतेषां परीक्षणं तु सर्वदा परिषदा गूढप्रणिधिभिः कर्तव्यमेव। परीक्षणाऽभाव दम्भिनां प्रवेशो भवेदिति। अथ चैतद्दण्डनाऽभावे भिक्षा-

---

जो लोभ-कपट आदि के द्वारा भिक्षा ग्रहण करते हैं, उन्हें दण्डित करना चाहिए। समस्त भिक्षाग्रहण करने वालों में जो दम्भी नहीं हैं, जो बुद्धिमान् हैं, जो राष्ट्रसेवापरायण हैं, जो आत्मविचारी हैं, चार (गुप्तचर) हैं—इन्हें दण्ड नहीं देना चाहिए। इनका परीक्षण करते रहना चाहिए।

अदम्भित्व के ज्ञान के लिए गूढ़प्रणिधिविभाग की स्थापना की जानी चाहिए—

नानावेषाः शुद्धहृदो राष्ट्रिया राष्ट्रशिक्षिताः।
चाराः सर्वत्र संस्थाप्या अभृत्या राष्ट्रियैः शुभाः ॥54॥

राष्ट्रभक्त प्रशासकों द्वारा अनेक प्रकार के वेष धारण करने वाले, शुद्धहृदय वाले, अभृत्य, शुभलक्षण वाले, राष्ट्रियशिक्षित राष्ट्रिय चारों (गुप्तचरों) को स्वराष्ट्र तथा परराष्ट्र सर्वत्र संस्थापित किया जाना चाहिए।

मश्नुवानो लोकोऽकर्मण्यतामागत्य नानाविधं राष्ट्रस्याऽहितमाचरन् राष्ट्रं परतन्त्रयत्यन्ते। इदं च बोध्यम्—ये तावद्राष्ट्रसेवापरायणास्त एव भिक्षाशिनोऽदण्डयाः। अयं भावः परराष्ट्रोद्भवा अप्यार्यराष्ट्र-वादिनो न कदाऽपि किमपि स्वं परं वा राष्ट्रं घातयन्ति, ते एव भिक्षा-शिनोऽपि न दण्ड्याः। ये च न तथा किन्तु स्वस्वराष्ट्रसेवापरायणा स्ते पुनः स्वस्वराष्ट्र एव भिक्षाशिनोऽदण्ड्याः। परपरराष्ट्रे च भिक्षा-शितायां दण्डनीया एव। एवमेव बुद्धिमतामपि दण्ड्याऽदण्ड्यत्वं बोध्यम्। एवं संन्यासिनोऽप्यात्मज्ञाननिष्ठानां विषये बोध्यम्। चारास्त्वऽदम्भिनोऽपि राष्टान्तरजा दण्डया एव। तेषां हि भिक्षा-शित्वाऽभावेऽपि दण्ड्यत्वं भवति। राष्ट्रघातित्वादेवेत्यपि बोध्यमेव। अलमनेन।53॥

अदम्भित्वादिज्ञानाय गूढप्रणिधिविभागस्याऽऽवश्यकता भवति। अतस्तद्विषये वक्तुकाम आह—

नानावेषाः शुद्धहृदो राष्ट्रिया राष्ट्रशिक्षिताः॥
चाराः सर्वत्र संस्थाप्या अभृत्या राष्ट्रियैः शुभाः॥54॥

नानावेषा इति। नानावेषाः—शुद्धहृदः — राष्ट्रशिक्षिताः—राष्ट्रियाः—अभृत्याः—शुभाः—चाराः—राष्ट्रियैः—सर्वत्र—संस्थाप्याः। इति पदयोजनिका।

राष्ट्र में अनन्त वस्तुओं का समूह होता है। इस समस्त वस्तुओं का उप-योग विज्ञानाधीन होता है। सभी जीवलोक हित की ही कामना करता है अहित का नहीं। यदि सर्वदा हित नहीं होता है, तो उसमें विज्ञान का अभाव ही समझना चाहिए। प्रत्येक पदार्थ से हितसाधन किया जा सकता है। समस्त हित के लिए राष्ट्रज्ञान की विचक्षणता है और महापरिषत् की स्थापना आव-श्यक है। अनार्य भाव का आधिक्य हो जाने पर उसका शोधन आवश्यक है।

व्यवस्थित वृत्ति प्राप्त कर लेने पर भी अनार्य लोग आर्यों के मार्ग पर कांटे ही बोते हैं तथा अनार्यों को भी कष्ट पहुंचाते हैं। ऋण, रोग तथा शत्रु से सावधान ही रहना चाहिए। साधु और असाधु को जो अपने बुद्धि-कौशल से जानते हैं, वे ही चार (दूत) हैं। वे प्रकट-अप्रकट अनार्यों को अनेक प्रकार के उपायों

'नानावेषाः'—नाना=अनेके वेषाः=नेपथ्यानि येषां ते 'शुद्धहृदः' =शुद्धानि=निष्कपटानि हृन्दि=हृदयानि येषां ते राष्ट्रशिक्षिताः—राष्ट्रस्य=पूर्वलक्षणलक्षितस्य शिक्षा=विद्योपादानं सा सञ्जाता येषां तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच्" (पा सू. 5/2/36) इतीतच् । राष्ट्र-ज्ञानविचक्षणा इति भावः। 'राष्ट्रियाः'=राष्ट्रस्य चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धिनः 'अभृत्याः—भृत्याः=वेतनग्रहणपूर्वकं कर्मकारिणो न भवन्ति ते वृत्तिला इति भावः ।'शुभाः'=शोभनाः 'चाराः=गूढपुरुषाः 'सर्वत्र'=स्वराष्ट्रे परराष्ट्रेषु च 'संस्थाप्याः' = सम्यक्=समुचितप्रकारेण स्थाप्याः=स्थापनीयाः । अत्रेदमाकूतम् — राष्ट्रे तावदनन्तवस्तूनां निचयो भवति । तत्र च तेषां समस्तानां वस्तूनामुपयोगोऽपि विज्ञानाऽधीनः । विज्ञानेन हि कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं शक्यते । तत्राऽपि सर्वोऽपि जीवलोको हि तमेवाकाङ्क्षते नाऽऽहितमिति निसर्गः । सर्वदा हितं न भवतीति तु पूर्णतया विज्ञानस्याऽभावमेव बोधयति । पदार्थमात्रेण हितं साधयितुं शक्यते, परन्तु तद्विज्ञानेऽस्त्येवेति निर्णीतमेव । अतः समस्तकल्याणाय राष्ट्रज्ञानवैचक्षण्यमावश्यकमिति पूर्वं निरूपितं तत्प्रयोगेण च समस्तराष्ट्रकल्याण कर्तुं शक्यते । तत्प्रयोगाय च सर्वतः पूर्वं महापरिषत्स्थापनमावश्यकमिति पूर्वमुक्तम् । तत्सर्वमपि राष्ट्रनेत्र-धीनमिति तन्निरूपणमपि विहितम् । तेषां प्रथमं कर्तव्यं प्रयोगे समस्त-

---

से प्रतिबोधन देते हैं और व्यवस्था बनाये रखते हैं । अपने राष्ट्र में सर्वत्र गांव-गांव में अथवा राष्ट्रान्तर में भी चारों को (गुप्तचरों को) स्थापित करना चाहिए। उन्हें वृत्ति भी देनी चाहिए । चारों का प्रच्छन्न रहना आवश्यक है । यदि वे सर्वदा एक ही वेष धारण करेंगे, तो लोग उन्हें जान जायेंगे । जब लोग उन्हें जान जायेंगे, तो वे गुप्तचर का कार्य कैसे करेंगे । यहां वेष शब्द न केवल वस्त्रादिधारण की कुशलता को बोध कराता है, अपितु उन-उन वर्णाश्रम जातिवालों को समस्त अनुकरण-कौशल का बोध कराता है । समस्त वर्णाश्रम-जातिवाले स्त्री-पुरुष चार (गुप्तचर) हो सकते हैं । चार बन सकना मनुष्यमात्र का अधिकार है । उन-उन वर्णाश्रम जातिगत गुण-दोष का परीक्षण करने के लिए सभी प्रकार के वेष धारण करने का कौशल आवश्यक है । वेष शब्द यहां केवल वस्त्रादि धारण के कौशल के लिए नहीं है, वह वर्ण, आश्रम जातिगत अनुकरण के कौशल का भी बोध कराता है । अतः गुप्तचरों में वर्ण, आश्रम, जाति, स्त्री-पुरुष आदि का नियम नहीं है । सम्बद्ध वर्ण आश्रम जाति गत गुण और दोषों

राष्ट्रियाणां वृत्तिव्यवस्थापनं भृति-विनाशनं चोक्तम्। तत्राऽपि आर्यं-योगक्षेमस्यानार्याऽयोगाऽक्षेमस्य च समस्तकल्याणसारत्वात्तस्य च ज्ञानं चारपुरुषानन्तरेणाऽशक्यत्वात्तद्विषयेऽवश्यमेव निरूपयितव्यमित्यस्याः कारिकाया आरम्भः। लोक खलु युगह्रासक्रमेणाऽवरोहन् नीचैः नीचैरेवाऽनार्यभावमायाति। तत्राऽनार्यताया आधिक्ये तच्छोधनस्याऽत्यन्तमावश्यकताः भवति। अनार्याः खलु व्यवस्थितवृत्तिमन्तोऽपि निजाऽनार्यत्वभावेनार्याणां जुष्टे पथि कण्टकीभूता पदानि विध्यन्तः पद्यतामुपगच्छन्ति न केवलमेतदेव, वाऽरुन्तुदोऽनार्यानपि सर्वदेमे तुदन्त्येवेति तेषामेषां शोधनं सर्वादावावश्यकमेव। एते खल्वनार्याः दम्भेन. नानाविधतामवगाहमाना उपर्यार्यभावं प्रदर्शयन्तः प्रतारयन्त्यार्यानन्तरनायजालमता परिपूरिताः। अत एषां पर्येषणाया विनार्यत्वाऽनार्यत्वनिर्णयः सम्भवति। तमन्तरेण चाऽनुग्रहीतुं वा निग्रहीतुं वा न शक्यो लोकः। स्वल्पो वाऽपि महान् वाऽप्यनार्यस्तावदनार्य इत्येवारुन्तुदतयाऽऽर्यान् बाधत इति दण्ड्य एव। ऋणरोगशत्रुविषयेऽतीव सावधानताया अपेक्षा वर्तते इति महती पर्येषणाया आवश्यकता भासते। साच प्रकटरूपेण क्रियमाणा स्थूलतां प्रयान्ती । साफल्यमेत्यनार्याणां संशोधने। अतो विशेषतः सूक्ष्मतया संशोधनस्याऽऽवश्यकता समस्ति तदुपायश्च चारसंस्थापनमेव सर्वत्र। चरन्ति ते चराः त एव चाराः स्वार्थिकः प्रज्ञाद्यण्। चर गतिभक्षणयोः। चरन्ति=गच्छन्ति स्थानात् स्थानान्तरमार्यानार्यपर्येषणार्थम्। अथ च–चरन्ति=जानन्ति साध्वसा-

---

के परीक्षण के लिए वेष-धारण कर कौशल आवश्यक है। साथ ही उस चार को अनेक भाषाओं का मर्मज्ञ होना चाहिए। उसे अनेक कलाओं में कुशल होना चाहिए। अनेक प्रकार के दूत कार्य में निपुण होना चाहिए। गमनागमन में जो श्रम होता है, उसे सहन करने वाला होना चाहिए। साहसी शूर और दृढ़ होना चाहिए। यदि चार ही कपट कर्म करने लगेंगे, तो उनके अनार्य हो जाने से राष्ट्र का विनाश हो जायेगा। चारों का शुद्धहृदय होना आवश्यक है। उनके शुद्धहृदय होने पर ही राष्ट्र का कल्याण सम्भव है।

जो भद्रनीतिप्रधान होने से स्वकीय वैयक्तिक मानापमान, सुख-दुःख, मित्र-अरि, राग-द्वेषादिद्वन्द्व को जानने से समस्त द्वन्द्व को वश में करके समस्त कल्याण के लिए प्रयत्न करते हैं—वे ही शुद्ध हृदय वाले हो सकते हैं। इस

धून् स्वबुद्धिकौशलेन ते ये गत्यर्थास्ते ज्ञानार्था धातवः इति नियमात् । ते एव चाराः । अथवा चारयन्ति=ज्ञापयन्त्यार्यानार्यांस्ते चाराः, अथ च चारयन्ति परिषदम् आर्या इमेऽनार्या इति ते । अयं भावः- प्रकाशान् वा प्रच्छन्नान्वाऽनार्यान् ये नानाविधैरुपायैः परीक्ष्य परिषदं बोधयन्ति वृत्तिव्यवस्थापनाय ते सर्वत्र समस्तराष्ट्रे । सर्वशब्दोऽत्र निरवच्छिन्न इति विज्ञातसमस्तभूभागे यथाशक्तीति बोध्यते । परिषदा इति शेषः । राष्ट्रनेतृपरिषदा स्वराष्ट्रे सर्वत्र ग्रामे ग्रामेऽथच राष्ट्रान्तरेष्वपि यथाशक्यं सर्वत्र पूर्वोक्ताश्चाराःसंस्थाप्याः सम्यक् स्थापनीयाः वृत्तिदानपुरःसरम् । ते च प्रकटा भवेयुश्चेत् न पर्येषणा तादृशी भवतीति तेषां प्रच्छन्नत्वमावश्यकमित्युक्तं । नानावेषा' इति । नाना=अनेके वेषाः= नेपथ्यानि येषां ते । अयमभिप्रायः—एकवेषत्वे सर्वदा लोकः परिचिनोति परिचिताश्च न पर्येषणायां सफला भवन्ति किं च नानावेषधरा इत्यनेन पर्येषणोपयुक्तनैकवेषधारणकौशल्यमेषामावश्यकमिति द्योतितम् । अथ च वेषशब्दोऽत्र न केवलं वस्त्रादिधारणकौशलं बोधयति, किंतु तत्तद्वर्णाश्रमजातिमतां समस्तानुकरणकौशलं बोधयति । एतेन चाराणां वर्णाश्रमजातिस्त्रीपुंस्त्वस्य न नियम इति बोध्यते । तेन समस्तवर्णाश्रमजातिमन्तः स्त्रीपुंससाधारणाश्च चाराः भवितुमर्हन्तीति व्यज्यते । सर्वथाऽपि मनुष्यमात्राणामधिकारोऽत्रेति । तत्तद्वर्णाश्रमजातिगतगुणदोषपरीक्षणाय समस्तवेषधारणकौशलमतीवावश्यकम् । तदन्तरेण तेषु

प्रकार के चार ही राष्ट्र के चक्षु रूप होते हैं । चाररूपी आंखों से देखने वाला राष्ट्र कभी भी पराभव को, दुःख और शोक को प्राप्त नहीं होता है । राष्ट्रशिक्षा के बिना नानावेशवत्त्व एवं शुद्धहृदयत्व नहीं हो सकता है । राष्ट्रज्ञान की विचक्षणता के बिना चारकर्म में कुशलता प्राप्त नहीं हो सकती है ।

राष्ट्र-नेता भी दो प्रकार के होते हैं—नियुक्त एवं अनियुक्त । अराष्ट्रियों के द्वारा नियुक्त चार (गुप्तचर) हानिकर होते हैं ! अतः उन्हें स्वराष्ट्र से निकाल देना चाहिए । चारों को शुभ गुणयुक्त भी होना चाहिए । अर्थात् धर्म-अर्थ करने आदि से परीक्षित होने चाहिए । यदि परीक्षित नहीं होंगे तो व्यसन आदि में असक्षम हो जाएगें और असफल सिद्ध होंगे । वे शरीर और आकार से भी शुभ हो । उनका शरीर भी आकृत्या प्रभावशाली होना चाहिए, जिससे लोग उनके

तेषु प्रवेशाऽभावेन तत्तद्विज्ञानं न सम्भवति । अत्रेदं बोध्यम्—वेषशब्दोऽत्राऽनुकरणपरः तेन चाराणामनेकभाषाकोविदत्वम्, अनेककलाकुशलत्वम्, अनेकाऽऽचारविचारपण्डितत्वं चाऽवश्यकमिति बोध्यते । चारशब्देन गमनाऽऽगमनायाससहिष्णुत्वं, दृढत्व, साहसिकत्वं, शूरत्वं चात्रश्यकमिति ध्वन्यते । किं चैत एव कपटिनश्चेत्तदा राष्ट्रस्य विनाशः स्यादनार्यत्वादेतेषाम् । अतस्तत्परिहारायाह—शुद्धहृद इति । शुद्धं = पूर्णार्यभावभरितं हृत्=हृदयं येषां ते । अयं भाव—रक्षक एव चद्भक्षको भवेत् तदा समायातं रसातले समस्तन समुन्नतिजातेनेति शुद्धहृद इत्युक्तम् । शुद्धे हृदये राष्ट्रकल्याणमन्यथा विपरीतमेव फलम् । ये केवलं सर्वदा सर्वतोभद्रनीतिप्रधानतया स्वकीयवैयक्तिकमानाऽपमानसुखदुःखमित्राऽरिरागद्वेषादिद्वन्द्वविज्ञतया समस्तमपि द्वन्द्वजातं वशीकृत्य समस्तकल्याणाय यतन्ते त एव शुद्धहृद इत्युपदिश्य प्रस्तुतभाष्यकृता । एवं च वाहयता परिपूर्णकपटविज्ञान वैचक्षण्यमन्ततश्चातीव शुद्धत्व विवक्षितं चाराणाम् । यत एतादृशा एव चाराः सर्वथा राष्ट्रस्य चक्षूरूपा भवन्ति । तैश्च चक्षुर्भिः पश्यद्राष्ट्रं तदनुकलं च निग्रहाऽनुग्रहनिर्णयमाचरन् तत् कदाऽपि न पराभव वा दुःख वा शोक वा प्राप्नोति प्रत्युत सर्वत्र विजयि, समस्तानां प्रेमास्पदीभूतं, सर्वत्र शान्तिस्थापनासमर्थामिहाऽमुत्र च पुण्यलोकतामवगाहमानं यथार्थतो राष्ट्रपदाथमनुभवति । त एवऽङ्गुणगणोपेता राष्ट्रिया एव भवन्ति स्वराष्ट्र विषय इत्युक्तं राष्ट्रिया इति । राष्ट्रियाश्चतुर्विधसम्बधेन सम्बन्धिनां राष्ट्रस्येति तु बहुवारमुक्तमेव । अत्र "एङः पदान्तादति" (पा सू. 6/1/109) इत्यनेन पूर्वरूपमाश्रित्य 'अराष्ट्रिया' इत्यादि पदं च्छित्वा व्याख्येयेयं

रूप, सौन्दर्य, लावण्य से मुग्ध होकर वास्तविक वृत्त का उद्घाटन कर दें । राष्ट्र की उन्नति साधन में चारों का महत्त्वपूर्ण योगदान है । अतः राष्ट्रनेतादि को इस ओर अधिक प्रयत्न करना चाहिए । ऐसा प्रयत्न करने पर राष्ट्रनेतृ-परिषद् में नियुक्त जनों को दण्डित किया जाना चाहिए । नियुक्त गुप्तचर, आर्य हों या अनार्य, अपनी नियुक्ति के अनुसार कार्य करते है या नहीं, इसकी समीक्षा करने के लिए निगूढ गुप्तचर भी स्थापित किये जाने चाहिए ।

उपर्युक्त लक्षणों से रहित व्यक्तियों को चार के पद पर नियुक्त नहीं करना चाहिए । चार यदि जानबूझ कर प्रमाद, आलस्य और व्यसनितावश

कारिका । तेनाऽराष्ट्रिया अपि चारेषु सङ्गृह्यन्ते । तत्राऽयं विवेकः-तत्र तत्र राष्ट्रे ते ते राष्ट्रियाश्चारत्वेन संस्थाप्याः । आर्यराष्ट्रवादित्व एव सम्भवत्येतत् । आर्यराज्यवादित्वेऽपि किंचित्सम्भवत्येतत् । अनार्यपुं-स्त्रीयुगे तु सर्वत्र राष्ट्रिया एव चाराः सम्भवन्तीति यथायोग्यं राष्ट्र-ज्ञानविचक्षणैःसह्यमेव । किं च नानावेषवत्त्वं शुद्धहृत्त्वं च न राष्ट्रशिक्षा-मन्तरा सम्भवतीति तदाह राष्ट्रशिक्षिता इति । राष्ट्रस्य=पूर्वलक्षण-लक्षितस्य शिक्षा=अध्ययनं सा सञ्जाता येषां ते राष्ट्रशिक्षा तु पूर्वं वर्णितैव । राष्ट्रज्ञानवैचक्षण्यं विना खलु न चारकर्माण कौशलं प्राप्तुं शक्यतेऽथ च शुद्धहृत्प्राप्तिरपि न सम्भवति । अथ च सर्वत्र । देशकाल-वस्तुष्वनाच्छिन्नभावेन संस्थाप्याः । अयं भावः– तत्तज्जातिषु तत्तद्वर्णेषु च सर्वदा तेषु तेषु देशेषु च सस्थाप्याः, अथ चैते भृत्यत्वेन न स्थाप्याः । भृत्यत्वं राष्ट्रकार्यवहिर्मुखं करोति नरमिति तदतीव दोषाकरमिति निन्द्यमेव । अत एवाऽभृत्या एवेति नियम्यते तेन वृत्तिलाः स्थापनीया इति गम्यते भृत्यविरुद्धा अभृत्याः, विरोधेऽत्र नञ् । सम्यक् स्थाप्याः । स्थापने सम्यक्त्वं समुचितवृत्तिप्रदानं ध्वनयति । अथ च सर्वमप्येतत्स्था-पनं राष्ट्रियैरेव कर्तव्यं नाऽराष्ट्रियैरिति बोधनायोक्तं राष्ट्रि-यैरिति । ननु राष्ट्रपरिषदि राष्ट्रियाणामेव सत्त्वात्तेषामेव नियुक्तत्वात्पुनरपि राष्ट्रियैरिति वृथैव किमित्युक्तमिति चेन्न । अत्रैतस्य सदभिप्रायत्वात् । सोऽयमभिप्रायः—यथा राष्ट्रनेतृतया तत्तत्परिषत्सु नियुक्तै राष्ट्रनेतृभिश्चाराः संस्थाप्यन्ते तथा परिषत्सु

त्रुटि करे, तो उन्हें दण्ड देना चाहिए । यदि भाग्य के विपरीत होने से ही उनसे कोई त्रुटि हो जाय, तो क्षम्य हैं ।

चार-व्यवस्था में इधर-उधर सन्देश पहुंचाने की नितान्त आवश्यकता होती है—अब इस सम्बन्ध में विचार किया जा रहा है—

विधेया योजना यत्नात् शीघ्रसन्देशहारिणी ।
नैकयन्त्राविष्करणैरप्रमत्तैस्तु राष्ट्रियैः ।।55।।

अप्रमत्त राष्ट्रियों को अनेक प्रकार के यन्त्रों का आविष्कार कर शीघ्र सन्देश पहुंचाने वाली योजना यत्नपूर्वक बनानी चाहिए ।

नियुक्त्यभावेऽपि राष्ट्रहितचिन्तकतयाऽन्यैरपि राष्ट्रियैरनियुक्तैरपि परिषदो निदेशाऽभावेऽप्यनिषिद्धतयाऽनुमततया संस्थाप्या इति बोधनाय राष्ट्रियैरित्युक्तं सार्थकम् । किं च राष्ट्रनेतारोऽपि द्विविधा भवन्ति केचिन्नियुक्ताः केचिच्चाऽनियुक्ताः । तत्र नियुक्तानां चारनियोजनाऽभावे दण्ड्यत्वमनियुक्तानां चैच्छिकविकल्पतया सस्थापने पुण्यश्लोकविशेषत्वं राष्ट्रयोगक्षेमकरणात् । असंस्थापने च न पुण्यश्लोकवत्त्वं विशेषतो न च दण्ड्यत्वमिति । किं च राष्ट्रियैरित्युक्त्याऽनियुक्तानां राष्ट्रियाणामेवाऽधिकार इति व्यज्यते । अराष्ट्रियैर्नियुक्ताश्चारा हानिकरा इति ते परिषदा विज्ञाय स्वराष्ट्रात्सत्वरमेव निःसारणीया, इति च बोध्यम् । अथ च ते शुभाः=शोभनाः भवेयुः । अयं भावः—धर्मार्थकामोपधाभिः परीक्षिता भवेयुः । अपरीक्षिताः खलु नाम व्यसनादिषु सक्ताश्चेद्विफला भवेयुरार्याऽनार्यपरीक्षासु । अत उक्तं शुभा इति । किं च 'शुभाः'=शरीराऽऽकारेणाऽपि शुभा भवेयुः । अयमाशयः– प्रभावशालिशरीरा भवेयुः । येन त्वरितमेव रूपसौन्दर्यलावण्यादिना मुग्धो लोकस्तादृशं चारं स्वकीयं वास्तविकं वृत्तं समुद्घाट्य कथयेदिति भावः । इदं च बोध्यम्—राष्ट्रसमुन्नतिसाधने चाराणामतीवाऽवश्यकतैतद्विषये राष्ट्रनेतृभिरतीव प्रयत्नः कर्तव्यः स्थापने इति बोध्यते 'संस्थाप्या' इति पदेन । विधिवाक्यमिदम् । तेन एतत्करणाऽभावे राष्ट्रनेतॄणां परिषदि नियुक्तानां दण्ड्यत्वमवगम्यते । अथ च नियुक्ताश्चारा अपि वस्तुत आर्या वाऽनार्या वा स्वनियोगाऽनुसारं कार्यमाचरन्ति नाचरन्ति वेतदादि

राष्ट्रियों में प्रमादादि दोष नहीं होना चाहिए । सभी पदार्थ अपने अभिप्राय को अन्य को बताना चाहते हैं । मनुष्य की अपेक्षा परतन्त्र होने के कारण अन्य साधन उतनी तत्परता से सन्देहहारी नहीं हो सकते हैं । निग्रह-अनुग्रह की सामर्थ्य होने से मनुष्य राष्ट्र का संरक्षक होता है । वह आर्यों का त्राण करने के लिए अथवा आर्यों को दण्ड देने के लिए दूर स्थान तक अपना सन्देश पहुचाते हैं । देश पर आने वाले व्यवधान को रोकने के लिए सन्देश भेजने के अनेकविध उपाय हैं । सभी आवश्यक हैं । उन्हें प्रमादालस्य त्याग कर शीघ्र सन्देशहारिणी योजना बनानी चाहिए, ताकि खेडा, मोहल्ला, नगर और राष्ट्रों तक परिषत् के निर्देशानुसार सन्देश पहुंचा सके ।

पर्यालोचनायातिनिगूढाश्चारा अपि स्थापनीया इति व्यज्यते संस्थाप्या इत्यनेन। एवं चैतल्लक्षणरहिता न चारपदेषु नियोजनीयाः। नियुक्ता अपि कार्ये बुद्ध्वा त्रुटिमाचरन्तो दण्डनीयाः। एवमेव प्रमादेनालस्येन व्यसनितया वा त्रुटिमाचरन्तो दण्डनीया एव। भाग्यवैपरीत्येन त्रुटौ तु न दण्डनीयाः इत्याद्यपि स्वयमूह्यं तदेतदपि 'शुभा' इत्यनेन 'संस्थाप्या' इत्यनेन च व्यज्यते सर्वमपि। इदं च बोध्यम्—एतद्विषयक एको विभाग एव स्थापनीयः। यत्राध्यक्षोपाध्यक्ष-मन्त्र्युपमन्त्रि-कोशाध्यक्षकोशोपाध्यक्षा भवेयुः। एतद्विभागाध्यक्षश्चैको महत्यां राष्ट्रपरिषदि कार्यविवरणाय राष्ट्रनेतृषु नियोक्तव्यः इति ।54।।

एवं चारविभागस्थापना समुपपादिता, राष्ट्रहिताऽहितचिन्तन-निपुणानां पर्येषणायै निग्रहाऽनुग्रहाऽऽचरणाय। पर्येषणामन्तरेण दण्ड्या-ऽदण्ड्यत्वविवेकाऽसम्भवात्। तमन्तरेण च शासनाऽसम्भवात्। शासनै-कायत्तत्वाच्च राष्ट्रसमुन्नतेः। अथ पर्येषणायामितस्ततः सन्देशप्रापण-स्य नितान्तमावश्यकता भवतीति तद्विषयेऽप्यवश्यं निरूपणीयमिति प्रतिपादयन्नाह—

विधेया योजना यत्नात् शीघ्रसन्देशहारिणी।
नैकयन्त्राऽविष्करणैरप्रमत्तैस्तु राष्ट्रियैः ।।55।।

विधेयेति। अप्रमत्तैः—राष्ट्रियैः—तु—नैकयन्त्राऽऽविष्करणैः—शीघ्रसन्देशहारिणी—योजना—यत्नात्—विधेया। इति।

'अप्रमत्तैः'=प्रकर्षेण=प्राधिक्येन मत्ताः = मदयुक्तास्ते न भवन्ति प्रमादादि दोषरहिता इति भावः। तैः राष्ट्रियैः'=पूर्वलक्षण-क्षितैः 'तु' एवाऽर्थेऽव्ययमेतत्। 'नैकयन्त्राऽऽविष्करणैः'—न एकानि

यह परिषद् भी उन उन प्रदेशों में होने वाली प्रवृत्तियों के ज्ञान के बिना राष्ट्र का रक्षण करने में समर्थ नहीं हो सकती है। इसीलिए दूत विभाग की स्थापना करने को कहा गया है। दूत उन उन सन्देशों को, राष्ट्र-कल्याण के लिए, परिषद् में प्रेषित करते हैं। यह परिषद् दूत के मुख से सुने हुए सन्देशों को अपने अध्यक्ष, अपाध्यक्ष आदि को प्रेषित करती हैं।

भूमण्डल के अधिक विस्तृत होने के कारण मनुष्य द्वारा सन्देश अतिशीघ्र सुदूर स्थानों पर नहीं पहुंचाया जा सकता है। विद्युत् के आश्रय से मनुष्य के बिना भी सन्देशों को सुदूर स्थान तक शीघ्र पहुंचाया जाता है। इस प्रक्रिया में

नैकानि नानाविधानीति भावः। नाऽत्र नञ् किं तु नशब्देन समासः। 'सुप सुपा' इति। अतो "न लोपोनञः" (पा सू. 6/3/7) इति न लोपशङ्का नास्ति। नैकानि यानि 'यन्त्राणि'=लौहादिनिर्मितानि कर्मंकरणानि तेषां नाविष्करणानि=प्रादुर्भावाः तैः 'शीघ्रसन्देशहारिणी'—शीघ्रं = क्षिप्रं यथा स्यात्तथा सन्देशान्=वार्ता हारयति=प्रापयति सा शीघ्रसन्देशहारिणी 'योजना'=युक्तिः 'यत्नात्'=प्रयत्नेन 'विधेया'=कर्तव्या'। इति। अत्राऽयमभिप्रायः—सर्वोऽपि खलु पदार्थः स्वाऽभिप्रायमन्यं बोधयितुमकाङ्क्षते। अथ च तत्राऽपि स्वातन्त्र्य-विकासतारतम्येन प्रयतते चाऽधिकाऽधिकम्। मनुष्याऽतिरिक्तानां मनुष्याऽपेक्षया परतन्त्रतया, वार्ताप्रापणविषये इच्छाया उद्भवेऽपि न प्रापयितुं पारयन्ति शीघ्रम्। मनुष्याश्चाऽत एव निग्रहाऽनुग्रहसामर्थ्याऽधिकतया राष्ट्रसंरक्षका भवन्ति। ते च आर्यत्राणायाऽनार्यदण्डनाय च परस्परं दूराद्दूरतरं स्वसन्देशान् प्रापयन्ति। उचितमप्येतत्। अथैव देशकृतव्यवधानवारणाय सन्देशप्रापणे नानाविधा उपाया। ते सर्वेऽप्यावश्यकाः। तत्र यथा स्वसन्देशोऽतिशीघ्रतयाऽन्यकर्णे प्राप्येत तथा यतनीयमेवेति स्वभावप्राप्तमेतद्व्यवस्थाप्यते। अप्रमत्तैरिति। प्रमादात्तस्यादिदोषरहितैः राष्ट्रियैः पूर्वोक्तलक्षणैः। अप्रमत्तैरित्यनेनतस्याऽत्यन्तमावश्यकत्वं ध्वनितम्। राष्ट्रियैरित्यनेन चाऽनियुक्तैरपि परिषदि महत्यां, राष्ट्रकल्याणकर्तुकामैः कर्तव्यमेतत्कार्यम्। तेन नियुक्तानां नित्यमनियुक्तानां चैच्छिकमेवेति बोध्यते। अथवैवं व्याख्येयम् – राष्ट्रनेतृपरिषद्यापूर्वमुक्ततया कर्तृभूतया अप्रमत्तै राष्ट्रियैस्तु शीघ्रसन्देशहारिणी योजना विधया। अय भावः—शीघ्रादपि शीघ्रं यथा सन्देशस्तत्तद्ग्राम-खर्वटशाखानगरमूलनगरदेशराष्ट्राणां परिषन्निदेशाऽनुसार प्राप्यत तादृशी योजना=रचना युक्तिः 'विधेया'=कर्तव्या।

यान अथवा पत्र की अपेक्षा नहीं रहती है। यह सब विज्ञानसम्पन्न राष्ट्र ही कर सकता है। अतः राष्ट्र-परिषत् को सन्देश-प्रापक-यन्त्र विभाग की व्यवस्था भी करनी चाहिए।

कोई भी कार्य कालातिक्रमण से अनुकूल फल प्रदान नहीं करता है। यन्त्रों के अभाव में सन्देश शीघ्रातिशीघ्र नहीं पहुंच पाता। जो राष्ट्र शीघ्रातिशीघ्र अपना सन्देश पहुंचा सकता है, वह सहसापराभव को प्राप्त नही होता है। गुप्त सन्देशों को गुप्तरूप से प्रेषित करने की व्यवस्था करनी चाहिए। उल्लेख्य है कि

परिषत् खलु ततःप्रदेशाद्भत्रप्रवृत्तिज्ञानमन्तरा न राष्ट्रसंरक्षणं कर्तुं प्रभवति । एतेन दूतविभागस्थापनमुक्तम् । दूताः खलु तांस्तान्सन्देशान् राष्ट्रकल्याणाय परिषदि प्रेषयन्ति । परिषच्च दूतमुखात् स्वसन्देशान् यथाऽभिलषित तत्तद्विभागाध्यक्षेभ्यो निवेदयति । दूतविभागः खलु राष्ट्रस्य महदङ्गम् । एवं चाऽयमपि यथायथमध्यक्षोपाध्यक्षमन्त्र्युपमन्त्रिकोशाध्यक्षकोशोपाध्यक्षादिभिः सुव्यवस्थाप्य इति सूचितम् । एते खलु प्रतिराष्ट्रं सर्वैरपि राष्ट्रैः स्थाप्यन्ते । एतद्विभागाध्यक्षोऽप्येको राष्ट्रनेता महत्यां परिषदि नियोक्तव्यो राष्ट्रियैः । अथ च भूमण्डलस्याऽतिविस्तृततया मनुष्यद्वारा सन्देशो नाऽतिशीघ्रं सुदूरं प्रापयितुं शक्यत इत्यतः शीघ्र ऽतिशीघ्रं सन्देशप्रापणाय शब्दप्रेषणयन्त्राण्याविष्करणीयानीति प्रतिपाद्यते नैकयन्त्राऽविष्करणैरिति नानाविधानि खलु यन्त्राण्याविष्कर्तुं शक्यन्ते यथा कानिचिद्गुणाश्रयाणि कानिचिच्च निर्गुणाश्रयाणि गुणाश्रययन्त्रैः सुस्पष्टशब्दैरस्पष्टशब्दैश्च सुदूरदेशेऽपि विनैव मनुष्यादिभिः सन्देशाः प्रापयितुं शक्यन्ते । नाऽत्र यानाद्यपेक्षा पत्राद्यपेक्षा वा भवति । प्रथमं तेषु तेषु देशेषु तेभ्यस्तेभ्यो देशेभ्यो लौहादिनिर्मितान् स्तम्भान्निखाय तेषु च शिरोभाग यथायथं ताम्रादिनिर्मितान् गुणानाबध्य तद्द्वारा विद्युत्सहायतया वेगमुत्पाद्य शब्दाः प्रेषयितुं शक्यन्ते । अत्रेदं बोध्यम् ताम्रादिगुणा प्रथमं सम्यक् सम्बन्धनीयाः

बाह्य यन्त्र की अपेक्षा आन्तरिक यन्त्र से सन्देश-प्रापण अत्यल्प समय में करते हैं, किन्तु इस विषय में विशेष प्रयास अपेक्षित है । यह विषय योग-प्रक्रिया का है । रहस्यमय होने पर भी कुछ संकेत किया जा रहा है ।

"श्रोत्र [कान] और आकाश का सम्बन्ध संयमित होने से दिव्य श्रोत्र होता है"—इस पातञ्जलयोगप्रक्रिया से ही यह सब साध्य हो सकता है । तात्पर्य यह है कि सर्वप्रथम जालन्धर बन्धपूर्वक मणिपूरचक्र को त्राटक द्वारा प्रेरित कर, नादानुसन्धानप्रक्रिया से, उद्गीथ प्रकार से, कामकला जप से, कामबीज जप से, अथवा आकाशबीज जप से, निमेषोन्मेषमात्र से (पलक झपकते ही) इच्छित स्थान पर सन्देश पहुंचाया जा सकता है । आशय यह है कि किसी भी विधि से सन्देश पहुंचाने की उत्तम व्यवस्था होनी चाहिए ।

राष्ट्र में सन्देश-प्रेषण का एक पृथक् विभाग स्थापित किया जाना चाहिए तथा शाखा विभाग भी । (प्रमुख) दो विभाग है—दूत विभाग और पत्र विभाग ।

तत्सम्बन्धनं च स्तम्भादिद्वारा यथा भवति तदपेक्षयाऽपि साऽवकाशबृहत्प्रणालैरत्युत्तमं भवति। प्रणालाश्च यथायथं प्रस्तरमयाः पक्वमृद्विशेषनिर्मिता धातुनिर्मिता वा भवन्ति। अथ चाऽत्रान्याऽऽतङ्कशङ्का अपि न्यूना भवन्ति। गुणाश्च सर्वदा त एव विशेषत उचिता ये विद्युच्छक्तिवेगमितस्ततः सत्वरमेव प्रसारयेयुरिति गुणाश्रययन्त्राऽपेक्षयाऽपि निर्गुणाश्रयाणि निराश्रयाणि वा यन्त्राणि अत्यन्तमह्नाय शब्दप्रसारणाय कल्पन्ते यद्यपि तान्येतदपेक्षया परिश्रमसाध्यानि। भवतु, सर्वमप्येतत्तद्विज्ञानसम्पन्नै राष्ट्रियैरेव राष्ट्रपरिषदा विधेयम्। एवं च सन्देशप्रापकयन्त्रविभागोऽप्येक आवश्यकतया राष्ट्रपरिषदा यथायथं व्यवस्थाप्य इत्युक्तं भवति। अत्र कार्यकारिणो राष्ट्रिया एव भवेयुर्नाऽराष्ट्रियाः। एतद्विभागस्थापने तत्संरक्षणे च यथायथं कदाऽपि न प्रमादालस्यादि कार्यम्। एतदायत्तत्वान्निग्रहाऽनुग्रहयोः। कालाऽतिक्रमेण खलु कृतं कर्म नाऽनुकूल फल प्रसूते। तत्तद्यन्त्राऽभावे सन्देशस्य शीघ्राऽतिशीघ्रं प्रापणाऽसम्भवात्। यद्राष्ट्रं शीघ्राऽतिशीघ्रं प्रवृत्तिं हारयितुं शक्नोति तन्न सहसा पराभवमाप्नोति। किं च गुप्तसन्देशानां गुप्ततयैव प्रेषणेऽपि व्यवस्था कार्या नानाविधयन्त्राऽविष्करणैरित्यप्यप्रमत्तैरित्यनेन सूच्यते। इदं च बोध्यम्—बाह्ययन्त्राऽपेक्षयाऽपि प्रवृत्तिहारणमान्तरयन्त्राण्यतीव स्वल्पसमयेन कुर्वन्तीति तत्र विशेषः प्रयत्न आधेयः। परमिदं योगिप्रक्रियागम्यम्। रहस्यमप्यत्र किंचित्सङ्केतेन लोककल्याणायोन्मील्यते—"श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम्" इति पातञ्जलप्रक्रियया साध्यमेतत्। अथ भावः—

दूत विभाग द्विविध हैं—वाचिक सन्देशहारी तथा लिखित सन्देशहारी। सन्देश मनुष्य द्वारा भी भेजे जाते हैं और पत्र द्वारा भी। मनुष्य की सहायता दोनों में अपेक्षित हैं। भयातंक पूर्वक सन्देश दूत मुख से ही प्राप्त होते हैं। दूत तो प्रकट होते हैं और गुप्तचर अप्रकट। दोनों ही राष्ट्र के समाचार जानने के लिए राष्ट्र परिषत् के द्वारा नियुक्त किये जाते हैं।

इसी प्रकार राष्ट्र में रहने वाले लोगों को सन्देश पहुंचाने के लिए पत्राहरण हेतु भी पृथक् विभाग की आवश्यकता है। इस कारिका में सन्देश प्रेषित करने के लिए चार विभागों की स्थापना करने को कहा गया है—दूत-विभाग, पत्राहरण-विभाग, गुणाश्रयशब्दाहरण (तार) विभाग, निर्गुणश्रयशब्दाहरण (बेतार) विभाग। इनके यथोपयुक्त शाखा-विभाग भी स्थापित किये जाने चाहिए।

सर्वादौ जालन्धरबन्धपूर्वकं मणिपूरचक्रं त्राटकेन सञ्चेत्य नादाऽनुसन्धान-प्रक्रियया, उद्गीथप्रकारेण, कामकलाजपेन, कामबीजजपेनाऽऽकाशबीज-जपेन वा निमेषोन्मेषमात्रेण यथाऽभिलषितस्थले सन्देशो हारयितुं शक्यते 'इत्यस्तु'। यथाकथाचन वा सन्देशहारण-व्यवस्था उत्तमतया कार्या इति बोध्यते। इदं च बोध्यम्—सन्देशस्य स्थानात्स्थानान्तरं प्रापणाय यानि यानि साधनानि तानि सर्वाण्यपि स्थापनीयानि। तेषां सर्वेषामेको विभागः सुव्यवस्थितः स्थापनीयो राष्ट्रे। तत्र तत्तत्साधन-विभागेन शाखाविभागा अपि स्थापनीयाः साध्यक्षा महत्या राष्ट्रपरि-षदा। तत्राऽपि द्वौ विभागौ, दूतविभागो यन्त्रविभागश्च। दूतविभागो-ऽपि द्विविधः वाचिकहरो लिखितहरश्च। अयं भावः—सन्देशाः खलु मनुष्यद्वाराऽपि प्रेष्यन्ते पत्रद्वाराऽपि प्रेष्यन्ते। द्वयोरप्यनयोः मनुष्य-सहायताया अपेक्षा वर्तत एवेति दूतविभाग एष सङ्केतितो भाष्यकृता। यस्मिन् खलु सन्देशेऽतीव भयं भवति क्षीणतायां स दूतमुखादेव प्राप्यते। तत्राऽपि प्रकटा दूता अप्रकटाश्च चाराः। एते द्विविधा अपि तत्तद्राष्ट्रप्रवृत्तिज्ञानाय राष्ट्रपरिषदा स्थाप्यन्ते। प्रवृत्तिज्ञापनाय लोके पत्रप्रेषणमप्युपाय एकः, अतश्चैतद्विभागोऽपि सम्यक् स्थापनीयः। अयं भावः—राष्ट्रस्थलोकानां परस्परं सन्देशहारणाय पत्राहरणविभागस्या-ऽत्यन्तमावश्यकता भवतीत्येतद्विषयिणी व्यवस्था परिषदा सुतरां शोभना विधेया। पत्रद्वारा वा दूतद्वारा वा न झटिति सन्देशास्तथा प्राप-यितुं शक्यन्ते यथा मनोऽभिलषितलोकानामिति तत्तद्यन्त्रविभागः

इस प्रकार की सभी योजनाएं सबके कल्याण के लिए बनायी जानी चाहिए। यन्त्र तो प्रस्तर काष्ठ, मृत्तिका, लौह आदि धातुओं के बने होते हैं। वे विद्युद्वेग से चलाये जाते हैं। इन यन्त्रों के निर्माण हेतु राष्ट्र में आटविक (वन) विभाग, खनिविभाग, विद्युत् विभाग, आदि की स्थापना की जानी चाहिए। विद्युत् शक्ति निर्माण के लिए जल-विभाग भी आवश्यक है। इन सबके विभागाध्यक्ष नियुक्त किये जाने चाहिए।

इसी प्रकार ग्राम-मार्ग, वीथी आदि भेद मार्गों के होते हैं। सभी मार्ग समतल हों, मजबूत हों, कीचड़युक्त न हो, वृक्षच्छाया से युक्त हों, बीच-बीच में भोजन, जल की व्यवस्था हो, धर्मशाला हों, आधे-आधे कोस पर बैठने के लिए शिलापट्ट लगे हुए हों, चौराहों पर मार्ग-संकेत पट्ट लगे हों, जिन पर मार्गों का विवरण हो, बीच-बीच में चोर, दस्यु, हिंस्रजन्तुओं से भयमुक्त होने की भी

स्थापनीयः सन्देशाहरणाय। एवं चैतया कारिकया विभागचतुष्टय-स्थापना प्रतिपादिता यथा—दूतविभागः, पत्राऽऽहरणविभागः, गुणाश्रय-शब्दाहरणविभागः, निर्गुणाश्रयशब्दाहरणविभाग इति। अत्राऽपि शाखाविभागा यथायथमूह्याः सुधीभिः। इदं तु बोध्यमेव—सर्वत्राऽप्यत्र नियुक्तानामनियुक्तानां च तत्तद्राष्ट्रे तत्तद्राष्ट्रियाणामेवाऽधिकारः। तत्राऽपि नियुक्तानां राष्ट्रनेतृतया आवश्यक इति विधेयतामवगाहते। अनियुक्तानां पुनरैच्छिको विकल्प एव। एतत्सर्वमपि 'योजना' पदेन तस्मात् कल्याणकरं सर्वस्येति ध्वन्यते। तेन विधयतां द्रढयति। अथ च प्रयत्नेन कर्तव्यैषा योजना। 'यत्नात्' 'इत्यनेन' अतीवाऽवश्यकताऽस्या योजनाया इति ध्वन्यते। 'शीघ्रसन्देशहारिणी' इति तु समस्तविध-सन्देशहारकसाधनान्याक्षपेण ध्वनयति। नैकयन्त्राऽऽविष्करणैः 'इत्यनेन' सन्देशहरसाधनानां नानाविधानां योगः क्षेम च बोध्यते। अथ चैतेन यन्त्राऽऽविष्कारसाधनान्युपाक्षिप्तानि। तानि च यथायथं प्रयत्नेन सम्पाद्यानीति ध्वन्यते। तत्रद बोध्यम्—यन्त्राणि किल प्रस्तरमृत्तिका-काष्ठ-लौहादिधातूनां प्रायो भवन्ति तानि च विद्युद्वेगेन चाल्यन्ते। ते-नैतया कारिकया ते ते सर्वे विभागाः स्थापनीया इति ध्वन्यते। यथा—आटविकविभागः, खनिविभागः, विद्युद्विभागः, इत्यादयः सर्वेऽपि यथा यथमूह्यास्ते सर्वेऽपि राष्ट्रसमुन्नतिसाधनतया यथायथं स्थापनीयाः। तत्तद्विभागाध्यक्षश्च महत्यां परिषदि सभासत्पदे नियोजनीयो राष्ट्र-नेतृतया। इदं च बोध्यमत्र—यन्त्रनिर्माणे यन्त्रसञ्चालने च प्रायो विद्युतो विशेष आवश्यकता भवतीति विद्युद्विभागः सुतरां शोभनीय-

---

व्यवस्था आवश्यक है। अतः आरक्षी विभाग भी होना चाहिए। मार्ग में जहां-जहां गड्ढे, नदी-नाले आदि आते हों, वहां-वहां दृढ़ सेतुओं का निर्माण किया जाय। इन विभागों के अध्यक्ष भी राष्ट्रीय महापरिषद् के सदस्य हों। यान भी अनेक प्रकार के होते हैं। कुछ चेतनयान होते हैं, कुछ जड़यान होते हैं। जल और आकाश में चलने वाले यान जडयान होते हैं। जड़ चेतन भेद से स्थलयान भी दो प्रकार के हैं। जड़यान भी दो प्रकार के हैं—अग्नि-वारुणयान तथा अनग्नि-वारुणयान। अग्नि और जल की सहायता से जो चलाये जाते है, वे अग्नि-वारुणयान हैं। ये भी दो प्रकार के हैं—वाष्पयान तथा विद्युद्यान। वाष्पयान भी अनेक प्रकार के हैं तवा विद्युद्यान भी। चेतन यान भी दो प्रकार के हैं, जो स्वयं चलते हैं तथा दूसरों के द्वारा चलाये जाते हैं। स्वयं चलने वाले यान

तया ऽप्रमत्तै राष्ट्रियैः स्थापनीयः । अथ च सा विद्युदपि विशेषतोऽबिन्ध-नेत्यब्विभागः संस्थापनीयः । सर्वथाऽपि नानाविधयन्त्रनिर्माण-साधनविभागाः स्थापनीया इति 'योजना' पदेन ध्वन्यते । किंचेदमपि बोध्यम्—सर्वेषामपि विभागानां सन्देशाहरणमप्रमत्तै राष्ट्रियैः कर्तव्यम् । अयमर्थः—नियुक्तानामनियुक्तानां राष्ट्रपरिषदि राष्ट्रियाणां सन्देशाहरणव्यवस्था सर्वाऽपि राष्ट्रपरिषन्निदेशेनैव यथायथं दूतपत्र-तत्ताद्यन्त्रादिसहाया सम्पादनीया । तेन सन्देशाहरणं सर्वदा राष्ट्रस्य हित करं वैतदहितकरं वेति तद्विभागस्थकर्मचारिभिर्निपुणं समालोचनीय-मिति ध्वन्यते । भवत्वलमनेन ।।55।।

एवं सन्देशाहरणविभागस्थापनोक्ता । तत्र मनुष्याणां याताऽया-तसुव्यवस्थामन्तरा न पत्राहरणं दूतप्रेषणं च सम्भवति अथ च राष्ट्र-समुन्नतिः सङ्घैक्येन भवति । सङ्घीभवनं च विचाराचारादान-प्रदानाधीनम् । तच्च याताऽयाताधीनम् । याताऽऽयातं च मार्गवाहनाऽधी-नमिति तद्विषयेऽप्यवश्यमेव निर्णेतव्यमुचितमिति तत्प्रतिपादयितु-माह—

हाथी, घोडे, अश्व, खर आदि हैं । दूसरे द्वारा चलने वाले यान रथ, शकट आदि है ।

रथादिकों में मनुष्य बैठते हैं, इन्हें अश्व, बैल आदि चलाते हैं । सभी यानों का यन्ता तो मनुष्य ही होता है । चेतन यानों में मनुष्य आदि भी होते है । कहीं-कहीं मनुष्य भी इन यानों को ढोते हैं ।

जलयानों में चेतनयान नहीं दिखायी देते । ये जलयान तरणि, द्रोणी, पोत आदि अनेक प्रकार के है । आकाश यान भी चेतनयान नहीं होते है । अग्नि-वारुणयानों के सम्बन्ध में पहले कहा जा चुका है । अब अनग्निवारुण के बारे में कहते हैं । ये यन्त्र की सहायता से और कुछ मन्त्र की सहायता से चलते हैं । कुछ यान जल, थल, आकाश आदि विविध प्रदेशों में तीव्र गति से चलने वाले भी बनाये जा सकते है । राष्ट्र के योगक्षेम के लिए समस्त यानों की व्यवस्था राष्ट्रियों को सावधानी से करनी चाहिए । राष्ट्र की उन्नति के लिए यातायात विभाग और उसके अवयवी भाग, मार्ग सौगम्य विभाग, रक्षि-विभाग, स्थल-जल -आकाशयान–विभाग आदि के विभागाध्यक्षों को नियुक्त करना चाहिए । साथ ही सभी विभागों के योगक्षेम के लिए अनेक प्रकार के शिक्षालय स्थापित किये जाने चाहिए । जिस राष्ट्र के पास जितने अंश में यातायात के साधन सुलभ हैं,

पन्थानः सुगमाः कार्या निर्भया दृढसेतवः ।
जलस्थलाऽऽकाशगानि यानानि विविधानि च ।। 56 ।।

पन्थान इति । पन्थानः -- सुगमाः -- निर्भयाः -- दृढसेतवः-- कार्याः -- जलस्थलाऽऽकाशगानि -- विविधानि -- यानानि -- च -- (कार्याणि) इति पदयोजनिका ।

'पन्थानः'=मार्गाः 'सुगमाः'=सुखेन गन्तुं योग्याः 'निर्भयाः'= निर्गतं=अपगतं भयं=भीतिः तेभ्यः ते निर्भयाः 'दृढसेतवः'-- दृढाः= बलवन्तः सेतवः=नद्यादिसन्तरणाय निर्मिताः सुस्थिराः पन्थानः येषु ते तादृशाः 'कार्याः'=विधेयाः । 'जलस्थलाकाशगानि' -- जलं= तोयं स्थलं=भूप्रदेशः । आकाश=अन्तरिक्षं तेषु गच्छन्ति तानि 'विविधानि'=नानाप्रकाराणि 'यानानि'=वाहनानि 'च' समुच्चयेऽव्ययमेतत् । 'कार्याणि' परिषन्नियुक्तै राष्ट्रियैरिति 'अप्रमत्तैस्तु राष्ट्रियैरिति वा शेषः । इति ।

अस्या अयमाशयः --राष्ट्रे सर्वोऽपि व्यवहारः परस्परमिलनायत्तः । परस्परं मेलनं च गमनाऽगमनायत्तम् । गमनाऽगमनं च मार्गमन्तरेण न सम्भवति । अथ च मध्ये नद्यादिसम्भवपादचारेण न सम्भवति याताऽऽयतम् । अथ च शीघ्रातिशीघ्रं सन्देशाहरणाय, वस्तुमात्रस्याऽऽहरणाय मनुष्यादीनां गमनाऽऽगमनार्थं च कानिचिच्छीघ्रगामीनि कानिचिदतिशीघ्रगामीनि यातान्यावश्यकानि । किं च मनुष्यादिः पादचारेण सुदूरं स्वसमये न गन्तुं शक्नोति । अथ च वृद्धो वा बालो

उतने ही अंश में वे राष्ट्र विजयशाली होते हैं और कल्याणकारी कार्य कर सकते हैं ।

उपरिलिखित यानों का विधान-प्रकारादि लोक से या "युक्तकल्पतरु" और "समरांगण सूत्रधार" आदि ग्रन्थों से जानना चाहिए। यह भी ज्ञातव्य है कि इस विषय में ग्रन्थ उतनी सहायता नहीं कर पाते हैं, जितनी प्रयोग निपुण पुरुष और उनकी प्रयोग शालाएं । इन सब का अन्तर्भाव शिल्प में होता है । अतः आवश्यकता के अनुसार शिल्पशालाओं की स्थापना की जानी चाहिए ।

अब ग्राम्य योग क्षेमव्यवस्था हेतु पशुचर भूमि और जलाशयादि की स्थापना का संकेत किया जा रहा है—

वाऽशक्तो वा न गन्तुं प्रभवति, यः पादचारेण तदर्थं, नानाविधवस्तुभारमपि सुदूरं न वोढुं समर्थो भवति । पादचारेण गच्छन्तीत्यादिसमस्तकारणानि पर्यालोच्य याननिर्माणं विधीयते तच्च राष्ट्रसमुन्नतिप्रधानसाधनमिति तन्निरूपणायाऽस्याः कारिकाया आरम्भः । तत्र यानान्यपि मार्गान्तरा न गन्तुं प्रभवन्तीति तन्निरूपणं पूर्वमुच्यते प्रथमकारिकार्धेन । पन्थान इति । पन्थानो विधेयाः सर्वादौ । अत्रेदं बोध्यम् -- बहुवचनेन नानाविधत्वं पथा बोध्यते । अयं भावः -- ग्रामे वा शाखानगरे वा मूलनगरे वा सर्वत्र मार्गाणामावश्यकता वर्तत एव । एकस्माद गृहादन्यस्मिन् गृहे गन्तुं मार्गस्य यथाऽऽकाङ्क्षा भवति तथैवै कस्माद् ग्रामादन्यस्मिन्ग्रामे, एकस्मान्नगरादन्यस्मिन्नगरे एकस्माद्राष्ट्रादन्यस्मिन् राष्ट्रे मार्गस्याऽऽकाङ्क्षा वर्तत एवेति सर्वेऽपि जानन्ति । सर्वथाऽपि स्थानात् स्थानान्तरे गतप्रत्यागतार्थं पन्थान आवश्यका इति । ते हि सुगमाः कार्याः । अयमर्थः — यैः सर्वैरपि गतप्रत्यागताऽभिलाषिभिः सुखेन गताऽऽगतं कर्तुं शक्येत । अत्रेदं बोध्यम् -- सञ्चारतारतम्यमवलम्ब्याऽऽयामवन्तः क्रियन्ते मार्गाः । मनुष्यवसतिसङ्ख्यातारतम्यं वस्त्वाहरणादितारतम्यं चाऽवलोक्य मार्गविधाने । यथा मूलनगरान्मूलनगरे गतप्रत्यागतार्थं समस्तविधयानप्रचलनयोग्यो मार्गो विधातव्यः । अयं च राष्ट्रमार्ग इत्युद्घोष्यः । यश्च राष्ट्रान्तरं गन्तुं निर्मीयते स महाराष्ट्रमार्गः, यश्च ग्रामाद् ग्रामान्तरगमनाय निर्मीयते मध्ये च ग्रामा एवाऽऽयान्ति स ग्राममार्गः, नानाविधयानप्रचलनमार्गो

प्रतिग्रामं पशुचरा भूमिः कार्या वनं तथा ।
व्यायामशाला कासाराः कुल्याः कूपाश्च वाटिकाः ॥57॥

प्रत्येक गांव में पशुओं के चरने के लिए भूमि, तपोवन, व्यायामशाला, सरोवर, बावडी, नहर, कूप-वाटिका आदि का निर्माण करना चाहिए ।

अनेक प्रकार के वृक्षों से युक्त अरण्य को वन कहते हैं । शरीर के बल को बढ़ाने के लिए किया जाने वाला परिश्रम व्यायाम कहलाता है । अल्प जलवाली कृत्रिम नदी कुल्या (नहर) कहलाती है । जलाशय विशेष को कूप कहते हैं । उपवन को वाटिका कहा जाता है ।

सब प्रकार के पशु राष्ट्र के लिए उपयोगी होते हैं । विद्वान् लोग जानते है कि इस जगत् की प्रत्येक वस्तु उपयोगी है । पुनरपि पशुओं की उपयोगिता

राजमार्गः, ततः कनीयान् महामार्गः, ततः कनीयसी वीथी साऽपि वसतीनां मध्ये चेत्। क्षेत्रादिष्वेकपद्यादयो मार्गभेदा भवन्ति। सर्वेऽपि समा दृढा, अत्रुटिता गर्तादिरहिता, जलनिष्कासहेतुप्रणाल्यादिसहिताश्च कार्याः। अयं भावः — कदाऽपि ये जलादिना पिच्छिला न भवन्ति, गर्तशर्करादिरहिताः समाश्च कार्याः किं च समायामाः वृक्षच्छायादि-भूषिता, मध्ये मध्ये च सुलभभोजनसामग्रीकाः, अथ च मध्ये मध्ये धर्म-शालादिभूषिताः, जलाशयादि-व्यवस्थोपेताश्च भवेयुः। एतत्सर्वं 'सुगमा' इत्यनेन बोध्यते। इदं च बोध्यम् — ग्रामस्य परितो ये निरन्तरा ग्रामा भवन्ति तेषु सर्वेषु गमनाय पृथक् पृथक् मार्गास्तथा स्थापनीया यथा सुखेन गमनाऽऽगमनं स्यात्। ये च ग्रामा ग्रामान्तरैर्व्यवहितास्तेभ्यः पृथक् मार्गस्थापनाऽपेक्षा नाऽस्ति। अथ च अर्धाऽर्धक्रोशेषु गन्तव्यप्रसिद्धनामक्रोशसङ्ख्योल्लेखमण्डिताः शिलापट्टा लौहपट्टा वा स्थापनीयाः। प्रतिचतुष्पथत्रिपथादिस्थलेषु मार्गमानचित्रादीनि शिलापट्टादिषु स्थाप्यानि मार्गविवरणलेखमण्डितानि। ग्रामादिषु ये मध्ये मार्गास्ते प्रसिद्धप्रसिद्धनामभिः यथायथं सङ्केत्य तद्विवरण-पट्टाङ्किताः स्थाने कार्याः। अथो ग्रामादिभ्यो बहिर्भूताः एकपदी-वीथी-मार्ग-ग्राममार्ग - महामार्ग–राजमार्ग– राष्ट्रमार्ग–महाराष्ट्रमार्गा-दयो यथायथमावश्यकसामग्र्या सहिताः सर्वेऽपि सुगमा विधेयाः सर्वेषां यथायथम्। अथ च मध्ये चौरदस्युहिंस्रजन्तुभयात् संरक्षण-मत्यावश्यकम्। तदन्तरा लोकानां यातायातप्रचारो न भवितुं शक्नो–

पद-पद पर अनुभव की जाती है। जब हम पशुओं का उपयोग करते हैं, तो उनके योगक्षेम के सम्बन्ध में विचार करना भी आवश्यक है। राष्ट्र में एक पशु-विभाग भी स्थापित किया जाना चाहिए।

पशु दो प्रकार के हैं, हिंसक एवं अहिंसक। हिंसक प्रायः वन में और अहिंसक गांवों में रहते हैं। यद्यपि दोनों प्रकार के पशुओं का उपयोग होता है, किन्तु अहिंसक पशु तो अधिक उपयोगी होते हैं जैसे गौ, महिष, अजा, गज, उष्ट्र, गर्दभ, अश्व आदि।

इन अहिंसक पशुओं के लिए शुद्ध, तृण और जल आदि की व्यवस्था अवश्य की जानी चाहिए। एतदर्थं प्रत्येक ग्राम में पशुओं के लिए ग्राम के पास ही पशुचर भूमि की व्यवस्था की जानी चाहिए।

तीति रक्षिविभागस्याऽऽवश्यकता बोधिता । तेन रक्षिविभागोऽपि यथायथं स्थापनीय इति ध्वन्यते । स च यथायथं स्वयमूह्यः । प्रस्तुतभाष्यकृताऽपि ग्रन्थान्तरे प्रणेष्यमाणे यथाऽवसरं विवेचयिष्यते । अथ च मध्ये मध्ये मार्गाणां गर्ता निर्झराः क्षुद्रनद्यो महानद्यो महान्तो जलाशयाः समायान्ति तत्र सेतवोऽप्यावश्यकास्ते चाऽतिदृढाः कार्या । एतादृशाः पन्थानः कार्याः । एवं च याताऽऽयातप्रचाराय राष्ट्रे याताऽऽयातविभागस्तत्र योग्यकर्मचारिभिरधिष्ठितस्तत्तदध्यक्षसहितः स्थापनीयः परिषदा इत्युद्बोध्यते । एतद्विभागाध्यक्षोऽपि महत्यां राष्ट्रपरिषद्येकः सभासत्पदे नियोज्यः । अथैवं यातायातसाधनभूतस्य पथो विषये निरूपितम् । इदानीं याताऽऽयातसाधनीभूतयान-विषये निरूप्यते । यानानि खलु बहुविधानि भवन्ति । कानिचित्स्थलयानानि कानिचिज्जलयानानि कानिचिच्चाकाशयानानि । एवं त्रिविधानि भवन्ति यानानि । तत्र कानिचिच्चेतनयानानि कानिचिज्जडयानानि । तत्र जलाकाशयोर्जडयानान्येव प्रायो भवन्ति । स्थलयानानि तु द्विविधान्यपि दृश्यन्ते । पूर्वं स्थलयानानि

सभी प्राणियों के लिए भोजन आवश्यक है। इसके बिना शरीर धारण नहीं किया जा सकता है। भोजन के भी अनेक प्रकार हैं। भोज्य-वस्तुओं की प्राप्ति के लिए कृषि कर्म भी अपेक्षित है। कृषिकर्म के लिए गोधन का संरक्षण आवश्यक हैं। पशुओं की व्यवस्था के लिए पशु विभाग की स्थापना की जाय। यह विभाग पशुओं के तृण जल की व्यवस्था करें। पशुओं के रोग-निवारण के लिए पशु चिकित्सालय खोले जाय। पशुओं की हत्या करने वालों को दण्ड भी देना चाहिए।

पशु जीवित अवस्था में तथा मरणोपरान्त भी बहुत उपयोगी होते हैं। उनका अस्थि-मांस-मज्जा-चर्म आदि भी उपयोग में आता है। ये जीवित अवस्था में दूध, घृत, मलमूत्रादि और भारवाहन आदि से. हल चलाने आदि से उपकार करते हैं। राष्ट्र की उन्नति में पशुओं का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

राष्ट्र में समुन्नति साधन भूत वन-विभाग की स्थापना भी आवश्यक है। हिंस्र पशु वनों में ही सरक्षित होते हैं। वन में उत्पन्न काष्ठों के क्रय-विक्रय से राष्ट्रीय आय होती है। ओषधियों का उत्पादन भी वनों में होता है। राष्ट्रिय संवर्धन के लिए व्यायाम शालाएं गांव-गांव में स्थापित की जानी चाहिए।

निरूप्यन्ते । जडचेतनस्थलयानान्यपि विविधानि — तत्र जडयानानि द्विविधानि आग्निवारुणानि, अनाग्निवारुणानि च, अग्निजलसाहाय्येन यानि परिचाल्यन्ते तान्यग्निवारुणानि । एतान्यपि द्विविधानि भवन्ति–वाष्पयानानि, विद्युद्यानानि च । वाष्पयानान्यपि बहुविधानि यथायथमूह्यानि । विद्युद्यानान्यपि यथायथं विचार्याणि । अनाग्नि–वारुणानि लौहादियन्त्रमात्रपरिचाल्यानि तान्यपि यथायथमूह्यानि । अथ चेतनयानान्यपि प्रथमतो द्विविधानि स्वयंचलानि परतश्चलानि च । स्वयंचलानि हस्त्यश्वोष्ट्रबलीवर्दाश्वतरखरादीनि । परतश्चलानि रथशकटादीनि । अयं भावः– स्वयंचलयानेषु हस्त्यादीनां पृष्ठेष्वारुह्य गम्यते । परतश्चलयानेषु तूपविश्य गम्यते । अयमर्थः– रथादिषु मनुष्यादय उपविशन्ति तानि च रथादीनि यानानि अश्वगवादयो वहन्ति इति प्रस्तुतभाष्यकृता परतश्चलानीति सङ्केतितानि । सर्वेष्वपि यानेषु यन्ता तु मनुष्य एव भवति । परतश्चलानि यानान्याकारभेदेन वोढृभेदेन चाऽनन्तान्येव भवितुमर्हन्ति । अथ च मार्गविशेषचलनान्यपि कानिचिद् भवन्ति यानानि । अथ चेतनयानेषु मनुष्ययानान्यपि भवन्ति । तस्य वोढृत्वं दृश्यते क्वचित्, परं तु तत्र मनुष्यस्य चेतनतमत्वा द्यन्वृत्वमपि वोढुरेव दृश्यते प्रायः । एवं विविधानि स्थलयानानि बोध्यानि । जलयानानि तु चेतनयानानि न दृश्यन्ते । सर्वाण्यपि जडयानान्येव समनुष्यकाणि । तत्र त्रिविधानि तानि । आग्निवारुणानि, अनाग्निवारुणानि पवनप्रेर्याणि च । आग्निवारुणानि पुनर्वाष्पयानानि विद्युद्यानानि च पूर्ववदेव ।

राष्ट्र में एक स्वास्थ्यविभाग की स्थापना की जानी चाहिए इनमें योग्य राष्ट्रीय कर्मचारियों की व्यवस्था करनी चाहिए । इसके अतिरिक्त मनुष्यों और पशुओं के लिए कासार, कुल्या कूप आदि द्वारा जल की व्यवस्था की जानी चाहिए । क्योंकि जल के बिना कोई प्राणी जीवित नहीं रह सकता । कृषि भी जल के अधीन है । अतः सिंचाई की व्यवस्था की जानी चाहिए । शुद्ध जल के अभाव में जल के निर्मलीकरण की व्यवस्था की जानी चाहिए । वाटिका-वृक्षवाटिका की व्यवस्था भी की जाय । मनुष्य का मन और शरीर प्रसन्न रहे, इसका भी ध्यान रखा जाय । पशु-विभाग के अन्तर्गत ही पक्षि-विभाग भी कार्यरत हो । इस प्रकार राष्ट्र की उन्नति के लिए कृषि, पशु, वन, स्वास्थ्य, जल आदि विभागों की स्थापना की जानी चाहिए ।

पवनप्रेर्याणि तु तानि भवन्ति, यानि खलु दृढतरपटावरुद्धवायुना स्त्रगत्यनुकूलं नीयन्ते। अथाऽनाग्निवारुणानि च द्विविधानि मनुष्योह्यानि यन्त्रोह्यानि च। तानीमान्यपि सर्वाणि जलयानान्याकार–भेदेन तरणि-द्रोणि-पोतादीनि बहुविधान्येन यथायथं स्वयमूह्यानि। अथाऽऽकाशयानान्यपि चेतनयानानि न भवन्ति। जडयानान्यपि तानि कानिचिदाग्निवारुणानि कानिचिच्चाऽनाग्निवारुणानि। आग्निवारुणानि तु पूर्वमुक्तानि अनाग्निवारुणानि च यन्त्रसहायानि, वायुसहायानि, पारदसहायानि, मन्त्रसहायानि च भवन्ति। तत्र मन्त्रसहायान्यतिदुर्लभानि, पारदसहायान्यपि नाऽतिसुलभानि. वायुसहा–यानि कष्टसाध्यानि शङ्काप्रायाणि च, यन्त्रसहायानि सुलभानि। इत्येवमाकाशगयानानि यथायथं ज्ञेयानि। कानिचिद्यानानि जलस्थलाऽऽकाशेषु त्रिविधऽपि प्रदेशेऽकुण्ठितगतिमन्ति निर्मातुं शक्यन्ते। एतान्यप्याकाशयानान्याकारभेदादिना भिन्नभिन्नानि बहुविधान्येव भवन्ति। राष्ट्रयोगक्षेमार्थं सर्वाण्यपि यानान्यप्रमत्तैः राष्ट्रियैर्यत्नात् कार्याणीति पूर्वकारिकासमन्वयतोऽवगम्यते। एतेन याताऽऽयातविभागाऽवयवभूता एते सर्वेऽपि विभागाः पृथक् पृथक् स्थापनीया इति बोध्यते। तदयं निर्गलितोऽर्थः— राष्ट्रसमुन्नत्यै यातायातविभागः तदवयवभूताश्च मार्गमार्गम्यविभागः, रक्षिविभागः स्थलयानविभागः, जलयानविभागः: आकाशयानविभागः, एवमादयो विभागास्तत्तन्निपुणाध्यक्षमण्डिताः संस्थाप्याः। अत्रेदं च बोध्यम्— सर्वेषामेषां विभागानां योगक्षेमार्थं नानाविधाः शिक्षालयाः स्थापनीया राष्ट्रे। अथ च तत्तत्सङ्ख्या, तत्तद्गमनागमनानां नियमाः, तत्तदायव्ययव्यवस्था, सर्वमपि यथायथं कार्यमिति। विभागाध्यक्षाश्च तत्र तत्र परिषत्सु सभासत्पदेषु नियोज्याः। इदं च बोध्यमेव—सर्वमप्येतत्तेषु तेषु राष्ट्रेषु

शासक कैसे हों? —इसका निरूपण किया जा रहा है :—

राष्ट्रिया शासका स्थाप्या धर्मार्थज्ञानकोविदाः।
दयालवो लोभहीना नूनं राष्ट्रहितैषिभिः॥ 58 ॥

राष्ट्रिहितैषियों को चाहिए कि वे धर्म–अर्थ के ज्ञान में पण्डित, दयालु, लोभहीन राष्ट्रिय शासकों को नियुक्त करें।

राष्ट्रीय उन्नति ज्ञानक्रियाशक्ति के अधीन होती है। सभी कार्य ज्ञान, क्रिया, शक्ति के अधीन हैं। केवल नियम बना देने मात्र से उन्नति नहीं हो सकती

तत्तद्राष्ट्रियैरेव कर्तव्यम् । तत्तद्विभागव्यवस्थापनाय च तास्ताः परिषदः स्थापनीया इति तु पूर्वं निरूपितमेव । इद च बोध्यम्—येषां सविधे यावत्येवांशे याताऽऽयातसाधनानि सुलभानि तावत्येवांशे तानि राष्ट्राणि विजयशालितया सफलकोपप्रसादवत्तया च समस्तकल्याणकरणाय प्रभवन्ति । अतो राष्ट्रपरिषन्नियुक्तै रनियुक्तैश्च सर्वस्य विधाने निपुणं यत्न आस्थेय इति कारिकयैतया बोध्यते । एतद्यानविधानप्रकारालोकतो, ग्रन्थेभ्यो निजनिजबुद्धिविकासबलतश्च यथायथं बोध्याः । तद्वर्णनं नाऽस्य ग्रन्थस्य विषय इति नाऽत्र निरूपितः । एतद्विधानविषये 'युक्तिकल्पतरुसमराङ्गणसूत्रधारादयो ग्रन्था द्रष्टव्याः । इदं तु बोध्यमेव—एतद्विषये ग्रन्था न तादृशं साहाय्यमाचरन्ति. यथा तत्प्रयोगनिपुणपुरुषास्तेषां प्रयोगशालाश्च । एतत्सर्वं शिल्पेष्वन्तर्भवतीति शिल्पशाला अपि यथायथं स्थापनीया इत्यपि ध्वन्यते । अन्यदन्यातोऽवसेयम् । अलमनेन ॥ 56 ॥

वृत्तिव्यवस्थया विना न राष्ट्रव्यवस्था सम्भवति । तां विना च सम्मुन्नतिराकाशकुसुमायते । अतः सा पूर्वं निर्वर्ण्य तदुपयोग्यार्याऽनार्यपरीक्षणाय चारविभागस्थापना वर्णिता । साऽपि सन्देशाऽऽहरणव्यवस्थां विना न सम्भवतीति साऽपि निरूपिता । सन्देशाऽऽहरणमपि यातायातसुव्यवस्थामन्तरेण नोपपद्यते इति साऽपि मार्गयोगक्षेमनिरूपणपुरःसरं नानाविधयानयोगक्षेमव्यवस्था प्रतिपादिता । एवं यातायातविभागस्य साङ्गोपाङ्गस्य निरूपणं विधाय तदुपयोगितयाऽथ च समस्तराष्ट्रस्य समुन्नतावत्यन्तावश्यकतया पशुयोगक्षेमव्यवस्थां साङ्गोपाङ्गां प्रतिपादयितुकाम आह—

प्रतिग्रामं पशुचरा भूमिः कार्या वनं तथा
व्यायामशालाः कासाराः कुल्याः कूपाश्च वाटिकाः ॥ 57॥

है । उन्नति तो उस कार्य के आचरण से होती है । आचारपालन न तो स्वयं किया जाता है, न अन्यों के द्वारा करवाया जाता है, क्योंकि लोग अनेक प्रकार के होते हैं । कुछ लोग आर्य हैं, कुछ अनार्य हैं । शासकों के द्वारा ही एक नियमविधायिका परिषद् स्थापित की जाय, इस परिषद् के भय से लोग नियमों का पालन करेंगे । शासक स्वयं नियमों में बंधे होते हैं ।

अतः नियमों का परिपालन करने वाले ही शासक कहलाने योग्य होते हैं । नियम स्वयं कालभेद से, देशभेद से, वस्तुभेद से विभिन्न प्रकार के होते हैं ।

प्रतिग्राममिति । प्रतिग्रामं—पशुचरा—भूमिः — तथा — वनं—व्यायामशालाः – कासाराः—कुल्याः–कूपाः–वाटिकाः—च – कार्याः । इति पदयोजनिका ।

प्रतिग्रामं = ग्रामे ग्रामे पशुचरा चरन्ति = भक्षयन्ति तृणादींस्ततो गच्छन्ति च यस्यां सा चरा पशूनां = गवादीनां चराचरणार्थं स्थापिता ननु अधिकरणे 'हलश्च' (पा. सू. 3/3/121) इत्यनेन घञि पशुचारा इति स्यात् इति चेच्छ्रूयताम् । नाऽत्राऽधिकरणे घञ् किन्तु घः यद्यपि "गोचरसञ्चर (पा. सू 3/3/119) इत्यादिना गोचर इत्येव निपात्यते न पशुचर इति तथाऽपि गोचरेत्यस्य पशुचरे-त्यस्योपलक्षणतया पशुचर इत्यपि साध्वेव । अनुपलक्षणतायामेवाग्रहे 'खनो घ च' (पा. सू. 3/3/125) इत्यत्र घित्करणसामर्थ्यादन्यतोऽपि घप्रत्ययो भवतीति चेदधिकरणे घप्रत्यये तस्य स्त्रीत्वविवक्षायां टापि पशुशब्देन षष्ठीतत्पुरुष इति समाधेयम् । 'तथा'= अपि च 'वनं'=नानाविधवृक्षवदरण्यं, 'व्यायामशालाः'— शरीरबलवृद्ध्यर्थं विधिना क्रियमाणः परिश्रमप्रकारः तदर्थं शालाः=स्थानविशेषाः 'कासाराः'=तडागाः 'कुल्याः'=अल्पाः कृत्रिमाः सरितः 'कूपाः'= जलाशयविशेषाः सुप्रसिद्धाः 'वाटिकाः'=उपवनानि च 'कार्याः'= विधेयाः । इति । अत्रेदं बोध्यम्—पशवः किल सर्वविधा अपि राष्ट्रस्या-त्युपयोगिनः । एवं तु वस्तुमात्रमत्युपयोगोति विद्वांसो उपयोगविदो जानन्त्येव । तत्राऽपि पशूनामुपयोगस्यावश्यकता तु पदे पदेऽनुभवन्ति मनुष्यमात्राः । तदुपयोगार्थं तेषां योगक्षेमविचारोऽप्यावश्यकः तदर्थ-मेको विभागः पशुविभागोऽध्यक्षादिसहितः स्थापनीय इति बोध्यते । पशवः खलु प्रथमं द्विविधाः हिंस्रा अहिंस्राश्च । हिंस्राः प्रायोऽरण्येष्वेव सञ्चरन्ति । अहिंस्राश्च ग्रामेषु वनेषु च सञ्चरन्ति । द्विविधानामप्युप-

---

नियम बनाने वाले ही शास्त्र ग्रन्थों को लिखते हैं । क्रिया सर्वदा ज्ञान के आधीन रहती है । शासकों के लिए अनुग्रहप्रधान ज्ञानपरतन्त्रक्रिया आवश्यक है । इससे सम्पूर्ण राष्ट्र को ज्ञान के शिखर पर पहुंचाया जा सकता है । निग्रहप्रधान-ज्ञान-परतन्त्रा-क्रिया शासकों में हो, तो वह दोष के रूप में गिनी जाती है । जिस शासन में नियमों का अच्छी प्रकार पालन किया जाता है, वह सुशासन कहलाता है । कुशासन में किसी प्रकार की व्यवस्था नहीं होती है ।

शासकों का दयालु होना भी आवश्यक है । दयालुओं का शासन सुख-दायक होता हैं । प्रचण्ड सूर्य की तरह प्रखर-शासन को सुशासन नहीं कहा जा

योगस्तु भवत्येव । तत्राऽपि अहिंस्राणां तु महानेवोपयोग इति तन्निरूपणं पूर्वमभिधीयते । गजोष्ट्राश्वाश्वतरगर्दभादयः, गोमहिषाजाव्यादयश्च बहुविधाः पशवोऽहिंस्रा येऽतीवोपयोगिनः सर्वेषामप्युपयोगिनां व्यवस्था कार्या। अयं भावः—एतेषां कृते शुद्धं विपुलं तृणं शुद्ध विपुलं जलं चाऽऽवश्यकमिति तद्व्यवस्था कार्या। अथ च ग्रामे-ग्रामे ग्रामस्थमनुष्याणां कृते पर्याप्ता यावन्तः पशवो भवन्ति तावतां कृते ग्रामसमीप एव पर्याप्तप्रमाणा पशुचरभूमिरप्यावश्यिका । अथ च निवासार्थमपि भूमिरथावश्यिका इत्यपि 'पशुचरा' इत्यनेन ध्वन्यते । अयं भावः— पशुविभागः साऽध्यक्षादिकर्मचारिगणसमेतः पशुव्यवस्थार्थं स्थापनीयः । एतद्विभागस्येमानि कृत्यानि अहिंस्रपशूनां तत्र तत्र तृणजलव्यवस्था तद्रोगनिवारणाय पशुचिकित्सालयस्थापना तेषां यथायथमुपयोगः । तेषां क्रयविक्रयव्यवस्था । यथोपयोगं तेषामादानप्रदाने । एवं हिंस्राणां कृतेऽपि व्यवस्था यथायथं कार्या । पशुष्वतीवोपयुक्तानां विशसनं कुर्वाणानां दण्डनम् । इत्यादिसर्वमपि यथायथमूह्यम् । एतद्विषये यथाऽवसरं प्रणेष्यमाणे **पशुपरिचयग्रन्थे** निवेदयिष्यते । अत्रेदं तु बोध्यमेव – पशवः खलु जीवन्तो मृताश्च बहूपकुर्वन्ति मनुष्यान् । तेषामस्थिमांसमज्जाचर्मादि सर्वमप्युपयोक्तुं शक्यं विद्वद्भिः । जीवन्तश्च दुग्धदधिघृतम

सकता है । यह शासन मन को प्रसन्नता प्रदान नहीं कर सकता है। दया से अपना ही दुःख दूर होता है तथा चित्त प्रसन्न होता है । सुयोग्य शासक मैत्री से, करुणा से, मुदिता से, दण्ड से शासन करते हुए प्रजा को तथा अपने चित्त को भी प्रसन्न करके कल्याण का विस्तार करते हैं । योगशास्त्र में भी मैत्री, करुणा आदि गुणों को चित्त को प्रसन्न करने वाला कहा गया है। यदि शर्करा से ही रोग शान्त हो जाय, तो निम्ब का प्रयोग कौन करेगा । भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में अनार्यों को दण्ड देने, सज्जनों के परित्राण तथा मोह को दूर करने का उपदेश दिया है ।

अतः शासकों को लोभहीन होना चाहिए । लोभ शब्द यहां काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर का उपलक्षण है । लोलुप व्यक्ति अनार्य होता है । अनार्यों

लमूत्रादिभिर्भारवहनादिभिः हलचालनादिभिरतोवोपकुर्वन्ति मनुष्य-समाजमिति सर्वोप्युपयागप्रकारं शिक्षयितुं शिक्षालयाः प्रयागालयाश्च स्थाप्याः । सर्वथाऽपि पशूनां योगक्षेमविषयो विशेषतश्चन्तनीयः, तदायत्तत्वाद्राष्ट्रसमुन्नतेः । अथ च राष्ट्रसमुन्नतिसाधनो वनविभागः संस्थापनीयः । वनविभागे वनस्य संरक्षणं नानाविधवृक्षाणामुत्पादनं, ओषधीनां योगक्षेमचिन्तनं तत्रत्यहिंस्राऽहिंस्रपशूनामौचित्येनोपयोगः काष्ठानां क्रयविक्रयव्यवस्थापनमायव्ययव्यवस्थापनं, मृगयाविवेक इत्यादि सर्वमपि वनविभागेऽन्तर्भवति । तत्सर्वमपि यथायथं विद्वद्भि-रूह्यम् । तथा तत्र-तत्र मनुष्याणां पशूनां च शरीरबलसंवर्धनाय व्याया-मशालाः स्थापनीयाः । एतेन राष्ट्रे स्वास्थ्यविभागः संस्थापनीय इति बोध्यते । व्यायामशालाः खलु ग्रामे-ग्रामे स्थापनोयाः । अत्राऽपि विभागे योग्या वृत्तिमन्तो राष्ट्रियाः कर्मचारिणः संस्थाप्याः । अथ च ग्रामे-ग्रामे मनुष्याणां कृते पशूनां कृते च 'कासाराः' 'कुल्याः' कूपाश्च संस्थाप्याः । अयं भावः– पानीयमन्तरा न कोऽपि प्राणी जीवितुं प्रभव-तीति जलव्यवस्थाविभागोऽप्यावश्यकतया सस्थाप्य एव कासारकुल्या-कूपादिनिर्माणैः सर्वत्र यथायथं जलव्यवस्था राष्ट्रियैः कार्येति बोधितं भवति । अयं भावः—कृषिर्जलाधीना भवति, तदर्थं महानद्यादिभ्यः कुल्या निर्गमय्य तद्व्यवस्था कार्या । अथ च कूपादिनिर्माणेन जल-व्यवस्था कार्या । अथ च कासारादिनिर्माणेनाऽपि जलव्यवस्था कार्या । इदं च बोध्यम्—पानादौ जलं सर्वदा निर्मलमुपयोक्तव्यमिति शुद्धजला-

---

का शासन दुःख का मूल होता है । गीता में काम–क्रोध–लोभ को नरक का द्वार बतलाया गया है । लोभ-विषयों की ओर मनुष्य का ध्यान आकर्षित करता है । इससे विषयों का संग होता है । संग से काम उत्पन्न होता है । काम से क्रोध उत्पन्न होता है । क्रोध से सम्मोह, सम्मोह से बुद्धि-भ्रंश तथा बुद्धि-भ्रंश से सर्वनाश होता है ।

निर्लोभता से ही दयालुता प्राप्त हो सकती है । किसी के धन पर अधिक लोभ करना ही विनाश का कारण होता है । अपनी वृत्ति से उपार्जित धन से अधिक आकांक्षा रखना ही लोभ हैं । यह लोभ सभी पापों का मूल कारण है । इसीलिए ईशोपनिषद् में कहा गया है – इस जङ्गमशील जगत् में ईश्वर का

ऽलाभेऽशुद्धजलस्य निर्मलीकरणे यत्न आधेयः। एतेन मार्गेष्वपि पान्थानामर्थे तत्र तत्र प्रपाव्यवस्था कार्येति ध्वन्यते। अथ च 'वाटिकाः'= वृक्षवाटिकाः ग्रामे-ग्रामे स्थापनीयाः। येन खलु चेतः शरीरं च प्रसादमधिगच्छति तत्तद्व्यवस्थापनं कार्यमिति फलितम्। एवं च राष्ट्रसमुन्नत्यर्थं कृषिविभागः पशुविभागो, वनविभागः, स्वास्थ्यविभागो, जलविभागः इत्यादयो विभागाः संस्थापनीयाः। सर्वमप्येतत्परिषन्नियुक्तै राष्ट्रनेतृभिर्यथायथं सम्पादनीयम्। तत्तद्राष्ट्रियाणां तत्तद्राष्ट्रेषु सर्वत्राऽधिकारो न राष्ट्रान्तरे इति तु ध्येयमेव। एषां संरक्षानियमादिसर्वमपि परिषदा कार्यमिति तु स्फुटमेव। सर्वेषां विभागानामध्यक्षा महत्यां राष्ट्रपरिषदि सभासत्पदे नियोज्याः। ग्रामशब्दो मनुष्यवसतीनामुपलक्षणमित्युक्तमेव पूर्वम्। अत्र पशुविभाग आरण्यकाः सिंहव्याघ्रभल्लूकखड्गतरक्षुवृकचित्रकशूकरादयो हिंस्राः मृगरुरुसारङ्गगवयशशादयश्चाहिंस्राः सर्वे यथायथं बोद्धव्याः पक्षिविभागः पशुविभाग एवान्तर्भावनीयः। ग्राम्याः पक्षिणो ग्रामपशुविभागे आरण्यश्चारण्यपशुविभागे समावेशनीयाः। कार्या इत्यनेन विधेयत्वं द्योत्यत एतेषु। अन्यत् सर्वं पूर्ववदेवेत्यलम् ॥57॥

एवं पशुविभागं, कृषिविभागं, वनविभागं, स्वास्थ्यविभागं, जलविभागं, च पूर्वकारिकया (रा.46) प्रतिपाद्य 'नानावेशाः' (रा. 54) इति कारिकया चारविभागस्थापनां प्रतिपाद्य, तत्रात्यन्तमावश्यकं दूतविभागं, पत्राहरणविभागं, गुणाश्रयशब्दाहरणविभागं, निर्गुणाश्रयशब्दाहरणविभागं, प्रसङ्गात् खनिविभागं, विद्युद्विभाग, च "विधेया" (रा. 55) इत्यनया कारिकया प्रतिपाद्य तत्साधकतमं मार्गसौगम्यविभागो, रक्षिविभागः स्थलयानविभागो, जलयानविभाग, आकाशयान-

---

आवास है। अतः उससे अवशिष्ट का भोग करना चाहिए, (लोभवश) किसी का धन न ग्रहण करना चाहिए। इसी लोभ के कारण शासनाधिकारी उत्कोच आदि ग्रहण करते हैं। आर्यराज्यवादियों के मत में राजा अपने मन्त्रिमण्डल की सम्मति से योग्यतानिर्धारणपूर्वक शासकों को शासकीय पदों पर नियुक्त करता है। भगवान् रामचन्द्र जी ने बालि को मारकर उसके स्थान पर उसी के भाई सुग्रीव को नियुक्त किया था। रावण को मार कर उसी के भाई विभीषण को राज्य दिया था। श्रीकृष्ण ने भी जरासन्ध को मारकर उसके पुत्र सहदेव को संस्थापित किया था। अनार्य राष्ट्रवादी अथवा राज्यवादी ऐसा नहीं करते हैं।

विभागश्च पन्थानः (रा.56) इत्यनया कारिकया निर्वर्णितः । एतस्य सर्वस्याऽपि विभागजातस्य व्यवस्थापनं राष्ट्रपरिषदधीनमिति । सा परिषद् द्विधा नियमनिर्माणकारिका शासननिर्माणकारिका चेति पूर्वमुक्तमेव । तत्र शासकाः कीदृशा भवेयुरिति निरूपयन्नाह —

राष्ट्रियाः शासकाः स्थाप्या धर्मार्थज्ञानकोविदाः ।।
दयालवो लोभहीना नूनं राष्ट्रहितैषिभिः ।।58।।

राष्ट्रिया इति । राष्ट्रहितैषिभिः—धर्मार्थज्ञानकोविदाः—दयालवः—लोभहीनाः—राष्ट्रिया—नूनं—शासकाः—स्थाप्याः । इति पदयोजनिका ।

'राष्ट्रहितैषिभि';=राष्ट्रमुक्तलक्षणं तस्य हितं=पारिणामिकमुखमेष्टुं शीलं येषां ते तैः 'धर्मार्थज्ञानकोविदाः'—'धर्मः'=कर्तव्याऽकर्तव्यलक्षणः पूर्वमुक्तः धर्मशास्त्रमिति यावत् । 'अर्थः'=धनं अर्थशास्त्रमिति यावत् तयोः 'ज्ञानं=बोधः तत्र 'कोविदाः'=पण्डिताः 'दयालवः'=करुणायुक्ताः "स्पृहिगृहिपतिदयिनिद्रातन्द्राश्रद्धाभ्य आलुच्" (पा. सू. 3/2/151) इत्यालुच् प्रत्ययः । 'लोभहीनाः'—लोभः=पदार्थानां सत्त्वेऽपि तद्विषयकाऽधिकाऽधिको गर्धः, तेन हीनाः'=रहिताः 'राष्ट्रियाः'=चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धिनो राष्ट्रस्य 'नूनं'=निश्चयेन 'शासकाः'=कर्तव्याऽकर्तव्यपालनकारकाः 'स्थाप्याः'=स्थापनीयाः । इति ।

अस्या अयमभिप्रायः—राष्ट्रसमुन्नति खलु ज्ञानक्रियाशक्त्यधीना । एवं तु सर्वाण्यपि कार्याणि ज्ञानक्रियाशक्त्यधीनान्येवेति सिद्धान्त

इसीलिए उनका शासन दुःशासन हो जाता है । दुःशासन का नाश धर्म से किया जाता है ।

अब शासन-नियम-विधान के सम्बन्ध में निरूपण किया जा रहा है :—

राष्ट्रसञ्चालकान् राष्ट्रज्ञानिनो दूरदर्शिनः ।
राष्ट्रयोगक्षेमचिन्ताकुशलांस्तत्त्वदर्शिनः ।।59।।
नियमानां विधानाय राष्ट्रोन्नतिविधायिनाम् ।
राष्ट्रिया विनियुञ्जीरन्नुपधाभिः परीक्षितान् । 60।।

राष्ट्रीय लोग, राष्ट्र की उन्नति करने वाले नियमों को बनाने के लिए, परीक्षोपायों से परीक्षा करके, जो राष्ट्रज्ञानी हो, दूरदर्शी हो, राष्ट्र के योगक्षेम की चिन्ता में कुशल हों—ऐसे तत्त्वदर्शी-राष्ट्रसञ्चालकों को नियुक्त करें ।

एव । केवलं नियमविधानमात्रेण समुन्नतिर्न भवितुं शक्या=आचारम-
न्तरेण । आचारपालनमपि खलु न स्वयं सर्वैं क्रियते कर्तुं शक्यते वा ।
लोकानामार्यानार्यतारतम्येनाऽनन्तविधत्वात् । यावन्त एवाऽऽर्यत्वाधि-
कविकासशालिनस्तावन्त एव स्वयमपि नियमिताऽऽचारपालनपरायणा-
स्तारतम्येन दृश्यन्ते अनार्यत्वाऽधिकविकासदुर्ललिताः खलु पुनरन्तरेण-
शासकजने शासनं पशव इव केचिच्च हिंस्रपशव इव न स्वयं नियमा-
ऽऽचारेषु प्रवर्तन्ते । ते हि शासकैरेव चतुर्विधनीत्या शासिता नियम-
विधायकपरिषन्नियमितनियमाचारान् भयादिना पालयन्ति । अतः
शासकनिरूपणमतीवाऽवश्यकमिति तन्निरूपयितुमस्याः कारिकाया
आरम्भः । 'शासकाः'=शासनकर्तारः । शासु अनुशिष्टौ ततो ण्वुल्
कर्तरि । अनुशिष्टिः खलु स्वपूर्वभवं कञ्चिद्व्यापारमाक्षिपति । ततश्च
यदेव पूर्वं ज्ञाप्यते तदेवाऽनन्तरं क्रियते इति निसर्गत एव बोधपथमवगा-
हते विदुषाम् । एवं च पूर्वं ज्ञानविषयीकृतस्य ऽऽचारेण सम्भावनं शासन-
मित्युच्यत इति चतुरस्रम् । तेन शासकानां नियमपारतन्त्र्यं बोधितं
भवति । एतेन नियमविरुद्धं शासनं कुर्वाणानां दण्ड्यत्वं बोध्यम् । एवं
च नियमाऽनुकूलऽऽचारपरिपालनकारिणः शासकाः इति फलितम् ।
तेऽपि हि धर्मार्थज्ञानकोविदा एव कार्याः । अयं भावः– नियमाः खलु
कालभेदेन देशभेदेन वस्तुभेदेन च भिन्नभिन्ना भवन्ति, नियमविधा-
तारो हि शास्त्रग्रन्थान् प्राणनयन्ति तदुपयोगप्रयोगांश्च लोकेषु शासकाः
कुर्वन्ति । ते च धर्मार्थोऽभिज्ञाः स्वयमपि तदा तु तेषां शासनं स्पृहणीयं
भवति लोके, अन्यथा परिहरणीयतामेवोपयाति । ज्ञानशक्तेर्विषयो

अप्राप्य की प्राप्ति योग है, प्राप्ति का संरक्षण क्षेम है। ज्ञान के विना क्रिया सम्भव नहीं है । सूक्ष्म क्रिया ही ज्ञान कहलाती है—यह निर्विवाद है। इच्छा-ज्ञान-क्रिया यह तीन भेदों वाली शक्ति एक ही है । जहां ज्ञान प्रधान हो, क्रिया गौण हो—वह पुरुषयुग है । जहां ज्ञान अप्रधान हो, क्रिया प्रधान हो – वह स्त्री युग है । विज्ञान ही अवरोहक्रम से स्थूल स्थूल होता हुआ ज्ञान, क्रिया, विक्रिया रूप को प्राप्त होता है । जिस प्रकार ज्ञान-विज्ञान के आधीन है, उसी प्रकार शासन भी शासन के नियमों के आधीन है । सम्पूर्ण लोक अपनी अपनी उन्नति चाहता है । अवनति को त्यागना चाहता है । जिससे स्वाभाविकरूप से राष्ट्रोन्नति हो, ऐसे नियम बनाने चाहिए ।

स्वाभाविक सर्वतोभद्रनीतिप्रधान और आर्यमतानुसारिणी उन्नति-सर्वोत्तम कृत्रिमसर्वतोभद्रनीतिप्रधान और आर्यमतानुसारिणी उन्नति मध्यम, समष्टिगत

ऽन्यः क्रियाशक्तिश्चाऽन्यः । ज्ञानपरतन्त्रैव क्रिया सर्वदा तिष्ठति। ज्ञानमपि द्विविधम् —आर्यमनार्यं चेति । तत्राऽऽर्यं समस्ताऽनुग्रहप्रधानमनार्यं च निग्रहप्रधानम् । अनुग्रहप्रधानज्ञानपरतन्त्रा क्रिया शासकेष्वावश्यिका यया सर्वमपि राष्ट्रं कल्याणशिखरिशिखरं नीयते। निग्रहप्रधानज्ञानपरतन्त्रा क्रिया शासकेषु दोषत्वेन गण्यते। यया सर्वमपि राष्ट्रमकल्याणरसातलस्थसन्तमसे पात्यत इति पूर्वविधशासकानां शासनं हितकरमिति सर्वेऽपीष्यन्त्युपादेयतया । अपरविधशासकानां च शासनमहितकरमिति सर्वेऽपि हेयतया परिहर्तुमीहन्ते । अत उक्तं धर्मार्थज्ञानकोविदा इति । कर्तव्याऽकर्तव्यरूपधर्मविज्ञा हि कार्यकाले समस्तदेशकालवस्तुपरिस्थिति पूर्णतया विज्ञाय शास्त्रनियमानुपयुञ्जते। अनभिज्ञस्तु केवलं नियमोऽयमिति मन्वान उपर्युपर्येवालोचक इत्यक्षरशो नियमपालनं विनियोक्तुमिच्छति विनियुनक्ति च। अत एव प्राक्तनः शासको लोककल्याणाय प्रभवति। द्वितीयश्च न लोककल्याणाय प्रभवितुं शक्नोति। एवमेवाऽर्थस्य अर्थशास्त्रस्य ज्ञाने यः कोविदः शासकः स सामदानभेददण्डेतिचतुर्विधोपायज्ञ इति यथाशक्य यथायोग्यं च नियमान् विनियुङ्क्ते । अत एव तच्छासनं सुशासनं भवति। यश्च न तत्र कोविदः स न शोभनतया नियमान् विनियोक्तुमर्हतीति तच्छासनमवशमेव कुशासनतामापद्यते। ज्ञानिन इत्यनुक्त्वा ज्ञानकोविदा इति वचनं प्रयोगनैपुणं व्यञ्जयति। ननु कामशास्त्रकोविदत्वं किमिति नोक्तमिति चेदकिंचिदेतत् यतः शासने धर्मार्थयोरेव प्राधान्यं

एकतोभद्रनीतिप्रधान और अनार्य मतानुसारिणी उन्नति अधम तथा व्यक्तिगत अभद्रनीति प्रधान और अनार्यमतानुसारिणी उन्नति अधमाधम होती है। इनमें पूर्व पूर्व श्रेष्ठ और उत्तरोत्तर अधम है। वस्तुतः प्रथम ही सर्वोत्तम है। अतः उसे ही अपनाना चाहिए।

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि संज्ञक अष्टांग योग, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह संज्ञक यम तथा शौच, सन्तोष, तपःस्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान संज्ञक नियम योगसाधन प्रक्रिया के अंग हैं। इनकी स्वाभाविक स्थिति राष्ट्रवादी आर्यों में होती है। इसी प्रकार शासकों के लिए भी कतिपय नियम होते हैं। वे आर्य और अनार्य के तारतम्य से उन्नतिकारी और अवनतिकारी होते हैं। निग्रहशक्ति और अनुग्रहशक्ति के भेद से रुचि और प्रयोगभेद से नियम में निग्रह और अनुग्रह दो शक्तियां कार्य करती है। जिन नियमों में आर्यत्व निग्राह्य है और अनार्यत्व अनुग्राह्य है, वे

दृश्यते न कामस्य । किं च राष्ट्रनेतॄणां तु धर्मार्थकाममोक्षेति चतुर्विधेष्वपि शास्त्रेषु नैपुण्यमावश्यकमिति तु पूर्वमेव 'राष्ट्रनेता' (रा.44) इति कारिकाभाष्ये प्रतिपादितमेव । यस्य यस्य येषु विषयेष्वधिकाऽधिक पाण्डित्यं स स महति पदे प्रतिष्ठातुमर्हतीति स्फुटमेव । अतोऽनुल्लेखनमपि कामकोविदस्य न दोषाऽऽवहमिति जानात्वङ्ग भवान् । अथ च ते शासका दयालव आवश्यकाः । दयालूनां शासनं हि सुखकरं भवति । धर्मार्थज्ञानकोविदाः केचिद्दयालवः केचिददयालवोऽपि भवितुं शक्नुवन्ति । ये तावददयालवस्ते चेच्छासका भवेयुस्तदा तेषां शासनं कठोरतामुपगच्छदुद्वेजयति दुःखिजनम् । प्रतापप्रचण्डस्य सूर्यस्येव प्रखरं शासनं सुशासनमपि न मनसो हार्दमुत्पादयितुं प्रभवति । दयया स्वकीयं दुःखं दूरीभवति, चित्तं च प्रसादमेति । एवमेव परस्याऽपि चित्तं प्रसादमेति दुःखं च दूरीभवति । लोकस्तावच्चतुर्विधो दृश्यते । सुखी दुःखी पुण्यवानपुण्यवांश्चेति । तत्र सुयोग्याः शासका मैत्र्या करुणया, मुदितया, दण्डेन च शासन्तः शास्यानामात्मनश्च चित्तं प्रसादयन्त कल्याणं तन्वते । यद्यपि चित्तप्रसादनोपायेषु योगशास्त्रे "मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्याऽपुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्" (यो.सू.1/33)पुण्यवतामुपेक्षणमुक्तं तथाऽपि लोकशासनेऽनार्याणामपुण्यवतामुपेक्षणे लोक उच्छिद्येतेति तेषां दण्ड एव विधेयः । किं च यदि नाम दण्डमन्तरैव शक्यते लोक आर्यीकर्तुं तदा को नामा-

---

अवनतिकारी नियम अनार्यों के होते हैं । जिन नियमों में अनार्यत्व निग्राह्य और आर्यत्व अनुग्राह्य है, वे उन्नतिकारी नियम आर्यों के होते हैं । परीक्षा किये विना किसी भी वस्तु का पूर्णतया ज्ञान नहीं होता है । नियम-विधान के लिए सर्वोत्कृष्टज्ञान की अत्यन्त आवश्यकता होती है । परीक्षा के प्रकारों के ज्ञान के अभाव में परीक्षा नहीं की जा सकती है । वस्तुतः उपधाएं या परीक्षा के उपाय भी तीन प्रकार के हैं— धर्मोपधा, अर्थोपधा, तथा कामोपधा । यह परीक्षा पहले गुप्तचर विभाग द्वारा की जानी चाहिए । यह परीक्षा प्रकट रूप में नहीं की जाती है । उपधा एक प्रकार का छल ही है । छल यदि प्रकट रूप में किया जाय, तो छल नहीं कहलाता । इस उपधा द्वारा परीक्षण बार बार भी किया जाता है । परीक्षितों की भी परीक्षा की जानी चाहिए ।

परीक्षा कर लेने से उस वस्तु पर विश्वास उत्पन्न हो जाता हैं कि अब यह व्यक्ति इस कार्य को अच्छी प्रकार कर लेगा । यह कभी भी अकार्य नहीं

भिज्ञः शासकः प्रहिणुयात् दण्डम् । सितयैव परिहर्तुं शक्ये रोगे को नाम निम्बं प्रयुञ्जीत बुद्धिमान् भिषक् । अत एवोक्तं दयालव इति । अनार्याणां दण्ड एव दया भवति तत्र दयालुत्वं न दण्डाभावे भवति । दण्डाऽदानं हि तत्र मोहकोटिमुपयाति । अत एव भगवता **पार्थसारथिना पार्थ** उपदिष्टो दण्डदानाय मोहदूरीकरणाय च **गीतासु** । अत एव स्वयमपि प्रतिज्ञातवांस्तत्रैव यथा—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ।। (गी. 4/8) ।

लोकवशङ्करं हि शासनं दयालोरेव भवति युक्तकारितया । अत एवोक्तमपि महाकविना **कालिदासेन**—

स हि सर्वस्य लोकस्य युक्तदण्डतया मनः ।
आददे नाऽतिशीतोष्णो नभस्वानिव दक्षिणः ।। (रघु. 4/8)

अथ च शासका लोभहीना भवेयुः । लोलुभः खल्वनार्यतामधिगच्छति । उक्तमप्यन्यत्र "लोभमूलानि पापानि" इति । अनार्याणां शासनं समस्तदुःखाकरमिति तत्परिहर्तुमिच्छति सर्वोऽपि लोकः । अत्रेदमवगन्तव्यम्—लोभशब्दोऽत्र कामक्रोधलोभमोहमदमत्सरेत्यान्तः शत्रुपदस्योऽपलक्षणम् । सर्वस्याऽपि लोभमूलत्वात् । एतेष्वपि पूर्वत्रयमतिप्रबलमिति तत्परित्यागायाऽतीव प्रयतनीयतोपदिष्टा भगवता श्रीकृष्णेनाऽपि पार्थं प्रति । तथा हि—

करेगा । पूर्णरूपेण जिनके गुण-दोषों को पक्षपातरहित होकर, गुप्त रूप से या प्रकट रूप से माना जाय—वह परीक्षा है । जिन लोगों की दृष्टि केवल विहगावलोकन करने मात्र तक ही सीमित रहती है । उनमें शाश्वतिक विधान की सामर्थ्य नहीं होती है । दूरदर्शी का गुण श्रोत्रिय में होता है । स्मृति में कहा है—"व्यक्ति जन्म से तो शूद्र होता है, संस्कार से वह द्विज कहलाता है । विद्या से वह विप्र होता है, इन तीनों से श्रोत्रिय कहलाता है" । जो वेद का अध्ययन करता है, वह श्रोत्रिय है— यह पाणिनि का कथन है । नियम बनाने के लिए ऐसे श्रोत्रिय-शास्त्रज्ञों की आवश्यकता होती है ।

चिन्ता को आध्यान भी कहा जाता हैं । आध्यान से सब कुछ जाना जा सकता है । अत एव उन-उन में संयम करके उन-उन मूल वस्तुओं का सांगोपांग ज्ञान होता है । जैसे सूर्य पर संयम करने से भुवन का ज्ञान होता हैं । धारणा-

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।।
कामः क्रोधश्च लोभश्च तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ।।
(गी. 16/2/)

आचार्येण तु समस्तानामेषां लोभमूलत्वात्तस्यैवोपादानं कृतम् । अत्रदं बोध्यम्—लोभो हि विषयाणां ध्याने प्रवर्तयति. विषयाणां ध्यानात् विषयेषु सङ्गो भवति, सङ्गात् कामः सञ्जायते, कामात् क्रोधः, क्रोधात्सम्मोहः, सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः, स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धि-नाशः, बुद्धिनाशाद्विनाशो भवति । दयालवोऽपि सलोभाश्चेत्सा दया सम्मोहेऽवश्यमेव परिणममाना विनाशयति शासक स शासनीयम् । उक्तमिदं सर्वमपि गीतासु—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ।।
(गी. 2/62)

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।।
(गी. 2/63)

एवं च दयालुत्वं निर्लोभत्वे नैव वस्तुतो दयालुत्वं भवतीति व्यज्यते । कस्याऽपि खलु धनेऽन्यस्यानुमितो गर्धः, स्ववृत्तिपर्याप्त एव धने स्वकीयतया तदधिकधनस्याकाङ्क्षा लोभ एव भवति स हि सर्व-पापबीजमिति स सर्वदा परिहर्तव्यः । **उक्तमपीदमीशावास्योपनि-षत्सु—**

ध्यान-समाधि-इन तीनों का एक वस्तु में निलयन संयम कहलाता है । आमूल-चूल निरीक्षण के लिए स्वाभिमत वस्तु का उसमें संयम करना चाहिए, क्योंकि बारह गुनी धारणा ही ध्यान हैं और बारह गुना ध्यान ही समाधि अथवा आध्यान हैं । धारणामात्र से यथार्थ वस्तु का ज्ञान नहीं होता है । चित्त का एक देश में निबन्धन धारणा है । प्रत्यय पर एकतानता ध्यान कहलाता है । धारणा में ध्येयाकारिता नहीं होती हैं । ध्यान में ध्येयावृत्याकारिता होती हैं । आध्यान में ध्येय तथा ध्याता की ऐक्यप्रतीति होती है । ये तीनों ही संयम कहलाते हैं । इस संयम से यथाभिलाषित वस्तु की प्राप्ति होती है ।

अव्यवसायात्मिका बुद्धियां ही वृत्तियां कहलाती हैं । उनका विरोध ही श्रेयस्कर है । ऐसी बुद्धियों को ही ब्रह्मगायत्री अथवा धी कहा गया है । जब तक

ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किंच जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ।।
(ई. उ. 1)

एतेन शासकपदनियोजनेऽतीव सुपरीक्ष्य शासकाः स्थाप्या इति बोध्यते । एतेन उत्कोचग्रहणे स्वभावेन न विमुखास्त एव शासका भवितुमर्हन्ति इति ध्वन्यते । वक्ष्यति च स्वयमेवाऽग्रे । अथ च 'राष्ट्रियाः'=चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धिन एव ये राष्ट्रस्य, त एव निश्चयेन स्थाप्याः । राष्ट्रियाणामेव राष्ट्रे स्वत्वात् । पूर्वत्र राष्ट्रियाणामेव सर्वत्र नियोज्यत्वं उक्तेऽपि पुनरपि राष्ट्रिया इति पदस्योपादानं राष्ट्रियेभ्य इतरेषां वर्णितसमस्तगुणसम्पन्नत्वेऽपि शासकपदे अराष्ट्रियाणां नैव नियोजनं कार्यमिति बोधयति । अथ च राष्ट्रहितैषिभिरिति यदुपात्तं राष्ट्रनेतृभिरित्यनुवतमानेऽपि तदुह वाव राष्ट्रान्तरजा अपि चेद्राष्ट्रान्तरहितैषिणस्तेऽपि तत्तद्राष्ट्रेषु तत्तद्राष्ट्रियानेव शासकपदेषु स्थापयेयुः । अत्रेदं बोध्यम् – आर्यराष्ट्रवादिनां मते राष्ट्रियेष्वन्यतमान् शासकगुणमण्डितान् राष्ट्रियेभ्यो निर्णीय यथायथं योग्यतातारतम्यमवलम्ब्य राष्ट्रनेतॄणां महती राष्ट्रपरिषत् तच्छासकपद योग्यपदे शासकान् स्थापयेत् इति बोध्यते । आर्यराज्यवादिनां मते राजा स्वमन्त्रिमण्डलसम्मत्या शासकत्वयोग्यतां निर्धार्य स्थापयति शासकान् शासकपदेषु । अथचैत उभयेऽपि तत्तद्राष्ट्रस्य

अपनी अभिन्नता का ज्ञान नहीं प्राप्त हो जाता, तब तक सब कामों की प्राप्ति नहीं होती है । इसीलिए उपनिषद् में कहा है कि जो अन्य देवता की उपासना करता है, वह अन्य है, मै अन्य हूं, वह कुछ नहीं जानता, वह पशु है । अतएव व्यावहारिक समस्त पदार्थों को आत्मसात् करके ही समस्त पदार्थों का यथार्थ बोध होता है । ध्येय वस्तु ही देवता कहलाता है । ध्येय वस्तु को हृदय में स्थापित किया जाता है । हृदय दर्पण की तरह ग्राहक मात्र है । अतः हृदय का शोधन ही सर्वप्रथम करना चाहिए । विशुद्ध हृदय में सब कुछ प्रतिभासित होता है ।

कुशल शब्द बुद्धि की चतुरता को अभिव्यक्त करता है । कुछ करने में बुद्धिमत्ता अपेक्षित होती है । अतः निरूढलक्षणा से कुशल का अर्थ बुद्धिमान् होता है । ये ही राष्ट्र के योगक्षेम की चिन्ता कर सकते हैं । नीच या सामान्य जन सम्पन्न चिन्ता हित नहीं कर पाती है । अतः राष्ट्र की उन्नति करने वाले

चतुर्विधसम्बन्धिन एव स्थापयन्ति राष्ट्रहितैषित्वात् । न राष्ट्रान्तरजान् राष्ट्रान्तरेषु । इतिहासकोविदा जानन्त्येतत्—भगवता रामचन्द्रेण बालिनं निपात्य सुग्रीवं तत्स्थाने तद्भ्रातरमेव, रावणं निपात्य विभीषणमेव तद्भ्रातरं तत्स्थानेऽस्थापयत अ यंराज्यवादित्वात् । भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रोऽपि भीमसेनेन जरासन्ध निपात्य तत्पुत्रमेव सहदेवं स्थापयामास । एवंविधा बहव इतिहासाः समुप भ्यन्ते, ते तत्र तत्र ग्रन्थेषु द्रष्टव्याः । अनार्यराष्ट्रवादिनो वा राज्यवादिनो वा नैवमाचरन्ति । अत एवैतेषां शासन दुःशासनायते । अत एव दुःशासनस्य भीमेन धर्मेण नाशो विधेय इति निश्चयेन बोध्यते । अत एव नूनं इत्युपात्तम् । एतादृशाः पूर्वोक्ताः शासकाः स्थाप्या एवेति बोध्यते नूनमित्यनेन । स्थापनामां विध्यतिक्रमकारितया राष्ट्रनेतॄणां दण्डः प्रायश्चित्तं चेत्यवगम्यते । अथ च एतादृशा एव स्थाप्या इत्यपि नूनमित्यनेन बोध्यते । भवत्वलमनेन ॥58॥

एवं शासकगुणान् निरूप्य तत्स्थापनं चाऽत्यावश्यकतया निरूप्य शासननियमविधानविषये सम्प्रति निरूपयन्नाह—

राष्ट्रसञ्चालकान् राष्ट्रज्ञानिनो दूरदर्शिनः ।
राष्ट्रयोगक्षेमचिन्ताकुशलांस्तत्त्वदर्शिनः ॥59॥

नियमों का विधान महर्षितुल्य मतिमान् पुरुष करते हैं । मतिमान् ही अपने राष्ट्र के योगक्षेम की चिन्ता कर सकते हैं । योगी लोग भी संयम के विना अतर्कित वस्तु का साक्षात्कार नहीं कर सकते हैं । उनका भी सर्वदा नियम-विधान का अधिकार नहीं है । इसीलिए नियम-विधान के लिए तत्त्वदर्शी होना आवश्यक बताया गया है । परोक्ष से परोक्ष वस्तु को भी जो जानते हैं, उन्हें तत्त्वदर्शी कहा गया है । ज्ञान-प्राप्ति के लिए तत्त्वदर्शियों का प्रणिपात, परिप्रश्न एवं सेवा करने का उपदेश दिया है । एक व्यक्ति के लिए जो वस्तु परोक्ष है (अप्रकट) वह दूसरे के लिए अपरोक्ष (प्रकट) है । बालकों के लिए (मूर्खों के लिए) जो तत्त्ववस्तु है, वह ज्ञानियों के लिए तत्त्ववस्तु न होकर कल्पित वस्तु हो सकती है । अतः रुचिभेद से, मूलदृष्टि भेद से, परस्पर विचारादानप्रदानतारतम्य से नानाविध दृष्टि वाले सद्वादी, असद्वादी, आरम्भवादी, चिद्वादी, अचिद्वादी, परिणामवादी, आनन्दवादी, अनानन्दवादी आदि व्यक्ति चक्रवत् भ्रमण करते रहते हैं । पर इन सब मतों में मूल एक तत्त्व की विद्यमानता है ।

एक से लेकर अनन्त तत्त्व हो सकते हैं, क्योंकि दृष्टियां अनन्त हैं । यह

नियमानां विधानाय राष्ट्रोन्नतिविधायिनाम् ।
राष्ट्रिया विनियुञ्जीरन्नुपधाभिः परीक्षितान् ।।60।।

राष्ट्रसञ्चालकानिति राष्ट्रोन्नतिविधायिनाम्—नियमानां—विधानाय—उपधाभिः—परीक्षितान—राष्ट्रज्ञानिनः—दूरदर्शिनः—राष्ट्रयोगक्षेमचिन्ताकुशलान्— तत्त्वदर्शिनः— राष्ट्रसञ्चालकान्—राष्ट्रिया—विनियुञ्जीरन् । इति पदयोजनिका ।

'राष्ट्रोन्नतिविधायिनाम्'— राष्ट्रं = पूर्वलक्षणलक्षितं तस्य उन्नतिः-उन्नयनमभ्युदितीकरणमिति यावत् । तां विधातुं = कर्तुं शीलं = स्वभावो येषां ते तेषां 'नियमानाम्'—शास्त्राणां 'विधानाय' = रचनाय 'उपधाभिः' = परीक्षोपायैः 'परीक्षितान्' = योग्याऽयोग्यनिर्णयाय परित ईक्षणं परीक्षेत्युच्यते' सा सञ्जाता येषां ते तान् । उक्तमप्य-मरसिंहेन—

भेदोपजापावुपधा धर्माद्यैर्यत्परीक्षणम् ।

'राष्ट्रज्ञानिनः'—राष्ट्रस्य = पूर्वलक्षणलक्षितस्य ज्ञानं = बोधः तदस्ति प्रशस्तं येषां प्राशस्त्ये इनिः । तान् 'दूरदर्शिनः'—दूरं = सुदूरं परिणामपर्यन्तं द्रष्टुं शीलं येषां ताच्छील्ये णिनिः श्रोत्रियानिति यावत् । उक्तमप्यमरसिंहेन—

दूरदर्शी दीर्घदर्शी श्रोत्रियच्छान्दसौ समौ ।

संसार 7, 16, 25, 26, 37, तत्त्वों में विभक्त है । इन्हें भाष्यकार के आत्म-विलास, में समझाया गया है । 36 तत्त्वों का निरूपण "परम स्रोत" में है । मनु ने ब्रह्म को तत्त्वदर्शी बताया है । वे किसी का अकल्याण नहीं करते हैं ।

नियम-विधान की योग्यता किन में होती है अथवा किन लोगों में बनाए हुए नियम राष्ट्र का नाश कर देते हैं, इसका कथन किया जा रहा है ।

निर्मान्ति यत्र नियमानाढ्या विषमदर्शिनः ।।
पीडितश्वासदग्धं तद्राष्ट्रमाशु प्रणश्यति ।।61।।

जहां विषमदर्शी धनी लोग नियम बनाते हैं, वह राष्ट्र पीडित लोगों के निःश्वास से दग्ध होकर शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ।

सभी लोग दुःख का त्याग और सुख की कामना करते हैं । यह मानव मात्र का स्वभाव ही होता हैं । व्यक्ति का सुख समष्टि के सुख के आधीन होता है । राष्ट्र की सुखप्राप्ति एवं राष्ट्र का दुःख-परिहार प्रयत्न से ही हो सकता है । प्रयत्न सुशासन के लिए किया जाता है । दुःशासन से तो दुःख प्राप्त होता है

'राष्ट्रयोगक्षेमचिन्ताकुशलान्'— राष्ट्रस्य= पूर्वलक्षणलक्षितस्य 'योगः'=अविद्यमानस्य सम्पादनम् । क्षेमसमर्जितस्य संरक्षणं तयोः 'चिन्ता'=विचारः तस्यां 'कुशलाः'-निपुणमतयः तान् 'तत्त्वदर्शिनः'— तस्य भावस्तत्त्व तस्य=अपरोक्षस्य वस्तुनः, भावः=धर्मः 'तस्य' भावस्त्वतलौ" (पा. सू. 5/1/119) इति त्वप्रत्यय'। तत्त्व द्रष्टुं शीलं येषां ते ताच्छील्ये णिनिः तान् 'राष्ट्रसञ्चालकान्'—राष्ट्रं=पूर्वलक्षणलक्षितं तस्य सम्यक्=उत्तमप्रकारेण चालकाः=गतिनियन्तारः तान् 'राष्ट्रियाः'—चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धिनो राष्ट्रस्य 'विनियुञ्जीरन्'— संस्थापयेरन् ।

अस्यायमभिप्रायः—ज्ञानमन्तरेण क्रिया सम्भवत्येव नेति तु सिद्धान्त एवं सूक्ष्मक्रियैव ज्ञानं भवतीति तु निर्विवादमेव। अत्रेदं बोध्यम्—इच्छा ज्ञानं क्रिया चेति भेदत्रयवती शक्तिरेकैव। अवस्थातारतम्येन नामत्रयमेतद् भवति। अत्रैकैकाऽपि त्रित्रिप्रकारा तारतम्येन भवति। एतत्सर्वमात्मविलासव्याख्यायां निरूपितं प्रस्तुतभाष्यकृता। भवतु। ज्ञानपरतन्त्रैव क्रिया भवतीति तु नियम एव। तत्रार्यज्ञानपरतन्त्राऽऽर्याणाम्, अनार्यज्ञानपरतन्त्रा अनार्याणाम् । अत्रेदं च बोध्यम् यत्र हि ज्ञानं प्रधानं क्रिया च गौणा तत्पुंयुगम्, ज्ञानमप्रधानं क्रिया च प्रधाना तत् स्त्रीयुगम् । अथ तत्राऽपि ज्ञानक्रियातारतम्येन युगचतुष्टयीव्यवस्था भवतीति सर्वमपि पूर्वं निरूपित वर्तते। पूर्वस्यां

और सुख का नाश होता है। शासन शासक के आधीन होता है। शासक जिन नियमों से शासन करते हैं, उन नियमों को विज्ञान ही प्रमाणित करता है। क्या करने योग्य है? क्या नहीं करने योग्य है? इसमें शास्त्र ही प्रमाण है। भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कहा है—"तस्माच्छास्त्रं प्रमाण ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ"।

पहले शासन के नियम बना लेने चाहिए। किन पुरुषों को यह नियम बनाने चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर दिया जा चुका है कि राष्ट्रसचालकों को नियम बनाने चाहिए। इनके द्वारा बनाये गये नियम ही राष्ट्र की उन्नति कर सकते हैं।

धनवान् आढ्य कहलाते हैं। ये लोग सम्मान के योग्य तो होते ही है। अर्थ काम का साधन है। सम्पूर्ण जीवलोक कामना से युक्त होता है। अनार्य लोग अधर्मानुकूल कार्य से अथवा अकार्य से धन प्राप्त करते हैं और उस धन से

कारिकायां शासकस्थापनमुक्तं तस्य च शासनज्ञानमन्तरा न भवति ज्ञानमिति तद्विषयं निरूपयितुमस्याः कारिकाया आरम्भः। शासनं खलु ज्ञानविज्ञानाधीनम्। विज्ञानमेवाऽवरोहक्रमेण स्थूलं स्थूलं भवत् ज्ञान-क्रियाविक्रियारूपमवगाहमानं तत्तद्युगरूपतां यातीति पूर्वमुक्तमेव प्रस्तुत-भाष्यकृता। ज्ञानं विज्ञानाधीनं यथा तथैव शासनं शासननियमाऽऽ-धीनम्। अतश्च पूर्वं शासननियमनिर्माणमावश्यकमिति तद्विधानं केन कथं च कार्यमिति निरूपयति-राष्ट्रेति। अयमर्थः—सर्वोऽपि जीवलोको निजां निजामुन्नतिमेवाऽऽकाङ्क्षतेऽवनतिं च विजिहासति। तत्र परि-णामदर्शिनः खलु समीचीनतया जानन्त्येतत्। यत् समष्ट्युन्नति-मन्तरेण न व्यष्ट्युन्नतिः सम्भवतीति। अत उपदिश्यते यत्–राष्ट्रोन्नति-विधायिनां नियमानां विधानायेति। शासकाः खलु शासननियमपरतन्त्रा भवन्ति। शासननियमाश्च तथा विधेया यथा राष्ट्रोन्नतिर्भवेत् उन्नति-श्च स्वाभाविकसर्वतोभद्रनीतिप्रधानाऽऽर्यमताऽनुसारिणी सर्वोत्तमा, कृत्रिमसर्वतोभद्रनीतिप्रधानार्यमताऽनुसारिणो मध्यमा, सङ्घैकतोऽभद्र-नीतिप्रधनाऽनार्यमताऽनुसारिण्यधमा, व्यक्त्यैकतोभद्रनीतिप्रधाना-ऽनार्यमताऽनुसारिण्यधमाऽधमा। अत्र पूर्वा पूर्वा श्रेष्ठा उत्तरोत्तराऽधमा। एवं चतुर्विधायामपि प्रथमोन्नतेरेव सर्वश्रेष्ठतया तादृगुन्नतिरेव कार्या-र्यैरिति द्योतयितुमेव राष्ट्रोन्नतीत्युक्तम्। राष्ट्राणामुन्नती राष्ट्रोन्नतिः राष्ट्रत्वाऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नानां योऽभ्युदयः। एतेन नियमविधाय-केष्वार्यराष्ट्रवादिनां प्राधान्यं प्रदर्शितम्। अयमर्थः—सर्वाऽण्यपि

अपनी कामनाओं की पूर्ति करते हैं। अतः वे विषमदर्शी कहलाते हैं। अर्थ केवल बाह्य अपेक्षाओं की पूर्ति करता है। अतः अर्थ की निन्दा ही की गई है। मनु ने तो विद्या को सर्वश्रेष्ठ वस्तु माना है तथा अर्थ को अधम वस्तु माना है। यथा-"वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी"। यदि अर्थ धर्मोन्मुख हो, तो स्वर्ण में सुगन्ध जैसा होगा।

विषमदर्शी होने के कारण धनवानों को नियमविधान के अयोग्य माना है। धन-भोगों में विषमता उत्पन्न करता है। अन्य लोगों की अपेक्षा धनी लोगों की बुभुक्षा बलवती होती है। आशय यह है कि जब अपूर्णदर्शी और असमानदर्शी नियम बनायेंगे, तो वे नियम मात्स्यन्याय से समस्त राष्ट्रवासियों को उत्पीडित करेंगे तथा उन उत्पीडित व्यक्तियों के सन्तप्त श्वास-निश्वासों से समस्त राष्ट्र जल उठेगा। किसी महान् पुरुष ने कहा भी है :—

राष्ट्राणि परस्परमविरोधेन यैर्नियमैर्वर्तेरन् ते नियमा विधातव्याः । सर्वाण्यपि राष्ट्राणि स्वस्वराष्ट्रस्य चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धिनां करशासितानि भवेयुरिति । अथ च ये व्यक्तिशासनमीहन्ते तेऽपि बोध्यन्ते व्यक्त्युन्नतिविधायकनियमैर्नोन्नतिर्भवितु शक्यत इति राष्ट्रोन्नतिविधायकनियमानां विधानायेति । एतेन व्यक्तिदृष्टयः सङ्कुचितमतय इति नियमविधाने सर्वथा परिहर्तव्याः । अथ च व्यक्त्युन्नतिकारका राष्ट्रोन्नतिविरोधिनो, राष्ट्रोन्नत्युपेक्षकाश्च नियमा न नियमत्वेन बोद्धयाऽऽर्यैरिति ध्वन्यते । किं च स्वभावेनैव राष्ट्रोन्नतिर्भवति । तादृशो नियमा विधातव्या इति बोध्यते । एतेनाऽऽर्यराष्ट्रवादप्रसार एवोन्नतिरिति ध्वनितम् । तत्साधनाश्च नियमा उन्नतिविधायिनः । अत एव न 'स्वराष्ट्रोन्नतिविधायिन' इत्युक्तम् ।

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम् ।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥

इत्युक्तनीत्या सर्वेषामपि राष्ट्राणामुन्नतिर्यैर्नियमैर्भवति तथा विधानां नियमानां विधानायेति । अथ च 'नियमानां'—नितरां=अत्यन्तं यमाः=उपरामकाः ये खलु अनार्यान्निगृह्याऽऽर्याननुगृह्यात्यन्तमुपरामयन्ति ज्ञानविशेषा अन्तः करणवृत्तय इति यावत् ते नियमा इत्युच्यन्ते । अत एव योगलाभाय प्रथममेव यमनियमाः साधनतयोपदिष्टाः ।

मा दुर्बलं पीडयत यस्य श्वासोऽति वीर्यवान ।
दहति श्वासतो लौहं भस्त्राभिमृगचर्मजा ।।)

दुरबल को न सताइये जाकी मोटी हाय ।
मरी खाल की सांस सो लौह भसम है जाय ॥

राष्ट्र में सभी शान्ति और सुख के इच्छुक होते हैं । यह शान्ति-सुख आर्य राष्ट्रवादी शासन में ही सम्भव है, अन्य में नहीं । बन्दर यदि अदरक का स्वाद नहीं जानता, तो मनुष्य का क्या दोष । विषमदर्शी भले ही राष्ट्रहितकारी नियम-विधान न जानते हों, समदर्शी तो जानते ही हैं । अतः नियम-विधान में विषमदर्शी को नियुक्त नहीं करना चाहिए ।

नियम बनाने वाले शासकों में कौन गुरुतर है ? इसका निरूपण किया जा रहा है :—

न हीयते यथा राष्ट्रं शासके सत्यराष्ट्रिये ।
अराष्ट्रिये सति यथा नियमानां विधातरि ॥ 62 ॥

तथा हि पातञ्जले योगशास्त्रे "यमनियमाऽऽसनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि" (यो.सू 2/29) इत्युक्त्वा "अहिंसासत्याऽस्तेयब्रह्मचर्याऽपरिग्रहा यमाः"(यो.सू.2/30) "शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधाना नियमाः" (यो. सू. 2/32) इत्युक्तम् । एतेषां यमनियमानां स्वाभाविकरूपेण स्थितिरार्यराष्ट्रवादिष्वेव सम्भवति । एवं च तादृशान्तःकरणाऽभिप्रायाणां प्रकाशका आनुपूर्वीविशेषविशिष्टवाक्यानि शासकानां कृते नियमाः, शासनानि, शास्त्राणि, इत्यभिधा भवन्ति । एतेन राष्ट्रोन्नत्यवनतिमूलानि ज्ञानविशेषाणि नियमा भवन्तीति बोध्यते । ते च परस्परमापेक्षिकभावेन, आर्याऽनार्यतारतम्येनोन्नतिविधायिनोऽवनतिविधायिनश्च भवन्ति । अयं भावः—उपरामकत्वं हि द्विविधशक्त्यधीनम् । निग्रहशक्तिरेकाऽनुग्रहशक्तिश्चैका । अनयो रुचिभेदमूलेन प्रयोगज्ञानेच्छाभेदेनाऽऽनुलोम्यप्रतिलोम्यभेदेन द्विविधमुपरामकत्वं तच्चात्यन्तं द्वयोरपि नियमपदाऽभिधेयम् । आर्यत्वं निग्राह्यमनार्यत्वं चाऽनुग्राह्यं यत्र नियमेषु बोध्यते तेऽवनतिकारिणो नियमा अनार्याणां विधेयविषयतामवगाहन्ते । आर्यत्वमनुग्राह्यमनार्यत्वं च निग्राह्यं यत्र नियमेषु बोध्यते त उन्नतिकारिणो नियमा आर्याणाम् । एवं च समस्तराष्ट्रोन्नतिं स्वभावेनैव ये विदध्युस्तादृशां शास्त्राणां विधानमावश्यकमिति बोध्यते । 'विधानाय'=विरचनाय "तादर्थ्ये चतुर्थी" "कष्टाय क्रमणे"

अराष्ट्रिय शासक के होने पर राष्ट्र उतना नष्ट नहीं होता, या राष्ट्र की उतनी हानि नहीं होती, जितना नियमों के बनाने वाले अराष्ट्रिय शासक के होने पर होता है ।

शासन को पहले जाना जाता है तत्पश्चात् शासन किया जाता हैं । बोध के विना क्रिया का उदय ही नहीं होता है--यह प्राकृतिक नियम है । शासनक्रिया की सभी आकांक्षा करते ही हैं ।

जो राष्ट्र अपने दुर्भाग्य से, अपने प्रमाद से, आलस्य से, परस्पर प्रेम के अभाव से, प्राकृतिक विपदा से परतन्त्र हो चुके हैं, उनमें अनार्य शासकों को शासन न करने दो, नियम बनाने में अनार्यों को नियुक्त न करो । भोजन करते हुए व्यक्ति को 'भोजन मत कर' यह कहना व्यर्थ ही है । उन परतन्त्र राष्ट्रों के उद्धार के लिए क्या करना चाहिए—इसका निरूपण करना ही होगा ।

जो राष्ट्र परतन्त्र हैं, वे सर्वप्रथम अपनी उन्नति के लिए स्वयं नियम बनावे । तदनन्तर शासन को भी उसके नियमों के अनुकूल करने का प्रयत्न करें ।

(पा. सू. 3/1/14) इत्यादिनिर्देशात् । विधानशब्द उल्लङ्घनाऽनर्हत्वं, उल्लङ्घने च दण्ड्यत्वं, प्रायश्चित्तीयत्वं, कल्याणराहित्यं च ध्वनयति । एवं चैतदर्थमपरीक्षितानामनियोज्यत्वं बोधयितुमाह—उपधाभि: परीक्षितान् इति । अत्रेदं बोध्यम्—शासकानां नियमपारतन्त्र्यात् शासननियमप्रणेतृ़णां च शासकाऽपेक्षया स्वातन्त्र्याद् गौरवाऽतिशयेन राष्ट्रं प्रति विशेषतो भारोद्वहनसामर्थ्यवत्त्वमपेक्ष्यते नियमविधायिषु । अत एव शासकनियोजने तद्गुणवर्णनमात्रं विहितं न परीक्षितत्वम् ।

अयं भाव: परीक्षामन्तरेण हि न कस्याऽपि वस्तुनो भवति पूर्णतया ज्ञानमिति लक्षणवर्णनेनैव परीक्षाऽपि सर्वेषां कर्तव्यत्वेन बोध्यते । एतावत्यपि नियमविधानाय नियोज्यानां सर्वोत्कृष्टत्वज्ञानस्याऽत्यन्तमावश्यकत्वमिति बोधनाय परीक्षितं बोधयति । परीक्षाप्रकारज्ञानाऽभावे न परीक्षा कर्तुं शक्यत इति तत्प्रकारं च वदति—उपधाभिरिति । 'उपधा'=परीक्षोपाया: । इयं त्रिधा धर्मोपधा, अर्थोपधा, कामोपधा च । त्रिविधयाऽप्युपधया परीक्षिता: कार्या नियमविधायिन: । ये हि तत्र समुत्तीर्णास्ते विनियोगार्हा भवन्ति । इदमत्र बोध्यम्—इयं परीक्षा प्रथमं चारविभागद्वारा कार्या । प्राकट्येन नैषा

शासकों में नियम की परतन्त्रता होती है । नियम यदि राष्ट्रियों से बनाए गए हैं और शासक यदि राष्ट्रीय है, तो वैसी हानि नहीं होती है । जैसी अराष्ट्रियों के द्वारा बनाए नियमों की स्थिति में होती है ।

यदि कार्य में दोष हो और कारण निर्दोष हो, तो नियमों में संशोधन सहज ही किया जा सकता है, परन्तु कारण में ही दोष हो, तो संशोधन करना कठिन होगा । अत: भ्रम या प्रमाद से शासक यदि अराष्ट्रिय है, तो उतनी हानि नहीं है जैसे नियम बनाने वालों के अराष्ट्रिय होने पर । इस प्रकार नियमों के निर्माण में अराष्ट्रियों को बिल्कुल नियुक्त नहीं करना चाहिए तथा न इस हेतु अनुमति दी जानी चाहिए । प्रत्युत निषेध करना चाहिए, क्योंकि निषेध न करना (भी) अनुमत (ही) माना जाता है । मनु ने कहा भी है :—

या तो उस सभा में प्रवेश ही मत करो, प्रवेश कर लिया है, तो उचित बात अवश्य कहो । उचित बात को न कहने वाला अथवा अनुचित बात को कहने वाला व्यक्ति पाप का भागी होता है ।

परीक्षा भवतीति नीतिरहस्यम् । अत एवोपधाभिरित्युक्तम् । उपधा= छलः, छलश्च यदि प्राकट्येन तदा छलत्वमेव नश्यतीति । उपधाभिरिति बहुवचनं तु "जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्" (पा. सू. 4/2/58) इति सूत्रेण । तच्च समस्ताभिरप्युपधाभिः परीक्षणमावश्यकत्वेन बोधयति । अनन्तरं चाऽन्येषां लक्षण प्राकट्येनाऽपि परीक्षितुं शक्यते तदपि परीक्ष्यमेव । नियमविधायकाधीनत्वात् समस्ताया अपि राष्ट्रोन्नतेः । इदं च बोध्यमत्र-उपधाभिः परीक्षणं खलु वारं वारमपि कार्यमेव । परीक्षिता अपि परीक्षणीया एव । अतएवोक्तमपि नयविद्भिः—

न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्तेऽपि न विश्वसेत् ।

परीक्षया खलु विश्वास उपजायते, यदयं खल्वस्मिन् कार्ये नियुक्तः सर्वतोभावेन सम्पादयिष्यत्येनत् कार्यं यथायथम् । न च कदाऽपि प्रमादादिनाऽप्यकार्यमाचरिष्यतीति । नियमविधायिनां खलु पदमत्युत्तममित्यनेन बोध्यते । एतदाह—परीक्षितात् । परितः समन्ततः । उक्तं कोशे च—

परिः समन्ततोभावप्राप्तिदोषक्रयासु च ।

ईक्षा=दर्शनं ज्ञानमिति यावत् सा सम्यग् जाता येषां ते तान् । अयं भावः—सर्वतोभावेन येषां गुणा दोषाश्च निष्पक्षपातभावेनोचितो-

---

शासक पद पर नियुक्त राष्ट्रीय व्यक्ति भी भ्रम, प्रमाद आदि के कारण भिन्न मति वाले होते हैं । वे राष्ट्र को जितनी हानि पहुंचाते हैं, वह हानि तो न्यून ही है, किन्तु जब मूर्ख लोग शासन के पद पर प्रतिष्ठित होते हैं, तो राष्ट्र को अधिक हानि की सम्भावना रहती है । अतः राष्ट्रिय ही सर्वथा स्तुति योग्य है । राष्ट्रिय लोगों को ही नियम बनाने वाले पदों पर नियुक्त किया जाना चाहिए ।

सभी राष्ट्रों के हित साधन के लिए, परस्पर सामञ्जस्य के निर्वाह के लिए, कलह के निराकरण के लिए, सुमतिस्थापन के लिए एक महती राष्ट्रपरिषद् की आवश्यकता है । उस परिषद् में उन-उन राष्ट्रों के अध्यक्ष एकत्रित होकर समस्त राष्ट्र के लिए हितकारक नियमों का प्रणयन करें । (निष्कर्षतः) अराष्ट्रियों को बिल्कुल प्रश्रय नहीं देना चाहिए । अराष्ट्रीय अध्यक्ष पद पर पहुंच कर आत्मीयता

पायैर्गूढतया प्राकट्येन च ज्ञाता इति । एवमपि व्याख्येयम्—उपधाभि-रिति सहार्थे तृतीया, उपधाभिः सहितान् परीक्षितान् । अयमर्थः—ये हि राष्ट्रज्ञानवैचक्षण्यवत्तयोपधाभिः सहिता भवन्ति, अन्येषां परीक्ष-कत्वसामर्थ्यवन्तो भवन्ति तथाविधान् । अथ च परीक्षितान् परितः=आसमन्तात् ईक्षितं=ज्ञानं तदस्ति येषां मत्वर्थे "अर्शआदिभ्योऽच्" (पा. सू. 5/2/127) इत्यनेनाच् प्रत्ययः । ते तान् । ते उपधावन्तो त एव परेषां परीक्षणेऽपि समर्थास्तान् इति । एतेन धर्मार्थकामकोविदत्वं ध्वन्यते । अथ च 'राष्ट्रज्ञानिनः'—राष्ट्रं तज्ज्ञानं तदुपायाश्च पूर्वं यथा-यथं वर्णिताः तत्प्रशस्तं येषां प्राशस्त्ये मत्वर्थ इनिः । तेन सर्वविधराष्ट्र-ज्ञानवैचक्षण्यवत्त्वं ध्वन्यते । अथ च 'दूरदर्शिनः'--दूरं=परिणामपर्यन्तं द्रष्टुं शीलं येषां तान् । अयं भावः—उपर्युपर्यापातमात्रदर्शिनां नियो-जने न शाश्वतिकोन्नतिनियमविधानसामर्थ्यं भवतीति ध्वन्यते । ताच्छी-ल्यणिनिना च स्वभावेनैव ये परिणामदर्शिनो भवन्ति, त एव समस्त-कल्याणकारिनियमप्रणयने सामर्थ्यवन्त इति च ध्वन्यते । जन्मसंस्कार-विद्यासम्पन्ना विनियोजने नियमविधायिन्यां परिषदि योग्या इति ध्वन्यते । दूरदर्शित्वं श्रोत्रिये भवतीत्यत एवामरसिंहे नाऽपि तथोक्तम् । उक्तं पूर्वं यथा चेदं तथा प्रस्तुतभाष्यकृतैव श्रोत्रियलक्षणं स्मृति-ष्वेवमुक्तम्—

के अभाव में करुणाविहीन होकर वैषम्य उत्पन्न करने वाले नियम बनाकर अहित ही करेंगे । वस्तुतः राष्ट्रिय ही राष्ट्र का हित या अहित समझते और करने में समर्थ होते हैं । नीति में कहा गया है कि प्रसववेदना का ज्ञान वन्ध्या को नहीं होता है । अतः नियम प्रणेता राष्ट्रिय ही होने चाहिए ।

अराष्ट्रीय जनों द्वारा निर्मित नियमों को जो मानते हैं, वे राष्ट्र का नाश कर देते हैं—इसका निरूपण किया जा रहा है :—

ये मानयन्ति नियमानराष्ट्रियकृतान् किल ।
दुर्भगास्ते विनश्यन्ति राष्ट्रमाशु कुबुद्धयः ।। 63 ।।

जो अराष्ट्रियों द्वारा बनाये गये नियमों को मानते हैं, वे दुर्भाग्यशाली कुबुद्धि (पुरुष) राष्ट्र का शीघ्र ही नाश कर डालते हैं ।

राष्ट्र के उत्थान-पतन का आभास राष्ट्रियों को ही होता है । नियमों को बनाने का अधिकार भी राष्ट्रियों का ही है । यदि राष्ट्रिय लोग अकार्य करेंगे, तो वे राष्ट्र के नाश का कारण बनेंगे । कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य बोधक शास्त्र ही नियम है । यदि उन शास्त्रों का निर्माण अराष्ट्रियों ने किया है, तो उन शास्त्रों को नहीं

जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते ।
विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते ।।

यः किल छन्दोऽधीते स श्रोत्रियः इत्याचार्यः पाणिनिराह "श्रोत्रियश्छन्दोऽधीते" (पा. सू. 5/2/84) इति । छन्दः=वेदः । अत एव "छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ती" त्युच्यते । नियमविधानायैतादृश एव खलु योग्यत्वमुचितम् । अस्तु । अथ च 'राष्ट्रयोगक्षेमचिन्ताकुशलान्'--राष्ट्रं=पूर्वलक्षितमेव । अत्राऽपि स्वपरादिपदाऽभावे नाऽऽर्यराष्ट्रवादित्वं ध्वन्यते । तेन राष्ट्रत्वाऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नानां समस्तानां राष्ट्राणां सङ्ग्रहः । तदयमभिप्रायः--यत्र यत्र राष्ट्रे यद्यन्नास्त्यावश्यकता च वर्तते तस्य योगः= आर्यराष्ट्रवादिनीत्या समर्जनं क्षेमं-यद्यच्चास्ति हातुं चाऽयोग्यं तस्याऽर्यराष्ट्रवादिनीत्या संरक्षणम । किं च तेनाहितकारितया बुद्धस्य प्राप्तिप्रतिबन्धनं, वर्तमानस्य चाऽहितकारित्वेनाऽऽकलितस्य हानं च बोध्यते । एवं च योगक्षेमयोश्चिन्ता=विचारः । अत्रेदं बोध्यम्—चिन्तापदेनाऽऽध्यानमुच्यते । उक्तमप्यमरेण—

स्याच्चिन्ता स्मृतिराध्यानमुत्कण्ठोत्कलिके समे ।।

आध्यानेन खलु सर्वमवगन्तुं शक्यते । अत एव योगशास्त्रे तत्तत्संयमेन तत्तन्मूलवस्तुनः साङ्गोपाङ्गं ज्ञानं भवतीत्युक्तम् । यथा "भुवनज्ञानं सूर्यसंयमात्" (यो. सू. 3/26) इत्यादि । सर्वमप्येतद्विभूतिपादे पातञ्जले योगशास्त्रे स्पष्टम् । अत्र च कारिकायां चिन्तापदेनाऽऽध्यानं समाध्यपरपर्यायमुक्तम् । आसमन्ताद् ध्यानमाध्यानम् । संयम इत्यर्थः । अत एव संयमपदव्याख्याने भगवान् पतञ्जलिराह 'त्रयमेकत्र संयमः"

मानना चाहिए, क्योंकि उन शास्त्रों में अवश्य अराष्ट्रिय तत्त्व होंगे । परतन्त्र होने से उन अराष्ट्रियों को शासक पद से अथवा नियामक पद से च्युत भी नहीं किया जा सकता है । उनको मिटाना तो असम्भव है, क्योंकि दण्ड का भय भी रहता है । किन्तु राष्ट्र के उत्थान हेतु हृदय की इस दुर्बलता को त्यागना ही होगा । गीता में भी कहा है--"क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ" अर्थात् हे अर्जुन नपुंसकता को मत प्राप्त होओ ।

परतन्त्र राष्ट्र को स्वतन्त्र करने के लिए अराष्ट्रिय-शासकों के द्वारा बनाये गये नियमों को भंग करना ही होगा । मृत्यु तो प्राणिमात्र के लिए अवश्यम्भावी हैं । जो मरना नहीं जानते, वे अपने राष्ट्र जीवन को अधिकाधिक परतन्त्रता के जाल में दृढ़ता से बांधते हुए राष्ट्रघाती हो जाते हैं । आर्य लोग परतन्त्र होते

(यो. सू. 3/4) इति । धारणाध्यानसमाधीनां त्रयाणामेकत्र वस्तुनि यत्र कुत्राऽपि निलयनं संयम इत्युच्यत इति हि तदर्थः । इदमत्र रहस्यम्—आमूलचूलं निरीक्षणाय स्वाऽभिमतस्य वस्तुनस्तत्र संयमो विधेयस्तेन सर्वमपि यथावद्गृहीतं भविष्यति । आध्यानोपदेशेन धारणाध्यानयोः स्वयमेव ग्रहणं भवति । यतः खलु द्वादशगुणिता धारणा ध्यानं, द्वादशगुणितं च ध्यानमेव समाधिर्वा आध्यानमिति वा सङ्केत्यते रहस्यविद्भिः । अयं भावः-धारणामात्रेण न यथार्थाऽवगमो भवतीति द्योतयितुमुक्तमत्र चिन्तेति । चित्तस्यैकदेशे बन्धनं हि धारणा । उक्तं च **योगशास्त्रे**— 'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा' (यो. सू. 3/1) इति । अथ च ध्यानकोटिप्रविष्टयाऽपि धारणया न पूर्णतयाऽर्थाऽवगमो यथार्थतया । ध्यानं चैवं लक्षितं **योगशास्त्रे** एव—"तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्" (यो. सू. 3/2) इति । ध्येयत्वेनाऽभिमते प्रतीत्येकाग्रता ध्यानमिति च तदर्थः । अत्रेदं रहस्यम्—धारणायां न ध्येयाऽऽकारता ध्याने च ध्येयवृत्त्याकारता भवति । आध्याने च ध्येयध्यातुरैक्यप्रतीतिर्भवति तदेवैतत्त्रयं संयमपदाऽभिधेयतामेति । तेनाऽनेन संयमेन यथाऽभिलषितवस्तुनो याथात्म्यमवगम्यते । प्राकृतो लोकः खलु यं व्यापारं चिन्तात्वेनाऽवबुध्यते सा न वस्तुतश्चिन्ता किन्तु बाह्यवृत्तिप्रसारणं तद्वासनाजालनिर्माणप्रायम् । अत एव तादृश्या चिन्तया यथार्थबोधप्राप्तिमाकाङ्-

---

हुए भी ऐसे नियमों को भंग तो कर ही सकते हैं । यदि वे नियम-भंग न करके अराष्ट्रिय शासकों को हमारे राजा है ऐसा मानकर उनके बनाए नियमों का पालन करवाते हैं या स्वयं करते हैं अथवा दूसरों को ऐसा समझाते हैं तो वे निश्चय ही दुर्भग (अर्थात ऐश्वर्य, धर्म, यश, लक्ष्मी, ज्ञान, वैराग्य आदि से हीन) होते हैं ।

जो परतन्त्र होते हैं, वे सर्वप्रथम दरिद्र होते हैं । एक दरिद्रता करोडों गुणों का नाश कर देती हैं । दरिद्रता ही समस्त आपत्तियों का स्थान है । नीतिशास्त्र के सुभाषितों में इसका अनेकत्र उल्लेख हुआ हैं ।

जो यह मानते हैं कि शासकों के नियमों का अवश्य पालन करना चाहिए, वे तो कायर एवं भीरु होते हैं । वे प्रायः राष्ट्रज्ञानवैचक्षण्य से हीन होते हैं, क्योंकि वे भावी दुर्घटना को नहीं देखते है । आर्य भी परतन्त्रता के कारण अथवा लोभ से अराष्ट्रिमों के नियमों को मानते हैं, वे कुबुद्धि, दुर्भग कहलाते हैं तथा शीघ्र ही राष्ट्र को नष्ट कर देते हैं । अतः सदा राष्ट्रवादी ही नियमप्रणयन के लिए प्रार्थनीय हैं । क्योंकि वे ही राष्ट्रज्ञान-विचक्षण, समदर्शी, राष्ट्र-

क्षमाणोऽवशमेवाऽयथार्थबोधाऽवटे निपतति । अत एव भगवानपि श्रीकृष्णः पार्थं प्रत्येवं बोधयन्नाह--

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ (गी. 2/41)

अव्यवसायात्मिका बुद्धय एव वृत्तय इत्युच्यन्ते । तेषां निरोध एव श्रेयस्करः । अत एव तादृग बुद्धय एव ब्रह्मगायत्र्या 'धिय' इत्युक्तास्तेषां शोधनायैवात्मनः परप्रकाशस्याऽभेदभावनमेव यथार्थज्ञानसाधनत्वेनोपदिष्टम् । यावत्कालं स्वाऽभिन्नताज्ञानं न प्राप्यते तावन्न सर्वकामताऽऽवाप्तिः । स्वात्मरूपेणाऽवगते तस्मिंस्तस्मिन् वस्तुनि तत्तत्कामाऽऽवाप्तिर्भवति । उक्तमेतत्प्रस्तुतभाष्यकृतैव स्वनिर्मिते देवीस्तोत्रे मन्दाक्रान्ताशतके यथा –

एवं वाणी तदनु मदनं शक्तिबीजं तृतीयं ।
सेवोपास्तिप्रकरणयुतं देशिकेन्द्रादवाप्य ॥
यं यं कामं मनसि कुरुते तं तमाप्नोति सद्यः ।
स्वात्माऽऽकारां जननि सततं त्वां नरः सेवमानः ॥

अत एवोपनिषत्सूपदिश्यते "योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहं न स वेद यथा पशुः इति । अत एव व्यावहारिकसमस्तपदार्थानामात्मसात्कारेण समस्तपदार्थसार्थयथार्थबोधमनुप्रयाति । उक्तमप्यत एव त्रिपुरोपनिषत्सु—

हितकारी और तत्त्वदर्शी होते हैं, अराष्ट्रियों तथा अयोग्य शासकों का निरूपण किया जा रहा है :—

उत्कोचग्राहिणो राष्ट्रद्रोहिणो व्यसने रताः।
अराष्ट्रियाश्च भवितुं नार्हन्ति किल शासकाः ॥ 64 ॥

जो उत्कोच (घूस) ग्रहण करते हों, जो राष्ट्रद्रोही हों, जो व्यसनों में निमग्न हों, जो अराष्ट्रिय हों—वे निश्चय ही शासक होने योग्य नहीं होते हैं।

समस्त लोक से शान्ति-स्थापना के लिए सुशासन का प्रबन्ध करना आवश्यक है, वह प्रबन्ध शासक के अधीन है। अब शासक ऐसे गुणों वाले स्थापित किए जाने चाहिए। यह बात पहले बता चुके हैं। जिन शासकों में अनेक प्रकार के दोष हैं, उन्हें बाहर निकालने के लिए उनके दोषों का निरूपण किया जा रहा है।

परतन्त्र राष्ट्रों में परतन्त्रता के कारण शीघ्रता में जिन शासकों की नियुक्ति की जाती है, वे शासक होने योग्य नहीं होते हैं। उनका राष्ट्र से प्रेम

परिस्रुतं मूषमाजं पलं च भक्तानि योनीः सुपरिष्कृताश्च ।
निवेदयन्देवतायै महत्यै स्वात्मीकृत्य सुकृती सिद्धिमेति ।

ध्येयं वस्तु देवतेत्युच्यते । अत एव ध्येयस्य हृदये एव न्यासो भवति हृदयं च दर्पणवद् ग्राहकमात्रम् । अत एव हृदयशोधनमेव पूर्वं कार्यमित्युपदिश्यते महागुरुभिः । विशुद्धे हृदये सर्वमपि यथावत्प्रतिभासमेति । अलमनेन रहस्योद्घाटनेन । सर्वथाऽपि ये राष्ट्रस्य योगक्षेमयोश्चिन्तायां कुशलास्त एव राष्ट्रनियमप्रणेतारो भवितुमर्हन्ति । चिन्ता निर्वर्णिता तत्र ये कुशलाः=निपुणाः कुशलशब्दः किल बुद्धिचातुर्यमभिव्यनक्ति । कुशलाने खलु बुद्धिमत्ताऽपेक्ष्यते । अतः कुशलशब्दो मतिमति निरूढलक्षणः, तेन नियमप्रणेतृणां मतिमत्त्वमपेक्षितमिति द्योत्यते मतिमन्त एव स्वराष्ट्रयोगक्षेमचिन्तासु प्रभवन्तीति व्यज्यते । एतेन न केवलं समाधिमन्तो विवक्षिताः किन्तु ये निर्बीजसमाधिपर्यन्तं पारंगतास्ते नियमविधानाय पूर्णतया योग्या इति बोध्यते । मतिमत्त्वं च कौशलमित्युक्तं, तत्र मतिशब्दार्थमेवं निरुवाच भगवान् व्यासः सूतसंहितायाम्—

याऽनुभूतिरुदिता मतिः परा ।
वेदमाननिरता शुभावहा ॥
तामतीव सुखदां वयं शिवां ।
केशवादिजनवन्दितां नुमः ॥

नहीं होता । अतः ऐसे व्यक्ति शासनकर्त्ताओं द्वारा निकाल दिये जाते हैं । शासक में एक प्रमुख दोष उत्कोच ग्रहण करना होता है । वृत्ति के लिए नियत किये गये द्रव्य से अधिक द्रव्य ग्रहण करना उत्कोच कहलाता है । उत्कोच-ग्रहण करने वाले शासक बनने के योग्य नहीं होते । उनके उत्कोच ग्रहण करने से अन्य लोगों को वृत्तिहीनता का फल भोगना पड़ता है । वे अपनी इच्छा से उत्कोच रूपी द्रव्य को ग्रहण करने लग जाते हैं । कुछ ऐसे हैं, जो जबर्दस्ती तो उत्कोच नहीं लेते, किन्तु बिना मांगे स्वयं दाता द्वारा भेंट किये गये वित्त को स्वीकार कर लेते हैं । इन दो प्रकार के उत्कोच ग्रहण करने वालों को शासक पद से बहिष्कृत कर देना चाहिए । मध्यस्थों के द्वारा भी जो प्रजा से कुछ ग्रहण करते हैं, वे भी उत्कोचग्राही होते हैं । जो उत्कोच ग्रहण करते हैं, ग्रहण करवाते हैं, अनुमोदन करते हैं, वे भी उत्कोचग्राही ही हैं, उन्हें शासक पद से बहिष्कृत किया जाना चाहिए ।

अनार्य होने से जो दूसरों के राष्ट्रों से द्रोह करते हैं, जो आर्य राज्यवादी हैं, वे यद्यपि प्रत्यक्षतः राष्ट्र के प्रति द्रोह नहीं करते हैं तथापि राज्यवादी होने

एवं चाऽत्रेदमपि बोध्यम् । पामरजनसम्मता खलु चिन्ता न हितं पुष्णाति, किन्तु नितान्तं शोषयत्येव तत्कर्तारम् । एतदभिप्रेत्यैव "चिन्ता-समं नास्ति शरीरशोषणम्" इत्यादय आभाणका निरूढा लोकयात्रासु । सा नाऽत्र चिन्तापदेन ग्राम्येति बोध्यते। भवतु राष्ट्रोन्नतिविधायिनां नियमानां विधानायेदृशा एव पुरुषा महर्षितुल्या महर्षय एव वा योग्यतामावहन्तीति ध्वन्यते तत्कुशलत्ववर्णनेन । अथ च 'तत्त्वदर्शिनः'—तत्त्वं द्रष्टु शीलं येषां ते तत्त्वदर्शिनः । अपरोक्षवस्तुनो भावस्य दर्शनं स्वभावेन ये कुर्वन्ति । अत्रेदं बोध्यम्—'राष्ट्रयोगक्षेमचिन्ताकुशलाः खलु नियुञ्जाना अपि भवन्ति योगिनः, ते हि संयममन्तरेण नाऽतर्क्यवस्तुसाक्षात्कारं कर्तुं प्रभवन्ति, तेषामप्यतः सर्वदा नाऽधिकारा नियमविधाने इति बोध-नायोक्तं—'तत्त्वदर्शिन' इति । तत्त्वं=परोक्षादपि परोक्षं यत्तत्तत्त्वमिति बोध्यम् । स्वभावेनैव ये तत् पश्यन्ति ते तत्त्वदर्शिन इत्युच्यन्ते । एतेन सर्वदा युक्तयोगिनां सर्वदा भानवत्तया नियमविधानेऽधिकार इति बोध्यते । अत एव भगवताऽपि गीतासु—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ।। (गी. 4/34)

इत्येवं ज्ञानप्राप्त्यै तत्त्वदर्शिनां प्रणिपातपरिप्रश्नसेवादिसमुप-दिष्टं जिज्ञासुमर्जुनं प्रति । उपदेशसामर्थ्यं च तत्त्वदर्शिषु वर्णितम् ।

के कारण राष्ट्र की उपेक्षा अवश्य करते हैं । ऐसे राष्ट्रद्रोहियों को भी राष्ट्र से निर्वासित कर देना चाहिए । जो शासक व्यसनों में निमग्न हैं, वे राष्ट्र को अवश्य ही पतन के गर्त में ले जाते हैं—ऐसे शासक भी शासक पद पर प्रतिष्ठित होने योग्य नहीं होते हैं । यहां व्यसन पद का प्रयोग एकवचन में किया गया है । "न ब्राह्मणं हन्यात्" इस वाक्य में ब्राह्मण शब्द एक वचन होता हुआ भी ब्राह्मण-समष्टि का पर्याय है । इसी प्रकार यह व्यसन पद भी है । व्यसन अनेक हैं । वे प्रायः भूखे लोगों के समीप ही होते हैं । इसीलिए कहा गया है कि भूखे लोगों को कभी भी शासक पद पर नियुक्त नहीं करना चाहिए ।

जो अराष्ट्रिय हैं, उन्हें भी शासक नहीं बनाया जाना चाहिए । अराष्ट्रियों के सम्बन्ध में पहले भी विस्तार से विवेचन किया जा चुका है ।

इन दुर्गुणों से युक्त व्यक्तियों को शासक पद पर नियुक्त नहीं किया जाना चाहिए । इन नियमों का उल्लंघन करने पर किसी को सुख, शान्ति का लाभ प्राप्त नहीं होगा । इससे बुभुक्षा (भूख) में वृद्धि होगी । ये बुभुक्षित परस्पर एक

इदं चाऽत्र बोध्यम्—पारोक्ष्यमपारोक्ष्यं चाऽपेक्षातारतम्येन नानाविधं भवदनन्तताामवगाहते। परोक्षमप्रकटम् अपरोक्षं च प्रकटमिति नार्थान्तरम्। एकस्य यत् परोक्षं तदेवाऽन्यस्याऽपरोक्षमपि भवितुमर्हति। परोक्षमेतदित्यज्ञव्यवहारं सूचयति। अत एव अज्ञानामपि परोक्ष तारतम्यमावहति परोक्षं परोक्षतरं परोक्षतमं चेति। परोक्षं तर्कगम्यं मन्वते परोक्षतरं च श्रद्धाविषयं परोक्षतमं च मूत्रभूतमिति च। अत एव बालानां मते यानि तत्त्वानि, विज्ञानां मते तानि न तत्त्वानि किन्तु कल्पितानि तानि। अत एव सद्दर्शिनामसद्दर्शिनामारम्भवादिनां चिद्दर्शिनामचिद्दर्शिनां परिणामवादिनामानन्ददर्शिनामनानन्ददर्शिनां विवर्तवादिनां क्रियाज्ञानेच्छावशीभूतानां परस्परं तत्त्वसम्माने महान् भेदो दरीदृश्यते। एत एव रुचिभेदमूलदृष्टिभेदेन परस्परविचारादानप्रदानतारतम्येन नानादर्शिनो विप्रतिपद्यमाना विनश्यन्ति चक्रवत्परिभ्रमन्ति च। अत एव प्रस्तुतभाष्यकृताऽऽत्मविलासे एवमुक्तम्—

आरम्भः परिणामो वा विवर्तो वा चिदात्मनि ॥
बालान् प्रत्येव विद्वांसं प्रति सर्वं प्रकल्पितम् ॥

(आ. वि. 3/18)

अत एव जगदिदं विवेचयद्भिर्विद्वद्भिः स्वस्वाऽभिलाषोपनीतदृष्टिवशात् तत्त्वानि स्थापितानि। तत्त्वलक्षणं च **महाराजभोज** एवमाह स्वग्रन्थे तत्त्वप्रकाशे—

दूसरे को खाते हुए राष्ट्रों को ही कवलित कर डालेंगे। महाघोरा-महाकाली समस्त अनार्य मण्डल को कवलित कर तृप्त हो जायेगी। यह काली इसी प्रकार महाप्रलय होने तक क्रीडा करती रहती है।

कुछ अन्य लोगों को भी शासन करने के अयोग्य कहा गया है :—

राष्ट्रद्रव्यं राष्ट्रनाशे नियुञ्जाना महामदाः।
अराष्ट्रिया राष्ट्रभुजों राष्ट्रं नार्हन्ति शासितम् ॥ 65 ॥

राष्ट्र के धन को राष्ट्र के नाश में व्यय करते हुए राष्ट्र को भोग्य समझने वाले महान् अभिमानी ये अराष्ट्रिय लोग राष्ट्र में शासन करने योग्य नहीं हो सकते।

पूर्वकारिका में शासक पद के अयोग्य व्यक्तियों के सम्बन्ध में बताया गया था कि उनकी अयोग्यता के क्या-क्या कारण हैं? कुछ अन्य विशिष्ट कारण यहां बतलाये जा रहे हैं।

आप्रलयं तिष्ठति यत्सर्वेषां भोगदायि भूतानाम् ।
तत्तत्वमिति प्राहुर्न शरीरघटादि तत्त्वमतः ।।

अत्राऽपि अपेक्षातारतम्येनैव व्यवस्था । यतः खलु प्रलयेऽपि तारतम्यं दृष्टिभेदेन । अत एव सर्वस्याऽप्येकत्वं परिपूर्णत्वमवगच्छन्ति परां कोटिमारूढाः । सर्वतोभद्रात्मविन्यासे तद्व्याख्यायां च निरूपितं प्रस्तुतभाष्यकृतैव । अत एव शक्तिसूत्रेऽप्युक्तम्—"तद्भूमिकाः सर्वदर्शनस्थितयः इति ।श्रुतावप्येवमेव श्रूयते—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ।।

उपनिषत्स्वपि—"सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इति । युक्तं चैतत्तत्दृष्टितारतम्येन तस्य तस्य तत्त्वस्थापनम् । इयं खलु भगवदिच्छैव जरीजृम्भते । उक्तमपि भगवद्गीतासु—

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयाऽर्चितुमिच्छति ।।
तस्य तस्याऽचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ।। (गी. 7/21)

एवमेकमारभ्याऽनन्तावधि तत्त्वानि भवितुमर्हन्ति दृष्टीनामानन्त्यात् । समाप्तिस्त्वन्त एकस्मिन् एव । प्रारम्भोऽपि प्रथममेकस्मिन्नेव अतः पूर्णदृष्टयः सर्वमिदं पूर्णप्रकाशरूपं पश्यन्तस्तत्त्वदर्शिनो भवन्ति । अभिनवगुप्ताचार्यपादा अत एवैवं तत्त्वलक्षणं निरूपयामासुः **श्रीतन्त्रालोकशास्त्रे—**

पहले महामद कौन है ? इस पर विचार किया जा रहा है । जो महान् अभिमानी होते हैं, वे व्यक्ति "महामद" कहलाते हैं । मद होने के अनेक कारण हैं, जैसे धनमद, कुलमद, विद्यामद, बलमद, तपोमद, रूपमद, दानमद आदि । जिस गुण से आत्मा में सर्वतोभद्रनीतिप्रधान आर्यभाव स्फुरित होता है, वह मद नहीं कहलाता, अपितु वह आत्मगौरव कहलाता है । पुरुष में यह गुण होना आवश्यक है । जिसमें आत्मगौरव नहीं होता, वह व्यक्ति पशु के समान होता है । किसी राष्ट्र प्रेमी विद्वान् ने कहा भी है "न तो अपने गौरव का ध्यान है, न राष्ट्र के प्रति आदर है, वह नर नहीं है, वह तो नरपशु है । शव है ।

जिस गुण से आत्मा में असर्वतोभद्रत्वप्रधान अनार्यभाव उत्पन्न होता है, वह "मद" कहलाता है । यह मद अनेक प्रकार का होता है । पहले कहा गया था कि राष्ट्रिय शासकों को काम, क्रोध, मोह आदि षड्रिपुओं को त्याग देना चाहिए । मद की प्रबलता बतलाने के लिए महा (महत्) पद का प्रयोग किया

यान्युक्तानि पुराण्यमूनि विविधैर्भेदैर्यदेष्वाश्रितं ।
रूपं भाति परं प्रकाशनिबिडं देवः स एकः शिवः ।।
तत्स्वातन्त्र्यरसात्पुनः शिवपदाद् भेदैः विभाते परं ।
यद्रूपं बहुधाऽनुगामि तदिदं तत्त्वं विभोः शासने ।।

(श्रीतं. 9/2)

जगदिदं त्रिषु षट्सु सप्तसु, षोडशेषु पञ्चविंशतिषु, षड्विंशतिषु षट्त्रिंशत्सु च विभजमानास्तत्त्वेषु ते ते 'विद्वांसो' नानारूपेण तत्र निरणैषिषुः । प्रस्तुतभाष्यकृताऽपि आत्मविलासे तद्व्याख्यायां च सर्वमिदं यथा चेदं तथा निरूपितं वर्तते । षट्त्रिंशल्लक्षणानि च प्रस्तुतभाष्यकृता स्वविरचिते 'परमस्तोत्रे' निरूपितानि सन्ति । भवतु । सर्वथाऽपि स्वभावेन ये तत्त्वदर्शिनस्ते नियमानां विधानाय योज्या इति सारः । अथ च 'राष्ट्रसञ्चालकान्'—राष्ट्रं पूर्वलक्षणलक्षितं तस्य सम्यक् चालकाः= उत्तमप्रकारेण गतिकारकाः तान् । अयं भावः—चालनं हि द्विविधं भवति, उपरि अधश्च, उन्नतिपथोन्मुखतया अवनतिपथोन्मुखतया च । अत एव सञ्चालकानित्युक्तम् । तेनोन्नतिपथोन्मुखतया च चालनमेव सञ्चालनं, तत्कर्तॄन् । एतद्गुणगणमण्डितान् 'राष्ट्रियाः' राष्ट्रस्योक्तचतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धिनः 'विनियुञ्जीरन्'=संस्थापयेरन् प्रणिपातश्रद्धादिभिः । अत्रेदं च बोध्यम्—राष्ट्रियाः खलूक्तलक्षणान्

गया है । महान् से महान् पुरुषों में भी यत्किञ्चित् मद तो होता ही है । मद का विलोम विनय शब्द है । मनुष्य में कितने ही गुण हों, मद के प्रभाव से सभी गुण तिरोहित हो जाते हैं । मर्यादा का अतिरेक अनार्यभाव में परिणत हो जाता है । निग्रह को भी अवश्यमेव सहन करना होता है । बिना परिश्रम किये ही जो गुण प्राप्त होता है वह अवश्य ही मद को उत्पन्न करता है । व्यक्ति परिश्रम के बिना पात्रता प्राप्त नहीं कर सकता है । अपात्र व्यक्ति में गुण भी दुर्गुण हो जाते हैं । पात्रता तो विनय से प्राप्त होती है । विद्या से विनय प्राप्त होता है । इसीलिए कहा गया है कि विद्या विनय प्रदान करती है, विनय से योग्यता आती है, योग्यता से धन प्राप्त होता है । धन से धर्म और उससे सुख प्राप्त होता है । उपनिषद् कहती है कि विद्या और अविद्या, इन दोनों को जो जानता है, वह अविद्या से मृत्यु को पार कर विद्या से अमृतत्व को प्राप्त करता है ।

राष्ट्र द्रव्य में द्रव्यपद केवल स्वर्ण-रूप्यक का वाची नहीं हैं, अपितु जाग्रत-व्यवहार में जो भी वस्तुएं हैं, वे द्रव्य हैं । जिस राष्ट्र का जिस वस्तु

नियमविधायिन्यां परिषदि नियमविधानाय विनियुञ्जीरन् । राष्ट्रिया इत्यनेनाऽराष्ट्रियाणामनधिकारः सूचितः । एतल्लक्षणानि स्वभावेनाधिकाऽधिकभावेन च यत्र वर्तन्ते ते तारतम्येन श्रेष्ठतामावहन्ति । कृत्रिमतया न्यूनन्यूनभावेन च तारतम्येनोत्तरोत्तरमधमतां भजन्ति । ज्ञानवत्त्वेन श्रैष्ठ्यम् । अत एव भगवान् मनुरपि ब्रवीति—

ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामधिजायते ।
ईश्वरः सर्वभूतानां धर्मकोशस्य गुप्तये ॥ (मनु. 1/99)

एतादृशा एव खलु ब्राह्मणाः ते न कदाऽपि परिहासेनाऽप्यकल्याणं कस्याऽपि कुर्वन्ति समस्तदर्शितया । एत एव सर्वस्य शास्तारो भवितुमर्हन्ति । तथा चाह मनुरेव—

उत्तमाङ्गोद्भवाज्ज्यैष्ठ्या ब्रह्मणश्चैव धारणात् ।
सर्वस्यैवास्य सर्गस्य धर्मतो ब्राह्मणः प्रभुः ॥ (मनु. 1/93)

अत एवैतदनुग्रहेण सर्वेषां भोगप्राप्तिरस्य च सर्वथा स्वातन्त्र्येण भोग उक्तो मनुनैव—

स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च ॥
आनृशंस्याद् ब्राह्मणस्य भुञ्जते हीतरे जनाः (मनु. 1/101)

इदं च बोध्यम्—स्वभावतो गुणाधिका आर्यराष्ट्रवादं स्थापयन्ति स एव च समन्ततः सुखशान्तिप्रदः । शान्तिश्च सर्वैरप्याकाङ्क्ष्यत

से निकट का सम्बन्ध है, वह वस्तु उस राष्ट्र की है । तथा उस वस्तु का उपयोग उस राष्ट्र की समुन्नति में ही किया जाना चाहिए । गौतम एवं कणाद के द्वारा प्रतिपादित द्रव्य को ही यहां ग्रहण किया गया है । वस्तुमात्र को ही द्रव्य मान लिया गया है । राष्ट्रनाश का अर्थ है राष्ट्र की परतन्त्रता । यह राष्ट्र के धन, जन, बल पर निर्भर है । दूसरे राष्ट्र की वस्तु जब दूसरे राष्ट्र में उनके नाश के लिए प्रेषित की जाती है, वह भी राष्ट्रनाश ही है । उस राष्ट्र के बल से ही उस राष्ट्र की रक्षा होती है । अज्ञान से कोई अकार्य किया जाता है, तो उसमें दण्ड और प्रायश्चित्त अल्प होता है । ज्ञानपूर्वक किये गये अकार्य में दण्ड और प्रायश्चित्त अधिक होता है ।

निश्चय संयुक्त तप को प्रायश्चित्त कहते हैं । कहा भी है— प्राय नाम तप का है और चित्त को निश्चय कहते हैं । निश्चय युक्त तप ही प्रायश्चित्त कहलाता है ।

राष्ट्र की वस्तुमात्र की भी "ज्ञान या अज्ञान से राष्ट्रनाश के लिए प्रयुक्त

एवेति यथाशक्यमार्यराष्ट्रवादिन एव नियमविधानाय योजनीयाः। कृत्रिमतया गुणाऽधिकाश्चाऽऽर्यराज्यवादं स्थापयन्ति । अत एव च कृत्रिमामेव शान्तिं स्थापयितुं प्रभवति, कृत्रिमा च शान्तिर्न शाश्वतिकी सम्भवति, अत आर्यराष्ट्रवादिनामभावे आर्यराज्यवादिनो नियोज्या राष्ट्रियैरार्यैरनार्यैश्च शान्तिसमवाप्तये कृत्रिमतया क्रियाऽधिका अनार्यराष्ट्रवादं स्थापयन्ति, अत एव चाशान्त्युन्मुखता सर्वत्र प्रसरति । अनन्तरं स्वभावतः क्रियाऽधिका विक्रियामयजीवना अनार्यराज्यवादं स्थापयन्ति । तत्र च सर्वत्राऽशान्तिरेव समन्ततो दरीदृश्यते । सा च परिहरणीयाऽऽर्यैरनार्यैश्चेति । अराष्ट्रियाः खलु जात्वपि मा विनियुञ्जीरन् । तेषामनधिकारात् । अनधिकारिभिः कृतं कदाऽपि न सुखयति कृत्यम् । विनियुञ्जीरन् इत्यनेन विधेयत्वं व्यज्यते । तेनैतदुपेक्षायां दण्ड्यत्वं प्रायश्चित्तीयत्वं च बोध्यते । भवत्वलमनेन ॥59,60॥

एवं नियमविधानाय योग्यता केषां भवतीति वर्णितम् । इदानीं कैर्निर्मिता नियमा राष्ट्रं नाशयन्तीति निरूपयन्नाह—

निर्मान्ति यत्र नियमानाढ्या विषमदर्शिनः ।
पीडितश्वासदग्धं तद्राष्ट्रमाशु प्रणश्यति ॥61॥

निर्मान्तीति । यत्र—विषमदर्शिनः— आढ्याः नियमान्— निर्मान्ति—तद्—राष्ट्रं—पीडितश्वासदग्धं—आशु—प्रणश्यति । इति पदयोजनिका ।

करने वाले राष्ट्रिय व्यक्ति राष्ट्रशासन के प्रबन्धकर्तृ पद पर आरूढ होने योग्य नहीं है । अतः ऐसे लोगों को अपराध के गौरव, लाघव और तारतम्य देखकर उनके पदों से अलग कर देना चाहिए ।

अनार्य दो प्रकार के हैं—बुभुक्षावान् एवं बुभुक्षोन्मुख । भद्रनीति के विरोधी होने से, संकुचित स्वार्थवश अन्य लोगों को पीडित कर अपनी भोगवासना को पूर्ण करना चाहते हैं । यह बात दूसरी है बुभुक्षा कभी पूर्ण नहीं होती है । बुभुक्षोन्मुख व्यक्ति, जिनका मन धर्म के प्रति शंकित रहता है, मिलकर अन्यों को भोगना चाहते हैं तथा तदनन्तर बुभुक्षा से ग्रस्त होकर वे एक दूसरे को खाकर नष्ट हो जाते हैं । ऐसे लोग भी राष्ट्र का शासन करने योग्य नहीं है । शान्ति से शासन-स्थापना के अभिलाषी सभी राष्ट्रनेताओं को चाहिए कि वे राष्ट्रभुजों को शासक पदों पर स्थापित न करें । आर्यराज्य वादी भी राष्ट्र की उपेक्षा करने वाले ही होते हैं । वास्तव में वे भी राष्ट्र का कल्याण नहीं चाहते हैं, किन्तु

'यत्र'=यस्मिन् राष्ट्रे 'विषमदर्शिनः'—विषमं=असमं द्रष्टुं शीलं येषां ते। अयं निजोऽयं पर इति सपक्षपातं स्वभावेन पश्यन्ति ते इति यावत् 'आढ्याः'=धनिनः 'नियमान्'=शासनप्रकारबोधक-शास्त्राणि 'निर्मान्ति'=विरचयन्ति 'तद्'=यत्रेति परामृष्टं 'राष्ट्रं'= पूर्वलक्षणलक्षितं 'पीडितश्वासदग्धम्'— पीडितानां = बाधितानां 'श्वासाः'=मुखमारुताः तैः 'दग्धं'=भस्मीकृतं सत् 'आशु'=सत्वरं 'प्रणश्यति'--प्रकर्षेण नश्यति=अभावं गच्छति। इति।

अयमभिप्रायः—सर्वोऽपि जीवलोकः सुखं प्रतिपित्सति दुःखं च विजिहासतीति निसर्गः। तत्रैतत्समीहापूरणाय सुखप्राप्त्युपायान् दुःख-परीहारोपायांश्च जिज्ञासाविषयान् जानाति। अथ तदनन्तरं विज्ञातो-पायैस्तथा चिकीर्षुर्यतमानस्तथा सम्पादयति। अयं हि स्वभाव एव। अथ च व्यष्टिसुखस्य समष्टिसुखाऽऽधीनतया विद्वांसो राष्ट्रहितं चिकी-र्षन्ति। तत्रैवं सति राष्ट्रस्य सुखप्राप्तिर्दुःखपरिहारश्च यत्नाधीन इति निर्विवादमेव। यत्नश्च सुशासनमेव। दुःशासनेन तु दुःख-प्राप्तिः सुख-नाशश्च भवतीति विदुषामपरोक्षमेव। तत्र शासनं शासकाऽऽधीनमिति ते निरूपिता एव। अथ शासका अपि यैर्नियमैः शासन्ति ते नियमाः प्रमाणीकर्तव्या विज्ञानेनेति विज्ञानवतामधीनं नियमज्ञानमिति तेषां वर्णनं विहितम्। यतः खलु कार्यैः कर्मभिः कृतैर्हितप्राप्तिरकार्यैश्च

शासन के डर से, अपने वैयक्तिक भोगों की पूर्ति की आशा से, कर्तव्यबुद्धि से राष्ट्र का भोग करते हैं, उन्हें भी शासकीय पदों पर नहीं लगाना चाहिए। आर्यराष्ट्रवादियों में तथा आर्यराज्यवादियों में योगोन्मुख लोग श्रेष्ठ हैं, भोगो-न्मुख श्रेष्ठ नहीं है। श्रेष्ठों को ग्रहण करना चाहिए तथा कनिष्ठों को त्याग देना चाहिए।

अन्य किन व्यक्तियों को शासन करने के अयोग्य कहा गया है—इसका निरूपण करते हैं :—

स्रष्टारो नियमानां ये न कार्यास्ते तु शासकाः।
न भृत्यास्ते विधातव्या न च व्यापारकारिणः ॥66॥

जो नियमों का निर्माण करते हैं, जो भृत्य हैं, जो व्यापारी हैं, उन्हें शासक नहीं बनना चाहिए।

इस संसार में अनेक प्रकार के प्राणियों में अनेक प्रकार की वृत्तियां दिखायी देती हैं। यह वृत्ति स्वाभाविक होती है। उनमें आदानप्रदान भी स्वा-

कर्मभिः कृतैर्दुःखप्राप्तिः । एवमेव कार्यैः कर्मभिरकृतैर्दुःखप्राप्तिरकार्यैः कर्मभिरकृतैः सुखप्राप्तिरिति निश्चप्रचमेव । तत्र किं कार्यं किं वाऽऽकार्यमित्यस्य निर्णयः शास्त्रप्रमाणाऽधीनः । शास्त्रं यत् प्रमाणयति कार्यत्वेनाऽकार्यत्वेन च कर्म तत् कार्यमकार्यं च । अत एवोक्तमपि भगवता श्रीकृष्णेन पार्थं प्रति कार्याऽकार्यव्यवस्थाविषये--

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याऽकार्यव्यवस्थितौ । (गी. 16/23)

एवं चैतेन सुशासननियमाः पूर्वं प्रणेतव्या इति तद्विधानमभिहितम् । तैः कीदृशैः पुरुषैः प्रणेतव्या इत्युक्तं 'राष्ट्रसञ्चालकान्' (रा. 59-60) इति कारिकायुग्मेन । एतादृग्लक्षणपुरुषाणामेव समस्तकल्याणकारित्वात् नियमनिर्माणेऽधिकारात् । अयमर्थः - एतन्निर्मिता एव नियमा राष्ट्रमुन्नयन्ति । अथाऽत इदमपि विचारणीयतया समापद्यते यत् कैर्निर्मिता नियमा राष्ट्रमवनयन्तीति । इदमभिप्रेत्यैव कारिकाया अस्याः प्रारम्भः । यस्मिन् राष्ट्रे खलु विषमदर्शिन आढ्या नियमान् निर्मान्ति तद् राष्ट्रमाशु प्रणश्यति । अयं भावः—आढ्याः खलु सम्माननीया भवन्त्येव लोके । यतः खलु, धनवन्त इत्युच्यन्ते आढ्याः । अर्थः खलु कामसाधनम् । सकामश्च सर्वोऽपि जीवलोकः । तत्र आर्या आशंसावत्तया धर्माऽनुकूलेन कार्येणार्थं समर्ज्य तेन समुचितं

भाविक रूप में होता है । वह आदान-प्रदान आर्यभाव से आशंसा वालों का और अनार्य भाव से बुभुक्षावालों का होता है । आशंसावान् दो प्रकार के हैं तथा बुभुक्षावान् भी दो प्रकार के हैं । स्वाभाविक आशंसावान् तथा कृत्रिम आशंसावान् एवं सन्दिग्ध बुभुक्षावान् और असन्दिग्ध बुभुक्षावान् । ये सभी ऊर्ध्वमुख और अधोमुख भेद से द्विविध होते हैं । संकोचोन्मुख और विकासोन्मुख रूप में तो वे क्रमशः अनुन्मिषित स्वाभाविक आशंसावान् और संकोचोन्मुख स्वाभाविक आशंसावान् तथा उन्मिषित स्वाभाविक आशंसावान् और विकासोन्मुख आशंसावान् । उनमें पहले विप्र शुद्ध हैं तदनन्तर क्षत्रविप्र । इसी प्रकार अन्य है—अनुन्मिषितकृत्रिम आशंसावान् और संकोचोन्मुख कृत्रिम आशंसावान् तथा उन्मिषित कृत्रिम आशंसावान् और विकासोन्मुख कृत्रिम आशंसावान् । उनमें पहले तो क्षत्रिय शुद्ध हैं, तदनन्तर वैश्य, क्षत्रिय । इसी प्रकार अनुन्मिषित संदिग्ध बुभुक्षावान् और संकोचोन्मुख संदिग्ध बुभुक्षावान् तथा उन्मिषित सन्दिग्ध बुभुक्षावान् और विकासोन्मुख सन्दिग्ध बुभुक्षावान् होते

काममाशंसारूपं पूरयन्ति अनार्याः पुनरमी बुभुक्षावत्तयाऽधर्मानुकूलेन कार्येण वस्तुतोऽकार्येणाऽर्थं समर्ज्य तेनाऽनुचितं कामं बुभुक्षारूपं बुभुक्षन्ति। किं च आढ्या हि नाम प्रायो विषमदर्शिन एव सम्पद्यन्ते। यतः खल्वर्थस्य प्रायो बाह्यप्रवणतया बुभुक्षाऽनुयायित्वं दृश्यते। अत एवाऽर्थस्य निन्दा विधीयते धर्मोन्मुखैः प्रत्यग्दर्शिभिरार्यैः। यथोक्तम्—

अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानां च रक्षणे ।।
आये दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थाः कष्टसंश्रयाः ।।

अत एव सम्माननिमित्तेषु सर्वश्रेष्ठत्वं विद्यायाः सर्वाऽधमत्वं चार्थस्य महर्षिभिः प्रतिपाद्यते। तथाहि--

वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी ।।
एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम् (मनु. 2/136)

अत एव खलु लौकिकानामाभाणकोऽपि "लाभाल्लोभः प्रवर्धते" इति। लोभस्य च समस्तपापमूलत्वमुक्तमेव प्रस्तुतभाष्यकृता पूर्वम्। इदं तु बोध्यमेव—अर्थाः खलु धर्मोन्मुखाश्चेत् स्युस्तदा तु स्वर्णे सुगन्ध इव समस्तमप्याशंसाजातं पूरयन्तः स्पृहणीया एव। अत एवोक्तमपि—

अर्थेभ्योऽपि हि वृद्धेभ्यः संवृद्धेभ्यस्ततस्ततः।
प्रवर्तन्ते क्रियाः सर्वाः पर्वतेभ्य इवाऽऽपगाः ।।

हैं। इनसे पहले वैश्य शुद्ध हैं तदनन्तर शूद्र वैश्य। उसी प्रकार अनुन्मिषित संदिग्ध बुभुक्षावान् और संकोचोन्मुख असन्दिग्ध बुभुक्षावान् होते हैं। उन्मिषित असन्दिग्ध बुभुक्षावान् और विकासोन्मुख असन्दिग्ध बुभुक्षावान् होते हैं। उनमें पहले शूद्र शुद्ध हैं, तदनन्तर अशुद्ध म्लेच्छ।

यह चातुर्वर्ण्य परस्पर अनुलोम मेल से अनुलोम जातियों के तथा परस्पर प्रतिलोम मेल से प्रतिलोम जातियों को उत्पन्न करता है। आर्यों को स्वतन्त्रता मिलने पर और फिर आशंसा की प्रवणता होने पर शुद्धवर्ण की रक्षा होती है। आर्यो को स्वतन्त्रता मिलने पर और फिर लोभ की प्रवणता होने पर अनुलोम उत्पत्ति होती है और उसका संरक्षण होता है। आर्यों को परतन्त्रता मिलने पर और फिर बुभुक्षा की प्रवणता होने पर प्रतिलोम उत्पत्ति होती है। अनार्यों को स्वतन्त्रता मिलने पर तथा बुभुक्षा का साम्राज्य होने पर सब और म्लेच्छोत्पत्ति होती है तथा वर्ण व जाति का नाश होता है। यह प्रलय है। इनमें पूर्व-पूर्व श्रेष्ठ है और परवर्ती अधम है।

अत एव विषमदर्शिन इत्युक्तम् । आढ्यत्वं हि कामप्रवणं प्रायो भवतीत्येतद्दर्शयितुं कामप्रवणत्वस्य चानार्यत्वकारकत्वं दर्शयितुमुक्तं तत् । अनार्याणां खलु गुणाकरोऽपि दोषाकरायते । अत एवोक्तमपि—

विद्या विवादाय धनं मदाय ।
शक्तिः परेषां परिपीडनाय ।।
खलस्य साधोर्विपरीतमेतत् ।
ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय ।।

एवं चाढ्याः प्रायो विषमदर्शिनो भवन्तीति ते नियमविधानायायोग्याः । विषमदर्शिनश्चेन्न स्युस्तदाऽपि सुपरीक्ष्य पूर्वोक्तलक्षणैर्नियोज्या नियमविधाने । किन्तु वारैर्वारं वारं परीक्ष्यास्ते । इदं च बोध्यम्—धनं हि खलु वैषम्यमुत्पादयति भोगेषु, ततश्च धनिनामन्येभ्यो बुभुक्षा वर्धते, वृद्धा च सा सर्वत्र वैषम्य दर्शयन्तो तदेव स्वाभाविकमिति हृदयङ्गमीकारयति । ततश्च त एव नियमविधायिनो भवेयुश्चेत्तदा वैषम्यसंस्थापकनियमान् निर्मान्ति ते । ते च नियमा राष्ट्रनिवासिनां पीडाकरा भवन्तः सर्वतो मात्स्यन्यायमुद्भावयन्ति । अतो विषमदर्शिनामनाढ्यानामपि राष्ट्रनाशकतया न ते नियमविधायिपदेषु विनियोज्याः । विषमं=असम अपूर्णमित्यर्थः स्वभावेनैव ये

नियमों के निर्माताओं को नियमों के निर्माण में ही लगाना चाहिए। वस्तुतः नियमों की स्रष्टा तो वही कौलिकी, शाम्भवी शक्ति है। पांच प्रकार के कार्यों का अधिष्ठान हृदय है। प्रभु के हृदय को जानने वाले को पद-पद पर सुख प्राप्त होते हैं। जो विसर्गशक्ति में स्वतन्त्र हैं, जो नियमों के निर्माण में स्वतन्त्र हैं, वे ही नियम बनाने योग्य हैं। जो स्वतन्त्र पुरुष हैं, उन्हीं को नियम बनाना युक्तियुक्त है। यदि शुद्ध विप्र ही नियमों के स्रष्टा हों, तो सम्पूर्ण राष्ट्र का कल्याण भी हो सकता है।

यदि नियमों के बनाने वाले ही शासक बन जायेंगे, तो शासन में निर्मर्यादा व्याप्त होगी, इससे राष्ट्र का अकल्याण ही होगा। व्यवहार प्रपञ्च में हम देखते हैं कि सभी मनुष्यों के जीवन में उल्लास नहीं होता, क्योंकि उनमें एकता का अभाव होता है, परस्पर विभेद होता है, प्रतिव्यक्ति में पूर्णता का विकास नहीं होता, सभी लोगों को सब कार्यों में पूर्ण स्वतन्त्रता भी नहीं होती। यह उचित भी है। अपात्र को अधिकार दे दिया जाय, तो वह मर्यादा को भंग

पश्यन्ति । तात्च्छील्ये णिनिरत्र । स्वभावत एव ये विषमदर्शिनस्त आढ्या अप्यनाढ्या अपि सम्भवन्ति । त उभयेऽपि वर्ज्या एव । आढ्याः पुनः प्रायो विषमदर्शिनो भवन्ति ततस्तेऽपि वर्ज्या एव । अयं भावः—अपूर्णदर्शिभिरसमानदर्शिभिश्च निर्मिता नियमाः समस्तमपि राष्ट्रवासिनं मात्स्यन्यायेन पीडयन्ति ततश्च पीडितानां श्वासप्रश्वासैर्भस्मीकृतं राष्ट्रं झटित्येव प्रणश्यति । अयं भावः—यदा खलु राष्ट्रसञ्चालका वैषम्योत्पादकनियमान् निर्मान्ति, तदा तन्नियमैः शासका अपि निर्मर्यादमाचरन्तो बुभुक्षिताः सन्तः स्वबुभुक्षायाः परिपूरणाय नानाविधानि पापानि कुर्वते । तेन च समस्तो लोकः पीडितो भूत्वा दुर्बलतया प्रतीकाराऽसमर्थो अन्तःकरणान्तस्तलतो दुःखभरितान् श्वासानुद्गिरति ते च श्वासा अग्निवज्रप्रभाः सन्तः पीडकैः सह समस्तमपि राष्ट्रं निर्दहन्ति । अत एव केनाऽपि महात्मनाऽप्युक्तमास्ते—

मा दुर्बलं पीडयत यस्य श्वासोऽतिवीर्यवान् ॥
दहति श्वासतो लौहं भस्त्राऽपि मृतचर्मजा ॥

पीडितानां श्वासाः खल्वग्नितोऽपि भयङ्कराः, यतस्त आश्वेव भस्मीकृत्य राष्ट्रं तथा नाशयन्ति यथा सर्वथाप्यभावो भवति । अत एव प्रणश्यतीत्युक्तम् । अत्र कर्मणोऽपि कर्तृत्वविवक्षां कृत्वा राष्ट्रं प्रणश्यतीत्युक्तम् । तेन शीघ्रतायामतिशयो ध्वन्यते । तेन चैतादृश पुरु-

---

करता हुआ राष्ट्र को दुःख, दारिद्र्य के गर्त में गिरा देगा। पात्र को दिये गये अधिकार से सबका कल्याण होता है।

अतः जिनको नियम-निर्माण के लिए नियुक्त किया गया है, उन्हें शासन-प्रबन्ध कर्म में नहीं लगाना चाहिए। "पादक्रम से अर्धक्रम बलवान् होता है" इस न्याय के अनुसार जो व्यापारी हैं, उन्हें नियमों के निर्माण में न लगाया जाय।

मूल्यग्रहणपूर्वक वस्तुओं के विनिमय को व्यापार कहते हैं। इन व्यापारियों का धर्म के विषय में सन्देह होता है तथा ये लोभी हो जाते है। ये बुभुक्षोन्मुख भी होते हैं, अतः ये अनार्य भाव को प्राप्त होते हैं।

भृत्यों को भी नियम-निर्माण में नहीं लगाना चाहिए। भृत्यत्व स्वयं परतन्त्रता का वाचक है। यह पुरुष को राष्ट्रहित से विमुख कर देता है।

जिस समय जो शासक पदारूढ हैं, उस समय उन्हें नियम-निर्माण में नहीं लगाना चाहिए। यदि शासक ही नियम बनाने लगेंगे, तो शासक होने के मद से

षाणां नियमविधाने सर्वथा परिहरणं व्यज्यते । किं च निर्मान्तीति कर्तरि प्रयोगेण नियामकानां नियमविधाने स्वातन्त्र्यं बोध्यते । तेन च नियमनिर्माणकार्यस्याऽतिगुरुतमत्वं व्यज्यते । तेन चैतादृशे गुरुतमे कार्यभारे विषमदर्शिनामनधिकारेऽतीवौचित्यं ध्वन्यते । पूर्वया कारिकया येषां नियमविधानेऽधिकारो दर्शितस्तेषामेवाऽनया कारिकया तदितरेषामयोग्यत्वनिरूपणपुरःसरं विधानं प्रतिपादितम् । इदं च बोध्यम्—'यत्र' इति निमित्तसप्तमी । यस्य राष्ट्रस्य कृते इति च तदर्थः । अथवैवमपि व्याख्यातुं शक्यते– यत्रेत्यधिकरणसप्तमी यस्मिन् राष्ट्रे विषमदर्शिन आढ्या राष्ट्रचालननियमान् निर्मान्ति तैश्च नियमैर्विषमदर्शिनिर्मिततया पीडाकरैर्यद् राष्ट्रं स्वकीयं परकीयं वा पीडितं भवति तस्य पीडितराष्ट्रस्य श्वासैर्दग्धं तत् पीडकनियमनिर्मातृराष्ट्रम् आशु प्रणश्यति । अत्रार्थे 'तद्राष्ट्रं' इत्यत्र तेषां राष्ट्रं तद्राष्ट्रं इति विग्रहः । तेषां=पीडकानामिति बोध्यम् । एतेन राष्ट्रान्तरपीडका अपि नियमा न विधातव्या इति व्यज्यते । तेन नियमविधाने सर्वथा आर्यराष्ट्रवादिन एवाऽधिकारमर्हन्तीति ध्वन्यते । ननु विनीततया तुरगश्चेत्तृणेन मैत्री कृता न भक्षयेत्तृणं तर्हि कथं वर्तते इति नीत्या राष्ट्रान्तरनिमित्तेन राष्ट्रान्तरजाः कथं तादृङ्नियमनिर्माणं कर्तुं प्रभवन्ति तस्मात् नोचितमेतदिति चेत् श्रूयताम् । अङ्ग स्वभावतोऽनार्याणां

वे वास्तविक न्याय करने में समर्थ नहीं होंगे और वे इच्छानुसार जनता को उद्वेजित भी नहीं करेंगे । लोग उनसे भयभीत होकर शासन के नियमों को भंग करने के लिए मिलकर उठ खड़े होंगे तथा शान्ति की प्राप्ति के लिए राष्ट्र का छेदन कर डालेंगे ।

मूल्य लेकर जो वस्तुओं का विनिमय करते हैं, जिनके हृदय में लोभवृत्ति होती है, वे अवश्य अकार्य करेंगे तथा लोगों को भी आक्रान्त करेंगे । अतः भूल कर भी व्यापारियों को नियमनिर्माता नहीं बनाना चाहिए । जो व्यापार करवाते हैं, उनमें भी व्यापारियों जैसे गुण ही होते हैं । अतः उन्हें भी नियम-निर्माता नहीं बनाना चाहिए ।

"भृति" लेकर कार्य करने वाले भृत्य वेतन भोगी होते हैं और समस्त अकार्य को करने वाले होते हैं, अतः उन्हें नियमों का निर्माता नहीं बनाना चाहिए । नियम-निर्माण में तो सर्वथा स्वतन्त्र और योग्य व्यक्तियों का ही अधिकार है ।

विषमदर्शितामेवैतच्छोभते वचनं न पुनरार्याणां समदर्शिनाम् । अत एवान्ते सर्वेऽपि शान्तिसुखाऽभिलाषिण एव दृश्यन्ते । शान्तिसुखं चाऽऽर्य-राष्ट्रवादिशासन एव सम्भवति नाऽन्येषाम् । यदि नाम वानरो न जानात्यार्द्रकस्वादं ततः किं नाम मनुष्यलोकस्य छिन्नम् । विषमदर्शिनो मा नाम जानतां समस्तराष्ट्रहितकरनियमविधानं, समदर्शिनस्तु जानन्त्येव । अत एव खल्वज्ञानवशाऽन्तःकरणानां नियमविधानं स्वकीयं परकीयं च राष्ट्रं पीडयत् सहैव स्वराष्ट्रेण भस्मीभवति । तेन विस्मृत्याऽपि विषमदर्शिनो न नियमविधानेषु विनियोज्याः इत्येव सडिण्डिमधातमुद्घोष्यते । एवमपि व्याख्यातुं शक्यते—विषं—अदर्शिनः इति पदद्वयम् विषमिति विषरूपम् । आयुर्घृतमितिवत् प्राणनाशकगुणं पीडितश्वासदग्धं राष्ट्रं प्रति, अदर्शिनः=अदृष्टयः यत्र नियमान् निर्मान्ति, आढ्याः तत् आशु प्रणश्यन्ति । अयं भावः—अदर्शिनः दर्शनरहिता अन्धा अज्ञानिन इति यावत् ते पीडितश्वासदग्धस्य राष्ट्रस्य विषतुल्यत्वमज्ञानितयाऽन्धत्वेनाऽजानाना यत्र नियमान् निर्मान्त्याढ्याः स्वमाढ्यं मन्यमानाः स्वमसाधारणगुणगणमण्डितं मन्यमाना अन्यांश्च दुर्ज्ञानतितुच्छतयाऽगणयन्तस्तत्=तादृशं राष्ट्रं शीघ्रमेव प्रणश्यति । अत एव भगवद्गीतास्वप्याढ्य मन्यमानानामज्ञानविमोहितत्वमुक्तम् । अज्ञानविमोहिताश्च नाशाय भवन्तीत्यपि तत्रैव प्रतिपादितम् । तथाहि—

भृत्यों का परतन्त्र ही रहना अच्छा है । भृत्यत्व तो तम और प्रकाश की तरह स्वभावतः विरुद्धस्वभाव वाला होता है । किसी जाति में उत्पन्न होना अनेक जन्मों में अर्जित पुण्यकर्मों का ही फल है । अधिक शुभकर्मों का फल शुभ होगा तथा अधिक अशुभ कर्मों का फल अशुभ होगा । भृत्यत्व तो अतीव निन्द्य-कार्य है । इसमें तो कर्तव्य का बोध ही नहीं हो सकता है । अतः इन सभी को नियम-निर्माण में नहीं लगाना चाहिए । हां, शिक्षा वृत्ति आदि के प्रबन्ध से उनका अनार्यत्व दूर करना चाहिए । वस्तुतः समस्त का आर्यत्व समुन्नत करना चाहिए और अनार्यत्व दूर करना चाहिए ।

राष्ट्रकल्याण करने वालों के मुख्य कार्य का निरूपण किया जा रहा है :—

अराष्ट्रियान् राष्ट्रभुजो राष्ट्रिया नीतिकोविदाः ।
निःसारयेयुर्यत्नेन राष्ट्रकल्याणमीप्सवः ॥67॥

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ।।
(गी 16/15)

प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः । (गी. 16/9)

सर्वथाऽपि राष्ट्रपीडाकरनियमविधातृ न् नैव नियमविधायिकायां परिषदि विनियोजयेरन्, एतेनार्यराष्ट्रवादिन एव विनियुञ्जीरन्निति सारार्थः । अलमनेन ।।61।।

अथ नियमविधानायाऽराष्ट्रियान् सर्वगुणसम्पन्नानपि विस्मृत्याऽपि मा विनियुञ्जीरन्निति बोधनपुरसरं नियमप्रणेतृशासकयोर्गुरुतरत्वं च कतरस्येति निरूपयन्नाह

न हीयते तथा राष्ट्रं शासके सत्यराष्ट्रिये ।।
अराष्ट्रिये सति यथा नियमानां विधातरि ।।62।।

न हीयते इति । अराष्ट्रिये—शासके—सति राष्ट्रं – तथा—न—हीयते—यथा —नियमानां--विधातरि— अराष्ट्रिये--सति – हीयते । इति पदयोजनिका ।

'अराष्ट्रिये'—राष्ट्रं=पूर्वोक्तलक्षणं तस्य चतुर्विधसम्बधेन सम्बन्धी राष्ट्रियः, तद्भिन्नोऽराष्ट्रियः । विरोधेऽत्र नञ् । तस्मिन् 'शासके'=शासनकारके कार्याऽकार्यव्यवस्थापालयितरीति यावत् । 'सति'=वर्तमाने 'राष्ट्रं'=पूर्वोक्तलक्षणम् । 'तथा'=तेन प्रकारेण । 'न'=मा । 'हीयते'=नश्यति । 'यथा'=येन प्रकारेण 'नियमानां'=

राष्ट्रकल्याण चाहने वाले नीतिवेत्ता राष्ट्रियों को प्रयत्नपूर्वक अराष्ट्रीय राष्ट्रभुजों को राष्ट्र से निकाल देना चाहिए ।

अच्छे शासन से ही समस्त राष्ट्र का कल्याण होता है तथा सुशासन अच्छे नियमों व अनुकूल प्रबन्ध के अधीन हैं । नियमानुकूल शासन प्रबन्ध के बिना केवल नियम बनाने मात्र से राष्ट्र का सञ्चालन नहीं किया जा सकता है ।

शान्ति की अभिलाषा सभी को होती है । इसकी पूर्ति आर्यविद्या के परिपालन से और अनार्य विद्या के निवारण से ही होती है ।

जिस राष्ट्र में पूर्णरूप से परतन्त्रता व्याप्त है, नियामक शासक अराष्ट्रिय हैं, वहां अच्छी व्यवस्था कैसे की जा सकती है ? शासकों के हाथ में दास्य को छोडकर ओर कुछ नहीं है, वहां क्या करना चाहिए ? इसी का उत्तर इस कारिका में हैं ।

कर्तव्याऽऽकर्तव्यबोधकसिद्धान्तभूतशास्त्राणां 'विधातरि' = निर्मातरि 'अराष्ट्रिये'=पूर्वोक्तलक्षणे 'सति'=वर्तमाने 'हीयते'=नश्यतीति शेषः।

अस्यायं भावः—शासनं पूर्वं बुद्ध्यते पश्चाच्च क्रियते। बोध मन्तरेण क्रियाया अनुदय इति नैसर्गिकनियमात्। शासनक्रियया च सर्वैरप्याकाङ्क्ष्यत एवेत्युक्तमेव पूर्वं प्रतुस्तभाष्यकृता। शासकाः शासन कारका राष्ट्रिया एव स्थाप्या इति तु 'राष्ट्रियाः शासकाः" (रा 59) इत्यनया कारिकया प्रतिपादितमेव, नियमविधायिषु कण्ठरवेण नोक्तं तत् यद्यपि राष्ट्रे सर्वत्राऽपि कार्यकरणे राष्ट्रियस्यैवाऽधिकारित्वनिरूपणाद-राष्ट्रियस्य नैव प्राप्तिः सम्भवति कस्मिन्नप्यधिकारिपदे तथाऽपि, प्रथममेव यानि राष्ट्राणि निजदौर्भाग्यवशान्नु, निजप्रमादालस्यवशान्नु, परस्परप्रेमाऽभावकारणान्नु अन्यथा वा केनाऽपि दुर्विलसितेन यानि राष्ट्राण्यनार्यपरतन्त्राणि सम्भूतान्येव सन्ति तेषां प्रति 'अनार्यशासकान् मा स्थापयत,' 'अनार्यान् नियमविधानेषु मा नियोजयत' इति विज्ञापनं 'भुक्तवन्तं प्रति मा भङ्क्था' इतिवन्मुधैव भवति। अतश्च तेषामुद्धाराय किं विधेयमिति निरूपणायमेव । तन्निरूपणाय तदङ्गत्वेन पूर्वमस्याः कारिकाया आरम्भः। अनया कारिकया शासकेभ्यो महत्त्वं शासन-नियमविधातॄणामस्तीति बोधयन्त्या ध्वन्यत एतत् यत्—यानि राष्ट्राणि परतन्त्राणि तानि प्रथमं स्वोन्नतिविधानाय स्वयं नियमान् विदध्युरिति। अनन्तरं च शासनमपि तन्नियमाऽनुकूलं कारयितुं प्रयतेरन्निति। यतः खलु शासकानां नियमपरतन्त्रता भवति। नियमाश्चेद् राष्ट्रियप्रणीताः शासकाश्चाराष्ट्रियास्तदा न तादृशी हानिर्भवति यथाऽराष्ट्रियाश्चे-न्नियमविधायकाः। अत्रेदं बोध्यम्—कार्यस्य सदोषत्वे कारणस्य च निर्दोषत्वे संशोधनं सौकर्येण कर्तुं पार्यते, परन्तु कारणस्यैव सदोषत्वे कठिनं संशोधनम्। अतश्च भ्रमात्प्रमादाद्वा शासका अराष्ट्रियाश्चेद् भवेयु-स्तदा न तादृशी हानिर्यथा। नियमविधातॄणामराष्ट्रियत्वे। एतेन नियमविधानेष्वराष्ट्रिया नैव नियोज्या अनुमन्तव्या वेति बोध्यते। अथ च प्रत्युत निषेध्याः। यतः 'आप्रतिविद्धमनुमतं भवति' इति खलूच्यते विद्वद्भिः। अत एव मनुनाऽप्येवमुक्तम्—

सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समञ्जसम्।।
अब्रुवन् विब्रुवन् वाऽपि नरो भवति किल्बिषी।। (मनु 8/13)

एतेनाऽराष्ट्रियाणां नियमविधानं सर्वतोभावेन खण्डनीयं परतन्त्रै राष्ट्रियैः सर्वथेति बोध्यते। यतोह्यराष्ट्रियाणां निर्मिता नियमा नाशयन्ति

राष्ट्रम् । अत्रेदं बोध्यम्—अनुवादः पुनः पूर्वमुक्तस्यैव भवतीति नियमः । अराष्ट्रियाणां च शासकत्वं नैव विहितम् । ततश्च 'शासके सत्यराष्ट्रिये' इति न कस्याऽपि विधेरनुवादः । किं तु अभ्युपेत्याऽन्यस्यातिहानिकरत्वोपपादनाय तथोक्तिः । यथा भाषायामप्युच्यते यदि नाम सूर्यः पश्चिमस्यामुदीयेत तदेदं सम्भवेत् इति । यथा च शिशुपालवधे—

उभौ यदि व्योम्नि पृथक् प्रवाहा-
वाकाशगङ्गापयसः पतेताम् ।
तेनोपमीयेत तमालनील-
मामुक्तमुक्तालतमस्य वक्षः ।। (शि.व. 3/8)

एवं च पारतन्त्र्येण यत्र राष्ट्रे नियमनिर्मातृत्वं शासकत्वं च वर्तते । तत्राऽपि नियमविधायकाः शासकेभ्यो गुरुतराऽपराधभागिन इति तेषां दण्डाधिक्यं बोध्यते । एतेन सर्वेष्वपि राष्ट्रेष्वराष्ट्रिया न नियमविधायिषु संस्थाप्याः । शासकास्तु पुनः पूर्वमेव निषिद्धाः । राष्ट्रियशब्दश्चाऽत्र राष्ट्रियत्वाऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नपरः । एकवचनं च "जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्" (पा सू 1/2/58) इत्यनेन जात्यभिप्रायम् । पुंस्त्वमप्यविलक्षितमेवेति ध्येयमेव । एवं च परतन्त्रैः पूर्वं नियमविधानं शोधनीयं, सममेव शासकनियोजनं च । स्वतन्त्रैश्च नियमविधाने विस्मृत्याऽस्य राष्ट्रियेभ्यः पदं न देयमित्यपि ध्येयं सुधीभिः । इदमत्र तात्पर्यतो बोध्यम्—चतुर्विधः सम्बन्धो येषां यत्र राष्ट्रे तत्र राष्ट्रे तेषां स्वत्वमिति पूर्वं बोधितमेव । त एव तत्र राष्ट्रे राष्ट्रियत्वेन व्यवहारयोग्याः । तद्भिन्नाः सर्वेऽपि तत्र राष्ट्रे 'अराष्ट्रिया' इत्येव व्यवहार्याः । अयं भावः—सम्बन्धचतुष्टयाऽन्यतमसम्बन्धमात्रेण न राष्ट्रियत्वं भवतीति । ते चाऽन्यतमसम्बन्धमात्रेण जातु शासकपदे नियुक्ता अपि भ्रमप्रमादादिना राष्ट्रियाणां परस्परं भिन्नमतितया सम्भवन्ति । ते च यावतीं हानिं सम्पादयन्ति राष्ट्रस्य सा तावदल्पैव । यतो हि नियमविधातृपदे रभसाद्वा प्रमादादिना वा नियुक्ता अराष्ट्रियास्तादृशीं हानिं विदधति या सर्वतोऽप्यनुपमा भवति । तस्याः पुरो न काऽपि हानिरभिधातुं शक्यत इति । इदं तु बोध्यमेव—येषां यावदेव सम्बन्ध आधिक्यं ते तावदेव हानिं न्यूनां सम्पादयन्ति । यावदेव च सम्बन्धे न्यूनत्वं तावदेव हानिमधिकां सम्पादयन्तीति । एवमपि व्याख्येयम्—राष्ट्रिय=राष्ट्रजातं ज्ञानं अस्ति यस्य सः 'अर्शआदिभ्योऽच्' (पा. सू. (5/2/127) इत्यच् । राष्ट्रज्ञानविचक्षण इति

यावत् तद्भिन्नोऽराष्ट्रियः । तस्मिन् शासनप्रबन्धकर्तरि सति न तावती हानिर्भवति । यावती राष्ट्रज्ञानवैचक्षण्यरहिते शासननिर्माण-पदमधितिष्ठति हानिः सम्भाव्यते । एतेन राष्ट्रज्ञानवैचक्षण्यहीनानां सर्वथा परिहारो बोधितः राष्ट्रज्ञानवैचक्षण्यस्वरूपं तत्प्राप्त्युपायश्च पूर्वमेव दर्शितं प्रस्तुतभाष्यकृता । तथा न हीयते इत्यनेन अराष्ट्रियेषु शासनप्रबन्धकर्तृपदाधिष्ठितेषु सत्सु हानिरस्त्येवेति सिद्धवदेव प्रतिपाद्यते । अथ च सर्वाऽतिशायिहानिकारकत्वबोधनाय नियमप्रणेतृ-पदाऽधिष्ठातॄणामराष्ट्रियाणामेवं निरूपितम् । एतेन राष्ट्रियाणां शासनप्रबन्धकर्तृपदाधिष्ठातॄणां स्तुतिर्विहिता ततोऽप्यधिकं स्तुत्यर्हत्वं शासननियमप्रणेतृपदाधिष्ठातॄणां राष्ट्रियाणामस्तीति बोधितम् । एवं सर्वाऽतिशायिस्तुतियोग्या राष्ट्रिया एव नियमप्रणेतृपदेष्वधिष्ठातु-मर्हन्तीति त एव नियमप्रणेतृपदेषु नियोज्या इति विधीयते । 'यः स्तूयते स विधीयते' इति मीमांसकनीतेः । इदं च बोध्यम्—सर्वेषां राष्ट्राणां हितसाधनाय परस्परं सामञ्जस्यनिर्वहणाय कलह-निराकरणाय सुमतिस्थापनाय च महत्येका राष्ट्रपरिषदावश्यिकेति स्थापनीयत्वेन पूर्वं निर्दिष्टैव । तस्यां परिषदि तत्तद्राष्ट्राणामध्यक्षाः सम्भूय समस्तराष्ट्रहितकारकनियमानां प्रणयनं विदध्युरित्यपि पूर्वमुक्तमेव प्रकृतभाष्यकृता । ते खलु त्वार्यराष्ट्रवादिन एव भवेयुः किं च राष्ट्रिया एव भवेयुः । चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धिन एव भवेयु-रिति भावः । अत्रेदं बीजम्—येषां खलु सम्बन्धचतुष्टयं न क्वापि भवति तेऽध्यक्षपदेषु तत्तद्राष्ट्राणामनर्हा एव । अथ जातु तत्तद्राष्ट्र-पारतन्त्र्यवशात् प्राप्ता अध्यक्षपदमराष्ट्रियाः, स्वत्वाभावेन कारुण्यहीनाः सन्तोऽहि तमेवाऽऽचरन्ति वैषम्योत्पादकनियमप्रणयनेन । यतो हि राष्ट्रिय एव पातुं कर्तुं च प्रभवति राष्ट्रहिताऽहितम् । उक्तमपि नीतिशास्त्रे—'न हि वन्ध्या विजानाति गुर्वीं प्रसववेदनाम्' इति । अराष्ट्रियाः खलु बन्ध्यासमाना न ज्ञातुं प्रभवन्ति हिताऽहितं राष्ट्रियस्येति राष्ट्रिया एव नियोज्या नियमप्रणेतृपदेषु नाराष्ट्रिया जातु विस्मृत्याऽ-पीति । अलमनेन ॥62॥

'एवं शासनप्रबन्धाय शासकस्थापनं राष्ट्रियाः शासका' (रा.58) इत्यनया कारिकया विधाय, तन्मूलभूतं नियमप्रणयनमित्यालोच्य तदर्थं राष्ट्रसञ्चालकान् (रा.59–60) इति कारिकायुग्मेन नियमप्रणेतृ-स्थापनं निरूप्य, तत्प्रसङ्गेन विषमदर्शिभिः प्रणीता नियमा राष्ट्रं

नाशयन्तीति "निर्मान्ति यत्र" (रा. 61) इत्यनया प्रतिपाद्य नियमप्रणेतृ-शासकयोर्नियमप्रणेतुरराष्ट्रियत्वेऽतीव हानिकारकत्वनिरूपणपुरःसरं तस्याऽतिमहत्त्वनिरूपणव्याजेनाऽराष्ट्रियाणां सर्वथाऽपि नियमप्रणयन-शासनकर्मणोरयोग्यत्वमनियोज्यत्वं च 'न हीयते तथा राष्ट्र' (रा. 62) इत्यनया कारिकया प्रतिपादितमराष्ट्रियनिन्दनपुरःसरम्। इदानीम-राष्ट्रियनियममाननायापि राष्ट्रनाशकतां प्रतिपादयन्नाह—

ये मानयन्ति नियमानराष्ट्रियकृतान् किल ।।
दुर्भगास्ते नाशयन्ति राष्ट्रमाशु कुबुद्धयः ।।63।।

ये मानयन्तीति । ये अराष्ट्रियकृतान्—नियमान् मानयन्ति—दुर्भगाः—कुबुद्धयः—ते—राष्ट्रं—आशु–नाशयन्ति--किल । इति पदयो-जनिका ।

'ये'=राष्ट्रियाः 'अराष्ट्रियकृतान्'—राष्ट्रस्य चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धिभ्यो भिन्नैः, राष्ट्रज्ञानवैचक्षण्यरहितैश्च, अराष्ट्रियपदाऽभिधेयैः 'कृताः'=निर्मिताः तान् 'नियमान्'=कर्त्तव्याऽकर्त्तव्यबोधकशास्त्राणि 'मानयन्ति'=हितकारितया बोधयन्ति, मन्यन्ते च स्वार्थणिजन्तो वा हेतुमण्णिजन्तो वा प्रयोगः । 'दुर्भगाः'—दुष्ट=अशुभं भगं=श्रीकामादि येषां ते । भगशब्दार्थाः सर्वेऽपि यथायथ योजनीयाः । तथा चाह भग-शब्दार्थनिर्वचनेऽमरसिंहः—

भगं श्रीकाममाहात्म्यवीर्ययत्नार्ककीर्तिषु :

अन्यत्र च भगशब्दार्थ एवं वर्णितः—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः ।।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ।।

दुर्गतं भगो येषां ते दुर्भगा वा 'कुबुद्धयः'—कुत्सिताः=निन्दिता बुद्धयः वासनावृत्तयो येषां ते अथवा कुत्सिता=निन्दिता बुद्धिः निश्चय-कारिणी चित्तवृत्तिर्येषां ते 'ते'=अराष्ट्रियविहितनियममानकारिणः 'राष्ट्र'=पूर्वलक्षणलक्षितं 'आशु'=शीघ्रं नाशयन्ति'=ध्वसयन्ति 'किल' अव्ययमेतत्सर्ववाद्यविसंवादबोधकम् । सर्वेषामप्यत्रैकमत्यमिति भावः । अत्रेदं तत्त्वम्—राष्ट्रस्योत्थानं वा पतनं वा राष्ट्रियानेवाऽवलम्बत इति तु पूर्वमेव प्रस्तुतभाष्यकृता "राष्ट्रस्योत्थानपतने" (रा. 15) इत्यस्याः

कारिकाया भाष्याऽवसरे सुनिरूपितम्। ततश्च राष्ट्रिया एव सम्बोध-नीया इत्यपि तत्रैवोक्तम्। अत एव पूर्वं नियमप्रणयने राष्ट्रियाणा-मेवाऽधिकार इति निरूपितम्। तत्राऽपि नियमप्रणेतृपदेषु विनियोजनं राष्ट्रियैरेव कार्यमिति "राष्ट्रसञ्चालकान्" (रा. 59-60) इति कारिकायुग्मेन प्रतिपादितम्। राष्ट्रियेष्वपि विषमदर्शिनां नैवाऽधिकार इति 'निर्मान्ति यत्र' (रा. 61) इत्यनया कारिकया प्रदर्शितम्। अथच नियोज्यत्वमप्यराष्ट्रियाणां सामान्यतो निषिद्धमपि पूर्वं विशे-षतो निषेधदार्ढ्याय पुनरपि 'न हीयते' (रा. 62) इत्यनया नियमविधातृपदे निषिद्धम्। राष्ट्रनाशं प्रत्यराष्ट्रियाणामहेतुत्वस्य पूर्वं प्रतिपादनात् राष्ट्रियाणामेव राष्ट्रनाशे हेतुत्वात्। त एवाऽ कार्यकरणे निन्द्यन्ते न हि निन्दा निन्दितुं प्रवर्तते किंतु विधेयं प्रति स्तोतुम इति मीमांसकनीत्या विधेयानां तेषां कार्यकरणे स्तूयन्ते एव ते। इदमत्र बोध्यम्—अविवेकिभी राष्ट्रज्ञानवैचक्षण्यहानतया ये परतन्त्र-तामिता एव ते यदि पारतन्त्र्यवशात् न नाम प्रभवन्ति शासकानां नियोजने नियामकानां वा नियोजने स्वमनोऽभिलषिताऽनुकूलानां राष्ट्रियाणाम्। अथ च तथैव पारतन्त्र्यवशादेव स्वमनोरथनिरोधिनां शासकानां नियामकानां वा बहिष्करणायाऽधिकारिपदेभ्यः, तथाऽपि न तेषामराष्ट्रियाणां दोषः किं तु परतन्त्राणामपि राष्ट्रियाणामेवाऽय दोष इति प्रतिपादयितुं परतन्त्राणां स्वातन्त्र्यप्राप्त्युपायं च बोधयितु-मयमस्याः कारिकाया आरम्भः। ये खलु पारतन्त्र्यवशात् स्वातन्त्र्येऽपि मोहवशाद्वाऽराष्ट्रियविहितान् नियमान् मानयन्ति। इदमत्र बोध्यम्—नियमाः खलु कर्त्तव्याऽकर्त्तव्यबोधकशास्त्राणामिति प्रतिपादितम्। तानि च शास्त्राण्यराष्ट्रियप्रणीतानि सन्त्यपि न माननीयानि। तेषाम-राष्ट्रियप्रणीततया राष्ट्रघातकत्वाऽवश्यम्भावात्। पारतन्त्र्येणाऽ-राष्ट्रियाणां शासकपदात् नियामकपदाच्च अपसारयितुमशक्यत्वेऽपि नियमभञ्जनं तु नैव दुःशकम्। ननु दण्डभयाच्छासकानां तदपि न विधातुं शक्यते इति चेदहो ते क्लैब्यमेवं वदतः। अङ्ग! क्षुद्रमिद हृदयदौर्बल्यं सुदूरं परिहर। अत एवोक्तमपि भगवता श्रीकृष्णेनाऽपि पार्थं प्रत्येवम्—

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ॥
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥ (गी. 2/3)

एवं च परतन्त्राः स्वस्य स्वातन्त्र्यीकरणाय नियमभङ्गं कुर्युरराष्ट्रियाणां शासन इत्युपदिश्यतो ननु तत्र मरणभयमस्तीति चेत् मरणाय सज्जीभवन्तु भवन्तः। यतो हि मरणं तु जन्तुमात्रस्याऽपि प्रकृतिसिद्धमेव। उक्तमपि गीतासु--

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च। (गी. 2/27)

ये च मतुं न जानन्ति स्वराष्ट्र जीवनाय तेऽधिकाऽधिक पारतन्त्र्यनिगडं दृढीकुर्वाणा राष्ट्रघातिनो भवन्तीति पूर्वं प्रतिपादितं 'पारतन्त्र्यस्य" (रा. 12) इति कारिकाया भाष्याऽवसर एव। एवं च परतन्त्रा अपि नियमभङ्गं कर्तुं प्रभवन्त्येवाऽऽर्या इत्युक्तम्। ते यदि नियमभङ्गमकृत्वा शासकानराष्ट्रियान् राजान इमे इति बुद्ध्या तेषां विहितान् नियमान् मानयन्ति, स्वयं मन्यन्तेऽन्यांश्च बोधयन्ति शास्त्राणीमानि सम्मान्यानि शासकप्रणीतानीति शासकभक्तिप्रेरणया ते दुर्भगा एवेति निश्चयः। अराष्ट्रियाः खल्ववश्यमेवाऽनार्या भवन्तीति वक्ष्यत एव। अनार्याणां निग्रहीतुमुचितानां कथं सम्माननं नाम शोभत आर्यवीराणाम्। अतः सुष्ठूच्यते दुर्भगा इति। तेषां किल समस्तमपि समं राष्ट्रनाशेन सौभाग्यं नाशमेति। परतन्त्राः किल प्रथमं दारिद्र्यमुपगच्छन्ति। दारिद्र्यमेकमेव नाम कोटिगुणनाशकम्। अत एवोच्यते "दारिद्र्यमेकं गुणकोटिहारी" इति। दारिद्र्यं खलु समग्रविपत्तीनां स्थानम्। वर्णितमपीदं मृच्छकटिकप्रकरणे शूद्रकमहाकविना यथा—

दारिद्र्याद्ध्रियमेति ह्रीपरिगतः प्रभ्रश्यते तेजसो
निस्तेजाः परिभूयते परिभवान्निर्वेदमापद्यते।
निर्विण्णः शुचमेति शोकपिहितो बुद्ध्या परित्यज्यते
निर्बुद्धिः क्षयमेत्यहो निधनता सर्वाऽऽपदामास्पदम्॥
(मृ. 1/14)

अपिच तत्रैवोक्तम्—

दारिद्र्यात्पुरुषस्य बान्धवजनो वाक्येन सन्तिष्ठते
सुस्निग्धा विमुखीभवन्ति सुहृदः स्फारीभवन्त्यापदः॥
सत्त्वं ह्रासमुपैति शीलशशिनः कान्तिः परिम्लायते
पापं कर्म च यत्परैरपि कृतं तत्तस्य सम्भाव्यते॥
(मृ. 1/36)

एवं खलु दारिद्र्यं समस्तानामापदामास्पदं सर्वथा प्राप्नुवन्ति। भगशब्दाऽभिधेयाः सर्वेऽपि पदार्थास्तस्य नश्यन्त्येव। अराष्ट्रियविहितान्

नियमान् सुमतयोऽतिपरतन्त्रा अपि न मानयन्ति, प्रत्युत स्वपारतन्त्र्य-नाशाय स्वातन्त्र्यप्राप्त्यै प्राप्तस्य संरक्षणाय च तान् नियमान् निन्दन्ति भञ्जयन्ति च। परं तु कुबुद्धयः खलु ते ये तानराष्ट्रियकृतानपि नियमान् मानयन्ति स्वयमन्येभ्यश्च। कुत्सिता खलु बुद्धिर्दौर्भाग्ये कारणं भवत्येव। तथा चाह गोस्वामी तुलसीदासः—

सुमतिर्यत्र तत्राऽऽस्ते सम्पन्नानाप्रकारिका ।।
निधानं विपदां तत्र कुमतिर्यत्र वर्तते ।।

अयं भावः—ये तावन्मन्यन्ते नियमाः खलु शासकानामवश्यं मान-नीयास्ते पुनरराष्ट्रियकृता वा राष्ट्रियकृता वा भवन्तु, सा खल्वियं बुद्धिः कुबुद्धिः। एव हि ब्रुवाणाः प्रायो लोभादिनोपहता भवन्ति अथवा क्लीबाः कातरा भवन्ति, यतस्ते सर्वेऽप्येवंविधा राष्ट्रज्ञानवैचक्षण्यहीना एव जरीजृम्भन्ति । यतस्तेन पश्यन्ति भाविदुर्भगत्वम्। तथाविधाश्चैते झटित्येव दुर्भगत्वमायान्ति । दुर्भगानां पुनः क्व पुरुषार्थसिद्धिः । वस्तुत-स्तु ते पुरुषाः पदभागिन एव न भवितुमर्हन्ति । यतस्ते पशव एव। स्वार्थ-साधनेऽपि ये प्रमाद्यन्ति तेभ्योऽधिकः को वाऽत्र मूढः स्यात् । उक्तमपि **योगवाशिष्ठे** –

इति कोऽन्योऽस्ति मूढात्मा यस्तु स्वार्थे प्रमाद्यति ।

एवं हि त आर्या अपि पारतन्त्र्येण लोभादिना वा अराष्ट्रियकृतान् नियमान् मानयन्त्याचारयोग्या इत्येवं रूपेण ते कुबुद्धिमलिनाऽन्तः करणा दुर्भगा भूत्वातिशीघ्रमेव राष्ट्रं नाशयन्ति किल । एवं च सौभाग्याऽऽकाङ्क्षिणः कदापि राष्ट्रियकृतनियमानां मानने बुद्धिं न कुर्युः। सा किल कुबुद्धिः। कुबुद्धिश्च दौर्भाग्यकारिणी नाशकारणं भवति राष्ट्रस्य । अत्रेदं च बोध्यम्—राष्ट्रज्ञानवैचक्षण्यहीना अराष्ट्रियाः, तेषां कृता नियमा न कदाऽपि माननीयाः। राष्ट्रज्ञानवैचक्षण्यं चाऽऽर्य-राष्ट्रवादिनामेव राष्ट्रकल्याणकरम् । अनार्याणां पुना राष्ट्रज्ञान-वैचक्षण्य न स्वराष्ट्रस्याऽपि कल्याणं कर्तुं प्रभवन्ति, यतः खलु परराष्ट्र-स्याऽप्यकल्याणं य इच्छति करोति वा सोऽपि स्वराष्ट्रनाशनाय परराष्ट्रान्तरभवान् विवशयति ततश्च तैः परराष्ट्रभवैर्नाशयति स्वं राष्ट्रम्। एतत्सर्वमभिप्रेत्यैव स्वपरपदं नोपात्तं कारिकायाम्। एतेन शान्तिशासनाऽभिलाषिभिः सदैवाऽऽर्यराष्ट्रवादिन एव नियमप्रणयनाय प्रार्थनीयाः। ते हि राष्ट्रज्ञानवैचक्षण्येन समदर्शितया समस्तराष्ट्रकल्याण-

ऽऽकाङ्क्षितया तत्त्वदर्शितया समग्राण्यपि राष्ट्राणि समुन्नयन्त्यार्यराष्ट्रवादिन इत्यलम् ।।63।।

अथेदानीं ये शासकाः शासकपदवीमधिष्ठिताः पूर्वम् । अनन्तरं च येऽनार्यजुष्टपथे प्रचलितास्ते शासकपदेभ्यो बहिर्निर्गमयितव्याः । अथ च पूर्वमेवैतादृशाश्चाऽनियोज्या एवेति वदन्नाह—

उत्कोचग्राहिणो राष्ट्रद्रोहिणो व्यसने रताः ।
अराष्ट्रियाश्च भवितुं नार्हन्ति किल शासकाः ।।64।।

उत्कोचेति । उत्कोचग्राहिणः राष्ट्रद्रोहिणः—व्यसने—रताः—अराष्ट्रियाः—च—शासका =भवितुं—न—अर्हन्ति—किल ।

'उत्कोचग्राहिणः'—उत्कोचं=अनुचितं लोभनीयं द्रव्यं ग्रहीतुं शीलं येषां ते गृह्णन्ति ते ग्राहिणः । उत्कोचस्य ग्राहिणः नन्दिग्रहि—पचादिभ्यो ल्युणिन्यचः (पा. सू. 3 1/134) इति णिनिः कर्तरि । उत्कोचं ग्राहयन्ति ते च । 'राष्ट्रद्रोहिणः'—राष्ट्राय=पूर्वोक्तलक्षणाय द्रोग्धुं शीलं येषां ते । अथ च राष्ट्राय द्रोहयन्ति ते अथ वा राष्ट्राय द्रोहः=अपकारः अस्ति येषां ते । ताच्छील्ये णिनिः. हेतुमण्णिच् । मत्वर्थे इनिर्वा । 'व्यसने'—कामक्रोधादिसमुद्भवे दोषे तथा चाहाऽमरः—

व्यसनं विपदि भ्रंशे दोषे कामजकोपजे ।

'रताः'=आसक्ताः 'अराष्ट्रियाः'=चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धिनो ये न भवन्ति ते राष्ट्रज्ञानवैचक्षण्यहीनाश्च 'शासकाः'=शासनप्रबन्धकर्तारः 'भवितुं न अर्हन्ति'=भवनाय न योग्या भवन्ति ।

अस्याः कारिकाया अय भावः—पूर्वं किल समस्तलोकेषु शान्तिस्थापनाय सुशासनप्रबन्धोऽत्यन्तमावश्यक एवेति सर्ववाद्यं विसंवाद्यमेव । स च प्रबन्धः शासकायत्त इति शासकानां संस्थापनमावश्यकमिति तत्प्रतपादितम् । तत्र शासका एवङ्गुणाः स्थाप्या इत्युक्तं 'राष्ट्रियाः शासका' (रा. 58) इत्यनया कारिकया । इदानीं च नियुक्ताः शासकपदे ततो बहिष्काराय तेषां दोषनिरूपणं क्रियते । अयं भावः—परतन्त्रराष्ट्रेषु पारतन्त्र्येण शासका रभसान्नियुक्ताः स्वयं वा परैर्वा ते चेदेवं भूतास्तदा ते न शासका भवितुमर्हन्ति । अप्रेमभाजनीभूतास्ते शास्यैराक्रम्य निष्कास्यन्ते । त एवं प्रथमंतावदयं महान् दोषः शासकेषु यदुत्कोचग्रहणं नाम । उत्कोचः पुनः स उच्यते यद्वृत्त्यर्थं नियमितद्रव्यादधिकं वित्तं गृह्यते । तद् ग्रहीतुं शीलं येषां ते स्वभावादेव किल ये उत्कोचप्रियास्ते न शासका भवितुमर्हन्ति । अत्रेदं बोध्यम्—येषां किल न समुचितो वृत्तेः प्रबन्धो भवति ते

खल्वितस्ततो उत्कोचं गृह्णन्ति शासकपदाऽधिरूढाः, अत एव वृत्तिहीनता नाम राष्ट्रियाणां राष्ट्रपतनकारणं भवति । एतेन योग्या वृत्तिः प्रथमं नियोजनीयेति ध्वनितम् । अथ च गृह्णन्ति=स्वीकुर्वन्ति ते ग्राहिणः "नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः" (पा. सू. 3/1/134) इति णिनि प्रत्ययः । उत्कोचस्य पूर्वोक्तस्य ग्राहिणः । अयं भावः—यदृच्छयाऽन्यैरुपायनीक्रियमाणमुत्कोचरूपद्रव्यस्य स्वीकारिणः । अत्रेदं बोध्यम्—केचित् उत्कोचग्रहणशीलतया रभसादपि शास्येभ्य उत्कोचं गृह्णन्ति । अन्ये पुनर्न रभसात् किं तु अयाचितरूपेण दात्रा शास्येनैव स्वयमेवोपायनीकृतं स्वीकुर्वन्ति । एते द्विविधा अप्युत्कोचग्राहिण एवेति द्विविधा अपि शासकपदाद् बहिष्करणीयाः । अथ च 'उत्कोचग्राहिणः' उत्कोचं=पूर्वोक्तलक्षणं ग्राहयन्ति=स्वीकारयन्ति । अयमर्थः—माध्यस्थमवलम्ब्याऽन्येभ्यः शास्येभ्य उत्कोचं ग्राहयन्ति शासकान् तेऽप्युत्कोचग्राहिणः "तत्प्रयोजको हेतुश्च" (पा.सू.1/4/55) इति णिच् । अथ च ये ग्राहयन्ति=अनुमोदयन्ति तेऽप्युत्कोचग्राहिण एव त एते सर्वविधा अप्युत्कोचग्राहिणः शासकपदाद् बहिष्कार्या एव । अथ चाऽत एव 'राष्ट्रद्रोहिणः'—राष्ट्रं=पूर्वोक्तलक्षणं तस्मै स्वभावेनैव ये द्रुह्यन्ति ते । स्वभावेनैव द्रुह्यन्त्येते । तत्राऽपि व्यक्तिवादिनः स्वस्य परस्य वा राष्ट्रस्य सामान्यतयैव द्रुह्यन्ति । वादिनश्चाऽनार्यतया परस्मै राष्ट्राय द्रुह्यन्त्येव स्वस्मै न द्रुह्यन्ति तथाऽपि राष्ट्रद्रोहिण एव । अथ च य आर्यराज्यवादिनस्तेऽपि प्रत्यक्षं किमपि राष्ट्रं यद्यपि न द्रुह्यन्त्यथाऽपि राज्यवादितया राष्ट्रमुपेक्षन्तेऽवश्यमेव । एते हि स्वराष्ट्रं राजसंरक्षणानुषङ्गिकमिति राष्ट्रं पालयन्ति न प्राधान्येनेत्युपेक्षककोटावेवाऽन्तर्भवन्ति परराष्ट्राणि तूपक्षन्त एवेति त एतेऽपि परम्परया राष्ट्रद्रोहिकोटिपर्यवसायिन एव भवन्तीति राष्ट्रद्रोहिण एव । सङ्घवाद्यपरपर्यायानार्यराष्ट्रवादिनो व्यक्तिवाद्यपरपर्यायानार्य राज्यवादिनश्च शासकपदाऽऽरोहणे इमेऽप्यनर्हा एव । अथ च केचिद्व्यसने रताः व्यसनं नाम विशेषेण क्षेपणम् । असु क्षेपणे ततो ल्युट् रूढश्चायं दोषेषु । अत्यासक्तिरित्यर्थः । विषयेष्वत्यासक्तिर्हि नाम पातयति नीचैर्नीचैः । तादृशे च व्यसने ये रतास्ते चेत् । शासकपदमधि-

---

कुछ लोग व्यष्टि के कल्याण की आकांक्षा करते हैं और कुछ समष्टि के कल्याण की । जो मूर्ख जीव हैं, वे व्यष्टि के कल्याण की कामना करते हैं तथा जो विद्वान् एवं कल्याणकारी जीव है, वे समष्टि का कल्याण चाहते हैं ।

तिष्ठेयुस्ततो राष्ट्रमवश्यमेवाऽवनतिगर्ते पातयेयुरिति ते शासकपदे स्थापयितुमनर्हा एव । अत्र व्यसनपदं पतनकारणताऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नमात्रपरम् । अत एव व्यसने इत्येकवचनमुपात्तम् । अत एवैकव्यसनत्यागमात्रेण न कृतार्थता । यथा 'न ब्राह्मणं हन्यात्' इत्यत्रैकवचनमविवक्षितमेव । अन्यथा विवक्षितत्व एकवचनस्य महाननर्थः स्यात् । व्यसनानि च बहूनि सन्ति तानि सर्वाण्यपि प्रायो बुभुक्षावतामेव भवन्ति । तेन बभुक्षावन्तो नैव शासकपदे क्वाऽपि स्थातुमर्हन्तीति बोधितम् । ननु एतद्येषु त्रयमपि नास्ति किं ते सर्वेऽपि शासकपदेष्वारोढुमर्हन्ति नेत्याह 'अराष्ट्रियाश्च' इति । राष्ट्रान्तरचतुर्विधसम्बन्धिनः, शास्यराष्ट्रचतुर्विधसम्बन्धरहिताश्च द्विविधा अप्यराष्ट्रिया एव । ते न शासका भवितुमर्हन्ति । अराष्ट्रियाः खल्वाततायितामवश्यं यान्तीति वक्ष्यत एवाऽनुपदमेव । अयं भावः—ये राष्ट्रिया उत्कोचग्राहिणो न सन्ति, राष्ट्रद्रोहिणो वा, व्यसने रक्षा वा न सन्त्यथाऽप्यराष्ट्रियत्वमात्रेणैवाऽयोग्यास्ते, स्वत्वाऽभावात्, भाव्याततायिभावशङ्कायाश्च । एवं च राष्ट्रिया एव निषिद्धलक्षणवर्जिताः शासका भवितुमर्हन्तीति बोध्यते । निन्दनीयाः खल्वते नैव शासकपदेषु नियोज्या इति यावत् । एवं निषेधविधिपरिपोषितसारं शासनप्रबन्धकर्तृपदनियोजनं सर्वदा कार्यमिति व्यज्यते । अन्यथै· तदुल्लङ्घने न शान्तिसुखलाभः कस्याऽपि । तत एव च बुभुक्षावृद्धिः सर्वत्र सम्भवति । सा बुभुक्षितैव परस्परं भुञ्जाना समस्तानि राष्ट्राणि कवलयन्ती महाघोरा महाकाली अपरितृप्यन्ती निगृह्णाति समस्तमप्यनार्यमण्डलम् । एतच्च महाप्रलयावध्येवमेवात्मक्रीडनं विलसति । एतस्या बुभुक्षाया एव तन्त्रग्रन्थेषु—

"घोररूपां महारावां मुक्तकेशीं दिगम्बराम्" इत्यादिरूपेण ध्यानपरिपाट्युच्यते । एतस्या आत्माऽभेदभावनयुक्त्यासमरसस्याऽपि वस्तुनः संहारं साधयितुं शक्यत इत्यादि निजनाथमुखादेवाऽवगन्तव्यं रहस्यम् । किमत्र रहस्याऽरहस्येनेत्यलम् ॥64॥

आर्यों में राष्ट्र का कल्याण करने के इच्छुक व्यक्तियों को नीतिवेत्ता होना चाहिए । जो परतन्त्रता की अवस्था में सम्भव नहीं है । कल्याणकारक शासन पूर्णरूपेण कमनीय एवं स्पृहणीय होता है । इच्छा का उदय ही समस्त सृष्टि का मूल है तथा आवश्यकता ही आविष्कार की जननी है ।

नैतावन्मात्रमेव शासनप्रबन्धकर्तृ पदविनियोगेऽनधिकारिताऽव-च्छेदकमपि तु हेत्वन्तरमप्यस्तीति प्रतिपादयन्नाह—

राष्ट्रद्रव्यं राष्ट्रनाशे नियुञ्जाना महामदाः ।
अराष्ट्रिया राष्ट्रभुजो राष्ट्रं नार्हन्ति शासितुम् ॥65॥

राष्ट्रद्रव्यमिति । महामदाः—राष्ट्रद्रव्यं— राष्ट्रनाशे—नियुञ्जानाः राष्ट्रभुजः--अराष्ट्रियाः— राष्ट्रं—शासितुं—न—अर्हन्ति । इति पदयोजनिका ।

'महामदाः'—महान= विशालः मदः=दर्पः येषां ते महामदाः अभिमानाभिनिविष्टा इति यावत्, 'राष्ट्रद्रव्यम्'— राष्ट्रस्य=पूर्व-लक्षणलक्षितस्य द्रव्यं=वित्तं राष्ट्रनाशे'--राष्ट्रस्य= पूर्वोक्तलक्षणस्य 'नाशः'=विनशनं तस्मिन् 'नियुञ्जानाः'--नितरां=अत्यन्तं युञ्जानाः उपयोक्तारः युजिर् योगे सकर्मकोऽयं धातू रुधादिः । अत एव—

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया । (शि. 1)

'युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः' इत्येवमादयः **स्मृति-श्रुतिप्रयोगाः** सङ्गच्छन्ते । 'राष्ट्रभुजः'--राष्ट्रं=पूर्वलक्षणलक्षितं भुञ्जन्ति=बुभुक्षया यथेच्छं निर्मर्यादमनार्यभावेन स्वात्मीकुर्वन्ति ते । 'अराष्ट्रियाः=पूर्वलक्षिताः 'राष्ट्रं'—पूर्वलक्षितं 'शासितुं'—शासनसुप्रबन्धोनोन्नमयितुं 'न'=मा 'अर्हन्ति=योग्या भवन्ति ।

अत्रेदं बोध्यम्—पूर्वस्यां कारिकायां शासकपदविनियोगेऽयोग्याः प्रदर्शिताः । तत्रायोग्यत्वहेतव उक्ताः कतिपयैः । अस्यां चाऽवशिष्टा हेतवः कतिपये विशिष्टा इति समभिधीयन्ते, तदाह—राष्ट्रद्रव्यमिति । प्रथममिदमालोचनीयं यदेते महामदास्तु न सन्ति स्युश्चेत् न नियोज-नीयाः शासनप्रबन्धकर्तृ पदेषु नियुक्ता अपि पूर्वं शासकपदेषु महामद-त्वमिताः पुनस्तत्तच्छासकपदेभ्यो बहिष्कार्या एव राष्ट्रनेतृत्वगुण-मण्डितैर्महत्यां राष्ट्रपरिषदि नियुक्तैः । अथो वा व्याख्यायते 'महामदाः' किं नामेति । महान्=विशालः प्रसृमरः प्रसृतश्चेति द्विविधोऽपि तत्त-दध्यक्षपदस्थितनेतृपुरुषगणाऽनुज्ञोल्लङ्घनादिनाऽनुमेयस्वरूपः, मदः=

अनार्यों को आर्य बनाने के लिए क्रमानुसार साम आदि नीतियों का उपयोग करना चाहिए । इसी प्रकार परतन्त्रता के तारतम्य को देखकर पूर्वा-पर परिणाम को देखकर (उत्तम) चार प्रकार की नीति का उपयोग करना

अभिमानः आहोपुरुषिकेति भावः येषु येषां वा ते। अयं हि बहुविधो भवति स सर्वोऽपि निन्द्य एव। तत्तत्कारणसमुद्भवतया तत्तद्भिदा भवति। यथा--कुलमदः, धनमदः, विद्यामदः, बलमद, तपोमदः, रूपमदः, दानमदः इत्यादिः। अत्रेदं बोध्यम्--येन गुणेन स्वात्मनि सर्वतोभद्रनीतिप्रधान आर्यभावः स्फुरति स न मद इत्युच्यते, किन्तु स्वात्मगौरवं तत्। तच्चाऽवश्यकं पुरुषे, तद्विहीनस्य पशुप्रायत्वं भवति। उक्तमपि केनाऽपि राष्ट्रज्ञानप्रेमसन्दोहनिमग्नान्तःकरणेन विदुषा यथा--

स्वकीये गौरवे यस्य स्वदेशस्याऽपि नादरः।
स नरो नृपशुः साक्षात् शवो वा न नरः खलु॥

अथ च येन गुणेन स्वात्मनि असर्वतोभद्रत्वप्रधानोऽनार्यभावः समुद्गच्छति स एव मद इत्युच्यते। अयं बहुविधो भवतीत्युक्तमुपरि। एतद्विषये **काश्मीरकमहाकविक्षेमेन्द्रप्रणीतं** **'दर्पदलनम्'** परिशीलनीयं सुधीभिः। कुलाऽभिमानभङ्गविषये सूक्तं खलु तेनैव महाकविना--

कुलाऽभिमानाऽभरणस्य माता।
पितामही वा प्रपितामही वा॥
योषित्स्वभावेन यदि प्रदुष्टा।
तदेष दोषः कुलमूलघातः॥

यद्यपि 'राष्ट्रियाः शासकाः' (रा. 58) इत्यत्र निर्लोभा' इत्यनेन पदेन 'कामक्रोधलोभमोहमदमत्सर' इत्याख्यं रिपुषट्कमपि त्याज्यम् इत्युक्तम्। तद्भाष्ये व्याख्यातमपि तथाऽपि मदस्याऽतिप्राबल्यबोधनाय, पुनरप्यत्रोपादानं विहितम्। अत एव महामदा इत्युक्तं न केवलं मदपदम्। उचितमप्येतत् महतां महत्स्वपि पुरुषेषु मदग्रहो दृश्यते तस्य च सर्वथा समस्तगुणनाशकतयाऽत्यल्पस्याऽपि महत्त्व दृश्यते तच्च महदेवाऽनिष्टकरमार्याणामिति तस्य सर्वथाऽपि परिहाराय यतनीयमिति द्योतनाय समुपात्तं महामदेति पदम्। एतद्विरुद्धश्च विनयस्तत्परिशीलनेन दोषोऽयं नाशमेति। विनयविषये चोक्तं प्रस्तुत-

---

चाहिए। राष्ट्रिय लोगों में राष्ट्रकल्याण की इच्छा स्वाभाविक होती है, क्योंकि राष्ट्र में स्वत्व (अपनापन) उन्हीं का होता है।

भाष्यकृता 'शक्तित्रयवतः' (रा. 35) इत्यस्य भाष्याऽवसर इति तत्रैवाऽनुसन्धेयम्। अत एवोक्तमपि नयविद्भिः—

विद्याऽवद्या न सा हृद्या विना विनयसम्पदम्।

विद्यापद चाऽत्र समस्ताऽऽर्यजुष्टगुणोपलक्षणम्। तेन सर्वेऽपि गुणा अविनयेन मदावहा भवन्ति। अयं भावः—अतिरेकः खलु मर्यादाया अनार्यभावे परिणमते, ततश्च निग्रहोऽपि सोढव्यो भवत्ववश्यमेव। किंचेदमपि बोध्यम्—परिश्रममकृत्वैव गुणो यः प्राप्यते प्रायः स मदमवश्यमुत्पादयत्येव। यतः खलु परिश्रममन्तरेण पात्रत्वप्राप्तिर्न सम्भवति। अपात्रे च गुणो दुर्गुणायते, पात्रत्वं च विनयेन प्राप्यते, विनयश्च विद्यया, विद्या च राष्ट्रज्ञानवैचक्षण्यं चेति पर्यायान्तरमात्रम्। तेन हि सर्वमपि क्रमशः प्राप्यते। उक्तमपि—

विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद्धनमाप्नोति धनाद्धर्मस्ततः सुखम्॥

अन्यत्राऽप्युपनिषत्सु विद्या तत्प्रतियोगिन्याऽपविद्यया समेताऽधीता मृत्योस्तारयत्यमृतत्वं च वेदयतीत्युक्तम्। यथा—

विद्यां चाऽविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥

(ई. उ. 11)

भवतु सर्वथाऽपि सहसा गुणः प्राप्तो मदमुत्पादयति प्राय इति तु तथ्यमेव। तच्च विद्याध्ययनबोधाऽऽचारप्रचारैः परिहतव्यमेवेति द्योत्यते महामदा इति पदेन। उक्तमप्यभियुक्तैः—

अकाण्डपातोपनता न कं लक्ष्मीर्विमोहयेत्।

लक्ष्मीशब्दोऽत्र गुणमात्रपरः। अन्यद्व्याख्यातमेव। एते खलु महामदा अकार्यकारिणोऽवश्यमिति सर्वथा शासकपदाऽधिष्ठानं नार्हन्ति। अथ च ये महामदाः सन्तोऽसन्तो वा 'राष्ट्रद्रव्यम्' 'राष्ट्रं'=पूर्वोक्तमेव तस्य द्रव्यं वित्तम्। द्रव्यपदेनाऽत्र न केवलं स्वर्णरूप्यादि गृह्यते किन्तु स्थूलतया जाग्रद्व्यवहारे प्रतीयमानताऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नं यत् तत् सर्वमपि वस्तुजातं विवक्षितम्। तच्च यद्यत् राष्ट्रसम्बन्धि तत्सर्व-

---

"कण्टकेनैव कण्टकम्" इस न्याय से प्रयत्न करके भी अनार्य अराष्ट्रियों को राष्ट्र से बहिष्कृत करना चाहिए। जो नीतिकोविद होते हैं, उन्हीं को सफलता मिलती है। वे अपनी नीति से अराष्ट्रियों को राष्ट्र से बहिष्कृत करते हैं

मपि। ननु च भोः राष्ट्रसम्बन्धि किं नाम नास्ति यत् परिहरणीयं भवेदिति चेदिष्टं नः समीहितम्! अङ्ग! राष्ट्राणि बहूनि सन्तीति पूर्वमुक्तमेव। तत्रेदं विवेचनीयम्--यस्य राष्ट्रस्य येन वस्तुना सन्निकटः-सम्बन्धस्तद्वस्तु तस्य राष्ट्रस्येत्युच्यमानं राष्ट्रान्तरस्य नेदमित्यभिधानीय भवति। अथ चैवं तत्तद्राष्ट्रसम्बन्धि वस्तु तत्तद्राष्ट्रसमुन्नतावेवोपयोज्यमिति पन्थाः सदैवाऽऽर्यंगृहीत इति समयः सत्समयिनाम्। अत्राऽपि स्वत्वनियामकं पितृभूत्वं पुण्यभत्वमेवेत्यवगन्तव्यमेव। न खलु विस्मरणीयं तत्। अथ च नाऽत्र गौतमकाणादशास्त्रप्रतिपादितं द्रव्यं ग्राह्यम्। तत्स्वीकारे गुणानामसङ्ग्रहः स्यादिति। वस्तुमात्रं द्रव्यमित्यस्याऽत्रेष्टत्वात्। तत्किल राष्ट्रद्रव्यं 'राष्ट्रनाशे' 'राष्ट्रस्य'=पूर्वोक्तलक्षणस्य नाशोऽवनतिः स्वातन्त्र्यहानमिति तात्पर्यम्। तस्मिन् निमित्तसप्तमीयम्। अत्रेदं बोध्यम्-- साक्षात् परम्परम्परया वा राष्ट्रस्य येन पारतन्त्र्यप्राप्तिः सम्भवति स नाश इति विवक्षितोऽत्र। तत्र चाऽवनतौ धनजनबलयोगः कारणमवश्यं भवत्येव स च यद्राष्ट्रस्य तद्राष्ट्रस्यैव नाशेऽपि भवितुं प्रभवति दुरुपयुक्तः। सूपयुक्तश्च समुन्नयितुमपि प्रभवत्येव। अयमर्थः— राष्ट्रान्तरस्य वस्तु राष्ट्रान्तरे तन्नाशाय यत्प्रेषणं सोऽपि राष्ट्रनाश एव। तद्राष्ट्रस्य बलेनैव तद्राष्ट्रस्याऽवनयनमित्यादिबहुविधो नाशः सम्भवति स यथायथमूह्यः पण्डितवरैः। सर्वथाऽप्यसर्वतोभद्रनीत्या विनियोजनं पदार्थानां राष्ट्रनाश इत्येवं सर्ववाद्यविसंवादी सिद्धान्तः। तदेवं विधो राष्ट्रनाशे 'नियुञ्जानाः' विनियोक्तारः निरुपसर्गा युजिर्दण्डाऽधिक्यं ध्वनयति तदभ्यासिनाम्। अज्ञतया कारणान्तरेण वा सकृत्करणे ऽल्पदण्डभाक्त्वद्योतनाय। अत एव 'नियुञ्जाना' इत्युक्तम्। न केवलं युञ्जाना इति। अज्ञानतः कृतेऽकार्ये दण्डः प्रायश्चित्तं चाऽल्पं ज्ञानतश्च कृते दण्डः प्रायश्चित्तं चाऽधिकम्। यत्तु ज्ञानतः कृतेऽकार्ये प्रायश्चित्तमेव नास्तीति केचित् ब्रुवन्ति, तदपि न प्रायश्चित्ताऽभावबोधनाय, किंतु प्रायश्चित्ताऽऽधिक्यबोधनायैव। अत एव 'इन्द्रो यतीन् शालावृकेभ्यः प्रायच्छत् स प्रजापतिमुपधावत्' इत्यादिश्रुतिभ्यो ज्ञानतोऽपि मोहाद्र-

---

तथा राष्ट्र को अच्छे नियमों का निर्माण कर सुराष्ट्र बनाते हैं। अतः आर्यों के लिए नीतिकोविदत्व प्राप्त करना आवश्यक है। वे ही राष्ट्रिय तथा नीतिकोविद कहलाते हैं, जो अराष्ट्रियों को तथा अपनी बुभुक्षा की पूर्ति के लिए

भसाद्वाऽकार्यंकारणं तत्प्रायश्चित्तं चाऽवगम्यते। सर्वमपीदं यथा तथा सुस्पष्टं निरूपितमास्ते शूलपाणिकृते प्रायश्चित्तविवेकेऽन्यत्र मिताक्षरा-प्रायश्चित्तमयूखादौ च। प्रायश्चित्तं नाम निश्चयसंयुक्तं तपः। तथा चोक्तम्--

प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते।
तपो निश्चयसंयुक्तं प्रायश्चित्तमिति स्मृतम्॥

एवं च राष्ट्रस्वामिकं वस्तुमात्र राष्ट्रनाशायोपयुञ्जाना ज्ञानतो वाऽज्ञानतो वा न राष्ट्रशासनप्रबन्धकर्तृपदाऽऽरोहणयोग्याः। अत एवैतादृशास्तत्पदेभ्यो बहिःकरणीयाः दण्ड्याश्चाऽपराधगौरवलाघवतारतम्यमवलम्ब्य। एते खलु पूर्वोक्ता राष्ट्रिया अपि न योग्याः शासितुं राष्ट्रम्। अथ च 'अराष्ट्रियाः'—चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धिनो राष्ट्रियास्तद्विरुद्धा अराष्ट्रियाः, राष्ट्रज्ञानवैचक्षण्यहीनाश्च न शासितुमर्हन्ति राष्ट्रम्। अथ च राष्ट्रिया अपि 'राष्ट्रभुजः'—राष्ट्रं= पूर्वोक्तलक्षणं भुञ्जन्ति। अयमर्थः—बुभुक्षावन्तः बुभुक्षोन्मुखाश्च द्विविधा अनार्याः राष्ट्रभुज इत्युच्यन्ते। भद्रनीतिविरोधितया सङ्कुचितस्वार्थपरवशाः सन्तोऽन्यान् पीडयित्वा स्वभोगवासनाः पूरयितुमिच्छन्ति पूरयन्ति च। बुभुक्षा पुनर्न कदाऽपि तृप्तिमेतीत्यन्या वार्ता। तत्र बुभुक्षोन्मुखा धर्मसन्देहग्रस्तान्तरङ्गा इति सङ्घीभूता अन्यान् भोक्तुमिच्छन्ति। अनन्तरं त एव बुभुक्षावशमागताः परस्परं व्यक्तिशोऽपि भोक्तुं यतमाना बुभुक्षयैव क्षयं यान्ति। त एते राष्ट्रभुजो राष्ट्रिया वा अराष्ट्रिया वा राष्ट्रं शासितुं नार्हन्ति। त इमे दण्ड्यास्तत्तच्छासकपदेभ्यो बहिर्निष्कासनीयाश्च। यद्यपि अराष्ट्रिया अराष्ट्रियत्वमात्रेणैव निष्कासनीया इत्युक्तं तेषां राष्ट्रभुक्त्वं तत एव न प्राप्नोति, तथाऽपि पारतन्त्र्यवशाद्यत्राऽराष्ट्रियाः शासकपदमारूढास्ते चेद्राष्ट्रभुजस्तेषां दण्डाधिक्यं बोध्यते। इदं च बोध्यम् सर्वैरपि राष्ट्रनेतृभिः शास्तिशासनस्थापनाऽभिलाषुकं राष्ट्रभुजो न शासकपदेषु संस्थाप्याः, स्वराष्ट्रभुजो वा परराष्ट्रभुजो वा द्विविधा अपि निन्दनीया एव। अत्रेदमप्यवगन्तव्यम्—ये तावदार्यराज्यवादिनस्तेऽपि राष्ट्रोपेक्षका एव प्रायो भवन्तीति राष्ट्रभुजः परम्परयाऽवश्यं भवन्ति। यतः

कार्य करने वाले राष्ट्रभुजों को पूर्णरूपेण राष्ट्र से निकाल देते हैं। यह बुभुक्षात्व ही अनार्यत्व है।

खलु ते न स्वभावेन राष्ट्रकल्याणमिच्छन्ति किन्तु राष्ट्रभीत्या स्ववैयक्तिकभोगपूरणाशया च, कर्तव्यबुद्ध्या राष्ट्रं भुञ्जन्ति। ततश्च यथाशक्यं तेऽपि वर्ज्या एव। एवं चेते राज्यवादिन आर्या न शासकपदनिर्वाहाय समर्था भवन्तीति ते राष्ट्रवादिषु निराशंसोन्मुखेषु निराशंसासमृद्धेषु वा प्रविशन्तु पूर्वमिति द्योत्यते। तस्मात् सर्वथाऽपि यथाशक्यमार्यराष्ट्रवादिन एव शासकपदेष्वपि सस्थाप्याः शान्तिकामै राष्ट्रनेतृभिः। ततश्चाऽऽर्यत्वतारतम्येन शासकपदेषु नियुक्तिर्विधेयेति साराथः। आर्यराष्ट्रवादिष्वपि, आर्यराज्यवादिष्वपि, अयोगोन्मुखाः श्रेष्ठा, भोगोन्मुखा कनीयांसः। श्रेष्ठाः श्रेष्ठा ग्राह्याः कनिष्ठाः कनिष्ठास्त्याज्या इति स्पष्टमेव। अत एव मनुनाऽपि भगवता ब्राह्मणस्यैव सर्वत्राऽधिकारः प्रतिपादितः यथा—

सर्वं स्वं ब्राह्मणस्येदं यत्किंचिज्जगतीगतम्।
श्रैष्ठ्येनाऽभिजनेनेदं सर्वं वै ब्राह्मणोऽर्हति।। (मनु 1/100)

सर्वत्राऽप्यत्र ब्राह्मणपदमार्यराष्ट्रवादिपरमेवेति बोध्यम्। किं बहुना विवेचनेन सर्वथाऽप्यार्या एवाऽनुग्राह्या इति तत्त्वम् ।65।।

एवं शासकविषयं साङ्गोपाङ्गं निरूप्य तदपेक्षया गौरवाऽतिशयवत्तया नियमविधायकानामनार्यप्रावण्यवारणाय सर्वदा स्वरूपाऽवस्थितये समुचितमुपाय बाधयितुं नियमविधायिषु चाऽश्रेष्ठानां प्रवेशं वारयितुं चाह—

स्रष्टारो नियमानां ये न कार्यास्ते तु शासकाः।
न भृत्यास्ते विधातव्या न च व्यापारकारिणः ।।66।।

स्रष्टार इति। ये—नियमानां—स्रष्टारः—ते—तु—शासकाः—न—कार्याः—ते—भृत्याः—न—विधातव्याः—व्यापारकारिणः—च—न—विधातव्याः। इति पदयोजनिका।

'ये'=राष्ट्रनेतारः पुरुषाः 'नियमानाम्'=व्यवस्थाकारिशासनबोधकशास्त्राणाम् 'स्रष्टारः'=निर्मातारः 'ते'=नियमप्रणेतारः 'तु' व्यवच्छेदेऽव्ययमेतत्। 'शासकाः'=व्यवस्थाकारिशासनप्रबन्धकर्तारः 'न'=मा 'कार्याः'=कर्तुं योग्याः। 'ते'=नियमानां निर्मातारः

अनार्यों का स्वातन्त्र्य राष्ट्रकल्याण का विनाशक होता है। आर्यों का पारतन्त्र्य समस्त राष्ट्र का कल्याण कारक होता है। यह दोनों विचार त्य ज्य हैं। अतः आर्यो का स्वातन्त्र्य समस्त राष्ट्र का कल्याणकारक होता है और

'भृत्याः'=भृतिग्राहिणः 'न' मा 'विधातव्याः'=विधातुं=कर्तुं योग्याः अर्हाः 'व्यापारकारिणः'—व्यापारं=विनिमयं द्रव्याणां कर्तुं शीलं येषां ते, व्यापारं कारयन्ति ते च व्यापारकारिणः 'च' समुच्चयेऽव्ययमेतत् 'न'=मा 'विधातव्याः'=विधातुं योग्याः ।

अत्रेदं निगूढमाकूतम्—प्रायो हि लोके नानाविधेषु भूतसङ्घेषु नानाविधा वृत्तयोऽपि दृश्यन्ते, सा च वृत्तिः स्वाभाविकीत्युक्तचरमेव । तत्राऽऽदानप्रदानं नैसर्गिकमेव द्वैतप्रपञ्च इत्यपि निवेदितमेव प्रस्तुतभाष्यकृता पूर्वम् । तदेवाऽऽदानप्रदानमार्यभावेनाऽऽशंसावताम् अनार्यभावेन च बुभुक्षावताम् । तत्राऽपि आशंसावन्तो द्विविधा बुभुक्षावन्तश्च द्विविधाः स्वाभाविकाऽऽशंसावन्तः, कृत्रिमाऽऽशंसावन्तः । सन्दिग्धबुभुक्षावन्तोऽसन्दिग्धबुभुक्षावन्तश्चेति । एतेऽपि प्रत्येकम् ऊर्ध्वाऽधोमुखभेदेन द्विविधाः । सङ्कोचविकासोन्मुखा इति यावत् अनुन्मिषितस्वाभाविकाऽऽशंसावन्तः संङ्कोचोन्मुखस्वाभाविकाऽशंसावन्तः । उन्मिषितस्वाभाविकाऽऽशंसावन्तो विकासोन्मुखाऽऽशंसावन्तः । तत्र पूर्वे विप्राः शुद्धाः, परे क्षत्रविप्राः । अनुन्मिषितकृत्रिमाऽऽशंसावन्तः सङ्कोचोन्मुखकृत्रिमाऽऽशसावन्तः । उन्मिषितकृत्रिमाऽऽशंसावन्तो विकासोन्मुखकृत्रिमाऽऽशंसावन्तः । तत्र पूर्वे क्षत्रियाः शुद्धाः, परे वैश्यक्षत्रियाः । एवमेव अनुन्मिषितसन्दिग्धबुभक्षावन्तः सङ्कोचोन्मुखसंदिन्धबुभुक्षावन्त, उन्मिषितसन्दिग्धबुभुक्षावन्तो विकासोन्मुखसन्दिग्धबुभुक्षावन्तः । तत्र पूर्वे वैश्याः शुद्धाः, परे शूद्रवैश्याः । तथैवाऽनुन्मिषितसन्दिग्धबुभुक्षावन्तः सङ्कोचोन्मुखाऽसन्दिग्धबुभुक्षावन्तः । उन्मिषिताऽसन्दिग्धबुभुक्षावन्तो विकासोन्मुखाऽसन्दिग्धबुभुक्षावन्तः । तत्र पूर्वे शूद्राः शुद्धाः, परे अशुद्धा म्लेच्छाः । एते हि गुणतारतम्येन एतदनुसारेणैव कर्मसु प्रवृत्तिनिवृत्तीभवतः अनन्तरं च तत्तत्कर्माऽनुसारेण तत्तज्जातिभोगादीनां च सम्प्राप्तिर्भवति तदेतच्चातुर्वर्ण्यं परस्परमनुलोममेलनेनाऽनुलोमा जातीरुत्पादयति । परस्परं प्रतिलोममेलनेन प्रतिलोमजातीरुत्पादयति । तत्राऽऽर्याणां स्वातन्त्र्यं आशंसाप्रावण्ये शुद्धवर्णसंरक्षणम् । आर्याणां स्वातन्त्र्ये भोगप्रावण्येऽनुलोमसमुत्पत्तिस्तत्संरक्षणं च । आर्याणां पारतन्त्र्ये, बुभुक्षाप्रावण्ये प्रतिलोम-

---

अनार्यों का पारतन्त्र्य भी राष्ट्र के लिए कल्याण कारक होता है—यह समझ लेना चाहिए ।

समुत्पत्तिः, अनार्याणां स्वातन्त्र्ये बुभुक्षासाम्राज्यो सर्वतो म्लेच्छोत्पत्ति-वर्णजातिनाशश्चेति प्रलयः । भवतु, तत्र पूर्वः पूर्वः श्रेष्ठः परः परश्चाधम इति विवेचितमेव पूर्वस्यां कारिकायाम् । नियमविधायिषु केषां ग्रहणं केषां च वर्जनमिति निरूपयितुमस्या कारिकाया आरम्भः । नियमानां निर्मातारश्च नियमनिर्माण एव विनियोज्या इति च निरूपयितुमस्या कारिकाया आरम्भः । तदाह—स्रष्टार इति । सृज विसर्गे ततः कर्तरि तृच् 'ण्वुल्तृचौ' (पा. सू. 3/1/133) इति । विसर्गश्च स्वाभाविकी बैन्दवी शक्तिर्या किल हृदय परमेशितुः या च कौलिकी, शैवी, इत्यादिपदैः सङ्केत्यते सिद्धाचारपरम्परापरिचितैः प्रत्यग्दर्शननिष्णातैः । तदुक्तम्—"विसर्गः कौलिकी शक्तिः" इति । अन्यत्र च—

सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेशितुः ।

पञ्चविधकृत्याऽधिष्ठानं हृदयमित्यभिधीयते । इदं प्रभोः परशिवस्य हृदयम् । पञ्चविधकृत्यं चाह तत्त्वप्रकाशे महाराजो भोजः । तथा हि—

पञ्चविधं तत्कृत्यं सृष्टिस्थितिसंहृतीतिरोभावः ।
तद्वदनुग्रहकरणं प्रोक्तं सततोदितस्याऽस्य ।।

एतज्ज्ञातुश्च सर्वत्र सुखानि भवन्ति । तथा च शक्तिसूत्रम्—"प्रभुहृदयज्ञातुः पदे पदे सुखानि भवन्ति" इति । तदेवं विसर्गशक्तिस्वतन्त्रा ये त एव नियमानां निर्माणेऽपि स्वतन्त्रतया योग्या भवन्ति । अयं भावः—नियमानां कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं ये नियुक्तास्ते राष्ट्रनेतारः शासका न कार्याः । स्रष्टार इति कर्तरि तृच्प्रत्ययेन सर्वथा स्वातन्त्र्यवतामेव पुरुषाणां नियमप्रणेतृत्वं सङ्गच्छत इति ध्वनितम् । एतेन शुद्धविप्रा एव नियमानां स्रष्टारश्चेत् समस्तराष्ट्रकल्याणमपि सम्भवतीति ध्वन्यते । शासकाश्च नियमपरतन्त्रा एव चेत् समस्तराष्ट्रकल्याणमन्यथा नेति तु निर्विवादमेव । ते न कार्याः, कार्या इति कर्मणि प्रत्ययेन शासकानां पारतन्त्र्यमेव युज्यते इति ध्वन्यते । किं

किस प्रकार के शासन में सुख प्राप्त होता है तथा किस प्रकार के शासन में सुख नहीं मिलता ? इसका निरूपण किया जा रहा है :—

निर्धनोऽपि सुखं यायान्नूनं शासति राष्ट्रिये ।
शासत्यराष्ट्रिये सौख्यं लभेत धनिकोऽपि न ।। 68।।

च सिद्धनियमाऽनुकूलव्यवस्थोपयोगे शासका अपि स्वतन्त्रा एवेति शासका इति ण्वुल्प्रत्ययेन ध्वन्यते । नियमाऽनुकूलं शासनीयमित्येव पारतन्त्र्यं न पुनर्दास्यम् । यदि नाम स्रष्टारोपि नियमानां शासका अपि भवेयुस्तदा शासने निर्मर्यादिता सम्भवेत् तेन च राष्ट्राऽकल्याणं स्यात् । व्यवहारप्रपञ्चे हि जीवानां जीवनोल्लासः सर्वत्र तत्रैक्याभावात्, परस्परं भेदोल्लासात्, प्रतिव्यक्तिपूर्णताया अविकासात् न सर्वेषां सर्वसु कर्मसु परिपूर्णं स्वातन्त्र्यम् । उचितमप्येतत् । अपात्रेऽधिकारो बोधितो मर्यादाभङ्गं विदधानो दुःखदारिद्र्यगर्तेषु पातयति । पात्रेष्वेव नियुक्त्या बोधितोऽधिकारः समस्तानां कल्याणमातनुते । तत्राऽपि तारतम्येन निर्णीते श्रेष्ठे नियमबोधकत्वं स्वातन्त्र्येणोचितमेव । अत एवाऽन्याऽधिकारवत्त्वं वार्यते । तेन नियमनिर्माणाय नियोजिता न शासनप्रबन्धकर्मणि नियोज्याः समकालम् । एवमेव ते व्यापारकारिणः न विधातव्याः । अत्रेदं बोध्यम्—'पाठक्रमादर्थक्रमो बलीयान्' इति न्यायेन पूर्वमिदमेवाऽऽलोचनीयं व्याख्येयं च । ये हि नियमानां स्रष्टारः ते व्यापारकारिणो न विधेयाः । व्यापारं स्वभावेन ये कुर्वन्ति तथा, व्यापारं कारयन्ति तथा च न विधातव्याः व्यापारशब्दो मूल्य-ग्रहणपूर्वकं वस्तुविनिमये निरूढः । एते हि किल धर्मविषये सन्दिहाना लोलुभत्वं प्रायो यान्ति, तेनैव च बुभुक्षोन्मुखत्वमपि भवत्येतेषु तत एव चैतेऽनार्यभावं प्राप्नुवन्ति । ततश्च नियमानां स्रष्टार एव व्यापार-कारिणोऽपि यदि नाम भवेयुस्तदा पूर्ववदेवाऽऽततायिनो भूत्वा विना-शयेयुरवश्यमेव राष्ट्राणि तस्मात्ते न व्यापारं कुर्युरिति बोध्यते । एवमेव ते भृत्या अपि न विधातव्याः । भृत्यत्वं व्याख्यातमेव पूर्वं 'भृतिरन्या' (रा. 49) इत्यस्याः कारिकाया भाष्याऽवसरे । वेतनरूपेण न तेषां जीवनं व्यवस्थापनीयम् । पारतन्त्र्यप्रदत्वात् भृत्यभावस्य । तच्च राष्ट्रहितचिन्तनाद् बहिर्मुखं करोति पुरुषमित्यायुक्तं तत्रैव । एवमपि व्याख्येयेयं कारिका— ये खलु शासकाः=शासनप्रबन्धकर्तारः ते नियमानां स्रष्टारो न कार्याः । अयं भावः—यस्मिन् काले ये शासक-पदाऽधिरूढास्तस्मिन् काले नियमविधाने न ते विनियोजनीयाः ।

जब राष्ट्रिय लोग शासन करते हैं, तो निर्धन भी सुखी हो जाते हैं और जब अराष्ट्रिय लोग शासन करते हैं, तब धनी लोग भी सुख नहीं प्राप्त करते हैं ।

यदि नाम शासका एव नियमविधायिनो भवेयुस्तदा शासकत्वदर्पात् जात्वन्याये प्रवृत्तौ नियमविधानसामर्थ्यं च लोकं यथेच्छं दण्डनेनोद्वेजयेयुस्ते ततश्च त्रस्तः परितो लोको शासननियमभङ्गाय सम्भूय समुत्थितः सशासकं राष्ट्रं विच्छिन्द्यात् शान्तिप्राप्त्यै। ततश्च शान्तिसंस्थापनकामैः शासकाः कदाऽपि न नियमानां स्रष्टारः कार्याः। एवमेव ये खलु स्वभावेनैव व्यापारकारिणः, तथैव वा व्यापारकारिणः तेऽपि न नियमानां स्रष्टारः कार्याः। अयं भावः—येषां शीलमेव खलु मूल्यं गृहीत्वा तद्विनिमयेऽन्यद्वस्तुदानं ते नन्ववश्यमेव लोभप्रवणा भवन्ति, लोभस्य च समस्तकार्यमूलतया लोलुभा अकार्याण्याचरन्तोऽन्यानपि स्वजुष्टे पथि पातयन्तो लोभग्रहाऽऽक्रान्तान् कुर्वन्ति जनान्। त एव यदि नियमानां स्रष्टारो भवेयुस्तदा तु झटित्येव ते निजमनोऽनुकूलान् नियमान् सृजमानाः सर्वतो मात्स्यन्यायेनोत्पीडनमाचरेयु। अतो विस्मृत्याऽपि न व्यापारशीला नियमानां स्रष्टारो विधातव्याः। अथ च य व्यापार कारयन्ति तच्छीलत्वाऽभावेऽपि तद्रुचितया धनलोभादिना तेऽपि न नियमानां स्रष्टारः कार्याः। अयं भावः—य प्रलोभनादिनाऽनार्यविधिनाऽन्येभ्यो व्यापार कारयन्ति, तेऽपि लोभवशितान्तःकरणा इति नियमानां स्रष्टारो न विधातव्याः। विधातव्या इत्यनेन व्यापारकारिणामपि पारतन्त्र्यं बोध्यते तच्चोचितमेव। अथ च ये भृत्याः, भृतिं गृहीत्वा कार्याणि कुर्वन्ति, तेऽपि वेतनभोजिन इति समस्ताऽकार्यकारिणो भवन्ति त इति न ते नियमानां स्रष्टारो विधातव्याः। भृत्यानां खल्वतीव पारतन्त्र्यमुचितमिति कर्मणि क्यप्प्रत्येन विधातव्या इत्यनेन च ध्वनितम्। तेषां स्वातन्त्र्यबोधाऽभावेनैव तेऽतीव योग्या नियमसर्जन इति ध्वन्यते। नियमसर्जनं पुनः सर्वतः स्वतन्त्राणां सर्वतो योग्यानामेव चाऽधिकार इत्यर्हे तृचा ध्वनितम्। स्रष्टार इत्यत्र कर्तरि 'अर्हे कृत्यतृचश्च' (पा. सू. 3/3/169) इति तृच्प्रत्ययः। भृत्यानां खलु सर्वदा पारतन्त्र्यमेव वरम्। स्वातन्त्र्यं भृत्यत्वं च स्वभावत एव तमः प्रकाशवद्विरुद्धस्वभावम्। तस्मात् नियमानां सष्टारो न शासनप्रबन्धव्यापारभृत्यत्वेषु नियोज्याः न चैतत्कर्तारो

सम्पूर्ण जीवलोक सर्वदा सुख-प्राप्ति की कामना करता है, दुःख को त्यागना चाहता है। सुख ही काम कहलाता है, क्योंकि काम ही कमनीय होता है। जो काम विषयभोगादि के रूप में जाना जाता है, वह काम आशंसारूप-

नियमानां सर्जने विनियोज्याः । अत्रेदं च बोध्यम्—जातिः खलु नैकजन्मार्जितकर्मपुञ्जपरिपाकफलम् । स च कर्मपाकः शुभाऽधिककर्मणां शुभोऽशुभाऽधिकानामशुभः । ततश्च यज्जन्मत आरभ्य स्वाभाविक कर्म तत् त्यक्तुमशक्यम् । अत एव ये स्वभावतो यत्र रुचिमन्तस्तत्रैव तेषां नैपुणमप्युत्पद्यतेऽभ्यासवशात् । तत्राऽनायभावो न स्वाभाविकोऽपि पालयितुं योग्यः । आर्यभावश्चाऽस्वाभाविकोऽपि न हातुं योग्यः । इति तु बोध्यमेव । किंचेदमप्यनया कारिकयोपदिश्यते—आर्यस्वभावा एव सर्वतोभद्रनीतिप्रधाना इति त एव नियमानेव सृजेयुः, शासकत्वादि च न कुर्युः । अत्राऽपि श्रेष्ठा अध्यक्षाः कनिष्ठाश्चाऽनुयायिनः । एवमेव शासकाः केवल बोधितनियमानामाचारेण प्रबन्धं कुर्युः । नियमसर्जनं व्यापारादि वा कुर्युः । एवमेव व्यापारकारिणोऽपि नियमाऽनुकूलशासनैः शासकैः प्रबन्धेन संरक्षिता व्यापारमात्रं कुर्युः । भृत्यत्वं पुनरतीव निन्द्यमिति न तत्कर्तव्यत्वेन बोधयितुमर्हम् । केवलं तद्विषय इत्येव बोध्यते यत् शिक्षावृत्त्यादिप्रबन्धेन तेषामनार्यत्वं निवारणीयमिति । समस्तानामप्यार्यत्व समुन्नेयमनार्यत्वं चाऽपनेयमिति तु निष्कर्षः । तच्चाकृत्रिमकृत्रिमविज्ञानेनैव सुशकम् । तदनुकूलव्यवस्थयैव शान्तिलाभो नान्यथेति रहस्यम् । एतत्सर्वमपि—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ।। (गी. 4/13)

इत्यादि **श्रीमद्भगवद्गीतावचनैः** सुस्पष्टीकृतमिति तदेव परिशीलनीयं दैशिकसेवया । एतद्विज्ञानं चाऽऽयराष्ट्रवादपरिशीलनेन कर्तुं शक्यते । अलमनेन ।।66।।

एवं साङ्गोपाङ्गं नियमविधानं शासनप्रबन्धनं चोपपादितम् । अथाऽनन्तरं सर्वेषामपि राष्ट्रकल्याणाकाङ्क्षिणां सर्वतोभावेन मुख्यं कार्यं प्रतिपादयितुमाह—

अराष्ट्रियान् राष्ट्रभुजो राष्ट्रिया नीतिकोविदाः ।।
निःसारयेयुर्यत्नेन राष्ट्रकल्याणमीप्सवः ।।67।।

वाला नहीं है अपितु वह बुभुक्षारूप है । अतः काम को आशंसारूपवाला बनाने के लिए यत्र-तत्र अनेक प्रकार के साधनों का उपदेश दिया जाता है, जिनमें श्रुति-स्मृति मुख्य है । परतन्त्र राष्ट्र में आर्य लोग पुरुषार्थों की सिद्धि नहीं कर

अराष्ट्रियानिति राष्ट्रकल्याणं – ईप्सवः – नीतिकोविदाः—राष्ट्रियाः—अराष्ट्रियान्— राष्ट्रभुजः— यत्नेन—निसारयेयुः । इति पदयोजनिका ।

'राष्ट्रकल्याणम्'—'राष्ट्र'=पूर्वलक्षणलक्षितं तस्य कल्याणं=मङ्गलम् । आर्यविधया समुन्नयनमिति यावत् 'ईप्सवः'=आप्तुं=लब्धुं सम्भावितुं वा इच्छा ईप्सा इत्युच्यते "आप्ज्ञप्यृधामीत्" (पा. सू. 7/4/55) इतीत्वम् । 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य" (पा. सू 7/4/58) इत्यभ्यासलोपः । 'सनाशंसभिक्ष उः' (पा. सू. 3/2/168) इत्युप्रत्ययः । अत्र 'कर्तृ कर्मणोः कृति' (पा. सू 2/3/65) इति, षष्ठी तु न नलोका-व्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' (पा सू. 2/3/69) इति निषेधात् । 'नीति-कोविदाः'—नीतिः=अभीष्टप्रापणविधिः तत्र कोविदाः पण्डिताः । णीञ् प्रापणे ततो 'भावे स्त्रियां क्तिन्' (पा. सू. 3/3/94) 'राष्ट्रियाः' राष्ट्रस्य चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धिनः 'अराष्ट्रियान्'=राष्ट्रियविरुद्धान् विरुद्धराष्ट्रस्य चतुर्विधसम्बन्धिनश्च, राष्ट्रज्ञानवैचक्षण्यशून्यांश्च 'राष्ट्रभुजः— राष्ट्रं=पूर्वोक्तलक्षणं भुञ्जते=अनार्यविधया उपयुञ्जते ते राष्ट्रभुजः तान् 'यत्नेन'=नानाविधसमुचितोद्योगजातेन 'निःसार-येयुः'—अपसारययेयुः । इति ।

अत्रेदं तत्त्वम्—समस्तराष्ट्रकल्याणं सुशासनायत्तमिति निर्विवाद-मेव । सुशासनं च सुनियमाऽनुकूलप्रबन्धाऽऽधीनम् । अत एव शोभ-नानां नियमानां निर्माणाय, तदनुकूलशासनप्रबन्धाय च नियमनिर्माणं साङ्गोपाङ्गमुक्तम् । केवलनियमनिर्माणेन न राष्ट्रचालनं शक्यं, नियमाऽनुकूलशासनप्रबन्धमन्तरेणेति तदपि साङ्गोपाङ्गमुक्तम् । व्यापारश्च परस्परमादानप्रदानभावः स च स्वाभाविक एव द्वैतप्रपञ्च इति, तस्याऽऽर्यविधया चानार्यविधया च सम्भवात् शान्तिप्राप्त्य आर्यविधाया एवोपादेयत्वात् । अनार्यविधायाश्च हेयत्वात् । शान्तिश्च सर्वैरप्यभिलष्यते एव । तत्परिपूर्तिश्चाऽऽर्यविधास्वीकारेणाऽनार्य-विधायाश्च निवारणेनैव सम्भवति । अत एव बोधकशासकानां साङ्गो-पाङ्गनिरूपणेनैव सर्वस्याऽपि निरूपणं भवति । अथैवं सर्वेषामत्राऽन्त-

सकते हैं, यह पहले कहा जा चुका है। परतन्त्रता के विनाश के लिए तथा स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए शिक्षा आदि जो उपाय हैं, उनका भी निरूपण पहले कर दिया गया है। उन उपायों में कुछ परम्परया उपकार करते हैं, वे

भावः । सर्वस्याऽपि जीवनं व्यापाराधीनमिति तद्विषयेऽग्रे वक्ष्यते । सम्प्रति तु विवेचनीयमिदं यत्—यत्र राष्ट्रे सर्वथा पारतन्त्र्यं सवतः स्फुरति, नियामकाः शासकाश्चाऽराष्ट्रिया एव तत्र कथमित्थङ्कारं व्यवस्थापनं सम्भवति, शास्यानां च हस्ते विहाय दास्यमेकमखण्डं न किमपि वर्तते. तत्र किमनुष्ठेयमिति । तदर्थमेव चास्याः कारिकाया आरम्भः—अराष्ट्रियानिति । राष्ट्रकल्याणमीप्सवत्र एतत्कुर्युः ।

अयमत्राऽभिप्रायः—व्यष्टिकल्याणाऽऽकाङ्क्षिणः केचित्, समष्टिकल्याणाऽऽकाङ्क्षिणश्च केचित् । तत्र व्यष्टिकल्याणाकाङ्क्षिणोऽज्ञा जीवाः समष्टिकल्याणाकाङ्क्षिणश्च विज्ञाः शिवाः । अत्राऽपि तारतम्येनाऽनन्तजीवस्य शिवस्य च भिदा भवन्ति । ओत्तराधर्मभेदेन चैतदेव द्वयं द्वैरूप्यमवगाहत एकमेववस्तु अनार्याः खल्वार्यदृष्ट्या व्यष्टिकल्याणाऽऽकाङ्क्षिण इति जीवा एव । तत्र जीवशासनमशिवाऽवहम । शिवशासन च शिवाऽऽवह शिवस्वरूपमिति । तदेव सर्वतोभावेन चेत्कमनीयतमं स्पृहणीयतमं च । अतश्च सर्वादौ राष्ट्रकल्याणेप्साऽऽवश्यिकेति सैव सर्वतः समुत्पादनीया । अयं भावः—सर्वत आदौ राष्ट्रकल्याणेप्सा राष्ट्रज्ञानवैचक्षण्येन सम्पादनीया । राष्ट्रियाणां कल्याणं राष्ट्रकल्याणायत्तमिति राष्ट्रियमात्राणां हृदयेषु समुचितैरुपायैः समुन्मीलनीयम् । उपायाश्च शिक्षादयः पूर्वं प्रस्तुतभाष्यकृतैव निरूपिताः । अथ परतन्त्रे राष्ट्रे न सम्भवति खल्विदमिति चेत् श्रूयतां कर्णीयम्—ये खलु राष्ट्रकल्याणमीप्सवस्ते येन केनाऽप्युपायेन नीतिकोविदा भवेयुः । तदपि पारतन्त्र्येण न सम्भवतीति तु न सम्भवति, राष्ट्रकल्याणेप्सैव नीतिकोविदत्वसम्पादनाय यतः कल्पते आभाणकोऽपि लोके आवश्यकतैवाऽऽविष्कारान् जनयतीति । इच्छोदय एव समस्तसृष्टिमूलम् । अत एव कविकुलगुरुः कालिदासोऽप्याह—

श्रीपरिचयाज्जडा अपि
भवन्ति विज्ञा विदग्धचरितानाम् ।
उपदिशति कामिनीनां
यौवनमद एव ललितानि ।।

साक्षात् उपाय नहीं है । जो साक्षात् उपकार करते हैं, वे ही साक्षात् उपाय है । करणीय उपाय तो पूर्ण स्वातन्त्र्य की प्राप्ति ही है । अतः समस्त कल्याण की

नीतिश्चार्यनीतिरनार्यनीतिश्चेति द्विविधा। साऽप्युपायभेदेन युगभेदेन च चतुर्विधाऽप्युपयोज्या यथायथम्। सेयं नीतिरुक्ता प्रस्तुतभाष्यकृता पूर्वम्। यथायथोपयोक्तार एव कोविदा इत्युच्यन्ते। अत्रेदं बोध्यम् अनार्याणामार्यीकरणाय तारतम्येन सामादीनामुपयोगः। एवमेव पारतन्त्र्यतारतम्यमालोच्य पूर्वाऽपरपरिणाममालोच्य चतुर्विधाया नीतेरुपयोगः कार्यः। राष्ट्रकल्याणेप्सा च राष्ट्रियाणामेव स्वाभाविकी। यतः खलु राष्ट्रियाणामेव राष्ट्रे स्वत्वम। तच्च चतुर्विधसम्बन्धेन भवतीत्युक्तमेव। चतुर्विधसम्बन्धेष्वन्यतमसम्बन्धमात्रेण न स्वत्वं समुत्पद्यते राष्ट्र इत्युक्तं पूर्वम्। स्वत्वमेव सदा कल्याणायेच्छति, अत एव राष्ट्रिया इत्युपात्तम्। ते हि समस्त।ऽकल्याणमूलं पारतन्त्र्यमामूलचूलमुच्छेतुं नानाविधेनोद्योगेनाऽराष्ट्रियान् राष्ट्रभुजो निःसारयेयुः। 'अराष्ट्रियाः' खलु न राष्ट्रे नैसर्गिकस्वत्ववन्तः, ते आर्याश्चेद् आर्यविधया स्वत्वस्थापनाय यतन्ते, अनार्याः पुनरनार्यविधया। अत एव अनार्या निःसारणीया भवन्ति। अत्र कारिकायां च राष्ट्रभुज इति पदसाहचर्येण विरुद्धराष्ट्रियभवा अनार्या एव गृह्यन्ते। ते यत्नेन निःसारणीयाः। प्रकृष्ट उद्योगो यत्न इत्यभिधीयते। अन्तरेणाऽराष्ट्रियाणां निःसारणं न राष्ट्रकल्याणसम्भावनाऽपीति। किं च आर्याश्चाऽराष्ट्रियाश्चेति विरुद्धम। यतः खल्वार्या न क्वाऽपि परराष्ट्रेऽपि राष्ट्रियविरुद्धा भवन्ति। ननु यत्र राष्ट्रे चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धिनोऽनार्या एव राष्ट्रियाः किं तदनुकूला एवाऽऽर्या भवन्ति तत्र अनार्याऽनुकूलाश्च कथमार्या भवितुमर्हन्ति। अयमभिप्रायः--यद्यनुकूला अनार्याणां तर्हि कथमार्यास्ते, अथाऽऽर्या यदि कथमनुकूलास्ते इति, राष्ट्रियविरुद्धत्वमपि सम्भवत्यार्याणामिति चेत्क्रमः—सत्यमेतदुपर्युपरि। यतः खल्वनुग्रहप्रकारं न जानात्यत्र भवान्। आनुकूल्यमनुग्रहश्च पर्यायान्तरम्। हितैषितैवाऽऽनुकूल्यम्। आर्याः खल्वार्याणामनार्याणां च सर्वदा हितमेवैच्छन्तीति ते न विरुद्धाः क्वाऽपि। अनार्याश्च सर्वत्रानार्याणामार्याणाञ्चहितैषिण इति विरुद्धा एवेति। ततश्च राष्ट्रिया आर्या अराष्ट्रियाननार्यान् निःसारयेयुर्नियामकपदात् शासकपदाच्च।

कामना करने वालों को सर्व प्रथम राष्ट्रकल्याण की कामना करनी चाहिए। उसकी पूर्ति अराष्ट्रियों को तथा राष्ट्रभुजों को राष्ट्र से बाहर निकालने से हो सकती है।

तेषां निःसारणमेव श्रेयस्करं समस्तस्य राष्ट्रस्य। यतः खल्वराष्ट्रियाः प्रायो राष्ट्रभुजो भवन्ति। बुभुक्षवत्त्वमेवाऽनार्यत्वम्। तच्च सर्वथा व्याख्यातमेव पूर्वम्। अत एवाऽनार्या अराष्ट्रिया निःसार्या राष्ट्रियै-र्नीतिकोविदैः। अत्रेदमवगन्तव्यम्—"कण्टकेनैव कण्टकम्" इति न्यायेन नानाविधेन यत्नेनाऽनार्यानराष्ट्रियान् राष्ट्रभुजो राष्ट्रा-द्बहिर्निःसारयेयुः। इयमेवाऽनुग्रहविद्या तत्र। एतत्सर्वमपि 'यत्नेन' इत्यनेन ध्वन्यते। निःसारणप्रकाराणां व्याख्यानं प्रस्तुतभाष्यकृता 'क्रान्तिकौमुद्यां' विहित तत्तत एवाऽवगन्तव्यम्। अय भावः—यो हि विरुद्धराष्ट्रचतुर्विधसम्बन्धिनस्तान्नीतिकोविदा राष्ट्रियाः समूलमुन्मूल्या अनुग्रहनीत्या निग्रहनीत्या च स्वराष्ट्राद्बहिर्निःसारयेयुः। ये च राष्ट्रियविरोधिनोऽनार्यतया राष्ट्रभुजश्च तान्नीतिकोविदा राष्ट्रिया-स्तत्तदधिकारेभ्यो नि सारयेयुर्न पुना राष्ट्रात्। अथ च ये राष्ट्रान्तरं मन्यन्त आत्मीयतया, यत्र च निवसन्ति, तत्केवलं बुभुक्षापूर्त्या एवा-ऽऽत्मीयतया ख्यापयन्ति तानपि तत्तदध्यक्षपदेभ्यो राष्ट्राच्च निःसारयेयु-रेव समस्तैरप्युपायैः। इयमेव विद्याऽनार्यानुग्रहस्य। अत एव नाऽत्र कुत इत्युक्तम्। एव च ये राष्ट्रस्य चतुर्विधसम्बन्धिनो राष्ट्रं च न बुभुक्षन्ति, त एव राष्ट्रात्तत्तत्पदाच्च न निःसारणीया इति ध्वन्यते। एतेनाऽराष्ट्रियाणां राष्ट्रभुजां च निःसारणमन्तरेण न राष्ट्रस्य कथं चिदपि कल्याणमिति ध्वनितम्। नीतिकोविदा इति च राष्ट्रा-दराष्ट्रियनिःसारणे साफल्यबोधनायोक्तम्। नीतिकोविदत्वमेव हि साफल्याय कल्पते। तेनाऽराष्ट्रियनिःसारणे यथाऽवसरमनार्यनीति-रप्याश्रयणीयेति ध्वन्यते। वस्तुतस्तु सा नाऽनार्यनीतिः। किन्त्वार्य-संरक्षणोद्देश्यतयाऽऽर्यैव। अनार्यत्वव्यपदेशस्तस्या। स्वरूपत एव नो-

---

कैसा शासन सब को सुखी करता है तथा कैसा शासन सबको दुःखी करता है ? काम का पर्याय अर्थ ही सामान्यरूप से सबके सुख का साधन माना जाता है। धनवान् के लिए सुख सुलभ हो—इसके लिए प्रयत्न किया जाता है। और उपदेश भी दिया जाता है। अर्थ्यमान काम का साक्षात् साधन धन है। धनवान् सुख सुसाध्य है। अतः धन के लिए ही प्रयास उपदेष्टव्य है, जबकि बार-बार शासन के नियम और प्रबन्ध की बात की जा रही है। यद्यपि धन नाम की वस्तु हमारे उपभोगों का साधन है। उसकी आशंसा-पूर्ति में तथा स्वतन्त्रता पूर्वक उपयोग में सुख की उत्पत्ति हो सकती है, अन्यथा नहीं। अतः

द्दिशत इति । अत एव भगवता श्रीकृष्णेनाऽपि पार्थं प्रति "परित्राणाय साधूनाम्" (गी. 4/8) इत्यादिनेयमेव नीतिरुपदिष्टा । भगवांश्च पूर्णाऽऽर्यस्वभाव इति तु निर्विवादमेवेति । अयं च नित्यकाम्यविधिः । निःसारयेयुरित्यनेन विधित्वमवगम्यते । विध्युल्लङ्घने च प्रत्यवाय-प्राप्तिस्तत्परिहाराय च प्रायश्चित्ताचरणं च दुर्वारमेवेति विज्ञेयमेव सुधीभिः । किं च 'यती प्रयत्ने' प्रकृष्टयत्नेन निःसारयेयुरित्युक्तम् । एकवचनं च जात्यभिप्रायमिति यत्नत्वाऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नमात्रपरम् । प्रकर्षश्च देशकालवस्तुपर्यालोचनमेव । यथैष साफल्यमीयेत तथैव यत्नोऽऽप्याचरणीयः । तच्च नीतिनैपुण्यायत्तमिति नीतिकोविदा इत्युक्तमेव । राष्ट्रिया इति च न केवल राष्ट्रनेतृणामेवैतत्कार्यं, किन्तु राष्ट्रियात्वाऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नानां सर्वेषामेवैतत्कार्यमिति द्योत-नाय । कर्तरि प्रयोगश्चाराष्ट्रियाणां निःसारणे राष्ट्रियाणां स्वातन्त्र्यं बोधयति । किं च नीतिकोविदा इत्यनेन अराष्ट्रियाणां राष्ट्रभुजां च निस्सारणेऽनीतिकोविदानामसामर्थ्यं ध्वनितम् । नीतिश्च चतुर्विधाऽपीत्युक्तमेव । तदयं निर्गलितोऽर्थः –येऽपि नाम राष्ट्रकल्या-णमीप्सवस्ते यस्यैव राष्ट्रस्य कल्याणमीप्सन्ति, तस्मिन् राष्ट्रे ये तावद्राष्ट्रभुजः, तत्रत्याश्चतुर्विधसम्बन्धिनोऽपि बुभुक्षावन्त इत्यनार्या इति नेतृपदेभ्यो निस्सारयेयुस्तान् । अथ च ये त एव राष्ट्रभुजो-ऽराष्ट्रियाः विरुद्धराष्ट्रस्य चतुर्विधसम्बन्धिनो राष्ट्रस्य चतुर्विध-सम्बन्धशून्या वा तान् नेतृपदेभ्यो राष्ट्राच्च निःसारयेयुः । एतदर्थं च नीतिकोविदत्वं प्रापणीयम् । सर्वमप्येतत्समस्तेनापि प्रयत्नजातेन साधनीयं राष्ट्रियैः । त एव खलु राष्ट्रिया नीतिकोविदा इत्युच्यन्ते

सर्वप्रथम सभी उपायों से उसी की प्राप्ति की जानी चाहिए । क्योंकि यह पुरुषार्थों में मुख्य है । शासन के निर्माण में और शासन के प्रबन्ध में भागीदार होकर निश्चित ही निर्धन को भी सुख मिलता है ।

शास्त्र ग्रन्थरूप में होता है और वह पुरुषों से शासन-प्रबन्ध की अपेक्षा करता है, क्योंकि शासन करने वाला पुरुष होता है । सुख द्रव्यों में अथवा उनके उपभोग में नहीं मिलता है, अपितु उनकी संकल्पना में मिलता है । स्वतन्त्रतागत कल्पना में ही सब कुछ सुखकर है । परतन्त्रता में तो वह दुःखकर ही है । भर्तृहरि भी कहते हैं कि कोई दुकूल धारण करके सुखी है, तो कोई वल्कलवस्त्रों से, मन के प्रसन्न हो जाने पर न कोई धनवान् होता है, न कोई दरिद्र ।

येऽराष्ट्रियान् राष्ट्रभुजः सर्वथा निःसारयन्ति । अन्यथा राष्ट्रकल्याणस्याशापि वृथेति 'ईप्सव' इति पदेन ध्वन्यते । एवं च अनार्याणां स्वातन्त्र्यं राष्ट्रकल्याणविनाशकम् । आर्याणां च पारतन्त्र्यं समस्तराष्ट्राऽकल्याणकारकमिति सर्वदा द्वयमपीदं परिहर्तव्यं पुरुषधौरेयैः । एवमेवाऽऽर्याणां स्वातन्त्र्यं समस्तराष्ट्रकल्याणकारकमित्यनार्याणां च पारतन्त्र्यमपि राष्ट्रमात्रस्य कल्याणकरमिति च सर्वदा समुपादित्सितव्यमित्यलमनेन ।।67।।

एवं राष्ट्रकल्याणेप्सूनां सर्वादौ कर्तव्यं कर्म राष्ट्रभजामराष्ट्रियाणां निःसारणमित्युपपादितम् तत्र पुनर्हेतुरपि निरूपयितुमवश्यमेव योग्य इति सम्प्रति कीदृशि शासने सुखं प्राप्यते कीदृशि च नेति निरूपयन्नाह -

निर्धनोऽपि सुखं यायान्नूनं शासति राष्ट्रिये ।।
शासत्यराष्ट्रिये सौख्यं लभेत धनिकोऽपि न ।।68 ।।

निर्धनोऽपीति । राष्ट्रिये— शासति— निर्धनः—अपि नूनं—सुखं—यायात्— अराष्ट्रिये—शासति— धनिकः—अपि—सौख्यं—न—लभेत । इति पदयोजना ।

'राष्ट्रिये'=राष्ट्रस्य चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धिनि 'शासति'= शासननियमनिर्मातरि तदनुकूलप्रबन्धसम्पादयितरि च सति 'निर्धनः'= धनरहितः 'अपि' समुच्चयेऽव्ययम् । 'नूनं'=निश्चयेन 'सुखं'=कामाभिधं तृतीयपुरुषार्थं 'यायात्'=प्राप्नुयात् सम्भावनायां लिङ् । 'अराष्ट्रिये'=विरुद्धराष्ट्रसम्बन्धिनि राष्ट्राऽसम्बन्धिनि च 'शासति'= नियामके प्रबन्धके च सति 'धनिकः'=विद्यमानधनः 'अपि' समुच्चयेऽव्ययमेतत् । 'सौख्यम्'=सुखस्य=मनोऽनुकूलविषयोपभोगस्य भावः=

जब आर्य लोग शासन करते हैं, तो राष्ट्रहित के लिए अनेक साधन जुटा लेते हैं । वे उन्नति के साधन हैं—विद्यालय, कलालय, व्यायामशाला, पुस्तकालय, मुद्रणालय, औषधालय आदि । इनका पहले उल्लेख कर दिया गया है । इससे निर्धनों को भी सुख प्राप्त होता है । किन्तु अराष्ट्रिय के शासन करने पर पारतन्त्र्य के कारण धनिक को भी सुख प्राप्त नहीं होता है । अराष्ट्रिय तो राष्ट्रभुक् होते हैं । वे तो सर्वत्र बुभुक्षा का ही प्रसार करते हैं, फलतः धनिक आर्य भी बुभुक्षा से पीडित होकर अत्याचार सहन करता है ।

अनार्य दुर्बलों को पीड़ा पहुंचाता है । ऐसे अनार्य लोग परस्पर बुभुक्षा के वशीभूत होकर समस्त राष्ट्र को मूलरहित नष्ट कर डालते है । यद्यपि अनार्यों

धर्मः तत् कामोपभोगमित्यर्थः 'न'=मा 'लभेत'=प्राप्नुयात् । नूनमित्यत्राऽप्यनुषज्यत एवेति ।

अत्रेदं तात्पर्यम्--सर्वोऽपि जीवलोकः सर्वदा सर्वथा च सुखमेवोपादित्सति दुःखं च विजिहासतीति जरीजृम्भत एव सचेतसां प्रकृतिस्थानां पुरस्तात् । तत्सुखमेव काम इत्यभिधीयते विद्वत्तल्लजैः । कामश्च कमनीयतया । एतच्च **कामकलाविलासे** सुस्पष्टमेवाऽभिहितं **श्रीमत्पुण्यानन्दनाथपादैः** । तथा हि —

कामः कमनीयतया कला च दहनेन्दुविग्रहौ बिन्दू ।

प्रस्तुतभाष्यकृत्पितृचरणैश्च तद्व्याख्यायां सुव्याख्यात तत् । स चाऽऽशंसारूप आर्याणां बुभुक्षारूपोऽनार्याणामिति निरूपितमेव पूर्वम् । इदमत्र बोध्यम्—यः किल तत्र तत्र निन्दाविषयत्वेन निरूप्यते कामः स नाऽऽशंसारूपः, किन्तु बुभुक्षारूप एव । अत एव कामस्याऽऽशंसारूपस्य तृतीयपुरुषार्थरूपस्य पूरणाय तत्र तत्र नानाविधसाधनान्युपदिश्यन्ते **श्रुतिस्मृत्यादि** इति । पारतन्त्र्ये चाऽऽर्याणां न पुरुषार्थसिद्धिः सम्भवतीत्यप्युक्तमेव । तत्पारतन्त्र्यविनाशाय स्वाभाविकस्वातन्त्र्यप्राप्तये च ते त उपाया अप्यभिहिता एव शिक्षादयः । तेष्वपि केचित्परम्परयोपकुर्वन्तीति न साक्षादुपायाः । केचिच्च साक्षादुपकुर्वन्तीति साक्षादुपायाः उपेयं तु पूर्णं स्वातन्त्र्यमेवेति निर्विवादमेव । अत एव समस्तकल्याणमीप्सूनां राष्ट्रकल्याणमेष्टव्यं तत्पूर्तिश्चाराष्ट्रियाणां राष्ट्रभुजां च निःसारणेन भवतीति तदेव प्राधान्येन कर्तव्यं राष्ट्रियाणामिति निरूपितमेव पूर्वया कारिकया । सम्प्रति पुनरिद

के पास भी सुखों के साधन होते हैं, परन्तु बुभुक्षा के वशीभूत होकर, परस्पर कलह करके उनके वे साधन दुःख ही प्रदान करते हैं । अतः अराष्ट्रिय शासन का पूर्णरूपेण तिरस्कार कर राष्ट्रीय शासन की ही उपादेय मानना चाहिए । धन भी जब धर्मोन्मुख होता है, तभी सुख प्रदान करता है । कामोन्मुख होकर वह दुःख ही देता है । संसार में जितने भी सुख के साधन है, वे सब स्वतन्त्र आर्यराष्ट्रवादी शासन में पञ्चस्तवी में वर्णित 'महाज्योत्स्ना' के ऊपर पर्यायरूप है और अविद्यमान सुख को प्रकाशित करते हैं । जबकि परतन्त्रता में विद्यमान सुखसाधन भी प्राप्त नहीं होते । अतः अराष्ट्रिय शासन दुःखकर है, इसका परित्याग करना ही चाहिए ।

विवेचनीयं यत् कीदृशि शासने सर्वेषां सुखं, कीदृशि च सर्वेषां दुःखं सम्भवतीति । ननु कामाऽपरपर्यायस्य सांसारिकैः सर्वैरप्युपादित्सितस्य सुखस्य साधनं खल्वर्थ एवेति विश्वस्मिन् विदितम् । ततश्चाऽर्थवतः सर्वत्राऽपि सुखं भविष्यत्येवेति येन केनाऽप्युपायेनाऽर्थसमर्जनमेव कर्तव्यम् । अत एवोच्यतेऽपि--

यस्यार्थास्तस्य मित्राणि यस्याऽर्थास्तस्य बान्धवाः ।
यस्यार्थाः स पुमाँल्लोके यस्यार्थाः स च पण्डितः ।।

इति चेत् श्रूयताम्—कामस्य पुरुषैरर्थ्यमानस्य साक्षात्साधनं तु धनमेव । ततश्च धनवतः सुखं सुसाध्यमिति तदर्थमेव यत्न उपदेष्टव्यः स च नोपदिष्टः, किन्तु शासननियमप्रबन्धयोरेव च विषये वारं वारमुच्यते इति चेदङ्ग! नान्तस्तलप्रविष्टो भवानिति वदत्येवम् । यतो हि धनं नाम वस्तु यदुपभागसाधनम् । तस्याशंसापूर्त्यं स्वातन्त्र्योणोपयोगे सुखोत्पत्तिर्नान्यथेति तु निर्विवादमेव । अत एव तदेव सर्वतः पूर्वं सम्पादनीयं सर्वैरप्युपायैः । तस्यैव निदानभूतत्वात्समस्तपुरुषार्थानाम् । अत उच्यते निर्धनोऽपीति राष्ट्रियश्चाऽत्र राष्ट्रस्य चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धी राष्ट्रज्ञानवैचक्षण्यसम्पन्न आर्यो विवक्षितः । तस्मिन् 'शासति'=शासननिर्मातरि प्रबन्धके च निर्धनोऽपि=दरिद्रोऽपि लोकः सुखं निश्चयेन प्राप्नुयात् । इति सम्भाव्यते । अत्रेदं बोध्यम्--शासनं शास्त्रं शासकश्चेत्युभयमपि शासतीत्यनेन बोध्यते । प्रवृत्तिनिवृत्तिबोधनं शास्त्रमिति भण्यते विद्वद्भिः । तदाहुः **श्लोकवार्तिके भट्टकुमारिलपादाः**--

प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा ।
पुंसां येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमिति कथ्यते ।।

राष्ट्रीय शासन सुखकर है तथा अराष्ट्रिय दुःखकर है—इसी की पुष्टि के लिए पुनः अराष्ट्रीय शासन की निन्दा तथा राष्ट्रीय शासन की प्रशंसा की जा रही है :—

राष्ट्रिये शासति वरं तद्धालाहलभक्षणम् ।
शासत्यराष्ट्रिये नाहं स्वर्गीयामृतभोजनम् ।।69।।

यदि राष्ट्रीय लोग शासन करें, तो (उनके शासन में) विषभक्षण करना श्रेष्ठ है और अराष्ट्रियों के शासन करने पर स्वर्गीय अमृत-भोजन भी मिले, तो वह अच्छा नहीं है ।

तच्च शास्त्रं ग्रन्थरूपं यथायथं प्रबन्धविनियोगाय पुरुषानपेक्षत इति शास्ता पुरुषः । तदेतद् द्वयमपि शासतीत्यनेन बोध्यते । एवं च शास्त्रप्रणेतरि शासनप्रबन्धकर्तरि च राष्ट्रिय आर्ये, शास्यो लोको निर्धनोऽपि पदार्थसम्भाररहितोऽपि निश्चयेन सुखमनुकूलवेदनीयं प्राप्नुयादिति सम्भाव्यते । सुखं किल न द्रव्येषु न वा तदुपभोगेषु । किन्तु तत्स्वकल्पनाऽऽधीनम् । कल्पनायां स्वातन्त्र्ये सर्वमपि सुखाकरमवैव । पारतन्त्र्ये च तदेव दुःखाकरम् । एतद्विषये च प्रस्तुतभाष्यकृता स्वोपज्ञ **'आत्मविलासे'** निरूपितमेवम्

सुखं दुःखं च तत्तस्य यथा येन प्रकल्पितम ।
परमार्थतया स्वात्माऽतिरिक्तं वस्तु नास्ति हि ।।
(आत्म. 3/16)

विशेषतश्च तद्व्याख्यायामेव सुस्पष्टमभिहितं तत्तत एव समवलोकनीयम् । कल्पनैव कारणं सुखदुखयोरिति चरमः सिद्धान्तः । सा च स्वातन्त्र्ये एव शोभते न पारतन्त्र्य इति तु निरूपितमेव । अत एव विद्वत्प्रवरो भर्तृहरिरप्याह सुभाषितत्रिशत्याम्—

वयमिह परितुष्टा वल्कलैस्त्वं च लक्ष्म्या
सम इह परितोषो निर्विशेषो विशेषः ।
स तु भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः ।।

आर्ये हि शासति सर्वथा सुखस्य सम्भावना सम्भवति । अयं भावः—आर्ये शासति राष्ट्रहिताय नानाविधानि साधनानि समुत्पादयितुं शक्यन्ते स्वातन्त्र्यात् । यथा विद्यालय—कलालय— व्यायामशाला—रणविद्यालय-पुस्तकालय—वाचनालय— मुद्रणालय— औषधालय—

सभी चेतन प्राणी मृत्यु का परित्याग करना चाहते हैं और अमृतपान करना चाहते हैं, क्योंकि वस्तुमात्र का यह स्वभाव ही है । विज्ञ और अज्ञ में अमृत मृत्युपरक विषयभेद है । अज्ञ आत्मरूप से अनभिज्ञ होते हैं, वे स्वयं को जीव मानते हैं और जीवमात्र को शरीर मानते हैं । अतः मृत्यु का निवारण करने के लिए पूर्णरूपेण प्रयत्न करते हैं । भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है कि जो उत्पन्न हुआ है, उसकी मृत्यु निश्चित है तथा जो मृत्यु को प्राप्त हुआ है, उसका जन्म निश्चित है । इस प्रकार मर्म को न समझने वाले परतन्त्रता से अनेक प्रकार के दुःखक्लेशादि दण्डों को सहन करते हुए बुभुक्षा के वशीभूत

रूग्णालयादि सर्वमप्यविद्यमानमप्याविष्कर्तुं प्रसारयितुं च शक्यते। अत एव निश्चयेन सम्भाव्यते निर्धनानामपि सुखप्राप्तिः। अथाऽराष्ट्रियं शासति शास्त्रनिर्मातरि प्रबन्धके च सति सर्वतस्तत्पारतन्त्र्यात् धनिकोऽपि लोको न लभेत सौख्यम्। यतः खल्वराष्ट्रिया राष्ट्रभुज एव भवन्ति। प्रायस्तेन बुभुक्षाया एव सर्वतः प्रसारे धनिकोऽपि बुभुक्षया पीडितो नानाविधानत्याचारान् सहते आर्यः। अनार्यश्च पीडयति दुर्बलान्। एवं च परस्परं सर्वेऽपि बुभुक्षमाणाः समूलघातं राष्ट्रं नाशयन्तीत्यभिहितं पूर्वम्। अयमर्थः—अनार्यशासने सर्वेऽपि परस्परं परतन्त्रयितुमेव यतमाना दृश्यन्ते। ततश्च महत्या तृष्णया परतन्त्रीभूताः सर्वेऽपि स्वातन्त्र्याऽभावात् सुखं कल्पयितुमेव नेशते। अत एव सुखसाधनानि विद्यमानान्यपि दुःखाय कल्पन्ते। एतेनाऽत्र दुःखनिश्चय एव भवतीति ध्वन्यते। एतेनाऽराष्ट्रियशासनं सर्वथा परिहर्तव्यमिति राष्ट्रियशासनं च सर्वथा समुपादेयमिति चोपदिश्यते। अयमर्थः—धनमपि धर्मोन्मुखमेव सुखमुत्पादयितुं प्रभवति कामोन्मुखं तु दुःखमेवोत्पादयति। किं च यानि किल लोके सुखसाधनानीत्युच्यन्ते तानि सर्वाण्यपि आर्यराष्ट्रवादिशासने पूर्णस्वातन्त्र्ये महाज्योत्स्नाऽपरपर्याय एव वस्तुतः सम्भवन्ति। अविद्यमानान्यपि प्रकाशयितुं शक्यन्ते। तथा च पञ्चस्तव्याम्—

पिता माता भ्राता सुहृदनुचरः सापि गृहिणी।
वपुः पुत्रो मित्रं धनमपि यदा मां विजहति॥
तदा मे भिन्दानाःसपदि भयमोहाऽन्धतमसां।
महाज्योत्स्ने मातर्भव करुणया सन्निधिकरी॥

(पं. स्त. 5/27)

होकर उसी का सेवन करते हैं। इसीलिए बाह्य धन को परतन्त्र मानकर सर्वत्र तिरस्कार सहन करके भी जीवित रहने का प्रयत्न करते हैं। इसीलिए वे अधम कहलाते है। कहा भी है, उत्तम व्यक्ति मान चाहते हैं, मध्यम व्यक्ति धन और मान दोनों चाहते हैं तथा अधम व्यक्ति मात्र धन ही चाहते हैं।

परन्तु वे अधम नहीं है, जो धन होने से स्वयं को धन्य मानते हुए परतन्त्रता से उत्पन्न अपकीर्ति आदि से भोगों को भोगना चाहते हैं, आक्षेप पूर्वक गाल फुलाकर कहते है "मान को पीछे रखकर, अपमान को आगे कर, जो अपना कार्य सिद्ध करते हैं, वे विद्वान् हैं।" कार्य को न करना ही मूर्खता है।

पारतन्त्र्ये च विद्यमानान्यपि सुखसाधनानि परतन्त्रं विजहत्येव। य एव स्वतन्त्रस्तस्यैव सर्वमिति नियमात् । अत एव स्मृतिषु भार्यापुत्रदासानां न किमप्यस्तीत्युक्तम् । तैः समर्जितमपि तच्छासकस्यैव सर्वमपि धनं भवतीति च बोधितम् । तदुक्तं मनुना--

भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रय एवाऽधनाः स्मृता ।
यत्ते समधिगच्छन्ति यस्यैते तस्य तद्धनम् ।।

(मनु 8/416)

एवं चाऽराष्ट्रिये शासति पारतन्त्र्यवत्तया सुखसाधनानां विद्यमानानामपि न स्वसुखायोपयोगः शक्यते कर्तुम् । अविद्यमानानां च पुनः कुतः सम्भवेत्समर्जनम् । उपयुक्तानि च भवन्ति सुखाय राष्ट्रियाणामेव । स्वतन्त्रा एव परतन्त्राणां सुखसाधनानामुपभोक्तारो भवन्तीति भावः । परतन्त्राश्च भोग्या एव पारतन्त्र्येणेति धनिको वा रङ्को वा सर्वोऽपि लोको न सौख्यं लभेतेति निश्चयस्तत्त्वदृशाम् । ततश्चाराष्ट्रियशासनं सर्वदुःखाकरमिति परिहर्तव्यमेवेति ध्वन्यते । अलमनेन ।।68।।

एवं राष्ट्रियाणां शासनं सुखकरमराष्ट्रियाणां च नेत्युक्तम् । पुनरपि तद्दृढीकरणाय अराष्ट्रियशासनं निन्दन् राष्ट्रियशासनं च प्रशंसन् प्रब्रूते—

राष्ट्रिये शासति वरं तद्धालाहलभक्षणम् ।
शासत्यराष्ट्रिये नार्हं स्वर्गीयाऽमृतभोजनम् ।।69।।

राष्ट्रिये इति । राष्ट्रिये— शासति तत्— हालाहलभक्षणं— वरं—अराष्ट्रिये—शासति—स्वर्गीयाऽमृतभोजनं न—अर्हम् । इति पदयोजनिका ।

उत्तम व्यक्ति विज्ञ होते हैं । वे आत्मस्वरूप को जानते है । स्वयं को शिव मानते हुए शिवभाव का ही संरक्षण करते हुए, मृत्यु का निवारण करने का प्रयत्न करते हैं । अतः वे "जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः" इन भगवद् वचनों को यथार्थ रूप में स्वीकार करते हुए, परतन्त्रता को ही सर्वदा मृत्यु मानते हुए, अन्यों को प्रबुद्ध करते हुए, स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए तथा समस्त आशंसा की पूर्ति के लिए प्रयत्न करते हैं । अतः वे बाह्य धन को मृत्यु का कारण मानकर स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए उस धन का व्यय करते हैं । अतः वे थोडे से भी

'राष्ट्रिये'=राष्ट्रस्य चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धिनि 'शासति'=शासननियमानां निर्मातरि नियमाऽनुकूलप्रबन्धविनियोक्तरि च सति 'तत्'=सर्वैरप्युपादेयतयाऽनिष्यमाणं जिहास्यतयेष्यमाणं च 'हालाहलभक्षणम्'—'हालाहलं'=भयानकं प्राणघातकमेतदभिधेयं विषं तस्य 'भक्षणं'=भोजनं 'वरं'=श्रेष्ठम् । 'अराष्ट्रिये'=राष्ट्रान्तरचतुर्विधसम्बन्धिनि राष्ट्रचतुर्विधसम्बन्धिविरुद्धे च 'शासति'=नियमबोधके प्रबन्धविनियोक्तरि च 'स्वर्गीयाऽमृतभोजनम्'—'स्वर्गे'=देवलोके 'भवं'=प्राप्यं यत् 'अमृतं'=पीयूषं तस्य 'भोजनं'=भक्षणं 'न'=मा 'अर्हम्'=योग्यम् । इति ।

अस्याऽयमभिप्रायः—सर्वेऽपि सचेतनाः परिजिहीर्षन्ति मृत्युं जिघृक्षन्ति चाऽमृतम् । सोऽयं स्वभाव एव सर्वस्य वस्तुमात्रस्य । तत्र विज्ञानामज्ञानां चाऽमृतमृत्युविषये भेदः । अज्ञा आत्मरूपाऽनभिज्ञा इति स्वं जीवं मन्यमाना जीवभावमेव शरीररूपं मन्यमानास्तन्मृत्युवारणाय नितरां यतन्ते । अत एव श्रीमता भगवता **श्रीकृष्णेन** वर्णितम्—

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ।। (गी. 2/27)

इत्येवं मर्माऽजानानाः पारतन्त्र्येण नानाविधदुःखक्लेशादिदण्डान् सहमाना अपि बुभुक्षापरवशांस्तामेव सेवन्ते । अत एव बाह्यं धनं पारतन्त्र्यं स्वीकृत्याऽपि सर्वत्र तिरस्कारं सोढ्वाऽपि प्रयतन्ते जीवितुम् । अत एवैतेऽधमा उक्ता **अभियुक्तैः** । तथा हि—

उत्तमा मानमिच्छन्ति धनं मानं च मध्यमाः ।
अधमा धनमिच्छन्ति मानो हि महतां धनम् ।।

अपमान को अथवा तिरस्कार को सहन नहीं करना चाहते अथवा सहन नहीं करते हैं । सम्मान ही जिनका धन है—ऐसे मान चाहने वाले लोग अपकीर्ति को ही मृत्यु मानकर उसका त्याग करते हैं । गीता में कहा भी है कि सम्मानित व्यक्ति का अपयश (बदनामी) मृत्यु से भी बढकर होता है । राष्ट्रशासन का प्रबन्ध यदि अनार्य स्वभाव वाले व्यक्तियों के हाथ में हो जाता है, तो उनके शासन की स्थिति विषभक्षण के समान हो जाती है । क्योंकि उसमें सुख-शान्ति का अभाव हो जाता है । समन्ततः मात्स्य न्याय पीडादायक हो जाता है । अनार्य शासन कैसा भी हो, उसमें बुभुक्षा का प्राधान्य होता हैं ।

परं तु नैतेऽधमा धनवत्त्वेनाऽऽत्मानं धन्यं मन्यमानाः पारतन्त्र्या-दिसमुद्भवापकीर्त्यादिना परिजिहीर्षन्ति भोगलोलिकाम् । वदन्ति च साटोपमुत्फुल्लगल्ला एतस्य नीतिविज्ञत्वम् । तथा हि—

अपमानं पुरस्कृत्य मानं कृत्वा तु पृष्ठतः ।
स्वकार्यं साधयेद्धीमान् कार्यभ्रंशो हि मूर्खता ।।

उत्तमाः पुनर्विज्ञा इति स्वात्मरूपाऽभिज्ञा इति स्वं शिवं मन्यमानाः शिवभावमेव सर्वतः सर्वथा सरक्षितं तन्मृत्युवारणाय नितरां यतन्ते । अत एव ते 'जातस्य' इत्यादि भगवद्वचनं यथार्थतयाऽऽकलयन्तः सर्वदा पारतन्त्र्यमेव मृत्युत्वेन बुद्ध्यमाना बोधयन्तश्चान्यान् सर्वदा स्वातन्त्र्य-प्राप्त्यै समस्ताऽऽशंसापूरणाय यतन्ते । अत एव ते बाह्यं धनं मृत्युकारणमिति स्वातन्त्र्यप्राप्त्यै व्ययीकुर्वन्ति यथायथम् । अत एव ते नेषदप्यमानं पारतन्त्र्यं तिरस्कारं वा सोढुमिच्छन्ति सहन्ते वा । मानधनास्ते मानमिच्छवः सर्वदाऽपकीर्तिमेव मृत्युमिति तां परिजिहीर्षन्ति परिहरन्ति च । भगवता पार्थसारथिनाऽप्युक्तमेतत् **श्रीगीतासु** पार्थं प्रत्येवम्—

सम्भावितस्य चाऽकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ।। (गी 2/34)

अत एव राष्ट्रिये राष्ट्रस्य चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धिनि, आर्य-स्वभावेऽनार्यस्वभावे वा शासति नियामके प्रबन्धके वा प्राणनाशकत्वेनाऽतिप्रसिद्धं हालाहलाख्य तद्विषमपि भक्षयितुं वरम् । अयं भावः—राष्ट्रशासनप्रबन्धो यदि चानार्यस्वभावानां करगतः, अथाऽपि ते राष्ट्रस्य चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धिनस्ततश्च तेषां शासने स्थितिर्नाम हलाहलभक्षणमेव । यतः सुखशान्तेरभावात् सर्वतो मत्स्यन्यायेन पीडा-

---

बुभुक्षा को हालाहल के समान राष्ट्रनाशक कहा गया है। स्वर्ग भी कल्पना के तारतम्य से अनन्त प्रकार का है । इसे किसी ने स्पष्ट रूप से नहीं देखा है । क्योंकि जो जिसको अच्छा लगता है, वह उसके लिए अमृतोपम किम्बा स्वर्ग के समान सुखकर होता है । यह भी सम्भव है कि अन्य राष्ट्र के अराष्ट्रिय शासन में कदाचित् आर्यभाव से अनेक प्रकार के सांसरिक सुख प्राप्त हों । चूंकि सभी लोग भौतिक सुख की कामना करते हैं, अतः उसकी पूर्ति जिस शासन में होती है, वहीं स्वर्गीय अमृतभोजन तुल्य किम्वा उससे भी अधिक सुखकर प्रतीत होता है । अतः उसके पाने की इच्छा होती है । परन्तु यह उपयुक्त नहीं है । जो अनभिज्ञ हैं, वे भले ही अराष्ट्रिय शासन को सुखदायक कहें; किन्तु

युक्तत्वं राष्ट्रस्य। तदपि वरं श्रेष्ठमेवेति। अत एव भगवान् **श्रीकृष्ण-चन्द्रोऽप्याह गीतास्वेवम्**—

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः। (गी. 3/35)

मनुनाऽप्येवमुक्तम्—

वरं स्वधर्मो विगुणो न पारक्यः स्वनुष्ठितः। (मनु. 10/97)

अत्रेदं तात्पर्यम्—अनार्यस्वभावानां राष्ट्रस्य चतुर्विधसम्बधिनां शासनेऽन्यायप्राधान्येनाऽशान्तिरवश्यं सम्भाव्यते। यतस्तेषामभद्रनीति-प्रियत्वं भवति, ते च सङ्घवाद्यपरपर्यायाऽनार्यराष्ट्रवादिनस्तदा स्व-राष्ट्रे न तादृश्यशान्तिः; किन्तु तेष्वेव व्यक्तिवाद्यपरपर्यायराज्यवादिषु महत्यशान्तिर्भवति। तेन च द्विविधेऽप्यनार्यशासने बुभुक्षाप्राधान्यं तारतम्येन भवतीति बुभुक्षायाश्च हालाहलसमानतया राष्ट्रनाशकत्वात् यद्यप्यनिष्टं महत्। अत एव च नैतदुपादित्सितव्यम्। तथाऽप्येतद्वर-मेवाऽराष्ट्रियशासनात्। तदाह—अराष्ट्रियो इति। अराष्ट्रियो=राष्ट्र-चतुर्विधसम्बन्धिभिन्ने राष्ट्रान्तरस्य चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धिनि च शासति नियामके प्रबन्धकारिणि च स्वर्गीयाऽमृतभोजनमप्ययोग्यमेव। स्वर्गश्च सुखविशेष एव। तदुक्तम्—

यन्न दुःखेन सम्भिन्नं च ग्रस्तमनन्तरम्॥

अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदम्॥

इत्येवं रूपेण **भट्टकुमारिलचरणैः**। इदमत्र बोध्यम्—स्वर्गः खलु कल्पनातारतम्येनाऽनन्तविध एव। एतच्च **जैमिनीयनये** सुस्पष्टं, तत एवाऽवलोक्यम्। उचितमप्येतत्। यदेव हि यस्मै रोचेत, तदेव तस्य रम्यत्वेन सुखरूपं स्वर्गपदाऽभिधेयम्। अत एव लौकिकानामा-भाणकोऽपि—

जो राष्ट्रज्ञान में विचक्षण हैं, वे इस शासन को सुखदायक नहीं कह सकते हैं। शासन में स्वत्व वालों का ही अधिकार होता है, न कि अस्वत्ववालों का। जो परिणाम में सुखकर होता है, वही सुखकर होता है।

यह स्पष्ट है कि आर्यराष्ट्रवादी अन्य राष्ट्र पर शासन करने की इच्छा नहीं करते हैं। दूसरे राष्ट्र में शासन का अवसर लोभ आदि के विना प्राप्त नहीं होता। आर्यराज्य भी साम्राज्य की लिप्सा, प्रभुत्व और दर्प आदि से युक्त होते हैं। अतः अन्य राष्ट्र के लिए प्रायः अनार्यभाव वाले ही होते हैं। इस प्रकार अमृतभोजनादि तुल्यता की बात जो दूसरे राष्ट्र के अनभिज्ञों द्वारा की जाती है, वह ठीक नहीं है। अराष्ट्रियकर है।

तस्य तदेव हि रम्यं यस्य मनो यत्र संलग्नम् ।

कल्पनातारतम्येन हि सातिशयित्वं क्षयित्वं च स्वर्गे । अत एव स्वर्गादपि पुनर्मर्त्यलोक आगमनं सम्भवति । उक्तमपि गीतास्वेव—

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ॥ (गी 9/21)

अत एव भोगाऽनन्तरं समाप्तिः सर्वस्याऽपि । यदेव गृहस्थानां स्वर्गसुखावहं तदेव सन्यासिनां न । यथा गृहस्थानां विषयो कोऽपि—

यदि रामा यदि च रमा यदि तनयो विनयधीगुणोपेतः ।
तनयात्तनयोत्पत्तिः सुरवरनगरे किमाधिक्यम् ॥

अन्यस्त्वाह—"द्विरष्टवर्षास्त्रिय एव नाकः" इति । अपरः पुनराह—

केचिद्वदन्त्यमृतमस्ति सुरालयेषु
केचिद्वदन्ति वनिताऽधरपल्लवेषु ।
ब्रूमो वयं सकलशास्त्रविचारदक्षा
जम्बीरनीरपरिपूरितमत्स्यखण्डे ॥

एतदेव विरुदानां न सुखावहम् । भवतु, अन्यतोऽवधेयं तत् । प्रकृताऽनुकरणं वरम् । तत्र स्वर्गे भव यदमृतं तस्य भोजनमप्ययोग्यमेव । भवार्थे, 'वृद्धाच्छः' (पा. सू. 4/2/114) इति छः । अयं भावः—राष्ट्रान्तरस्य चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धिनां कदाचिदार्यतया नानाविधसांसारिकसुखप्राप्तेः स्पृहणीयत्वं प्राप्नोति । यतः खलु सांसारिकः सर्वोपि जीवलोकः कामयते भौतिकभोगजातं प्रायेण तस्य पूर्तिश्च यस्मिन्नेव शासने भवति तदेव स्वर्गीयाऽमृतभोजनसमानं ततोऽधिकमपि वा सुखकरमतस्तस्योपादित्सा सम्भवति । परं नेतद् योग्यम् । अय-

---

जो स्वाभाविक होता है, वही सुखकर होता है और अन्त में हितकर होता है । सदोष भी सहज हो, तो वह भी त्याज्य नहीं है । जो सहज (स्वाभाविक) है, वह सहज ही है, भले ही वह सदोष हो या निर्दोष ।

दृष्टिभेद के कारण अथवा अपनी कल्पना के अनुसार सदोष वस्तु भी निर्दोष प्रतीत होती है । वस्तुतः संकुचितदृष्टि से सदोष एवं निर्दोष का निर्णय नहीं किया जा सकता है । हमारा कहना है कि व्यवहार में न्याय से, सर्वताभद्रदृष्टि से राष्ट्रीय शासन ही सुखकर है, परिणाम में हितकर है । अराष्ट्रिय आर्य भी परिणाम में दुःखकर एवं अहितकर हैं । राष्ट्रियों को तो सामदानादि

मर्थः——ये हि नामाऽनभिज्ञास्ते वदन्तु नामाऽराष्ट्रियशासनं सुखकर-मिति योग्यतयोपादित्सितव्यमिति । यतस्ते राष्ट्रज्ञानवैचक्षण्यशून्याः । अभिज्ञाः खल्वेतदयोग्यमेवेत्यनुभवन्ति । अत एव भगवताऽपि गीतास्वप्युक्तम्—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् । (गी. 3/35)

अत्रेदं निगूढमाकूतम्– प्रथमं तावद्राष्ट्रान्तरस्य चतुर्विधसम्बन्धेन ये सम्बन्धिनः, ते चेदार्यराष्ट्रवादिनस्तदा न जात्वपि राष्ट्रान्तरं कथमपि शासितुमिच्छन्ति । राष्ट्रान्तरेषु शासनाऽवसरः खलु लोभादि-कारणं विना न प्राप्नोति । अथ यद्यार्यराज्यवादिनस्ते तदाऽपि साम्राज्यलिप्सा प्रभुत्वदर्पादिना सहितास्त इति राष्ट्रान्तराणां कृते-ऽनार्यभावाऽवलम्बिन एव प्रायो भवन्ति । एवं चाऽनार्यशासनमेव राष्ट्रान्तरे सम्भवत्यराष्ट्रियाणाम् । ततश्च यत् खलु स्वर्गीयामृत-भोजनसमानत्वेन सम्भाव्यतेऽनभिज्ञैस्तदनर्हमेवाऽराष्ट्रियशासनम् । अथ च शासने खलु स्वत्ववतामेवाऽधिकारो नाऽस्वत्ववताम् । स्वत्वं च राष्ट्रान्तरस्य चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धिनां न सम्भवति जात्वपि । ततश्च येयं सम्भावना स्वर्गीयाऽमृतभोजनस्याराष्ट्रियशासने साऽनु-चितैव । एवमेव ये चतुर्विधसम्बन्धेन न सम्बन्धिनो राष्ट्रस्य किन्तु राष्ट्राऽन्तरस्याऽपि न सम्बन्धिनस्तेऽपि स्वत्वाऽभावादेव शासनेऽनर्हाः । एव चाथाऽपि यदि नाम मतमेव यदराष्ट्रियाणां शासनं स्वर्गीया-ऽमृतभोजनप्रदमित्युपादित्सितव्यमिति । तन्निषेधायाऽऽह—नार्हमिति । निन्दाप्रदर्शनेनाऽराष्ट्रियाणां शासनस्य, राष्ट्रियाणां शासनं स्तूयते स्तुतिविधेयतां पोषयितुम् । 'यः स्तूयते स विधीयते' इति हि मीमांसा-न्यायः । तदेवम् राष्ट्रियशासनं जातु शान्तिकरमिवाऽस्ति नैव योग्यमिति ।

से वश में किया जा सकता है, किन्तु अराष्ट्रियों को विना भेद और दण्डनीति से वश में नहीं किया जा सकता है । राष्ट्रिय-आर्यों का शासन उत्तमोत्तम है । राष्ट्रिय अनार्यों का शासन मध्यम है । अराष्ट्रिय आर्यों का शासन अधम है । अराष्ट्रियअनार्यों का शासन अधमाधम है । इनमें से प्रत्येक शासन राष्ट्रवादी और राज्यवादी के भेद से द्विविध होता है । राष्ट्रवादियों का शासन उत्तम होता है । राज्यवादियों का मध्यम । यह सभी तारतम्य से अनन्त प्रकार का हो जाता है । इन सभी भेदों में स्वतन्त्रभाव की अधिकता, न्यायानुकूल आर्यत्व की प्रचुरता आदि के आधार पर उत्तमत्व या अधमत्व की पहचान करके इनकी

अयं भावः—स्वाभाविकं खलु यदेव तदेव सुखकरं परिणामेऽपि हितकरं भवति । जातु सदोषमपि सहजं भवतु नाम तथाऽपि न तत् त्याज्यम् । अत एव भगवताऽप्युक्तम्—

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवाऽऽवृताः ॥

(गी. 18/47)

अयमर्थः—यत् सहजं तत् सहजमित्येव त्यक्तुमशक्यम् । तत् सदोषं वा निर्दोषं वा भवतु । रुचिभेदमूलदृष्टिभेदवशान्निजनिजकल्पनाऽनुसारेण दोषवद्वा निर्दोषं वा भाव्यते । वस्तुतो दोषवद्वा निर्दोषं वा किमिति सङ्कुचितदृष्टिभिर्निर्णेतुमशक्यमेव । इदं तु ब्रूमो वयम्—पूर्णतायामाग्रहग्राहिलतया वस्तुतोऽतथातया, व्यवहारे न्यायेन सर्वतोभद्रदर्शितया राष्ट्रियशासनमेव सुखकरं परिणामेऽपि हितकरमेव । उपर्युपरि दर्शिनां हालाहलभक्षणमिवाऽपि श्रेष्ठतममेव । अराष्ट्रियशासन च सर्वविधमपि दुःखकरं परिणामेऽप्यहितकरमेव । यद्यपि राष्ट्रज्ञानवैचक्षण्यहीना नेदं विचारयितुं सम्भावयितुं वा प्रभवन्त्यथाऽपि नैतेषां निर्णायकत्वं शोभते । परिणामदर्शित्वाऽभावात्तेषाम् । अत एवोक्तमपि श्रुतावपि बहुषिमतं सविज्ञातं भवति । इति । अविचक्षणा सहस्रशः सम्भूता अपि न निर्णायका भवितुमर्हन्ति । निर्णयस्त्वभिज्ञानामेवायत्तः । अत एव मनुरप्याह—

एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तम ।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाऽज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥ (12-113)
अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम् ।
सहस्रशः समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते ॥ (12-114)
यं वदन्ति तमोभूता मूर्खा धर्ममतद्विदः ।
तत्पापं शतधा भूत्वा तद्वक्तॄनधिगच्छति ॥ (12-115)

ग्राह्यता या त्याज्यता का विचार विद्वानों को स्वयं करना चाहिए । कर्तव्य एवं अकर्तव्य में प्रमाण मानव के अन्तःकरण की वृत्ति ही होती है । अराष्ट्रिय-शासक के होने पर जनता में दास्यभाव अवश्य ही आता है । इनको यदि स्वर्गीय-अमृतभोजन का लाभ भी होता है, तो वह परिणाम में हितकर नहीं ।

परतन्त्र व्यक्तियों का अपना कुछ भी नहीं होता है, अपना तो स्वतन्त्र व्यक्तियों का ही होता है । परतन्त्र तो जड की भांति, भोग्य स्वरूप की भांति

अराष्ट्रिया आर्या अपि परिणामे दुःखकरा अहितकरा एव। राष्ट्रियाश्चाऽनार्या अपि परिणामे नाऽराष्ट्रियाणामिव दुःखकराः। अत्रेदं स्वारस्यम्—राष्ट्रियाः खलु सम्बन्धवत्त्वादेव सामदानाभ्यां वशीकर्तुं ज्ञापयितुमार्यीकर्तुं च सुकरोपायेन शक्यन्ते। अराष्ट्रियाश्च विना भेददण्डाभ्यां न ज्ञापयितुं वशीकर्तुं वा शक्यन्ते। यतः खलु राष्ट्राऽन्तरशासने प्रवृत्तिरनार्याणामेव भवतीति। अत एव अनार्याणामपि राष्ट्रियाणां शासनं न तथा निन्दनीयं यथाऽऽर्याणामप्यराष्ट्रियाणाम्। तदयं निर्गलितोऽर्थः—आर्याणां राष्ट्रियाणां शासनमुत्तमोत्तमम्, अनार्याणां राष्ट्रियाणां शासनं मध्यमम्, आर्याणामराष्ट्रियाणां शासनमधमम्, अनार्याणामराष्ट्रियाणां शासनमधमाऽधमम्। इदमपि प्रत्येकं द्विविधम्- राष्ट्रवादिराज्यवादिभेदेन। तत्र राष्ट्रवादिनामुत्तमम्। राज्यवादिनां च अधमम्। सर्वमप्येतत्तारतम्येनाऽनन्तविधतां याति। तदेतेषु सर्वेष्वपि स्वातन्त्र्याऽविक्रयेन न्याय्यत्वेन चार्यत्वाऽधिक्येन चोत्तमाऽधमभावं विज्ञायोपदित्सा वा परिजिहीर्षा वा विधेयेति विज्ञेयं सुधीभिः। प्रामाण्यं कर्तव्याऽकर्तव्यविषये हि सतामेवाऽन्तःकरणप्रवृत्तानां भवतीत्युक्तं कविकुलगुरुणा कालिदासेन तथा हि—

सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु
प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः। (शा. 1/19)

एवमपीयं कारिका व्याख्यानीया—राष्ट्रियेऽशासति तत् हालाहलभक्षणं वरम्। अयमर्थः—स्वराष्ट्रे स्वराष्ट्रस्य चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धिन्यशासति शासकाऽन्ये शास्य इति यावत् एकवचनं च जात्यभिप्रायं राष्ट्रिये इति। राष्ट्रियत्वाऽवच्छेदकाऽवच्छिन्ने जने शास्ये

केवल दुःख ही सहन करवाते हैं। अतः किसी भी प्रकार सुखकर दिखाई पड़ने पर तथा आपाततः रमणीय प्रतीत होने पर भी परिणाम में दुःख–दरिद्रता लाने वाले और अहितकर होते हैं। अत अराष्ट्रिय शासन को मूल से उखाड़ डालना चाहिए।

अराष्ट्रियों को जो अपना स्वामी मानते हैं, उनका नाम लेना भी पाप है— इसका निरूपण किया जा रहा है :—

अराष्ट्रियं मानयन्ति स्वप्रभुं येऽल्पबुद्धय;।
स्वप्नेऽप्युच्चारितं तेषां नाम पापाय जायते ॥70॥

सत्यतिदुःखं प्रदत्वादन्याय्यत्वाच्चात्यन्तमपकीर्तिकरत्वात् । एतदपेक्षया हालाहलभक्षणमेव वरम् । सर्वं वाक्यं सावधारणं भवतीति न्यायात् । किन्त्वराष्ट्रिये शासति स्वर्गीयाऽमृतभोजनमपि नाऽर्हम् । अयं भावः—अराष्ट्रिये शासके दास्यभावोऽवश्यमेव शास्यानां भवति । तेषामार्यत्वे स्वर्गीयाऽमृतभोजनलाभोऽपि न परिणामे हितम् । अत एवोक्तमपि—

पातकप्रचयवन्मम तावत्
पुण्यपुञ्जमपि नाथ लुनीहि ।
काञ्चनी भवतु लोहमयी वा
शृङ्खला यदि पदोर्न विशेषः ।।

परतन्त्राणां किल न किमपि स्व भवति, स्वं तु स्वतन्त्राणामेवेति परतन्त्रा जडा इव केवलं भोग्यरूपा इव सवतो दुःखाऽन्येव साह्यन्ते । तस्मात् कथमपि सर्वतः सुखाकरतयाऽपि परिदृश्यमानमप्यापाततो रमणीयमप्यन्तेऽतिदुःखदारिद्र्याकरमहितकरमिति तदराष्ट्रियाणां शासनं सर्वथाऽऽमूलचूलपातं निहन्तव्यमेव राष्ट्रियैरित्यलमनेन ।।69।।

अनार्याणामपि राष्ट्रियाणामेव शासनं वरम् । न पुनरार्याणामराष्ट्रियाणां शासनं वरम् । अराष्ट्रियाणां शासनमतीव गर्ह्यं यतः । तस्मात्सर्वदा आर्यैरनार्यैश्च राष्ट्रियाणामेव शासनं स्वीकार्यं पारिणामिकहिताय समस्तानां कलहवारणाय चेत्यादि सर्वमिदं प्रतिपाद्येदानीमराष्ट्रियान् ये स्वप्रभुं मानयन्ति तेषामप्यतिगर्ह्यत्वं निरूपयति तज्जिहासामुत्पादयितुं राष्ट्रियाणां मनसि—

अराष्ट्रियं मानयन्ति स्वप्रभुं येऽल्पबुद्धयः ।
स्वप्नेऽप्युच्चारितं तेषां नाम पापाय जायते ।।70।।

जो अल्पबुद्धि अराष्ट्रिय को अपना स्वामी मानते हैं, स्वप्न में भी किया हुआ उनके नाम का उच्चारण पाप उत्पन्न करता है ।

मनुष्य भगवदिच्छा से ही आर्य तथा अनार्य होते हैं । भगवान् की शक्ति भी दो प्रकार की है—निग्रह एवं अनुग्रह । इच्छा भी दो प्रकार की है—आकांक्षा एवं बुभुक्षा । जिनमें आकांक्षाज्ञान क्रियाप्रधान रूप से हो, वे आर्य कहलाते हैं । अनार्य बुभुक्षाज्ञान क्रियाप्रधान होते हैं । आशंसा के वश से ज्ञान और क्रिया से तारतम्य होता है और पदार्थ मात्र में अनेकविधत्व होता है । उनके परस्पर सम्मिश्रण से वस्तुमात्र की अनन्तता हो जाती है । मनुष्य में ही

अराष्ट्रियमिति । अल्पबुद्धयः—ये—अराष्ट्रियं—स्वप्रभुं—मानयन्ति—तेषां—नाम—स्वप्ने—अपि—उच्चारितं—पापाय—जायते । इति पदयोजनिका ।

'अल्पबुद्धयः—अल्पा=क्षुल्लका बुद्धिः=सदसन्निश्चयकारिणी धीः येषां ते 'ये'=मनुष्याः 'अराष्ट्रियम्—राष्ट्रान्तरचतुर्विधसम्बन्धिनं, राष्ट्रस्य चतुर्विधसम्बन्धेन रहितं, राष्ट्रियविरुद्धं वा सर्वथाऽपि अराष्ट्रियताऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नं पुरुषं, एकवचनं च जात्यभिप्रायम् । 'स्वप्रभुम्'—स्वस्य=स्वत्वाऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नस्य सर्वस्याऽपि प्रभुः=स्वामी । तदाहामरसिंहः—

इभ्य आढ्यो धनी स्वामी त्वीश्वरःपतिरीशिता ।
अधिभूर्नायको नेता प्रभुः परिवृढोऽधिपः ॥ (अ.को. 3/1/10)

तं 'मानयन्ति'=बुध्यन्ते बोधयन्ते च परानपि 'तेषां'=अल्पबुद्धीनां पुरुषाणां 'नाम'=अभिधानं 'स्वप्ने'=विकल्पाऽवस्थायां 'अपि'=समुच्चयेऽव्ययम् । 'उच्चारितं'=वाग्विषयीकृतं 'पापाय=अकल्याणाय 'जायते'=सम्भवति ।

अत्रायमभिप्रायः - मनुष्याः खल्वार्या अनार्याश्चेति द्विविधा भगवदिच्छयैव भवन्ति । भगवतश्च निग्रहाऽनुग्रहेति द्विविधशक्तिजातसमष्टिपरिपूर्णरूपत्वात् । इच्छाऽपि द्विविधा—आशंसा बुभुक्षा चेति । तत्राशंसा ज्ञानक्रियाप्रधाना आर्याः बुभुक्षाज्ञानक्रियाप्रधाना अनार्याः । अथ चाऽऽशंसावशेनैव ज्ञानक्रिययोरपि तारतम्यं भवतीति नानाविधत्वं भवति पदार्थमात्रे । तेषां परस्परं मिश्रीभावेन चानन्तविधत्वमेव भवति वस्तुमात्र इति मनुष्येष्वप्यनन्ता एव भेदाः । अथाऽपि समासत आकलनायाऽनुगतधर्मसादृश्यज्ञानपुरस्कारेण चातुर्विध्येनोक्तं समस्तमपि वस्तुजातं

अनन्त भेद होते हैं । एक घट कहने से समस्त घटों का बोध हो जाता है । अवर्ण की आकृति जान लेने पर समस्त अवर्णकुल का बोध हो जाता है । उसी प्रकार एक मनुष्य से मनुष्यमात्र का बोध हो जाता है, फिर भी (प्रकृत सन्दर्भ में) मनुष्यों के संक्षेप में चार ही प्रकार बताए हैं—आर्यराष्ट्रवादी, आर्यराज्य वादी, अनार्य राष्ट्रवादी और अनार्यराज्यवादी ।

जैसे सत्पुत्र अपने पिता में पूर्णरूप से स्वत्व मान लेते हैं और परस्पर भ्रातृभाव से रहते हैं । इसी प्रकार राष्ट्रवादी राष्ट्र को पिता एवं स्वयं को उसका पुत्र मान कर उस राष्ट्र के लिए अपना जीवन भी समर्पित कर देते हैं

विभज्य । यथा घटत्वाऽवच्छेदकापदेशेन घटबोधः । तदपि घटोपदेश-मन्तरा न भवतीति घटव्यक्तिसादृश्यज्ञानोपदेशः । एकेनोपदिष्टेन घटेन समस्ता अपि घटाः शक्यन्ते बुद्धिमता ग्रहीतुम् । उक्तमपि **महाभाष्ये महर्षिपतञ्जलिपादैः**—यथा "अवर्णाकृतिरुपदिष्टा सर्वमवर्णकुलं ग्रहीष्यति । तथेवर्णाकृतिस्तथोवर्णाकृतिः" इति । अयमेव उपायः सरलो बोधने । ततश्च मनुष्याणामपि समासतश्चतस्रो विधाः—आर्यराष्ट्र-वादिनः, आर्यराज्यवादिनः, सङ्घवाद्यपरपर्यायाऽनार्यराष्ट्रवादिनो, व्यक्तिवाद्यपरपर्यायाऽनार्यराज्यवादिन इति । एतेषां विषये बहूक्तं-प्रस्तुतभाष्यकृता पूर्वासु कारिकासु तत्तद्भाष्याऽवसर इति नाऽत्र निरूप्यते । इदं तु प्रकृतम्—एतेषु किल चतुर्विधेषु ये तावद्राष्ट्र-वादिनस्ते राष्ट्रमेव प्रभुं मन्यन्ते मानयन्ति च परान् । ये च राज्य-वादिनस्ते राष्ट्रं न मन्यन्ते मानयन्ति वा प्रभुं, किन्तु राजानं मन्यन्ते मानयन्ति च प्रभुम् । अत्रेदमप्यवगन्तव्यम् आर्याः खलु राष्ट्रवादिनस्त-त्तद्राष्ट्रस्य चतुर्विधसम्बन्धिना तेषु तेष्वौरसपुत्रवत् स्वत्वमङ्गीकुर्वन्ति । अयंभावः--यथा सत्पुत्राः स्वपितुः सर्वथा स्वत्व मन्यन्ते परस्परं च भ्रातृभावेन वर्तन्ते । एवमेवाऽऽर्यराष्ट्रवादिनो राष्ट्रस्य पितृत्वमात्म-नश्च पुत्रत्वमित्यवगत्य सर्वदा तदैकायत्तजीवनास्तत्संरक्षणाय प्रयतन्ते परस्परं च सुहृद्भावेन वर्तन्ते । एषां मते स्वस्वामिभावसम्बन्ध एव नास्ति । अत एतेषु यदि नाम केऽपि तारतम्येन प्रभुत्वमप्यङ्गी-कुर्युरेव, तर्हि स्वं स्व चतुर्विधसम्बन्धवद्राष्ट्रमेवाङ्गीकुर्युः कारयेयुर्वा । अथ य आर्यराज्यवादिनस्ते पुनर्मन्यन्ते स्वस्वामिभावं मानयन्ते च समस्तकल्याणव्यवस्थापनाय । तत्र ते राष्ट्रं पाल्य राजा च पालकः "जीवन् पुनः शश्वदुपप्लवेभ्यः प्रजाः प्रजानाथ पितेव पासि" (रघु 2·48)

तथा परस्पर भिन्नभाव से रहते हैं । उनमें अपने स्वाभिभाव का सम्बन्ध नहीं रहता है । आर्य राज्यवादी स्वस्वाभिभाव मानते हैं और समस्त के कल्याण की व्यवस्था के लिए मनवाते हैं । इनका राष्ट्र पाल्य होता है और राजा पालक । इनके मत में अपने राष्ट्र में या परराष्ट्र में राजा स्वामी होता है और अन्य आर्यविधि से भृत्य होते हैं । अर्थात् सभी भृत्य नहीं होते जो भृत्यत्व चाहते हैं, वे भृत्य होते हैं । ये आदर्श राज्यवादी भृत्यों के मित्रवर मित्रों को बन्धुवर और बन्धुओं को स्वामित्व से युक्त मानते है ।

अनार्य राष्ट्रवादी राष्ट्र को प्रभु मानते हैं और मनवाते हैं, पर विषमता से । ये अनार्य राष्ट्रवादी कुपुत्र की तरह होते हैं, जो परस्पर संदेहाकुल होकर

"रक्षेत्पुत्रमिवौरसम्" इति नीतिः । एतेषां मते स्वराष्ट्रे परराष्ट्रे वा राजा प्रभुर्भवति तदितरे च भृत्याः परन्त्वार्यविधया । अतो न सव भृत्याः, किन्तु ये भृत्यत्वमिच्छन्ति ते भृत्याः । अत एव त आदर्श-राज्यवादिनः -

सखीनिव प्रीतियुजोऽनुजीविनः
समानमानान्सुहृदश्च बन्धुभिः ।
स सन्ततं दर्शयते गतस्मयः
कृताऽधिपत्यामिव साधु बन्धुताम् ।। (कि. 1/10)

इत्येवं नीतिं सर्वश्रेष्ठां मन्यन्ते मानयन्ति च परान् । अत्राऽराष्ट्रियो वा राष्ट्रियो वा प्रभुर्भवति । परमार्यं प्रभुं प्रशंसन्ति निन्दन्ति चाऽनार्यम् । अथाऽनार्यराष्ट्रवादिनः पुनः राष्ट्रं प्रभुं मन्यन्ते मानयन्ति च, परन्तु वैषम्येण । अयं भावः-कुपुत्रा इव परस्परं सन्देहाऽकुलाः सन्तो विचारयन्ति यदयं मा प्रभुर्भवत्वयं वाऽन्यो मा प्रभुं भवत्विति । अथ च राष्ट्रान्तरेषु स्वराष्ट्रप्रभुत्वं स्थापयितुमिच्छन्ति स्थापयितुं यतन्ते स्थापयन्ति च । अत एव बलेन राष्ट्रान्तराणि दासीकुर्वन्ति स्वस्वार्थ-विरुद्धं च दासीकर्तुमिच्छन्ति बुभुक्षाशान्त्यै । एषां च मते—

आत्मोदयः परग्लानिर्द्वयं नीतिरितीयती । (शि. व. 2/30)

एतन्नयसारम् । अथानार्यराज्यवादिनः स्वस्ववैयक्तिकभोग-बुभुक्षया तद्वशाः सन्तोऽन्यान्यं दासीकुर्वन्तोऽन्योऽन्यं दौर्बल्येन प्रभुं मन्यन्ते मानयन्ति च । अत एवाऽराष्ट्रियो वा राष्ट्रियो वा दुर्बलानां सबलः प्रभुः । एतेषां च व्यक्तिदृष्ट्या—"जीवो जीवस्य जीवनम्"

चराणामन्नमचरा दंष्ट्रिणामप्यदंष्ट्रिणः ।
अहस्ताश्च सहस्तानां शूराणां चैव भीरवः ।। (मनु. 5/29)

"यह मेरा प्रभु न बने" इस प्रकार के भाव अपने भाइयों के प्रति रखते हैं । साथ ही दूसरे राष्ट्रों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने की इच्छा करते हैं । अतः अपनी बुभुक्षा की शान्ति के लिए दूसरे राष्ट्रों को दास बना लेते हैं । अनार्यराज्यवादी अपनी-अपनी व्यक्तिगत भोग की बुभुक्षा से वशीभूत होकर एक दूसरे को दास बना लेते हैं । दुर्बलतावश एक दूसरे को प्रभु मानते हैं और मनवाते हैं । इनके जीव ही जीव का भोजन है, यह नीति चलती है ।

द्वैतप्रपञ्च में प्रत्येक वस्तु दो प्रकार की दृष्टिगत होती है । मयूराण्ड-रसन्याय से किसी एक ही वस्तु में यह भाव कभी तो प्रस्फुटित होता है, कभी

इत्येवं रूपा नीतिः सारम् । अत्रेदं रहस्यम्—सर्वत्राऽपि खलु वस्तु-मात्रे द्वैविध्यं स्फुटमेव परिदृश्यते द्वैतप्रपञ्चे । स एष द्वैतप्रपञ्चः पुनरेकस्मिन्नेव कस्मिन्नपि वस्तुनि मयूराण्डरसन्यायेन निलीय-मानो वा प्रस्फुरन् वा वर्तमानो वा रममाण एवाऽस्ते । अत एव व तुतो वस्तुभूतं तदेव वस्तु यत्राऽस्य प्रपञ्चः प्रपञ्चतामञ्चति । एतदेवाऽभि-नवरमणीयं सच्चिदानन्दकन्दं परिपूर्णं परशिवरूपमहमह इत्येवमुप-दिश्यते प्रस्तुतभाष्यकृता । सर्वमपीदं यथा तथा वैशद्येन चर्चितमात्म-विलासे तद्व्याख्यायां च । तत्र द्वैविध्ये एका बाह्यविद्या परा चान्तर-विद्या तत्राऽपि बाह्यस्य भोग्यत्वमान्तरस्य च भोक्तृत्वमिति विवेकः । बाह्यमपि क्रमेण विकासमेत्येच्छाज्ञानक्रियात्मना बहिः प्रस्फुरन्निव भासते । तत्रोत्तरोत्तरं जाड्यं व्याप्यत्वं च विकासमेति । अत्र च भोग-प्रावण्यं बहिर्विकासे । आन्तरविकासे च मोक्षप्रावण्यम् । तत्र चोत्तरो-त्तरं चैतन्यं व्यापकत्वं च विकासमेति । एवं हि मोक्षप्रावण्य आर्यत्वं भोगप्रावण्ये चाऽनार्यत्वमिति विवेकः । आर्यशासनं मोक्षप्रधानम् । अनार्यशासनं च भोगप्रधानम् । राष्ट्रवादे राष्ट्रस्य पितृत्वं राष्ट्रियस्य च पुत्रत्वम् । राज्यवादे च राज्ञः पितृत्वं राष्ट्रस्य च पुत्रत्वम् । अनार्य-राष्ट्रवादः पुनर्वस्तुतो न राष्ट्रवादः, किन्तु सङ्घवादः सः । तत्र च सङ्घवादे वस्तुतः पितापुत्रभावोऽपि नास्ति । किन्तु भोक्तृभोग्यभाव-सङ्घो भोक्ता राष्ट्रं च भोग्यम् । एवमनार्यराज्यवादोऽपि वस्तुतो न राज्यवादः । किन्तु व्यक्तिवादः सः । तत्र च व्यक्तिवादे राजा (व्यक्तिः) भोक्ता राष्ट्रं च भोग्यम् । इत्येवं वस्तुस्थितिः । यद्यपि व्यक्तिवादिनः स्वात्मानं राज्यवादित्वेनोद्घोषयन्तो नयनाटकं नाटयन्त्यथापि तत्प्रागेव नाटकं तत् परिचयमेत्य समाप्तिमेत्यार्याऽरुणोदये । एवमेव सङ्घवादिनां

निलीयमान हो जाता है । मैं अभिनव रमणीय, सच्चिदानन्दकन्दरूप, परिपूर्ण परशिव हूं—ऐसा भी उपदेश दिया जाता है ।

इस द्वैतप्रपंच में एक बाह्यविद्या है तथा एक आन्तर विद्या है । बाह्य-विद्या भोग्यत्व एवं आन्तरविद्या भोक्तृत्व के रूप में जानी जाती है । बाह्यविद्या भी क्रमानुसार इच्छा, ज्ञान, क्रिया के रूप में बाहर स्फुरित होती हुई लगती है । इसमें उत्तरोत्तर जडता एवं व्याप्यधर्म विकसित होता है । बाह्य विकास में भोग की प्रधानता होती है, जब कि आन्तरिक विकास में मोक्ष की प्रधानता । आर्यशासन मोक्षप्रधान है एवं अनार्य शासन भोगप्रधान ।

स्वात्मानं राष्ट्रवादित्वेन प्रख्यापयतां नयनाटकमपि झटित्येव पूति-कूष्माण्डी भवति विज्ञानां राष्ट्रवादिनां पुरः। राज्यवादः पुनर्यद्यपि न वस्तुतो भोगवादस्तथाऽपि वैषम्यप्राधान्याद् भोगवादसम एव। यतः खलु बाह्यप्रावण्यं तत्र। अत एव राज्यवादो न चिरकालिकशान्तिस्थापनाय कल्पत इति निवेदित प्राक्। अस्तु। अधिकमत्रत्यं रहस्यं प्रणेष्यमाणे ग्रन्थान्तरे विवेचयिष्यते। भवतु, तत्रैवं सति ये तावत् ज्ञानतो वाऽज्ञानतो वा पारतन्त्र्येण वा स्वातन्त्र्येण वा, भ्रमेण प्रमादाद् वा तुच्छबुद्धयः पुरुषा अराष्ट्रियत्वाऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नं स्वस्य प्रभुं मन्यन्ते मानयन्ति च स्वप्नेऽपि तेषामुच्चारित नाम पापाय भवति। अयमर्थः—चतस्रोऽपि विधाः सम्बन्धस्य यस्य पुरुषस्य यस्मिन् राष्ट्रे भवन्ति स पुरुषस्तत्र राष्ट्रे राष्ट्रिय इत्याख्यायत इति सुनिरूपितं पूर्वम्। इत्येतदन्यः सर्वोऽप्यराष्ट्रियो लोकस्तत्र राष्ट्रे व्याख्यातव्य इत्यपि निवेदितमेव पुरस्तात्। तादृशं सर्वविधाऽन्यतममराष्ट्रियं राजानं येऽल्पबुद्धयो मानयन्ति। इदं चाऽत्र बोध्यम्— अराष्ट्रियपदेनाऽत्र न केवलं राजैव गृह्यते, किन्तु राष्ट्रान्तरमपि। जात्यभिप्रायत्वादेकवचनस्याऽत्र। तेनाराष्ट्रियानि इत्यर्थलाभः। अयं भावः—अराष्ट्रियाणां सङ्घो यत्र शास्ति तत्र ये पुरुषास्ते अराष्ट्रियाणां सङ्घं शासकरूपेणाऽनुमत्या वाऽननुमत्या वा तद्राष्ट्रियेभ्यो गृहीतशासनभारं ये शास्याः प्रभुं स्वामिनं मानयन्तीति। प्रकर्षेण भवत्यसौ प्रभुः अन्येभ्यो बलबुद्ध्यादिभ्यः प्रकर्षेण विद्यतेऽयमिति मानयोग्योऽयमिति यं प्रभुं मानयन्ति। अयं भावः—प्रभावः खलु तारतम्येन सर्वेष्वपि न्यूनाऽधिकभावेन पदार्थमात्रेषु जागर्त्येव। सम्मान्यश्चाऽधिकप्रभावशाली न्यून-

---

राष्ट्रवाद में राष्ट्र पिता है, तो राष्ट्रिय पुत्र हैं। राज्यवाद में राजा पिता होता है और राष्ट्र पुत्र। अनार्यराज्यवाद वास्तव में राष्ट्रवाद नहीं है, अपि तु संघवाद है। इस संघवाद में पिता-पुत्र का भाव भी नहीं है, किन्तु भोक्तृ एवं भोग्य भाव हैं। संघ भोक्ता है और राष्ट्र भोग्य हैं।

यद्यपि राज्यवाद वस्तुतः भोगवाद नहीं है, फिर भी वैषम्यप्रधान होने से वह भोगवाद के समान ही है।

आर्य स्वभाव से ही मान्य होते हैं एवं अनार्य तिरस्कृत। आर्यों में स्वातन्त्र्य होता है और अनार्यों में पारतन्त्र्य। अराष्ट्रिय लोग अपने को प्रभु स्वीकार करते हैं, अपनी अल्पबुद्धि के कारण ही वे ऐसा करते हैं।

प्रभाववतः । परन्त्वेतत्तु विचार्यमेव यत् न्यूनप्रभाववताऽधिकप्रभावस्य व्यवहारः किंविध उचितः किंविधश्चाऽनुचित इति । बुभुक्षावन्त क्रियाशक्त्युद्रेकिण इत्यनार्या इति न्यूनप्रभावात् स्वस्वक्रियाशक्तिप्राभवत्यात्प्रभुं रभसान्मानयन्ति । आर्याः पुनराशंसावन्तो ज्ञानशक्त्युद्रेकिण इति न्यूनप्रभावात् 'परगुणकथनैः स्वान् गुणान् ख्यापयन्त' इति नीत्या न्यूनप्रभावैः स्वयमेव मान्यन्ते । अयं भावः—आर्याः स्वभावेनैव मान्याः प्रभावशालिन आर्याणां न्यूनप्रभावाणाम् । नाऽत्र रभसो द्वयोरपि । अनार्याश्च रभसात् स्वस्याऽराष्ट्रियत्वेऽपि प्रभुं मानयन्ति । राष्ट्रियत्वेऽपि तथैव रभसादिना मानयन्तीति । एते खलु येऽल्पबुद्धयस्त एवं कुर्वन्ति । अयमर्थः—बुद्धिश्च ज्ञानशक्तिस्तस्या अल्पत्वं विकासाऽनुल्लासस्तेन चैत एवं कुर्वन्ति । ज्ञानस्य विकासः खलु क्रियां सङ्कोचयति । यथायथैव क्रियायाः सङ्कोचस्तथा तथैव ज्ञानस्य विकासः । ज्ञानविकासतारतम्यमवलम्ब्यैवार्यत्वविकाससङ्कोचौ भवतः । क्रियाविकाससङ्कोचतारतम्यमवलम्ब्य चानार्यत्वविकाससङ्कोचौ भवतः । अनार्याणामत एव पशुप्रायत्वम् । आर्याणां च पतिप्रायत्वम् । पतित्वं च स्वातन्त्र्यम् । पशुत्व च पारतन्त्र्यम् । स्वातन्त्र्यमेव चेहितव्यं सर्वथाऽपि । उक्तं प्रस्तुतभाष्यकृतैव तदात्मविलासे यथा चेदं तथा । तथाहि तत्र **स्वातन्त्र्यप्रकरणान्ते—**

> **इच्छन्ति नित्यमिह सौख्यसुधासमुद्रं ।**
> **स्वातन्त्र्यमेव पशुपक्ष्यमरादयोऽपि ।।**
> **तस्माद् बुधैः खलु तदेव समर्थनीयं ।**
> **नाऽन्यत्किमप्यपरमस्ति हि शिक्षणीयम् ।।** (आ. वि. 3/24)

समुचित ज्ञान वाले जो अराष्ट्रिय को अपना स्वामी या राष्ट्र मानते हैं वे पशुवत् हैं, ज्ञान शक्ति से रहित हैं, उनका नामोच्चारण भी पाप को उत्पन्न करने वाला है । केवल जाग्रतावस्था में ही नहीं, अपितु स्वप्नावस्था में भी उनका नामोच्चारण पाप का कारण होता है । जाग्रत अवस्था में ही स्थूल भोग सम्भव है तथा सुख-दुःख की स्फुट प्रतीति भी जाग्रत अवस्था में ही होती है शुभ-अशुभ कर्म ही सुख-दुःख के कारण हैं । स्वप्नावस्था में वृश्चिक दंश का अनुभव करता हुआ भी पुरुष वास्तव में वृश्चिक द्वारा स्वयं को दष्ट अनुभव नहीं करता, किन्तु जाग्रतावस्था में अनुभव करता है ।

एतद्विषये विस्तृतमात्मविलासे तद्व्याख्यायां च निरूपितमिति तत एवाऽवलोकनीयम् । एवं च ये खलु सकुचितज्ञानशक्तिकामास्त एवाऽराष्ट्रियं स्वप्रभुं राजानं राष्ट्रं वा मानयन्ति । स्वार्थे णिच् । अन्येभ्यश्च स्वराष्ट्रियेभ्यः परराष्ट्रियेभ्यश्च मानयन्ति । पशव एवैत इति भावः । नैतद् बुद्धिमति सम्भाव्यते । एवं च व्याख्येयम्—चैतावदराष्ट्रियं स्वप्रभुं केनाऽपि कारणेन मानयन्ति तेऽल्पबुद्धय एव । ज्ञानशक्तिरहितास्ते । अप्रशस्तज्ञाना वा विरुद्धज्ञाना वा त इति । महाबुद्धयः पुनर्नैवं कुर्वन्ति । अयं भावः—आर्यराज्यवादिनोऽपि खलु ये बुद्धिमन्तस्ते स्वस्य स्वराष्ट्रस्य च यस्य कस्याऽपि वा स्वत्वाऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नस्य स्वामिनं स्वामित्वेनाऽराष्ट्रियत्वाऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नं स्वीकुर्वन्ति नैव । ये च मानयन्ति तेऽल्पबुद्धयः पशव एव । अराष्ट्रियः सङ्घो वा राजा वा प्रभुत्वेन बुद्धिमतां न माननीयः क्वचिद्भवति । अयमर्थः –अराष्ट्रियाणां स्वप्रभुत्वस्वीकारेऽल्पबुद्धिकत्वमेव कारणम् । तच्चाऽवश्यमेवैतदकार्यकर्मरूपमकार्यमुत्पादयति । यत्र चैतदकार्यमुत्पद्यमानं दृश्यते, तत्राऽवश्यमेवाऽल्पबुद्धिकत्वरूपं कारणमपि सत्त्वेनाऽनुमीयत एव । एवं चैतदार्यमन्यानां पुरुषाणां नैव शोभते । अनार्याश्च रभसादेव त्वप्रभुमराष्ट्रियं मानयन्ति । ते त्वल्पबुद्धयः क्रियाशक्त्युद्रेकात् पशुप्रायत्वादिति तत् पशूनां स्वाभाविकमेवाऽकार्यमिति नाश्चयम् । अत एव महान्तो मतिमन्तस्तत्तदुपायजातेन पशुत्वनिवृत्तये पतित्वप्रादया एव च बोधयन्ति । यथा चाहुरभिनवगुप्तपादास्तत्त्वसारे शाक्तोपायप्रकरणे—

जाग्रतावस्था में भोगसाधन भी स्थूल हैं और पदार्थ भी स्थूल हैं । स्वप्न में भोग का साधन सूक्ष्म शरीर है, अतः उसके पदार्थ भी सूक्ष्म है ! सूक्ष्म साधन से भुक्त पदार्थों का स्थूल साधन से संस्पर्श कैसे होगा । यदि जाग्रतावस्था में ही बोध नहीं होता, तो स्वप्न में कैसे होगा—इसमें कोई आश्चर्य नहीं ; यदि कोई पुत्र अपने पिता के जन्म को स्वीकार न करे, तो इसमें कोई हानि नहीं है । उसके द्वारा अंगीकार न करने पर भी पिता के जन्म की असत्ता सिद्ध नहीं होती है अपितु इसमें उस पुत्र का शैशव ही (मूर्खता ही) अभिव्यक्त होती है ।

कारण संस्कार से कार्य संस्कार अवश्य होता है । कार्य संस्कार से कारण सस्कार नहीं होता है । स्वप्न जाग्रत का कारण है । अकार्य के करने पर भी

यो निश्चयः पशुजनस्य जडोस्मि कर्म
सम्पाशितोऽस्मि मलिनोऽस्मि परेरितोऽस्मि ।
इत्येदन्यदृढनिश्चयलाभसिद्धो
सद्यः पतिर्भवति विश्ववपुश्चिदात्मा ।।

नानाविधैरप्युपायैः स्वातन्त्र्यमेव समीहितं सर्वैरिति तत्त्वम् । एवं चाऽऽर्याणामनार्याणां वा राष्ट्रियाणां प्रभुत्वेन माननमतीव मूर्खत्वद्योतकम् । इदं च बोध्यम्—राष्ट्रान्तरे स्वस्याऽराष्ट्रियत्वेन प्राभवत्यात्स्वप्रभुं ये मानयन्ति तेऽप्यल्पबुद्धयः । स्वश्चाऽसौ प्रभुश्चेति कर्मधारयः । राष्ट्रान्तरचतुर्विधसम्बन्धिनश्चेदार्यास्तेषां प्रभुत्वेन माननं रभसात्स्वतीवालबुद्धित्वद्योतकम् । अत एव दण्डनं मनुरप्याह—

दास्यं तु कारयन् लोभाद् ब्राह्मणः संस्कृतान्द्विजान् ।
अनिच्छतः प्राभवत्याद्राज्ञा दण्ड्यः शतानि षट् ।।
(मनु. 8/412)

आर्योऽपि राष्ट्रान्तरराष्ट्रियानार्यान्नैव स्वप्रभुं मानयेत् । अनार्यानपि रभसाद्राष्ट्रान्तरराष्ट्रियान्नैव मानयन्ते चेन्मानयन्ति तर्हि तानार्यीकुर्यात । अनार्यस्तु पुना राष्ट्रान्तरराष्ट्रियान् स्व प्रभुं न मानयेत्, मानयन् रभसाच्छत्रुभावमुत्पाद्यात्मानं कालान्तरे घातयतीत्यसावल्पबुद्धिरेव । आर्याः पुनः कदाप्यराष्ट्रियमार्यमनार्यं च जातु अपि स्वप्रभुं नैव मानयेयुः । ये ह्यल्पबुद्धयोऽराष्ट्रियं मानयन्ति तेषां नामोच्चारणमपि पापोत्पादकम् । उच्चारितं ह्येतादृशां नाम न जाग्रत्येव किन्तु स्वप्नेऽप्युच्चारितं वाग्विषयीकृतं पापाय जायते । "क्लृपि सम्पद्यमाने च (पा. वा.) इत्यनेन चतुर्थी । स्वप्नो विकल्पाऽवस्था । तदुक्तं शिवसूत्रे "स्वप्नो विकल्पाः" इति । विकल्पश्च "शब्दज्ञानाऽनुपाती वस्तु-

---

कार्य के जाग्रत होने पर फल अवश्य भोगना होगा । अतः स्वप्न में किया हुआ अकार्य जाग्रतावस्था में भी दुःख पहुंचाता है । अशुभ स्वप्न के दर्शन होने पर उसके प्रतीकार के लिए जाग्रतावस्था में महर्षियों द्वारा शान्ति आदि कर्म किये जाते हैं ।

भोक्ता एक ही है— इसके द्वारा वह अनेक प्रकार के कल्पित स्थूल सूक्ष्म शरीरों से शुभाशुभ कर्म करता है, उन-उन भोगों को भोगता है, सुख-दुःख के सम्बोध से अपनी अभिलाषा की पूर्ति करता है । अतः स्वप्न में भी उच्चारित नाम पाप के लिए होता है, यह कथन उचित ही है । अकार्य कारियों का नाम

शून्यो विकल्पः" (पा. यो. 1/9) इत्येवं **पातञ्जलयोगसूत्रलक्षितो**ऽवस्थाविशेषस्तस्मिन्नपि । अयं भावः—जाग्रदवस्थायां स्थूलभोगसम्भवात् तत्रैव सुखदुःखयोः स्फुटं प्रतीतिः । सुखदुःखकारणानि च शुभाऽशुभकर्माण्येव भवन्ति । स्वप्ने च वृश्चिकदंशादिकमनुभवन्नपि कश्चित्पुरुषो वस्तुतो न वृश्चिकदष्टोऽस्मीति जाग्रदवस्थायां प्रत्येति, एवं जाग्रत्येवोच्चारितं तादृशः पुरुषस्य नाम पापाय जायेताऽपि स्वप्नोच्चारितं तु न जाग्रति पापोत्पादकं भवेदिति वारयितुमुक्तमपीति । एवं च स्वप्नेऽपि खलूच्चारितं नामाराष्ट्रियं स्वप्रभुं मानयतां पापोत्पादकं यदि, जाग्रति पापोत्पादकं भवतीति किमु वक्तव्यम् । इदं चाऽत्र बोध्यम्—स्वप्ने स्थूलपदार्थाऽभावात् तदभोगः । अत एव साऽवस्था वस्तुशून्यतया विकल्प इत्युच्यते इति **पातञ्जलविकल्पलक्षण**स्वीकारे । वयं तु ब्रूमः—'स्वप्नो विकल्पः' इति **शिवसूत्रे** यो विकल्पशब्दस्तस्यायमर्थः—क्लृपी छेदने कल्पः छेदः खण्ड इति भावः । खण्डश्च क्रमबोधकशक्त्याऽऽकलयितुं शक्यते । त एते खण्डा अप्यनन्ता अपि स्थूलसूक्ष्मकारणेति भेदत्रयेऽन्तर्भाव्यन्ते समासतो बोधनाय । तत्र क्रमबोधकशक्तेः स्थूलतायामिष्टायां तस्याः क्रियारूपतया तदुद्भासिता कल्पाः स्थूला जाग्रद्भोगपदार्थकल्पाः । स एव स्थूल कल्पो विरुद्धतया यत्र स कल्पः स्वप्नः । अत्र च क्रमबोधकशक्तेः स्थूलक्रियातः सूक्ष्मतया एतस्याज्ञानरूपता । एतदुल्लासिताः सूक्ष्माः स्वाप्नभोगपदार्थकल्पा भवन्ति । अत एव स्वशिरश्छेदादि शशशृङ्गादि विरुद्धमपि स्थूलकल्पादनुभूयते एव । ततश्च स्वाप्नपदार्था अपि तदवस्थायां सत्या एव । ततश्च पापपुण्योत्पादकत्वमपि तेषामुचितमेव । किं च यथाऽन्ये स्वप्नस्य मिथ्यात्वं बोधयन्तस्तदुपमया स्थूलेऽपि मिथ्यात्वं ये साधयन्ति ते शिशव इत्युपेक्ष्या एव । एवं च स्वप्नेऽपि पदार्थजातं सर्वमपि सत्यमेव

लेना भी पाप है, उनका दर्शन तो पापकारी है ही । इसीलिए कहा गया है "कथापि खलु पापानामलमश्रेयसे यत." । पाप परिणाम में दुःख देने वाला होता है—यह तो निश्चित है । याज्ञवल्क्य ने भी कहा है, विहित कर्म का अनुष्ठान न करने से, निन्दित कर्म का सेवन करने से तथा इन्द्रियों का निग्रह न करने से मनुष्य का पतन होता है । निष्कर्षतः तात्पर्य यह है कि आर्यों और अनार्यों को, अराष्ट्रियों को कदापि प्रभुरूप में स्वीकार न करना चाहिए । स्वयं को भी दूसरे राष्ट्र में अपना प्रभुत्व स्थापित न करना चाहिए । उसे तो ऐसा अकार्य

न मिथ्या। यत्तु जाग्रत्यबोधस्तत्तूचितमेव। जाग्रति भोगसाधनं स्थूलं पदार्थाश्च स्थूला, स्वप्ने तु भोगसाधनं शरीरं सूक्ष्मं, अत एव तत्रत्याः पदार्था अपि सूक्ष्मा एव सूक्ष्मसाधनेन भुक्तानां स्थूलसाधनस्य कथं संस्पर्शो युज्येत। यथा कुठारेण येन छिन्नं शीर्षं शोणितस्पर्शस्तस्यैव कुठारस्य भवति नाऽन्यस्येति। किं च प्रतीयमानताऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नस्य सत्त्वस्याऽनिवार्यत्वम्। खण्डनमपि वा मण्डनमपि वा सत एव सम्भवतीति सर्वमप्यात्मविलासव्याख्यायामुक्तं प्रकृतभाष्यकृतैव। किं च स्वप्नस्य कारणता जाग्रत्प्रति वा ततश्च जाग्रतो यदि न बोधः स्वप्नस्येति न विस्मयावहमपि तु समुचितमेव। अत एव बोधाभावात्तदसत्ताया अनङ्गीकरणमपि शैशवमेव। यदि नाम पुत्रः स्वपितृजन्म न द्रष्टुं पारयेत्, तर्हि किमयमाश्चर्यविषयः? नैवाश्चर्यस्य विषयः। अत एव पुत्रो यदि स्वपितुर्जन्म नाङ्गीकुर्यात्तर्हि पितुः का नाम खलु हानिः? तदनङ्गीकारेऽपि पितुर्जन्मासत्ता तु नैव सिद्ध्यति प्रत्युत तस्य तच्छैशवमेव पुत्रस्याऽभिव्यज्यते। अतश्च एतादृग्विषये एवं ब्रुवाणास्ते शिशव इव सम्बोधनीयाः, स्वकार्यविषये चोपेक्ष्या एव। अत एव चाचार्याऽभिनवगुप्तपादाः प्रोचुरेवम्—

यथा यथा निश्चय ईदृगाप्यते
तथाऽवधेयं परयोगिना सदा।
न वस्तुयाथात्म्यविहीनया दृशा
विशङ्कितव्यं शिशुदेशनागणैः॥

अत्रेदं च बोध्यम्—कारणसंस्कारेण कार्यसंस्कारस्त्ववश्यमेव सुतरां भवति कार्यसंस्कारेण पुनर्न कारणसंस्कारः सम्भवति। स्वप्नश्च जाग्रतः कारणमिति तत्राऽकार्ये कृतेऽपि कार्ये जाग्रति फलमवश्यमेव भोक्तव्यतयाऽऽपतति। अत एव स्वप्ने कृतमकार्यं जाग्रत्यपि तुदत्येव। अत्र च प्रत्यहं भोगविषयोऽनुभव एव साक्षी सर्वस्याऽपि लोकस्य।

करने वाले का सम्बन्ध भी त्याग देना चाहिए। राष्ट्रिय सुख की उपेक्षा करके संकुचित और तुच्छ सुख-भोग में निरत रहने वाले विद्वान् निन्दनीय हैं।

अस्वतन्त्रो वसन्तोऽपि राष्ट्रे गृहसुखार्थिनः।
भवन्ति पण्डिता ये ते नूनं रौरवगामिनः॥71॥

जो विद्वान् अस्वतन्त्र (परतन्त्र) राष्ट्र में रहते हुए घर के सुखों की कामना करते हैं तथा अपने को पण्डित समझते हैं, वे निश्चित ही रौरवनरकगामी होते हैं।

अत एवाऽशुभस्वप्नदर्शने तत्प्रतीकाराय जाग्रत्यपि शान्त्यादिकर्म विधीयते महर्षिभिः । अत्रेदं तात्पर्यम्--भोक्ता खल्वेक एवेति तैस्तैर्नानाविधैः कल्पितस्थूलसूक्ष्मतारतम्यभेदवद्भिः शरीरैस्तानि तानि शुभाऽशुभानि कर्माणि कुर्वाणस्तत्तद्भोगान् भुञ्जानस्तत्तत्सुखदुःखसम्बोधेन पूरयति स्वमभिलाषम् । ततश्च स्वप्नेऽप्युच्चारितं नाम पापाय जायत इति समुचितमेव । भवतु । अकार्यकारिणां नामाऽपि पापावहमिति किमु वाच्यं तेषां दर्शनादौ पापं भवतीति । उक्तमप्यन्यत्राऽत एव—

कथाऽपि खलु पापानामलमश्रेयसे यतः ।

एवं च तेषां सम्बन्धो वर्जनीय एवेत्यपि बोध्यमेव । सर्वथाऽपि चतुर्विधवाग्विषयीकृतमपि तेषामकार्यकारिणां नाम पापसम्पादकं भवति । पापं च परिणामे दुःखजनकं भवत्येवेति निश्चितमेव । एतेन अराष्ट्रियं स्वप्रभुं मानयतां समस्तविधानामपि नामग्रहणेनाऽप्यन्यस्य पापबोधनात्तेषामेतत्कार्यमतीव गर्ह्यमिति द्योत्यते । तेनैतत्कर्मणोऽत्यन्तमेव पातित्यजनकत्वमिति द्योतितम् । पातित्यकारणं च निन्दितसेवनम् । तदुक्तं याज्ञवल्क्येन—

विहितस्याऽननुष्ठानान्निन्दितस्य च सेवनात् ।
अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां नरः पतनमृच्छति ।। (या. स्मृ.5/219)

तदयं निर्गलितोऽर्थः— अराष्ट्रियो जात्वप्यार्यैरनार्थैश्च प्रभुत्वेन न स्वीकर्तव्यः । स्वयं च राष्ट्रान्तरे प्रभुत्वं रभसान्न स्थापनीयम् । एतदकार्यं कुर्वतां च सम्बन्धोऽपि परिहरणीय एवेत्यलममुना ।।70।।

एवमराष्ट्रियशासनमतीव गर्ह्यमिति प्रतियोगिविधया चाऽनुयोगिविधया च निरूपितम् । तदङ्गीकरणं, तदङ्गीकुर्वाणानां नामो-

---

इस अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड में यदि मूर्ख लोग अकार्य करें, तो उनके अज्ञान को ही इसमें कारण माना जा सकता है । ज्ञानवान् होने से पण्डित को ऐसा करना शोभा नहीं देता है । समष्टि का सुख-साधन तो पण्डित ही कर सकते हैं अथवा करने में समर्थ हो सकते हैं । यदि वे ही अकार्य करेंगे, तो कार्य का समूल उच्छेद ही हो जायेगा ।

अस्वतन्त्र राष्ट्र निन्दित होता है, यह तो पहले कहा गया है। अत्यन्त निन्दनीय अस्वतन्त्र राष्ट्र में निवास करना ही निन्दनीय है। जो वास्तव में

च्चारणमपि पापावहमिति निरूपितं, तस्य सर्वथा विनाशाय । सम्प्रति पारतन्त्र्यदुःखमनुभवन्तोऽपि पण्डितम्मन्यतया स्वसुखाय राष्ट्रसुखमुपेक्ष्याऽपि सङ्कुचितसुखमेव याचमानानां रौरवनरकगामित्वमाव भवति न पुनः पण्डितप्राप्यस्वर्गाऽपवर्गभोक्तृत्वमिति प्रतिपादयितुमाह—

अस्वतन्त्रे वसन्तोऽपि राष्ट्रे गृहसुखार्थिनः ।
भवन्ति पण्डिता ये ते नूनं रौरवगामिनः ॥71॥

अस्वतन्त्रे इति । ये—पण्डिताः—अस्वतन्त्रे—अपि—राष्ट्रे—वसन्तः—गृहसुखार्थिनः— भवन्ति— ते — नूनं— रौरवगामिनः—भवन्ति । इति पदयोजना ।

'ये'=पुरुषाः पण्डिताः नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धिः पण्डा सा सञ्जाता अस्ति येषां ते पण्डिताः । 'अस्वतन्त्रे'='स्व'=स्वकीयं राष्ट्रचतुर्विधसम्बन्धिनां यथाऽभिलषितं 'तन्त्रं'=सिद्धान्तः शासननियमप्रबन्धव्यवस्थेति भावः यस्मिन् तत् तस्मिन् 'अपि' समुच्चयेऽव्ययम् । गर्हायां वा । तथा चाऽमरसिंहः--

गर्हा समुच्चयप्रश्नशङ्कासम्भावनास्वपि ।

स्वतन्त्रराष्ट्रलक्षणं 'परराष्ट्रस्य सम्बन्धः' (रा 22) इत्यस्याः कारिकाया भाष्याऽवसरे वितत्य प्रदर्शितं भाष्यकृता । गर्ह्यतमेऽपीति तात्पर्यम् । 'राष्ट्रे'=पूर्वोक्तलक्षणे 'वसन्तः'=निवसन्तः 'गृहसुखार्थिनः'—गृहं=गृहिण्यादिवैयक्तिकं कुटुम्बं तस्य सुखं=अनुकूलवेदनीयं भोगादि, अर्थयितुं=याचितुं शीलं येषां ते ताच्छील्ये णिनिः । 'भवन्ति'=सम्पद्यन्ते 'ते'=तादृशाः पुरुषाः 'नूनं'= निश्चयेन 'रौरवगामिनः'=रौरवाऽभिधं नरकं गन्तुं शीलं येषां तादृशा 'भवन्ति' जायन्ते ।

पण्डित हैं, वे परतन्त्र राष्ट्र में निवास रूपी अकार्य नहीं करते हैं । राजहंस ही यदि नीरक्षीरविवेक नहीं करेगा, तो कौन उसे उलाहना नहीं देगा ?

परतन्त्र राष्ट्र में रहना व पण्डित होना ये दोनों बातें स्वभावविरुद्ध है । जिनमें सद् असद् विवेकिनी बुद्धि होती है, वे ही पण्डित कहलाते हैं । परतन्त्र-राष्ट्र में निवास करना पण्डितों के लिए उचित नहीं है, क्योंकि परतन्त्रता चारों पुरुषार्थों का विघटन करने वाली होती है । यदि पण्डित परतन्त्रता के वशीभूत होकर उस राष्ट्र में रहेंगे भी, तो वे उस राष्ट्र को स्वतन्त्र करने का प्रयत्न

अस्या अयमभिप्रायः—जगतीतलेऽस्मिन्निखिले नहि नहि समस्ताऽनन्तकोटिब्रह्माण्डभरिते विश्वस्मिन् प्रपञ्चे मूर्खाश्चेदकार्यं कुर्युस्तदा तेषामज्ञानमेव शरणमिति शोभत एव तत् तेषाम् । पण्डितानां पुनर्ज्ञानवत्तया न शोभते जात्वप्यकार्यकरणमिति तु सर्वजनविदितमेव । समष्टिसुखसाधनं पण्डिता एव कर्तुमर्हन्ति प्रभवन्ति च । त एव चेदकार्यकारिणो भवेयुस्तदा कार्यस्योच्छेद एव समूलस्य स्यात् । अतः पण्डिता मा मैवमकार्यं कुर्युरिति बोधनायाऽस्याः कारिकाया आरम्भः—अस्वतन्त्र इति । अस्वतन्त्रं राष्ट्रमतीव गर्ह्यमिति तु बोधितमेव । अत्रेदं बोध्यम्—तत्तद्राष्ट्रेषु तत्तच्चतुर्विधसम्बन्धिन एव स्वत्ववन्तः अत एव तत्र तत्र तेषामेव शासननियमप्रबन्धव्यवस्थाऽपि स्वत्वादुचिता । यत्र च तथाऽस्ति तत्स्वतन्त्रं राष्ट्रमित्युच्यते । तद्विरुद्धं च परतन्त्रमित्युच्यते । एवं चाऽराष्ट्रियाणां शासननियमप्रबन्धव्यवस्था यत्र वर्तते तस्मिन् राष्ट्रे पूर्वोक्तलक्षणेऽपि । अपिना गर्ह्यतमत्वं द्योत्यते । ये पण्डिताः सन्तो वसन्ति । अत्रेदं बोध्यम्—परतन्त्रराष्ट्रेऽतिगर्ह्यतमे वसनमेवाऽतिनिन्द्यं प्रथममिति व्यज्यते । अथ कारणवशाल्लोभमोहप्रमादादिना वसन्तोऽपि ये पण्डिता भवन्ति । अयमर्थः—ये तावद्वस्तुतः पण्डितास्ते नैवमकार्यं कुर्वन्ति परतन्त्रराष्ट्रे निवसनं नाम । मूर्खा यदि ते तदा सम्भवत्यपि परन्तु ये स्वं पण्डितं मन्यन्ते तेषां नोचितमेतत् । अथ वस्तुतो वा ये पण्डितास्तेषां तु सुतरामेव नोचितमेतत् । राजहंस एव यदि नाम नीरक्षीरविवेकं न कुर्यात् तदा को वोपालम्भनीयः । उक्तमत एव पण्डितराजजगन्नाथेन—

नीरक्षीरविवेके हंसाऽऽलस्यं त्वमेव तनुषे चेत् ।
विश्वस्मिन्नधुनाऽन्यः कुलव्रतं पालयिष्यति कः ।।

(भा. वि. 1/12)

करते रहेंगे । परतन्त्र स्वराष्ट्र में रहने वाले पण्डित यदि गृह-सुख की कामना करते हैं, तो वह रौरव नरक में रहने जैसा है ।

वस्तुतः राष्ट्र के सम्मुख गृह का कोई महत्त्व नहीं है । जो पण्डित राष्ट्रहित की उपेक्षा करके कलत्रपुत्रादि का तुच्छ सुख चाहते हैं, वे रौरव नामक नरक में जाते हैं । कहा भी है । ब्राह्मण का शरीर क्षुद्र कार्यों के लिए नहीं बना है, उसका शरीर कठोर तप करने के लिए तथा परलोक में अनन्त सुख प्राप्त करने के लिए बना है ।

तात्पर्य यह है कि जो परतन्त्र स्वराष्ट्र अथवा परराष्ट्र में अपने लिए

ततश्च परतन्त्रराष्ट्रे निवसनं च पण्डितत्वं च स्वभावविरुद्धमेव। यतः खलु पण्डितास्ते। पण्डा सञ्जाता एषां ते पण्डिताः "तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच्" (पा. सू. 5/2/36)। अत एवाऽन्यत्रोक्तमपि—

पण्डा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।

अथ चेदमप्याकलनीयम्—स्वराष्ट्रं जातु स्वतन्त्रं जातु च परतन्त्रम्। एवमेव राष्ट्रान्तरं स्वतन्त्रं जातु परतन्त्रमपि। तत्र परतन्त्रे राष्ट्रे निवासः पण्डितानां नोचितः पुरुषार्थानां चतुर्णामपि विघटकत्वात्पारतन्त्र्यस्य। पण्डितत्वं च राष्ट्रज्ञानवैचक्षण्यमेव। तदप्येतदग्रन्थपरिशीलनेन सुलभमिति निवेदयिष्यत्यन्ते। पुमर्थसाधकत्वं स्वतन्त्रस्यैव स्वराष्ट्रस्यैवेत्यादि निरूपितं प्रस्तुतभाष्यकृता 'पुमर्थसाधनं" (रा. 6) इत्यस्याः कारिकाया भाष्यावसरे। परतन्त्रराष्ट्रस्य च पुरुषार्थविघटकत्वमपि तत्रैवोक्तम्। इदमप्यत्र बोध्यमेव - चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धि राष्ट्रं यत् तत् स्वमित्युक्तमेव। तच्च परतन्त्रं चेदतीव गर्ह्यम्। अथ यत् स्वत्वप्रयोजकसम्बन्धरहितं स्वस्याऽथापि तत् परतन्त्रं चेत्तदपि गर्ह्यमेव। अयं भावः—यत्र निवासिनां पण्डितानामपि न स्वत्वं न च शासनमथच शासनमपि द्विविधमपि तद्राष्ट्रचतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धिनां नास्ति तदपि परतन्त्रमतीव गर्ह्यम्। तदपि न पण्डितानां निवासयोग्यम्। अथ पारतन्त्र्येण परवशाः सन्ता निवसेयुश्चेत्त तत्स्वतन्त्रीकरणाय प्रयतेरन्। अथ ये स्वराष्ट्रे परतन्त्रेऽपि वसन्तः पण्डिताश्चाऽपि गृहसुखाऽर्थिनां यदि तदा तच्छीलं रौरवनरकवसनमेव शीलयति। अयं भावः—दैवात्स्वराष्ट्रं पारतन्त्र्यमायातं तत्र वसन्ति च स्वत्वाऽधिकारिणः। अथ च पण्डिता अपि ते, परन्तु ते राष्ट्रहितमुपेक्षन्ते यतस्ते गृहसुखार्थिनः। अयमर्थः—'गृहं' राष्ट्रदृष्ट्याऽतिसङ्कुचित वेष्टनम्। गृह वेष्टने, येन हि वेष्टितो भवति

गृह सुख की कामना करते है, वे स्वयं भी रौरव नरक मे जाते हैं तथा दूसरों को भी नरक में डालते हैं।

हम जितनी कामना सुखों को प्राप्त करने की करते हैं, सुख हमसे उतने ही दूर होते जाते हैं। जितना परिच्छिन्नता का अभाव होगा, उतना ही सुख अधिक होगा। रौरव पद केवल रौरव नरक मात्र का बोधक नहीं है, अपि तु अधोगतिमात्र का वाचक है। शासननियमप्रबन्धव्यवस्थापकों के कार्य न करने से राष्ट्र परतन्त्र होता है।

पुरुषस्तद्गृहमित्युच्यते । गृहं गृहिणीत्याहुर्विद्वांसः। वेश्मनो नाम गृहमिति परंतु वस्तुतो न तद्गृहं गृहिण्यपेक्षया । अत एवाऽन्यत्रोक्तम्—

न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते ।
गृहं तु गृहिणीहीनं कान्तारादतिरिच्यते ।।

एवं सासारिकं बलवद्बन्धनं गृहिण्येव । अत एव गृहशब्दः कोशेऽपि दारपरत्वेन व्याख्यातः । तथा चाहामरसिंहः—"दारेषु च गृहाः" एतच्च परिमितं सङ्कुचितमिति तस्य सुखं ये स्वभावेनाऽर्थयन्ते ते निश्चयेनैव रौरवनरकगामिनो भवन्ति । अयं भावः—राष्ट्रहितैकायत्तत्वाद् गृहसुखस्य राष्ट्रहितमुपेक्ष्यैव तत्स्वातन्त्र्यमनवाप्यैव ये कलत्रपुत्रादि तुच्छं सुखमर्थयन्ते, ते पण्डिता अपि रौरवनरके स्वभावेनैव गच्छन्ति । अत एवाऽन्यत्रोक्तमपि —

ब्राह्मणस्य च देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते ।
कृच्छ्राय तपसे चैव प्रेत्याऽऽनन्त्यसुखाय च ।।

अत्रेदं च बोध्यम् । ये स्वार्थं गृहसुखमर्थयन्ते परार्थं चार्थयन्ते गृहसुखं परतन्त्रे स्वराष्ट्रे परराष्ट्रे वा गर्ह्यतमे ते स्वयमपि रौरवं गच्छन्ति परानपि गमयन्ति रौरवम् । दुःखनाशाय किल सुखमर्थनीयम् । तत्राऽपि पारिणामिकदुःखनाशाय यतमानाः पण्डिता भवन्ति । अत एवोक्तं "पण्डिताः समदर्शिनः" श्रीगीतासु । यावत्येव परिच्छिन्नताऽधिका तावत्येव सुखाशाऽपि दूरापास्ता भवति । एतदभिप्रायेणेव दुःखविनाशाय व्यापकवेष्टनाङ्गीकारः प्रतिपादितोऽन्यत्र । तथा हि—

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।
तदैव सर्वलोकानां दुःखस्यान्तो भविष्यति ।।

स्वतन्त्रराष्ट्र में जो राष्ट्र की अपेक्षा करके गृहसुख की कामना करते हैं, वे भी निन्दा के योग्य हैं । पण्डित यदि ऐसा करते हैं, तो अतिकष्टकर है । यह निन्दनीय भी है और दण्डनीय भी । पण्डित ही पारिणामिक हिताहित विवेकी होते हैं । अतः वे व्यापक सुख की अभिलाषा करते हैं । तुच्छ सुख की कामना नहीं करते हैं ।

अन्य राष्ट्रों को परतन्त्र बनाकर वहां रहने वाले, गृहसुख की कामना करने वाले पुरुष निश्चित ही रौरव आदि नरकों में जाते हैं ।

अयं भावः–यावदेव परिच्छिन्नताया विनाशस्तावदेव सुखाधिक्यं परिणामे च हिताधिक्यमपि । एवमस्वतन्त्रराष्ट्रस्याऽतिगर्हिततया तत्र निवसन्तोऽपि स्वयं पण्डिता अपि भूत्वा गृहसुखसदृशमतितुच्छं सुखमर्थयन्ते तेषां रौरवगामित्वमन्तरेण किं प्राप्यम् । रौरवगामित्वमेवोचितमिति भावः । एवमपि व्याख्येयेयं कारिका—ये रौरवगामिनः खलु भवन्ति ते अस्वतन्त्रेऽपि राष्ट्रे वसन्तो गृहसुखार्थिनो भवन्ति । अयं भावः—रौरवं=रौरवनामकं नरकं गन्तुं शीलं येषां ते । अत्रेदं बोध्यम्—रौरवपदमत्रत्यं न केवल रौरवमात्रपरम् । किन्त्वधोगतिमात्रोपलक्षणम् । अस्वतन्त्रत्वं किल शासननियमप्रबन्धव्यवस्थापकानामकार्यकरणेन भवति । अत एवाऽन्यत्रोक्तमपि "राजा कालस्य कारणम्" इति । ततश्च ये पण्डिता अपि भूत्वा तुच्छसुख प्राथयन्ते तादृशा भवन्ति । वारं वारं निरयगमनमेव येषां स्वभावेनाऽभीष्टं त एव पण्डिता अपि भूत्वैतादृशमकार्यं कुर्वते । कामः किल विशुद्धो वाऽप्यशुद्धो वा धनैकायत्तः । तत्र विशुद्धः काम आशंसारूपाधर्म्यप्रकारेण समर्जितेन धनेन सिद्ध्यति । अशुद्धश्च कामो बुभुक्षारूपोऽधर्म्येणापि प्रकारेण समर्जितेन धनेन सिद्ध्यति । बुभुक्षा न कदाऽपि शाम्यतीति त्वन्यत् । लुब्धेभ्य उच्छास्त्रवर्तिभ्यश्च यो धनाऽऽगमः स नाऽधर्म्य इति तेनाऽपि धनेनाऽनर्थभूतेन ये साधयन्ति गृहसुखं ते न केवलं रौरवगामिन एवाऽपितु नरकानेकविंशतिमपि यान्ति ते । पण्डितानां ज्ञानसम्पन्नानामकार्यतत्पराणामेवंविध एव गुरुदण्डो योग्य इति द्योत्यते । अराष्ट्रियाः खलु लुब्धा उच्छास्त्रवर्तिन एव भवन्ति । तेभ्योऽपि ये गृहसुखार्थिनस्तेऽपि पापतमा एव । अयं भावः—अस्वतन्त्रे राष्ट्रे तद्राष्ट्रचतुर्विधसम्बन्धिनः परतन्त्रा एव भवन्ति ते चेद्गृहसुखार्थिन भवन्ति तदाऽवश्यमेव शासननियमप्रबन्धकारिणामनार्याणामराष्ट्रियाणां सम्मत्यैव, तेषां च पापित्वात्तेभ्य प्रतिग्रहीतार इमेऽप्यति-

---

जो पण्डित यह सोचते हैं कि ये अराष्ट्रिय हमें वृत्ति प्रदान कर रहे हैं, वे अपण्डित हैं । यहां उनकी मूर्खता का निरूपण किया जा रहा है—

अराष्ट्रियाः प्रयच्छन्ति वृत्तिं न इति मन्वते ।
ये स्वराष्ट्रे वर्तमाना मूढास्ते पण्डिता न हि ॥72॥

जो अपने राष्ट्र में रहने वाले (पण्डित) यह मानते हैं कि अराष्ट्रिय लोग हमें वृत्ति प्रदान कर रहे हैं, वे निश्चय ही मूर्ख हैं, पण्डित नहीं हैं ।

पापिनः । अथ त एव गृहसुखार्थिनो यदि पण्डिता अपि तदा तु वारं वारं नरकगामिस्वभावास्ते भवन्ति । ज्ञात्वा कुर्वाणानां सर्वत्राऽपि दण्डाऽधिक्यबोधनात् । अत एव मनुरप्याह—

न राज्ञः प्रतिगृह्णीयादराजन्यप्रसूतितः ।
सूनाचक्रध्वजवतां वेशेनैव च जीवताम् ।। (म. 4-84)
दशसूनासमं चक्रं दशचक्रसमो ध्वजः ।
दशध्वजसमो वेशो दशवेशसमो नृपः ।। (4-85)
दशसूनासहस्राणि यो वाहयति सौनिकः ।
तेन तुल्यः स्मृतो राजा घोरस्तस्य प्रतिग्रहः ।। (4-86)
यो राज्ञः प्रतिगृह्णाति लुब्धस्योच्छास्त्रवर्तिनः ।
स पर्यायेण यातीमान्नरकानेकविंशतिम् ।। (4-87)

एभिर्मनुवाक्यैः 'अराजन्यप्रसूतितः' इत्यनेन स्फुटमेवाऽराष्ट्रियेभ्यो धनपरिग्रहो घोरनरकगामित्वहेतुत्वेन प्रदर्शितः । राजन्यप्रसूतिः स्वत्वाऽऽर्यतया न कदाऽपि परराष्ट्रं स्वप्रभुं मानयति रभसादनार्यविधया । अथ च स्वराष्ट्रेऽपि नोच्छास्त्रवर्ती लुब्धश्च भवति । तादृशो भवंश्च विनश्यत्यपि । अथ रौरव इति नरक इति समस्तनरकोपलक्षणमित्युक्तमेव । तत्रैकविंशतिनरका एते दर्शिता यथा—

तामिस्रमन्धतामिस्रं महारौरवरौरवौ ।
नरकं कालसूत्रं च महानरकमेव च ।। (4-88)
सञ्जीवनं महावीचिं तपनं सम्प्रतापनम् ।
संहातं च सकाकोलं कुड्मलं प्रतिमूर्त्तिकम् ।। (4-89)
लोहशङ्कुं मृजीषं च पन्थानं शाल्मलीं नदीम् ।।
असिपत्रवनं चैव लोहदारकमेव च ।। (4-90)

एतत्सर्वमप्यवगत्यास्वतन्त्रे राष्ट्रे वसन्तोऽपि गृहसुखार्थिनः पण्डिता न जातु भवेयुः । अत्र गृहसुखार्थिन इति पदमेवं व्याख्येयम्—

उन-उन वस्तुओं के आधार को आंकलन करने में समर्थ मेधावी व्यक्ति पण्डित कहलाते हैं । पहली कारिका में कहा था कि स्वतन्त्र राष्ट्र में रहने वाले गृहसुखार्थी पण्डित नरकगामी होते हैं । इससे यह ध्वनित होता है कि अस्वतन्त्र राष्ट्र को स्वतन्त्र करना भी पण्डितों का कर्त्तव्य है । परन्तु जो परतन्त्र राष्ट्र के शासक हैं, यदि वृत्तिदाता हैं, तो राष्ट्र या राष्ट्रियों का उनसे विरोध कैसे किया जाये ?

गृहसुखं=स्त्रीसुखम् एतच्च सुखमिति पदेन परिणामिकहिताऽजनकमिति ध्वन्यते। ते न चैतस्याऽशुद्धकामत्वं बुभुक्षावत्वं च व्यज्यते। एतत्साधनं चार्याऽधीनमित्यर्थः=धनं च तौ स्तः निन्द्यौ येषां ते गृहसुखार्थिनः। निन्दारूपे मत्वर्थे "अत इनिठनौ" (पा. सू. 5/2/115) इत्यनेनिप्रत्ययः। अयमर्थः—स्वतन्त्रेऽपि राष्ट्रे ये राष्ट्रमुपेक्ष्य गृहसुखार्थिनो भवन्ति, तेऽपि निन्द्या भवन्ति, अस्वतन्त्रे पुनर्गर्ह्यतमेऽपि राष्ट्रे ये गृहसुखार्थिनस्तेऽत्वतीव निन्द्या इति किमु वक्तव्यम्। अत्रेदं बोध्यम्—अस्वतन्त्रे राष्ट्रे गृहसुखार्थप्राप्तिर्निन्द्यतमेभ्योऽराष्ट्रियेभ्य एव सति सम्भवे वाच्या सा चाऽतिनिन्द्या तामपि पुनः स्वीकुर्वाणाः पण्डिताश्चेद्भवेयुस्तदाऽतिकष्टमिति गर्ह्यतमत्वमतिदण्डभाजनत्व च द्योत्यतेऽपिशब्देन वसन्त इत्यनेन च निन्दाया अकार्यकारितायाश्च पराकाष्ठा ध्वन्यते तादृशां पण्डितानाम्।

अत एव मनुरपि पण्डितानां पण्डितब्रुवाणानां चाऽराष्ट्रियेभ्यः प्रतिग्रहं निवारयति—

> एतद्विदन्तो विद्वांसो ब्राह्मणा ब्रह्मवादिनः।
> न राज्ञः प्रतिगृह्णन्ति प्रेत्य श्रेयोऽभिकाङ्क्षिणः॥
>
> (मनु. 4/91)

अत्रेदं च बोध्यम्—अस्वतन्त्रे राष्ट्रे वसन्तोऽपि शासका भूत्वाऽपि चतुर्विधसम्बन्धरहिते राष्ट्रे गृहसुखाऽर्थिनः कामार्थलोलुपा इति भावः। अथ च आत्मानं पण्डिता इति ख्यापयन्ति, तेऽपि शासननियमप्रबन्धकारिणोऽपि रौरवगामिन एव। यतस्तेऽर्थकामलोलुपा अतश्च बुभुक्षावन्तः। बुभुक्षावन्तश्च तद्वशंगता नानाविधाननर्थान् विदधधाना नानाविधान् नरकान् वारं वारं गच्छन्ति। अथ च ये स्वयमस्वतन्त्रे राष्ट्रे वसन्तोऽपि गृहसुखमर्थयन्ते ते स्वयमपि रौरवनरकं वारं

इस विषय में भाव यह है कि वृत्ति प्रदान करने वाले के प्रति विरोध प्रकट करना कृतघ्नता ही होगी, आर्य ऐसा कार्य नहीं करते हैं। महर्षियों के मतानुसार तो राजा "सर्वदेवमय किंवा भगवान् विष्णु ही होता है।" अतः राजा से शत्रुता नहीं करनी चाहिए। इस प्रकार के कार्य के करने से सबसे अधिक पाप लगता है, यह कथन भी युक्तियुक्त नहीं है।

अराष्ट्रिय-शासकों का भी विरोध नहीं करना चाहिए, क्योंकि उनके अनुग्रह से ही जीविका प्राप्त होती है—ऐसा मानने वाले, जिन्हें पण्डित होने

वारं गच्छन्ति, तानपि रौरवं गमयन्ति । एतच्च प्रयोजकणिचमाश्रित्य पदद्वयेऽपि व्याख्यातुं शक्यते । पण्डिताः खलु पारिणामिकाहिताऽहित-विवेकिनो भवन्ति । अत एव ते व्यापकसुखमभिलषन्ति स्वार्थं परार्थ-मपि । अत एवाऽन्येभ्योऽपि नाऽर्थयन्ते तुच्छसुखम् । तुच्छसुखमर्थयन्तो दृष्ट्या चोपर्युपर्येव रोषमपि प्रकटयन्ति समस्तकल्याणायेत्यपि ध्वनि-तम् । अत एव पण्डितराजो जगन्नाथोऽप्येतादृशमेवं वर्णनमाह—

उपरि करवालधाराःक्रूरा भुजङ्गमपुङ्गवाः ।
अन्तः साक्षाद् द्राक्षादीक्षागुरवो जयन्ति केऽपि जनाः ।।
(भा. वि. 1/13)

एवं च राष्ट्रान्तरं परतन्त्रीकृत्य तत्र वसतां गृहसुखार्थिनामपि रौरवादिनरकगामित्वमस्तीति द्योत्यते । एवमेव स्वयं परतन्त्रे स्वराष्ट्रे परराष्ट्रे वसतां गृहसुखार्थिनामपि रौरवगामित्वम् । तत्र पण्डितानां पुनस्तादृशां वारं वारं नरकगमनं द्योत्यते । इति सारः । नरकलक्षणानि सविस्तरं मार्कण्डेयपुराणे निर्णीतानि तानि च तत्रैवाऽवलोक्यानि । अन्यद्वक्तव्यमग्रे यथावसरं विवेचयिष्यत इत्यलम् ।।71।।

एवं परतन्त्रराष्ट्रे वसतां पण्डितानां गृहसुखार्थिनां रौरवगामित्व-मुक्तम् । अथ परतन्त्रे ऽपि स्वराष्ट्रे वर्त्तमानानामराष्ट्रिया वृत्तिमस्मभ्यं प्रयच्छन्तीति मन्यमानानां पण्डितानां मूढत्वं प्रतिपादयन्नाह—

अराष्ट्रियाः प्रयच्छन्ति वृत्तिं न इति मन्वते ।
ये स्वराष्ट्रे बर्तमाना मूढास्ते पण्डिता न हि ।।72।।

अराष्ट्रिया इति । ये—स्वराष्ट्रे—वर्तमानाः—नः—अराष्ट्रियाः वृत्तिं प्रयच्छन्ति—इति—मन्वते—ते— मूढाः—पण्डिताः—न—हि । इति पदयोजनिका ।

'ये'=वर्ण्यमानाः पुरुषाः 'स्वराष्ट्रे'=स्वं=निजं चतुर्विधस-म्बन्धेन सम्बन्धित्वात् 'राष्ट्रे'=पूर्वलक्षणलक्षितं तस्मिन् 'वर्त्तमाना'=

का आभास मात्र है, इनकी मूर्खता को बतलाने के लिए इस कारिका का आरम्भ किया जा रहा है । जो पुरुष जहां भोजन, वस्त्र आदि वृत्ति को प्राप्त करते हैं उनके लिए 'वर्तमानाः' पद का प्रयोग किया गया है । वर्तमानत्व का तात्पर्य है 'जीवनशीलत्व' और जीवन अनेक प्रकार की अन्न सामग्री से होता है ।

अन्न सम्पूर्ण राष्ट्र में उत्पन्न होता हैं । अतः जो जिस राष्ट्र में रहते हैं, उस राष्ट्र का अन्न ही उनका जीवन है । जीवन के लिए ही मनुष्य उन-उन

वर्तन्ते=जीवन्ति ते वर्तमानाः वृतु वर्तने ततो लट् तस्य शानच् "लटः शतृशानचावप्रथमासमानाऽधिकरणे" (पा. सू. 3/2/124) अथ वा "लक्षणहेत्वोः क्रियायाः" (पा. सू. 3/2/126) इत्यनेन शानच् । "आने मुक्" (पा. सू 7/2/82) इति मुक् । 'लट्' इत्यनुवर्तमाने पुनर्लङ् ग्रहणेन ज्ञाप्यते इदं यत् प्रथमाऽसामानाऽधिकरण्येऽपि क्वचिद्भवतीति । अथ वा ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश्" (पा. सू. 3/2/129) इत्यनेन ताच्छील्ये चानश् वा 'नः'=अस्मभ्यम् "बहुवचनस्य वस्नसौ" (पा सू. 8/1/21) इति नसादेशः । 'चतुर्थी सम्प्रदाने" (पा. सू 2/3/13) इति चतुर्थी 'अराष्ट्रियाः'=राष्ट्रस्य चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धिभिन्नाः "वृत्ति"=जीविकां "प्रयच्छन्ति"=प्रददते 'इति'=एवं प्रकारेण अत्र इतिना कर्मण उक्तत्वात् न कर्मणि "कर्मणि द्वितीया" (पा सू 2/3/2) इति द्वितीया 'अनभिहिते' (पा सू 2/3/1) इत्यधिकारात् । अत एव 'क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः" (शि. 1) अत्र माघप्रयोगे नारदः इति प्रथमा 'मन्वते'=मन्यन्ते 'ते'=तथाविधाः पुरुषाः 'मूढाः'=मूर्खाः तथाचाऽमरः—

अज्ञे मूढयथाजातमूर्खवैधेयबालिशाः ।

सन्तीति शेषः । 'पण्डिताः'=तत्तद्वस्तुयाथात्म्याऽऽकलनसमर्थमेधावन्तः 'न' सन्तीति शेषः 'हि' निश्चयेऽव्ययमेतत् 'हि हेतावधारणे" (अम. 3/4/257) इत्यमरः ।

अत्रेदमाकूतम्—पूर्वस्यां कारिकायां स्वतन्त्रे राष्ट्रे वसतामपि गृहसुखार्थिनां नरकगामित्वमुक्तम् । तेन चाऽस्वतन्त्रस्य राष्ट्रस्य स्वतन्त्रीकरणमेव पण्डितानां विधेयमित्यपि बोधितमेव, परन्तु ये ह्यस्वतन्त्रस्य राष्ट्रस्य शासकाः, ते चेद्वृत्तिप्रदास्तद्राष्ट्रस्य राष्ट्रियाणां तदा कथं तैर्विरोधः कर्तव्यः ? अयं भावः—वृत्तिप्रदैर्विरोधकरणं नाम कृतघ्नत्वमेव तच्च नाऽऽर्यजुष्टं कर्म । अत एव "कृतघ्ने नाऽस्ति

राष्ट्रों में रहता है, जिस राष्ट्र में पूर्वोक्त चतुर्विध सम्बन्ध रहता है, वहां के निवासियों का उस राष्ट्र में स्वत्व होता है, अन्यत्र नहीं । अतः अपने-अपने राष्ट्र में सभी का स्वत्व होता है, अतः शासकत्व और शास्यत्व अपने ही राष्ट्र में न्याय्य होता है । पहले तो इस पर विचार किया जाना चाहिए कि राजा का राजत्व (राजभाव) कहां मान्य है ? और कहां अमान्य है ? इसका उत्तर महर्षियों ने दिया है कि राजा का राजत्व स्वराष्ट्र में मान्य हैं, परराष्ट्र में

निष्कृतिः" इति महर्षीणां निर्णयः । निष्कृत्यभावबोधनं चाऽतिगुरु-पापबोधनाय । अत एवाऽन्यत्रोक्तमपि—

मित्रद्रोही कृतघ्नश्च तथा विश्वासघातकः ।
त्रयस्ते नरकं यान्ति यावच्चन्द्रदिवाकरौ ।।

किं च "नाऽविष्णुः पृथिवीपतिः" इति महर्षिवचनाऽनुसारेण पृथिवीपतिर्हि भगवान् विष्णुरेव भवतीत्यवगम्यते । अत एव तस्य न शत्रुत्वं कार्यमित्यपि व्यज्यत एव । तदेतादृशाऽकार्यकरणेन सर्वतोऽप्यधिकं पापमुत्पद्येतेति न सङ्घटते प्रतिपादनमराष्ट्रियाणामपि राजत्वे-नाऽभिमतानां विरोधनम् । राजा हि नाम सर्वदेवमय उक्त सर्वैरपि महर्षिभिः पूर्वभवैः । स बालोऽपि वा यथा वा तथा वा मान्य एव । तथाहि मनुराह –

इन्द्राऽनिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च ।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ।। (मनु. 7/4)
यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः ।
तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा ।। (मनु 7/5)
तपत्यादित्यवच्चैष चक्षूंषि च मनांसि च ।
न चैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम् ।। (मनु. 7/6)
सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट् ।।
स कुबेरः स वरुणः स महेन्द्र प्रभावतः ।। (मनु. 7/7)
बालोऽपि नाऽवमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः ।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ।। (मनु 7/8)

तस्माच्छासकानामराष्ट्रियत्वेऽपि तद्विरोधो नैवार्यः कार्य इति भाति । तेषामेवाऽनुग्रहेण जीविकाप्राप्तेः । एवं मन्यमानानां पण्डिताऽभा-समात्राणां मूर्खत्वं द्योतयितुमस्याः कारिकाया आरम्भः । ये किल पुरुषा यत्र भोजनाच्छादनादिकां वृत्तिं लभन्ते, तत्र ते वर्त्तमाना इत्युच्यन्ते । अयं भावः वर्त्तमानत्वं नाम जीवनशीलत्वं जीवनं च नानाविधा-

---

अमान्य है। आर्य राज्यवादियों के मत में ब्रह्म और क्षत्र को ही शासन का अधिकार है, क्योंकि ये नियम और शास्त्रों का उल्लंघन नही करते। फलतः समस्त राष्ट्र का कल्याण होता है। जो राजा अन्याय परायण हैं, उन्हें राज्य करने का कोई अधिकार नहीं है। अन्याय करने वालों का विनाश भी निश्चित ही हैं।

न्नसामग्र्या भवति । अन्नं च सर्वमपि राष्ट्रे समुत्पद्यते ततश्च ये यस्मिन् राष्ट्रे वर्तन्ते तज्जीवनं तेषामित्युच्यते । जीवनायैव हि मनुष्यस्तत्र तत्र राष्ट्रे निवसति । तत्राऽपि यत्र राष्ट्रे पूर्वोक्तश्चतुर्विधसम्बन्धो येषां विद्यते तद्राष्ट्रमेव तेषां स्वं भवति नान्यदित्यपि पूर्वमुपपादितमेव । अथ च स्वे राष्ट्र एव सर्वेषां स्वत्व भवतीति शासकत्वं शास्यत्वं च स्वराष्ट्रस्यैव स्वराष्ट्र एव च न्याय्यमित्यप्युक्तमेव । ततश्च परराष्ट्रस्य शासकत्वमेव नामाऽनार्यजुष्टं कर्मेत्यकार्यमेव तत् । राजा चाऽकार्य कर्त्ता चेति विरुद्धम् । अयं भावः—प्रथमस्तावदिदमालोचनीयं यत् राजा क्व वा राजत्वेन मान्यः क्व चाऽमान्य इति । तत्र न्याय्यदशा महर्षिभिर्निरूपितया पर्यालोचनायामिदमेव । सुतरां निष्पद्यते यत् स्वराष्ट्र एव मान्यः परराष्ट्रे चाऽमान्य एवेति । हठात् परस्वादायिना-माततायित्वं न राजत्वमिति त्वग्रे वक्ष्यते । किं च राष्ट्रे तावत् समान-सस्कृतिमतां सर्वेषामपि साम्येन स्वत्वात् न वैषम्येण प्रभुत्वं योग्य-मित्यार्यराष्ट्रवादिनामाचार्याणां निर्णयः । आर्यराज्यवादिनां च मतवैषम्येण कस्य राज्ञः प्रभुत्वेऽपि नियमविधायकत्वाऽभावात् शास्त्रानुल्लङ्घ्यत्वप्रतिपादनाच्च राज्ञः प्रभुत्वेऽपि समस्तराष्ट्रकल्याणमेव भवति । अत एव ब्रह्मक्षत्रस्यैव शासनाऽधिकार आर्यराज्यवादिनां मतेऽपि । अत एव मनुरप्याह—

ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधि ।
सर्वस्याऽस्य यथान्यायं कर्त्तव्यं परिरक्षणम् ।। (मनु. 7/2)
अराजके हि लोकेऽस्मिन्सर्वतो विद्रुते भयात् ।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः (मनु 7/3)

एवं च आर्यराज्यवादिनामपि मते यथार्थन्यायपरायणस्यैव राज्ञोऽद्वेष्यत्वं राजत्वं चोक्तम् । अन्यायपरायणस्य च न राजत्वेन मान्यत्वमद्वेष्यत्वं वोक्तम् । अन्यायपराणां च विनाशनमप्युक्तम् । अयं

धर्म के संरक्षण के लिए ही राजपद की स्थापना की गई है । धर्मस्थापन के लिए ही अनेक नियम बनाये जाते हैं तथा दण्ड का स्वरूप निर्धारण किया जाता है । शासन तो न्याय से ही किया जाना चाहिए, अन्याय से नहीं ।

जो स्वतन्त्र अथवा परतन्त्र रूप में स्वराष्ट्र में निवास करते हैं, वे स्वराष्ट्र में ही वर्तमान कहलाते हैं । जिस राष्ट्र में शासक अराष्ट्रिय हों, उन शासकों के राष्ट्र में जो निवास करते हैं, उनकी भी वृत्ति शासकों से प्राप्त नहीं होती,

भावः—धर्मसंरक्षणायैव हि राजपदं स्थिरीकृतम् । ततश्च धर्मसंरक्षाया एव नानाविधरूपकरणं दण्डप्रणयनं च विहितम् । नानारूपकरणं यथाऽऽह मनुः—

कार्यं सोऽवेक्ष्य शक्तिं च देशकालौ च तत्त्वतः ।।
कुरुते धर्मसिद्ध्यर्थं विश्वरूपं पुनः पुनः ।। (मनु 7/10)

स्वराष्ट्रे एवं चैतत्सम्भवति । राष्ट्रान्तरे च हठाच्छासनग्रहणमन्याय्यमेव । शासनं च न्याय्येनैव पथा कार्यमन्यथा सः सर्वथा तेनैवान्यायेन नश्यति । यथाऽऽह मनुः—

तं राजा प्रणयन् सम्यक् त्रिवर्गेणाऽभिवर्धते ।
कामात्मा विषमः क्षुद्रो दण्डेनैव निहन्यते ।। (मनु. 7/27)

किं बहुना वक्तव्येन सर्वथाऽपि राज्ञः सम्मान्यत्वं राष्ट्रियस्यैव नाराष्ट्रियस्येति मन्वादीनां महर्षीणां निर्विचिकित्सः सिद्धान्तः । तस्यैवार्यत्वसम्भवात् । अराष्ट्रियस्य पुनरार्यत्वमेव न सम्भवतीति तस्य विनाश एव युक्तः । एतत्सर्वमभिप्रेत्यैवेयं कारिका प्रणीता । विस्तृतं चैतद्विषये मन्वादिस्मृतिष्वेवाऽवलोकनीयम् । एवं च ये खलु स्वराष्ट्र एव परतन्त्रे वा स्वतन्त्रे वा वसन्ति ते स्वराष्ट्र एव वर्त्तमाना भवन्ति । अत्रेदं बोध्यम्—यस्मिन् राष्ट्रे शासका अराष्ट्रियाः, तेषां शासकानामपि राष्ट्रे ये वसन्ति तेषामपि वृत्तिलाभो न शासकेभ्यः; किन्तु परतन्त्रादपि स्वराष्ट्रादेव भवति । यतः खलु तिलेभ्य एव तैलं निष्कास्यते न सिकताभ्यस्तैललाभः । अनार्याः खलु बुभुक्षयैवाऽन्यराष्ट्रेषु शासका भवन्ति भवितुमिच्छन्ति च । ततश्च ये स्वयमेव बुभुक्षिताः स्वामपि बुभुक्षां शमयितुं न पारयन्ति तेऽन्येभ्यो वृत्तिं कुतो वितरेयुः । बुभुक्षा हि नाम न कदाऽपि प्रतिपद्यते शान्तिम् । प्रतिपद्यतेऽपि समस्तभोगजातं भुक्त्वा सह भोक्त्रा भोगाऽलाभात् तृणाग्निरिव । यावत्पर्यन्तं भोगलाभसम्भावना भवति न तावत्पर्यन्तं शाम्यति बुभुक्षा । उक्तमेवैतद्विषये पूर्वमेव । अराष्ट्रियाश्च बुभुक्षिता एव भवन्ति शासकाः । तदेवं

किन्तु अपने परतन्त्र राष्ट्र से ही होती है, क्योंकि तेल तिलों से ही निकलता है, न कि सिकता से । अनार्य बुभुक्षा के कारण से ही अन्यों पर शासन करते हैं । जो स्वयं बुभुक्षित हैं, अपनी भी बुभुक्षा को शान्त नहीं कर पाते हैं, वे अन्यों को वृत्ति कहां से प्रदान करेंगे ? बुभुक्षा से मनुष्य कभी भी शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता हैं ।

स्वराष्ट्रशासकानां राष्ट्रे वा परतन्त्रेऽपि स्वराष्ट्रे वा वृत्तिलाभस्तु स्वराष्ट्रादेव भवतीति विदुषां निर्णयः। अथ स्वतन्त्रे स्वराष्ट्रे निवसतां तु स्वराष्ट्रादेव वृत्तिलाभ इति किमु वक्तव्यम्। तस्य तु निर्विवादत्वमेव। किं च शासकानामराष्ट्रियाणामपि वृत्तिलाभः शास्यराष्ट्रात् परं तु तदेव शास्यं राष्ट्रमराष्ट्रियाणामस्वमित्येव बुभुक्षया भुज्यतेऽराष्ट्रियै रत एव प्रस्तुतभाष्यकृता अनार्या एव भवन्तीति ते वृत्तिं नः प्रयच्छन्तीति मन्यमानानां पण्डितानां मपि मढत्वं प्रतिपाद्यते। अत एव पूर्वस्यां कारिकायां परतन्त्रे राष्ट्रे निवसतां गृहसुखार्थिनां पण्डितानां रौरवगा- मित्वं प्रतिपादितं सङ्गच्छते। अत एव च अराष्ट्रियं मानयन्ति (रा.70) इत्यत्र पतिपादितं, अराष्ट्रियं स्वप्रभुं मानयतां नामोच्चारणमपि पाप- सम्पादकमिति साध्वेव। वृत्तिः किल न कोऽपि कस्मा अपि प्रयच्छति स्वराष्ट्र इति पूर्वमेवोपपादितं प्रस्तुतभाष्यकृता। वृत्तेः खलु स्वाभा- विकत्वाद्राष्ट्रियमात्रस्य स्वराष्ट्रे। स्वराष्ट्रे वृत्तेर्व्यवस्था विधीयते शासननियमप्रबन्धकर्तृभिरार्यैः। राष्ट्रान्तरे तु वृत्तिदानप्रतिग्रहौ सम्भवतः। किन्तु तदपि वृत्तिप्रतिग्राहि शासकानामराष्ट्रियाणां राष्ट्रे नैवेति प्रतिपादितमेव पूर्वम्। प्रतिग्राहिशासकेतरशासकानां राष्ट्रेषु तु सम्भवति शासका अराष्ट्रिया वृत्तिं नः प्रयच्छन्तीति सम्भावनमपि। स्वराष्ट्रे पुनर्वर्तमाना अराष्ट्रियाः प्रयच्छन्ति वृत्तिं नः शासकत्वमा- त्रेणेति ये मन्वते पण्डिताश्च भवन्ति ते निश्चयेन मूढा एव न पण्डिताः पण्डितलक्षणाऽभावात्। पण्डितानां खलु लक्षणं "समदर्शि- त्वम्"। तच्च नास्त्येवैवं मन्वानानाम्। एवं च ये राजत्वमात्रेण तद्विरोधकरणं गर्ह्यमिति कृतघ्नत्वमिति गुरुतमपापमिति प्रतिपादयन्ति तेऽपि मूर्खा एवं न पण्डिताः। अत एव महर्षिभिः सर्वत्राऽनार्याणा- मराजत्वमेव प्रतिपादितं सङ्गच्छते। किं चेऽदपि समालोचनीयं यत्— महर्षिभिः सर्वैरप्यनार्याणां शासनप्रबन्धकत्वमपि निषिद्धम्। तेभ्यः प्रतिग्रहोऽपि निषिद्धः। न केवलमेतदेवाऽपि तु 'अराजन्यप्रसूतितः' प्रतिग्राहिणां समस्तनरकगामित्वमभिहितम्। इदं चाऽवलोकनीयम्—

जब तक भोगप्राप्ति की सम्भावना रहती है, तब तक भूख शान्त नहीं होती है। वृत्ति की व्यवस्था शासन के नियम व प्रबन्ध करने वाले राष्ट्रिय लोग (जो अनार्य ही होते हैं) हमें वृत्ति प्रदान कर रहे हैं, वे वास्तव में मूर्ख ही हैं, क्योंकि उनमें पण्डित के लक्षण नहीं हैं।

आर्यराज्यवादिनामपि नियमविधायकत्वं नोक्तम्। आर्यराष्ट्रवादिनामेव नियमविधायकत्वमुक्तम्। सर्वमपि मन्वादिधर्मशास्त्रेषु स्पष्टम्। अत एव य आर्यराष्ट्रवादिनो राष्ट्रज्ञानविचक्षणास्त एव वस्तुतः पण्डिताः। तेषां मते च वृत्तिः स्वाभाविकी स्वराष्ट्रे च न दानप्रतिग्रहयोग्ये-त्यादि सर्वमपि 'भृतिरन्या" (रा. 49) इत्यस्याः कारिकाया भाष्याऽव-सरे निरूपितमेव प्रस्तुतभाष्यकृता। किं चाऽराष्ट्रियाणां त वत्स्वत्वमेव नास्ति, ततश्च स्वत्वाऽभावाद्दाने कथमधिकारः स्यात्तेषाम्। ये पुनरे-तदपि न विचारयन्ति ते पण्डिताः कथमिव भवेयुः। लक्षणं त्वेतन्मूढानां विद्यते। अयमर्थः - येषामेव यत्र पूर्णं स्वत्वं तेषामेव प्रदानविक्रयपरि-त्यागादिष्वधिकारो न्याय्यः, येषां च न स्वत्वं तेषामधिकार एव नाऽस्ति। अत एव रभसादन्यस्वदानादिकरणे दातुर्दण्डो विधीयते प्रतिग्रहीतुश्च न स्वत्वमुत्पद्यते। यथाह नारदः—

गृह्णात्यदत्तं यो लोभाद्यश्चादेयं प्रयच्छति।
अदेयदापको दण्ड्यस्तथादत्तप्रतीच्छकः॥

सर्वमप्येतन्मिताक्षरा— मयूख— वीरमित्रोदयादिषु स्पष्टम्। इदं च बोध्यम् - बहुस्वामिकं वस्तु किल नैकेनाऽन्यतमेन दातुं विक्रेतुं त्यक्तुं वा शक्यते। तत्र तस्याऽनधिकारात्। किं च आर्यराष्ट्रवादिनां मते सर्वेषामपि राष्ट्रियाणां साम्येनाऽधिकारात् नैकस्य यस्य कस्या-ऽप्यन्यतमस्य प्रदानाधिकारः। आर्यराज्यवादिमते तु किंचिद्वैषम्येऽपि शासकस्य प्रभुत्वेऽपि मन्त्रिमण्डलाऽननुमतौ नाऽधिकारो राष्ट्रस्य प्रदानादौ। किं च तेषां मतेऽपि राज्ञो नियमविधायकत्वं नास्ति, तत्तु विप्रपरिषदधीनम्। शासनप्रबन्धकत्वमेवास्ति। तदपि नियमाऽनुकूल-मेव। ततश्च राष्ट्रदानविक्रयादिकर्तॄणामविवेकेन राज्ञां सराष्ट्राणां विनाश एव दृश्यते। आर्यराष्ट्रवादिनां च मते राष्ट्रं पिता माता

जो अपने राष्ट्र में रहते हुए भी अराष्ट्रियों की सेवा करते हैं (वे निन्दनीय हैं)। उनका मुख देखना भी नरकगमन के समान है। इसका निरूपण किया जा रहा है :—

वर्तन्ते तु स्वराष्ट्रे ये सेवन्ते चाऽप्यराष्ट्रियान्।
तेषां दृष्ट्वा मुखं नूनं रौरवं नरकं व्रजेत्॥73॥

जो अपने राष्ट्र में तो रहते हैं, किन्तु अराष्ट्रियों की सेवा करते हैं, उनका मुख देखने वाला नरक में जाता है।

आचार्यश्चेति तेषां महागुरुतया सुपुत्रसुशिष्यवत् सेवा विधीयते । अत एव विक्रयादिषु नाऽधिकारः । पित्रादिषु स्वत्वेऽपि पुत्राणां विक्रयादावनधिकार एव । यत्तु—

वृद्धौ च मातापितरौ साध्वी भार्या शिशुः सुतः ।
अप्यकार्यशतं कृत्वा भर्तव्या मनुरब्रवीत् ।।

इति, तदप्यार्यराज्यवादपरमेव । अत एवाऽऽर्यराष्ट्रवादिनामेव शासनव्यवस्था शान्तिदायिनी सम्भवति पूर्णतया । आर्यराज्यवादिनां च मते राष्ट्रस्य न पितृत्वं किन्तु पुत्रत्वम् । 'अत एव रक्षेत्पुत्रमिवौरसम्' इत्यादर्शो राष्ट्रसंरक्षणे । अत एव न पूर्णा शान्तिः शासने सम्भवति । अनार्यराष्ट्रवादिनां च बुभुक्षाप्राधान्येन संरक्षण सन्देहव्याप्त्या स्वराष्ट्रस्य वैयक्तिकभोगसंरक्षणाय परस्परं सन्देहाक्रान्ततया संरक्षणव्याजः चैकाकिना न सिद्ध्यतीति सङ्घनिर्माणप्रवृत्तिः । अत एव सर्वत्राऽपि विनिमयप्राधान्यम् । न पुत्रवत् न च पितृवत् व्यवस्था । अत एवैषां न शान्तिस्थायिनी शासनव्यवस्था प्रत्युताऽशान्तिप्रचारिण्येव । अनार्यराज्यवादिनां तु परस्परं भोगकरनद्धेन परस्परं घोरशत्रुभावात् बुभक्षापूरणमेव सर्वतोधिकमत एव सर्वत्रापहारप्राधान्यमिति नियतो द्रागेव राष्ट्रक्षयः । भवतु सर्वथाऽपि ये स्वराष्ट्रे वर्तमाना अराष्ट्रिया अस्मभ्यं वृत्तिं प्रयच्छन्तीति मन्यन्ते, ते निश्चयेन मूढा इति तेषां वचनमनादेयमेव । पण्डितास्तु नेनं कदाऽपि मन्वते । ततश्च कार्यनिर्णय एतादृशां मूर्खाणां कथनं विहाय पण्डितानामेव वचनमादरणीयमिति निष्कर्षः । परराष्ट्रे वर्तमानानां च निर्णयेऽनधिकारात्तेऽपि नाऽत्र विषय आदरणीया इत्यलमेतेन ।।72।।

भृत्यत्वं खल्वतीव गर्ह्यमिति तु 'भृतिरन्या' (रा. 49) इति निर्णीतमेव । राष्ट्रसेवा तु राष्ट्रियाणां परमो धर्म एव । अत एव 'गृहीत्वा वृत्तिमुचितां' (रा. 47) इत्यनया राष्ट्रसेवा कार्यत्वेन निरू-

---

इस ससार में व्यवहार चलाने के लिए एक दूसरे की आकांक्षा रहती है । यही आकांक्षा अनेक प्रकार के सम्बन्धों को उत्पन्नकरती है या बदलती है । भेद-प्रपञ्चमय इस संसार में दूसरे के लिए कोई कुछ नहीं करता, अपने लिए ही सब कुछ करता है । वस्तुतः सभी लोग स्वार्थ-सिद्धि के लिए कार्य में प्रवृत्त होते हैं । परार्थसाधन तो केवल स्वार्थसाधन का बहाना मात्र होता है । परस्पर उपकार किये बिना कल्याण नहीं होता है । गीता में भी कहा है—इस यज्ञ से

पिता। तत एव च राष्ट्रसेवैवाऽनुषङ्गेण राष्ट्रियाणामपि सेवा भवति। अत एव राष्ट्रियाणां कर्माणि कार्यत्वेन विहितानि तथैव कारिकया। ये पुनः स्वराष्ट्रे वर्तमाना अपि सेवामराष्ट्रियाणां कुर्वते, तेषां मुखावलोकनमपि नरकगमनमेव ददातीति प्रतिपादयन्नाह—

वर्तन्ते तु स्वराष्ट्रे ये सेवन्ते चाऽप्यराष्ट्रियान्।
तेषां दृष्ट्वा मुखं नूनं रौरवं नरकं व्रजेत्॥73॥

वर्तन्ते इति। ये—स्वराष्ट्रे—तु—वर्तन्ते—अराष्ट्रियान्—अपि—सेवन्ते—च—तेषां मुखं—दृष्ट्वा—रौरवं—नरकं—नूनं—व्रजेत्। इति पदयोजनिका।

'ये'=मनुष्यमात्राः पुंस्त्वमविवक्षितम् सर्वत्राऽप्यत्र बोध्यम्। 'स्वराष्ट्रे'—'स्वं'=निजं चतुर्विधसम्बन्धेन यत् "राष्ट्र" वर्णितलक्षणं तस्मिन् स्वराष्ट्रे 'तु' अन्यव्यवच्छेदेऽव्ययम्। अवधारणे वाऽव्ययमेतत्। 'वर्तन्ते=जीवन्ति 'अराष्ट्रियान्'=चतुर्विधसम्बन्धेनाऽसम्बन्धिनः 'अपि'=गर्हायामव्ययमेतत्। 'सेवन्ते'=शुश्रूषन्ते 'च' त्वर्थेऽव्ययम्। 'तेषाम्'=अराष्ट्रियसेवकानां 'मुखं'=आननं दृष्ट्वा=वीक्ष्य अथ वा 'मुखं'=प्राधान्यं 'दृष्ट्वा'=ज्ञात्वा 'रौरवं'=एतदभिधानं 'नरकं' अधोलोक 'नूनं'=निश्चयेन 'व्रजेत्'=यायात्। सम्भावनायां लिङ्।

अयमत्राऽभिप्रायः कारिकायाम्—सर्वस्मिन्नप्यत्र व्यवहारप्रपञ्चे परस्परं साकाङ्क्षत्वमेव जागर्तीति सर्वेऽपि विद्वांसो जानन्त्येव। इयमाकाङ्क्षैव नानाविधान् सम्बन्धानुत्पादयति, परिणमयति, विवर्तयति वा भेदप्रपञ्चेऽप्यस्मिन् न वस्तुतः परस्मै कोऽपि किमपि कुरुतेऽपित्वात्मन एव सर्वमपि कुरुते। उपनिषत्स्वप्ययमर्थो विस्तरेण प्रतिपादितस्तत्रैवाऽनुसन्धेयः। यथा—"आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' इति। ततश्च येन व्यवहारेण स्वार्थः सिद्ध्यति तथैव यततेऽपि। परार्थसाधन तु स्वार्थसाधनव्याज एव। परस्परभावनमन्तरेण न व्यवहारे

तुम देवताओं को प्रसन्न करो, वे देवता जल आदि की वर्षा करके तुम्हें प्रसन्न करेंगे, इस प्रकार परस्पर प्रसन्न करते हुए तुम श्रेय को प्राप्त करोगे।

कल्याणप्राप्ति ही सबका अभीष्ट है। इसीलिए लोग उसकी पूर्ति में लगे हैं। आर्यों का आशंसाप्रधान होने से उनके द्वारा की जाने वाली सेवा भी मोक्षधर्म के उद्देश्य से प्रवर्तित होती है। अतः यह सेवा शान्तिप्रदायिनी भी होती है। अनार्यों का बुभुक्षा-प्रधान होने से उनके द्वारा की जाने वाली सेवा

श्रेयप्राप्तिः सम्भवति। अत एव श्रीमद्भगवद्गीतास्वपि भगवता श्रीकृष्णेनाऽर्जुनं प्रत्युपदिष्टमेवम्—

देवान् भावयताऽनेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ (गी. 3/11)

श्रेयः प्राप्तिश्च परममभीष्टं सर्वेषाम्। अतस्तत्पूर्त्या एव सेवायां प्रवर्तते लोकः। अत्रेदं बोध्यम्—आर्याणामाशंसाप्राधान्येन तेषां सेवाऽपि मोक्षधर्मप्राप्त्युद्देशमवलम्ब्यैव प्रवर्तते। अत एव क्रमेण शान्तिप्रदायिन्यपि सा भवति। अनार्याणां च बुभुक्षाप्राधान्येन तेषां सेवाऽर्थकामप्राप्त्युद्देशमवलम्ब्यैव प्रवर्तते। तत एव क्रमेणाऽशान्तिप्रदायिन्येव भवति। तत्र पूर्वा भक्तिरार्यत्वात्, परा भुक्तिरनार्यत्वात्। अत एव राष्ट्रभक्ता आर्याः, राष्ट्रभुजश्चाऽनार्याः। पूर्वे द्विविधाः—राष्ट्रभक्ता राज्यवत्सलाश्चेति। परेऽपि द्विविधाः—राष्ट्रभुजो राज्यभुजश्चेति। वृत्तिः सर्वेषां स्वाभाविकीत्युक्तचरमेव। वृत्तिसम्पादकत्वं राष्ट्रस्येति तस्यैवोत्कृष्टतमत्वम्। वृत्तिव्यवस्थापनद्वारा राष्ट्रसेवकत्वात्ततो गौणभावेन राष्ट्रशासननियमप्रणेतॄणामुत्कृष्टत्वम्। ततोऽपि न्यूनतया नियमाऽनुकूलशासनप्रबन्धकर्तॄणामुत्कृष्टत्वम्। अत एव नाऽत्र भृत्यभावः। वृत्तिव्यवस्थापकत्वमात्रत्वेन शासकत्वमेतन्मते। अत एव सर्वत्र साम्येन शान्तिः। अत एव सर्वथाऽपि सेवनं राष्ट्रस्यैव तदनुषङ्गेण राष्ट्रियाणां चेत्यादर्शराष्ट्रवादिनो राष्ट्रभक्ता इत्युच्यन्ते। आदर्शराज्यवादिनां मते राष्ट्रस्य न सेवा किन्तु तस्य व्यवस्थापकतया शासकस्यैव मुख्यत्वं तस्य च कर्मराष्ट्रस्यौरसपुत्रवत्सरक्षणमिति राज्यवत्सलत्वं शासकेष्विति किंचिद्वैषम्येऽपि वत्सलत्वात् राज्ञ उत्कृष्टत्वं मुख्यं, तदनुषङ्गेण तत्सेवकानामुत्कृष्टत्वं गौणमत एवैते राज्यवत्सला इति निर्दिश्यन्ते। राष्ट्रभुजां राज्यभुजां च दुर्गतिरिति हेयेति तस्या नाऽत्र विशेषतया विवेचनम्। अत एव ये स्वराष्ट्रे तु जीवन्ति, अराष्ट्रियानपि सेवन्ते

भी अर्थकाम के उद्देश्य से प्रवर्तित होती है। अतः वह सेवा क्रमशः अशान्तिप्रदायिनी होती है। आर्य प्रधान होने से पहली भक्ति और अनार्य प्रधान होने से दूसरी भुक्ति होती है। इसीलिए कहा जाता है कि आर्य राष्ट्रभक्त हैं तथा अनार्य राष्ट्रभुक्। इसीलिए महर्षियों द्वारा अनार्यों का शसनप्रबन्धकत्व के प्रति निषेध किया गया है। उनके लिए प्रतिग्रह का भी निषेध किया गया है। आर्यराष्ट्रवादियों को ही नियमविधान का अधिकार दिया गया है, न कि आर्यराज्य-

एते त्वतीव पापिन इत्येतेषां मुखाऽवलोकनमपि रौरवनरकगमनाय सम्पद्यते । अयं भावः—अपिनाऽराष्ट्रियाणां सेवनं त्वतीव गर्ह्यमिति प्रतिपाद्यते । परराष्ट्रे वर्तमानानां सम्भवेदपि नाम जात्वराष्ट्रियाणां सेवनं परन्तु स्वराष्ट्रे वर्तमानानामराष्ट्रियाणां कथं युज्येत सेवनम् । तदपि कुर्वाणा अत्यधमा इत्यत्र किमु वक्तव्यम् । एतत्खल्वतीवाऽकार्यमार्याऽनार्यगर्हितं कुर्वाणानाम् । एवं च तदेतदकार्यं कुर्वते, ये तेषां मुखं वीक्ष्याऽवश्यमेव मुखं दृष्ट्वा रौरवं नरकं व्रजेत् । अथ चैतादृशानामकार्यकारिणां मुखं प्राधान्यं दृष्ट्वाऽवगत्य सम्मान्येति यावत् रौरवं नरक व्रजेत् । अयं भावः—यस्मात् खलु जीवनाऽधिगमस्तदीयं शुश्रूषणं विहाय तद्विघातिनो ये सेवन्ते, तेषां कृतघ्नतमानां मुखाऽवलोकनं रौरवं नरकमवश्यं गमयति । अथ चैवमेवैवंभूतानां मुख=प्राधान्यं दृष्ट्वा=वीक्ष्य सम्मान्य रौरवं नरकमवश्यं गमयति । नूनमित्यनेन सम्भावनायां निश्चयो व्यज्यते । किं च येषां मुखदर्शनेनाऽपि नरकगमनं सम्भाव्यते तेषामन्यविधसंसर्गे कियत् पापं स्यात् तत्स्वयमेव पण्डितैरूह्यम् । स्वराष्ट्रे वर्त्तमानानामराष्ट्रियांश्च सेवमानानामधमाऽधमाऽतिशायित्वं बोध्यते । ते न च स्वराष्ट्रे वर्त्तमाना अराष्ट्रियान् जात्वपि न सेवेरन् इति विधीयते । अराष्ट्रियाश्चाऽराष्ट्रियत्वाऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नाः सर्वेऽपि बोध्याः । अयं भावः—राष्ट्रे तावत् स्वे राष्ट्रिया अराष्ट्रियाश्च निवसन्ति । तत्र केचित शासकरूपेण केचिदतिथिरूपेण केचिच्चाऽन्यत आपत्तिपीडिता आपत्तितो रक्षार्थं, केचित्पुनर्व्यापारादिना द्रव्याहरणायेत्येवमादिरूपेण निवसन्ति । तत्राऽनया कारिकया राष्ट्रस्य चतुर्विधसम्बन्धी कोऽपि राष्ट्रियः किं विधमप्यराष्ट्रिय मा सेवेतेत्येवं व्यज्यते । सेवा हि नाम याऽराष्ट्रियाणां क्रियते सा तावत् नाऽऽशसया कदाऽपि सम्भवति, सेव्यरभसात्, बुभुक्षया वा क्रियमाणा सा श्ववृत्तिरेवाऽऽख्यायते । सा च न राष्ट्रियैरार्यैः कदाऽपि कार्या । अथ रभसाद-

---

वादियों को । आर्यराष्ट्रवादी ही राष्ट्रज्ञानविचक्षण हैं । वास्तव में वे ही पण्डित हैं । जिनका जिसमें पूर्ण स्वत्व होता है, उनका ही प्रदान, विक्रय, परित्याग आदि का अधिकार होता है । जिनका राष्ट्र में स्वत्व ही नहीं होता है, उनका कोई अधिकार भी नहीं होता है । जो वस्तु बहुतों के नाम पर होती है, उसे कोई एक व्यक्ति न तो दे सकता है, न बेच सकता है, न त्याग सकता है, क्योंकि उस वस्तु के प्रति उसका कोई अधिकार ही नहीं होता है ।

नार्यैः कारयिष्यते चेत् ते सर्वथा अनार्या अराष्ट्रियाः सर्वैरपि राष्ट्रियैर्नानाविधैरुपायैर्विनाश्या एव । एतत्पूर्वमुक्तमपि तत्तत्स्थले । अग्रे च यथाऽवसरं वक्ष्यतेऽपि । अत एव बलाद्दासीकृतानामार्याणां दास्यान्मोचनं विहितमार्यराज्यवादिभिर्महर्षिभिः । दासत्वं बलादापादयतां दण्डश्च विहितः । यथा—

चौराऽपहृतविक्रीता ये च दासीकृता बलात् ।
राज्ञा मोचयितव्यास्ते दास्यं तेषु तु नेष्यते ।।

किंचाऽत एव आर्याणां न कदाऽपि सेवकत्वमनार्याणामुचितमत एवोक्तम्—

वर्णानामानुलोम्येन दास्यं न प्रतिलोमतः ।

अराष्ट्रियाश्च सर्वदाऽनार्या एव भवन्ति अत्र । युक्तिः पूर्वं प्रस्तुतभाष्यकृता प्रतिपादितैव । राष्ट्रस्य तु पितृत्वात्तत्सेवनं न श्ववृत्तिः किंतु सा स्वाभाविक्यार्यचर्या । अत एव मनुरप्याह—

वृद्धौ च मातापितरौ साध्वी भार्या सुतः शिशुः ।
अप्यकार्यशतं कृत्वा भर्तव्या मनुरब्रवीत् ।।

इयं किलाऽऽशंसा । इदं च बोध्यम्–भृत्यास्तावद् बहुविधा भवन्ति । तत्र सर्वत्राप्यादानप्रदाने भवतस्ते च विनिमयरूपेण । किं च पुरुषकृतसमयेनैव प्रायः, नाऽपौरुषसमयेन । किं च पौरुषेयमपौरुषेयं वा यद्यपि निर्णेतुमतिगहनमेव तथाऽपि किंचिदिदं बोध्यम्—यत् किल साधारणपुरुषनिर्णयाऽधीनं तत् पौरुषेयम् । ततोऽन्यच्चाऽपौरुषेयम् । भृतिश्च परमाक्षिपति पुरुषम् । वृत्तिश्च न कमपि पुरुषान्तरमाक्षिपति । तत एव वृत्तिः स्वाभाविकीति प्रस्तुतभाष्यकृता प्रतिपाद्यते भृतिश्च निन्द्यते । यदेव परप्रकाशं तत् परतन्त्रमिति जडमेव परिच्छिन्नत्वात् । स्वप्रकाशं च चेतनं पूर्णत्वात् । तदिदं प्रस्तुतभाष्यकृतैवात्मविलासे प्रतिपादितम् यथा—

जैसे आर्यराष्ट्रवादियों के मत में उनका राष्ट्र उनका पिता, माता तथा आचार्य होता है । वे उन्हें महापुरुष मानकर उनकी पुत्र एवं शिष्य की तरह सेवा करते हैं । उनका विक्रयादि पर अधिकार नहीं होता है । जैसे पिता का स्वत्व होने पर भी उसे पुत्रों के विक्रय का अधिकार नहीं हुआ करता है । अतः आर्यराष्ट्रवादियों की ही शासनव्यवस्था पूर्णरूपेण शान्तिदायिनी होती है ।

अपूर्णं जडमित्युक्तं पूर्णं चैतन्यमुच्यते ।
आपेक्षिकं तु चैतन्यं पूर्णं न परमार्थतः ।। (आ. वि. 4/7)

विस्तरस्तु तदव्याख्यायामेव द्रष्टव्यः । अत एवाऽऽचार्याऽभिनवगुप्तपादैरपि प्रतिपादितम्—

परिच्छिन्नप्रकाशत्वं जडस्य किल लक्षणम् ।
जडाद्विलक्षणो बोधो यतो न परिमीयते ।।

एवं च भृतिः पराऽपेक्षिणीति पारतन्त्र्यमापादयति । व्यवहारे च पारतन्त्र्यमपि जातु कल्याणायाऽऽवश्यकमिति तदप्यङ्गीक्रियते । परन्तु तदार्यपारतन्त्र्यमेव नानार्यपारतन्त्र्यम् । अत एव ऽऽर्यराज्यवादिभिः शिष्यपुत्रान्तेवास्यादीनां न भृत्येषु परिगणना क्रियते शुश्रूषूणामपि । अयं भावः—सेवा नाम शुश्रूषा, सा किलाऽर्याणामेव कार्यमित्युक्तमेव । इयं च स्वेच्छयाऽपि भवति, परेच्छयाऽपि भवति । तत्र स्वेच्छयाऽप्यार्यैरनार्याणां न कार्या परेच्छया वेति त्याज्यैव सा । तत्र स्वेच्छया या क्रियते सा किमप्यभिलषितं वस्त्वपेक्ष्यैव क्रियत इत्यार्याणामेव कर्त्तव्यमित्युचितमेव । अत एव कालिदासोऽप्याह—'याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाऽधमे लब्धकामा" (मे. पू 6) इति । अत एव सेवकाः पञ्चविधा उक्ता नारदेन तत्राऽपि क्रमेणोत्तमाऽधमभावोऽपि । तथा हि—

शुश्रूषकः पञ्चविधः शास्त्रे दृष्टो मनीषिभिः ।
चतुर्विधः कर्मकरास्तेषां दासास्त्रिपञ्चकाः ।।
शिष्याऽन्तेवासिभृतकाश्चतुर्थस्त्वधिकर्मकृत् ।
एते कर्मकरा ज्ञेया दासास्तु गृहजादयः ।।

एवं चोत्कृष्टः सेव्योऽपकृष्टश्च सेवकः । **नारदमते** दासेतराणां पारतन्त्र्येऽपि न परकृतरभसात्पारतन्त्र्यं किं तु स्वेच्छया पारतन्त्र्यं स्वकल्याणाय । परकृतं तु पारतन्त्र्यं दासानामेव । अत एवाह सः—

आर्यराज्यवादियों का राष्ट्र के प्रति पितृत्व नहीं होता है, अपितु पुत्रत्व होता है । औरस पुत्र की तरह राष्ट्र रक्षा करनी चाहिए । अतः इनके शासन में पूर्ण शान्ति नहीं होती है । बुभुक्षाप्रधान अनार्यराष्ट्रवादियों का तो राष्ट्र-सरक्षण में सन्देह व्याप्त होता है । वे वैयक्तिक भोग-सरक्षण के लिए परस्पर सदेहाक्रान्त रहते हैं, अकेले राष्ट्र का संरक्षण नहीं कर सकते हैं, इसीलिए सघ का निर्माण करते हैं । अतः उनकी सर्वत्र विनिमय-प्रधान प्रवृत्ति होती है । इनकी

सामान्यमस्वतन्त्रत्वमेषामाहुर्मनीषिणः ।
जातिकर्मकरस्तूक्तो विशेषा वृत्तिरेव च ॥

अत्रेदं बोध्यम्—आर्याणां मते अराष्ट्रियाणां दास्यमार्याणां निषिद्धमेव । कर्मकरत्वमप्यनार्याणामेव घटते नऽऽर्याणाम् । अयमर्थः—उत्कृष्ट एव चार्योऽपकृष्टश्चाऽनार्यः । अपकृष्टः स्वोत्कर्षाय सेवत उत्कृष्टम् । उत्कृष्टश्च न सेवतेऽपकृष्टमपकर्षस्योपादयेतयाऽनभिलषणीयत्वात् । अत एव सर्वविधाऽपि सेवा नाऽऽर्यकर्तृका सङ्गच्छते । आर्यास्तावदार्यानेव सेवेरन्नधिकाधिकाऽऽर्यत्वोपासनाय । अराष्ट्रियाः पुनरनार्या इत्येवाऽसेवनीयाः किं च राष्ट्रियाः स्वस्वराष्ट्रे नाऽराष्ट्रियत्वमात्रेणानार्याः । किं तु बुभुक्षापूरणाय परराष्ट्रे ये वर्तन्ते, निवसन्ति, शासन्ति वा ते त्वनार्या एवेति ते न कदाऽपि सेवनीया अराष्ट्रिया राष्ट्रियैरित्यार्यराष्ट्रवादिनां मतम् । अत एव श्रीराष्ट्रालोके भृतकानामधिकर्मकृतां दासानां च भृत्येष्वेव संग्रहं विधाय सर्वमपि निषिद्धं स्वराष्ट्रेऽपि राष्ट्रियाणां प्रस्तुतभाष्यकृता । आर्यराज्यवादिमते तु तत्तद्वर्णाऽनुलोम्येन जात्यानुलोम्येन भृतकत्वादिकमपि सम्भवति । परं त्विदं तु बोध्यमेव—अराष्ट्रियाणां शासकत्वं, राजत्वं, स्वामित्वं वा तैरपि नाङ्गीक्रियते । राष्ट्रियाणां च परस्परं वर्णजातिविवेकाऽनुलोम्येन दासत्वादिकमपि भवतीति तेषां मतम् । तत्र शुश्रूषुष्वपि पञ्चविधेषु चतुर्णामाद्यानां कर्मकरत्वम् । तेष्वपि द्वयोराद्ययोर्मूल्यग्रहणपूर्वकं न कर्मकरत्वमित्यार्यत्वाऽधिक्यम् । तत्राऽपि पूर्वस्य श्रेष्ठ्यं परस्य कनीयस्त्वम् । तत्र शिष्यः ज्ञानविज्ञानार्थी । अन्तेवासी च क्रियाविक्रियार्थी । परं तु द्वावप्येतौ स्वातन्त्र्याऽधिक्यात् भृतकाद्यपेक्षया श्रेष्ठा आशंसाप्रवृत्तत्वात । भृतका मूल्यं गृहीत्वा शुभकर्मकृत्, अधिकर्मकृत् मूल्यं गृहीत्वा भृतकानामधिष्ठाता एतौ द्वावपि बुभुक्षाप्रवृत्तत्वात्

राज्य-व्यवस्था न पुत्रवत् होती है और न पितृवत् । अतः इनकी शासन-व्यवस्था अशान्तिप्रधान होती है । अनार्य राज्यवादियों की तो भोग-कलह के कारण पारस्परिक घोर शत्रुता होती है । उनका सर्वोपरि कार्य बुभुक्षा-पूर्ति ही होता है, इस प्रकार राष्ट्र का नाश होता है ।

जो यह मानते हैं कि अराष्ट्रिय हमें वृत्ति प्रदान करते हैं, वे निश्चय ही मूर्ख हैं । पण्डित कभी भी ऐसा नहीं मानते हैं । वे सर्वथा राष्ट्र और राष्ट्रियों की सेवा करते हैं । अतः वे आदर्शराष्ट्रवादी पर राष्ट्रभक्त कहलाते हैं ।

पूर्वतो निन्द्यावेव । एतदपि आर्यराज्यवादिमते वर्णजात्यानुलोम्येन सम्भवति । दासाश्चाऽशुभकर्मकराः स्वभावेनैव दासा एते । अत एव ते प्रायोऽस्पृश्या अपि । भवतु । सर्वमपि नारदेनैतदुक्तं, यथा—

कर्माऽपि द्विविधं ज्ञेयमशुभं शुभमेव च ।
अशुभं दासकर्मोक्तं शुभं कर्मकृतां स्मृतम् ।
गृहद्वाराऽशुचिस्थानरथ्याऽवस्करशोधनम् ।
गुह्याङ्गस्पर्शनोच्छिष्टविण्मूत्रग्रहणोज्झनम् ॥
इच्छतः स्वामिनश्चाङ्गैरुपस्थानमथान्ततः ।
अशुभं कर्म विज्ञेयं शुभं कर्मातः परम् ॥

सर्वमप्येतन्मिताक्षरावीरमित्रोदयाऽपरार्कादौ सुस्पष्टमिति नेह वितन्यते । सर्वथाऽपि स्वराष्ट्रे जीवतामराष्ट्रियसेवनं जात्वपि नोत्कर्षकारकमपि तु रौरवनरकप्राप्तिकारकमिति तत्कदाऽपि नाचर्यम् । तत्कुर्वतां च नेतृत्वं शासकत्वं चाऽपि प्रयत्नेन विनाशनीयम् । किं बहुना, तेषामाननदर्शनमपि रौरवनरकप्राप्तिकरमिति परिहरणीयमेवेत्यलमेतावता ॥73॥

ननु जीवनं तावत्प्राणिमात्रस्य वा वस्तुमात्रस्य वा स्वाभाविकमित्यत्र न कोऽपि विवादः । तत्र नैसर्गिकमेव तज्जीवनं बलवतां रभसाद् दुर्बलानां च प्रार्थनया भवति । अत एव बलवन्तः सेव्याः स्वामिनो दुर्बलाश्च सेवका दासाः । ततश्चैवं निसर्गे सति दुर्बलैः सेवया जीवनं क्रियत इत्यत्र को दोषः ? य एव सबलास्त एव स्वामिनः, ते पुना राष्ट्रिया वा सन्त्वराष्ट्रिया वा सन्तु, सर्वेऽपि स्वार्थसाधनाय सेवनीया एव । अत एव सेवायाः व्यवहारे तत्तदावश्यकवस्तुकामनापूरकत्वं प्रतिपादितम्—

अतः जो राष्ट्र में तो जीवित रहते हैं, किन्तु अराष्ट्रियों की सेवा करते हैं, वे बहुत बड़े पापी हैं । उनका मुख देखना भी नरकगमन के समान है । वस्तुतः जिस राष्ट्र में जीवन प्राप्त होता है, उसकी सेवा को त्यागकर, उस राष्ट्र का विघात करने वालों की सेवा करने वालों का मुख देखना नरक में जाने के समान ही है ।

अपने राष्ट्र में राष्ट्रिय एवं अराष्ट्रिय ये दोनों निवास करते हैं । कोई शासक; कोई अतिथि, कोई आपद्ग्रस्त, कोई रक्षक, कोई व्यापारादि के लिए

सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः ।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ।।

एवं च शुश्रूषा स्वाभाविक्येवेति वृत्तिरिव भृतिरपि कार्येति सम्भाव्यते । अयं भावः–दुर्बलः किल बलवद्भ्यः प्रार्थयन् वृत्ति लभते ततश्च सा प्रार्थना यथा राष्ट्रियाणां सविधे तथाऽराष्ट्रियाणामपि सविधे सम्भवति । तत्र अराष्ट्रियप्रार्थितं जीवनमतिनिन्द्यमिति प्रतिपादयन्नाह—

अराष्ट्रियप्रार्थितं धिग्जीवनं जीवनं न तत् ।
आकारभेदमात्रात् तत् किन्तु विण्मूत्रभक्षणम् ।।74।।

अराष्ट्रियमिति । अराष्ट्रियप्रार्थितं—जीवनं—धिक्—तत्—जीवनं—न किंतु—तत्—आकारभेदमात्रात्—विण्मूत्रभक्षणम् । इति पदयोजनिका ।

'अराष्ट्रियप्रार्थितम्'-राष्ट्रं=पूर्वोक्तलक्षणं तस्य चतुर्विधसम्बन्धिनो राष्ट्रियाः तद्भिन्ना अराष्ट्रियाः तेभ्यः 'प्रार्थितं'=याचितं=जीवनं=शरीरधारणं 'धिक्' तिरस्कारभाजनम् । निर्भर्त्सने निन्दायां चाऽव्ययमेतत् । "धिङ्निर्भर्त्सननिन्दयो" रित्यमरः । एतद्योगे च द्वितीया । तदुक्तम्—

उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु ।
द्वितीयाऽऽम्रेडितान्तेषु ततोऽन्यत्राऽपि दृश्यते ।।

'तत्'=अराष्ट्रियप्रार्थनया समासादितं 'जीवनं'=प्राणधारणं 'न'=न विद्यते किं तु=अपितु 'तत्'=त द्द्जीवनं 'आकारभेदमात्रात्' आकारः=रूपं तस्य भेदः=पार्थक्यं स एवऽऽकारभेदमात्रम् । मात्रशब्दोऽवधारणेऽत्र "मात्रं कात्स्न्र्येऽवधारणे" इत्यमरः । तस्मात् 'विण्मूत्रभक्षणम्'—विट्=विष्ठा 'मूत्रं'=प्रस्रावः तयोः 'भक्षणं'=भोजनं

द्रव्यहारक आदि के रूप में निवास करते हैं । सभी राष्ट्रियों को अराष्ट्रियों का विनाश करना ही चाहिए । राष्ट्रियों का राष्ट्र के प्रति पितृत्व भाव होता है, अतः उसकी सेवा करना उनका स्वाभाविक धर्म है । मनु ने कहा है कि " वृद्धमाता पिता, साध्वी भार्या, छोटा पुत्र, सौ बुरे कार्य कर दें, तो भी उनका भरण-पोषण करना चाहिए ।"

जो साधारण पुरुषों के निर्णय के अधीन होता है, वह पौरुषेय कहलाता है, इसके विपरीत अपौरुषेय । भृति पुरुष पर आक्षेप करती है, वृत्ति पुरुष पर

'अस्ति' इति 'शेषः' । अस्या अयं भावः—जीवनं हि सर्वस्याऽपि स्वाभाविकमेवेति निरूपितमेव । तत्र नानाभेदभिन्ने पदार्थसार्थ-परिपूरितेऽत्र जगति स्वातन्त्र्यविकासतारतम्येन प्रबलदुर्बलभावोऽपि जागर्त्येवेत्यप्युक्तमेव। तत्राऽपि ज्ञानक्रियातारतम्येनाऽऽर्याऽनार्यभावोऽपि समुल्लसत्येवेत्यपि निरूपितमेव प्रस्तुतभाष्यकृता तत्र तत्र । तदेवमार्य-प्राबल्यवति समये देशे वस्तुनि वा प्रार्थितमपि जीवनं न निन्द्यम् । ननु 'मृतं तु याचितं भैक्ष' (मनु 4/5) इति रूपेण महर्षिभिस्तन्निन्द्यमिति वर्ण्यते । ततश्चाऽऽर्यप्रार्थनयाऽपि जीवनं निन्द्यमेव । अत एव क्षत्रपति-**भोसलकुलकमलदिवाकराऽनार्यकुलहिमानीतिमिरभास्करमहाराष्ट्रक्षत्रि-यचूडामणेः श्रीशिवाजी महाराजस्य** गुरुवरः सर्वसिद्धिसमन्वितः समर्थ-**श्रीरामदास**सिद्धविप्रवरोऽप्येवमाह—

लोके लज्जाकरं तादृक् भस्मीभवतु जीवनम् ।
भिक्षापात्राऽवलम्बेन याच्यते गर्हितं न यत् ।।

इति चेत्सत्यमेतत् । परन्त्वङ्ग ! नैकान्तेनैतदुपपद्यते । श्रूयतामत्र विषये—येन किल स्वातन्त्र्येण सामर्थ्यवत्तया जीवितुं शक्यते स तु नैव याचते, याचेत च, परं तु संसारेऽत्र न सर्वे तथा किं च परमात्मनो विलासस्वरूपेऽनन्तब्रह्माण्डकदम्बकेऽत्र सर्वेऽप्यापेक्षिकभावेन शक्तिमन्त एवेति न सर्वे सर्वथा स्वतन्त्रा न च सर्वथा परतन्त्रा जाग्रति । ततश्च यत्रैव यस्याः शक्तेरविकासः सोऽन्यत्र त्वसम्भावतया पूर्यते इति स्वभावः । अत्र बीजं त्वात्मविलास एव । सम्भावनमेव शुश्रूषा । अयमर्थः—यदेव वस्तु सविधे नास्ति, तदेव वस्तु कामयते पुरुष इति सर्वदा दृश्यत एव लोके । तत्र च कामनापूर्तिर्द्वैविध्येन सम्पद्यते, आर्यविधया अनार्य-विधया च । इदमप्यत्राऽऽकलनीयम्—अविद्यमानमादीयते विद्यमानं च प्रदीयते । तेनाऽनेन व्यापारेण सन्तुष्यन् जीवलोकः सर्वतो नन्दति ।

आक्षेप नहीं करती है । भृति परापेक्षिणी होने से पारतन्त्र्य को प्रदान करती है । अतः स्वाभाविकी वृत्ति का ही प्रतिपादन किया है और भृति की निन्दा की है । व्यवहार में भले ही परतन्त्रता को कल्याण के लिए आवश्यक मानकर स्वीकार किया जाता है, परन्तु वह आर्य-पारतन्त्र्य ही कहलाता है न कि अनार्य-पारतन्त्र्य । सेवा शुश्रूषा को कहते हैं । सेवा आर्यों की ही की जानी चाहिए । यह स्वेच्छा से भी होती है और परेच्छा से भी । अनार्यों की सेवा स्वेच्छया नहीं करनी चाहिए, परेच्छा से तो सर्वथा त्याज्य है ।

तत्र दानं दातुरिच्छाधीनम् । आदानं चाऽऽदातुरिच्छाधीनम् । तत्र द्वयमपीदं प्रत्येकं द्विविधम्, न्यग्भावभेदात् । तथाहि यत्राऽऽदाता आदातुमिच्छति पूर्वं ततश्च आदातुरिच्छापूर्त्यर्थं दाता ददाति तदेकम्, यत्र च दाता दातुमिच्छति पूर्वं ततश्चाऽऽदाता दातुरिच्छापूर्त्यर्थमादत्ते तदेतदेकमिति द्वौ भेदौ । तत्र य एव सस्पृहः, स एव न्यग्भवति तदेवं स्वेच्छापूर्त्यौ परेच्छापूर्त्यौ च क्रियमाणं दानमेवमेव स्वेच्छापूर्त्यौ परेच्छापूर्त्यौ च क्रियमाणमादानमिति प्रत्येकं त्रैविध्यम् । तदेतत् सर्वमपि स्वातन्त्र्येण यत्र दानादानविधानं सेयमार्यविधा । यत्र च पारतन्त्र्येण सर्वमपि दानाऽऽदानविधानं सा चाऽनार्यविधा । इदमपि बोध्यमत्र—आदातुः प्रदातुश्च द्वयोरप्यार्यत्वे पूर्णार्यविधाऽत एव तत्र पूर्णा शान्तिः । सत्ययुगं तत् । यत्र दाता आर्य आदाता चानार्यः दाता च सबल आदाता च दुर्बलः, तत्र किंचिच्छान्तिः । त्रेतायुगं तत् । यत्र पुनर्दाता अनार्यः प्रबलश्च, आदाता चार्यो दुर्बलश्च तत्राऽशान्तिरधिका । तद्वैश्ययुगम् । द्वावपि यत्राऽऽनार्यौ तत्र पूर्णा अशान्तिः । इयं चाऽनार्यविधा, आर्याऽनार्ययोः व्यवहारे मिश्रत्वम् । मिश्रत्वेऽप्यार्यप्राबल्ये उत्तमत्वमनार्यप्राबल्ये चाधमत्वमिति तु बोध्यमेव । इदं च बोध्यम्—द्वयोरपि निस्पृहत्वे व्यवहार एव न सम्भवति । दातुः सस्पृहत्वे दातुर्न्यग्भावात् दातुः साऽभिसन्धिमत्वान्नोत्तमं तद्दानं, तत्रैव यदि दाताऽपि सस्पृहस्तदा सोऽप्यभिसन्धिमानिति राजसं दानं तत्, आदानमपि राजसमेव तत् । अथ यत्र दातैव न्यग्भूतो नादाता, स तु केवलं दातुरिच्छापूर्त्यर्थमेवाऽऽददाति तत्र आदानं सात्त्विकं दानं च राजसमेव । एवमेव यत्राऽऽदातैव न्यग्भूतो न दाता स तु केवलमादातुरिच्छापूर्त्यर्थमेव ददाति तत्राऽऽदानमधमम् । दानं च सात्त्विकम् । किं च दानं खल्वप्रियमादानं च प्रियं सर्वस्याऽपि प्राङ्मुखस्य जीवलोकस्य । अत एवोक्तमपि—

आर्य उत्कृष्ट होते हैं तथा अनार्य अपकृष्ट । आर्य तो आर्यों की ही सेवा करते हैं । अनार्यों की नहीं । अराष्ट्रियों का शासकत्व, राजत्व, स्वामित्व आर्यों द्वारा स्वीकार नहीं किया जाता है । इस लोक में जीवन तो प्राणिमात्र का तथा वस्तुमात्र का स्वाभाविक है । बलवान् लोगों का जीवन नैसर्गिक होता है, किन्तु दुर्बलों का जीवन बलवानों की प्रार्थना पर आश्रित है । इसीलिए बलवान् सेव्य होते हैं तथा निर्बल सेवक या दास होते हैं । सेवक भी सेवा से अपना जीवन निर्वाह करते हैं—इसमें कोई दोष भी नहीं है । जो बलवान् हैं, वे स्वामी हैं,

आदानमप्रियकरं दानं च प्रियमात्मनः । (मनु. 7/204)

आर्याणां दानाऽऽदानयोरल्पीयसी मात्रा तमसः । अनार्याणां च दानाऽऽदानयोरल्पोयसी मात्रा सत्त्वस्य । तत्र यत्रैव तमस आधिक्यं तदेव मृतमिति युज्यते वक्तुम् । यत्र च सत्त्वाधिक्यं तन्न मृतमिति युज्यते वक्तुम् । अत एव मातुः पितुराचार्यादेर्वा शुश्रूषुभिः प्राप्तं न मृतमित्युच्यते । अत एवानार्यतः प्रार्थनेन प्राप्तमेव मृतमित्युच्यते । यच्चार्ययाचनेन प्राप्त तदमृतमव । तत्राऽपि प्राप्यवस्तुन आर्यत्वाऽनार्यत्वविवेकेनाऽपि हानिलाभो भवत एवेत्यपि बोध्यमेव । अनार्यसम्बन्धे तस्य प्राबल्ये च तारतम्येन प्रार्थनं मृतत्वाऽमृतत्वमधिकाऽधिक विवेचनीयमेव । इदं च बोध्यम्—अनार्याणां प्राबल्ये सर्वत्राऽततायित्वप्रादुर्भावः । अत एवार्याणां प्राबल्य आततायित्वविनाशः । अत एव महर्षिभिर्दासानामधनत्वमभिहितम् –

भार्या पुत्रश्च दासश्च यत्र एवाऽधनाः स्मृताः ।
यत्ते समधिगच्छन्ति यस्यैते तस्य तद्धनम् ।। (मनु. 8/416)

अनार्यत्वे किल द्रव्यं विशेषतया हेतुर्भवति । अत एव मेधाविभिर्धन दूर एव समुत्सारितम् । तल्लाभेन तत्सेवया च जीवतां वैश्यत्वमेव स्थिरीकृतम् । क्षत्रियाणां च नियन्तृत्वं विहितं तेऽपि धनसंग्रहाद् दूरे स्थापिताः । प्रभुत्वे निरङ्कुशत्वे मा नामाऽनार्यता प्रभवेदिति नियमनिर्माणं ब्राह्मणेभ्यो विहितम् । भवतु एतत्सर्वमन्यत्र विवेचयिष्यते । शूद्रस्याऽनार्यत्वविकासाऽधिक्यात्स्वभावेन धनसङ्ग्रहस्तस्य सर्वथाऽपि निवारित आर्यत्वप्राप्त्यै राष्ट्रहिताय स्वातन्त्र्ययोगक्षमार्थं समस्तस्य राष्ट्रस्य । अत एवाऽऽह मनुर्यथा

शक्तेनाऽपि हि शूद्रेण न कार्यो धनसञ्चयः ।
शूद्रो हि धनमासाद्य ब्राह्मणानेव बाधते ।। (मनु 10,129)

वे चाहे राष्ट्रिय हो, चाहे अराष्ट्रिय । स्वार्थसाधन के लिए सबकी सेवा करनी ही पड़ती है दुर्बल बलवान् से प्रार्थना करके ही वृत्ति प्राप्त करता है ' यह प्रार्थना राष्ट्रियों के पास भी की जा सकती है । अराष्ट्रियों के पास भी ।

अराष्ट्रियों द्वारा प्रार्थित जीवन निन्दनीय है, इसका निरूपण किया जा रहा है—

अराष्ट्रियप्रार्थितं धिग्जीवनं जीवनं न तत् ।
आकारभेदमात्रात् तत् किन्तु विण्मूत्रभक्षणम् ।।74।।

एवं च अनार्येभ्यः प्रार्थितं जीवनं मृतमिति निन्द्यम् । अनार्यो प्रार्थयितरि न तादृशी हानी राष्ट्रस्य प्रत्युत लाभ एव । आर्ये त्वनार्यसविधे प्रार्थयितर्यार्याणां मरणेन राष्ट्रस्य सर्वतो हानिः सम्भवति । ततश्च राष्ट्रियेऽनार्येऽपि प्रार्थनं मृतमिति तदा किमु वक्तव्यमराष्ट्रियेऽनार्ये प्रार्थितस्येति निन्द्यतमत्वात्तन्निषेधनायाऽस्याः कारिकाया आरम्भः । अराष्ट्रियाः खलु स्वराष्ट्रे जात्वार्या अपि राष्ट्रान्तरे प्रायोऽनार्यभावमेवाऽवलम्बन्ते । ते चद्दैवाच्छासकपदाधिरूढा निरङ्कुशतया तदा त्वनार्यतमत्वमेव । एवं च तेभ्यः ार्थितं जीवनं धिक्कारयोग्यम् । अयं भावः—अराष्ट्रियाणां तावत् स्वत्वाभावाद्दानेऽनधिकारः । प्रथमं तेभ्यश्च याचनमेव न घटते राष्ट्रियाणां अथ ये शासका अराष्ट्रियास्ते दस्यव इति तेभ्यस्तु प्रार्थनमतीव धिक्कारयोग्यम् । अत एव वर्णनासामर्थ्य ध्वनयितुमाह—जीवनं न तत् इति । अयमर्थः—अप्रार्थितमपि तेभ्योऽराष्ट्रियेभ्यो लब्धं जीवनं दस्युप्राप्तमिति दण्ड्यत्वकारकमिति न जीवनपदवाच्यमस्वाभाविकत्वात् तस्य । स्वाभाविकमेव हि जीवनमिति वक्तुं शक्यते । स्वाभाविकं च स्वातन्त्र्यजीवनम् । पारतन्त्र्येण तु जीवनमस्वाभाविकमिति निन्द्यमेव । तत्राप्यराष्ट्रयप्राप्तं न वृत्तिः किन्तु भृतिरेव । दास्यादिरपि भृत्यामन्तर्भवति । अथ ततोऽप्यधममेतदराष्ट्रिभ्योऽपि प्रार्थनया प्राप्त तत् केन शब्देन व्यवहार्यमित्यधमतया तद्विषये धिक् इत्युच्यते । अराष्ट्रियप्रार्थितजीवनं निर्भर्त्सनीयं निन्दनीयं च । यतस्तज्जीवनपदवाच्यतामेव नाऽवगाहते । तर्हि किं तद्वृत्तिरित्याह—आकारेति । तत्र खलु आकारेणैव केवलं भेदो न पुनर्योग्यतायाम् । अयं भावः-आकारस्य तु भेदो वर्तते परं भर्त्सनीयत्वे निन्द्यत्वे च नान्तरम् । अत एव तत् किंतु विण्मूत्रभक्षणम् । अयमर्थः—तत् खल्वराष्ट्रियप्रार्थितं जीवनं न जीवनमित्येव न किन्तु=प्रत्युत वैपरीत्ये विण्मूत्रभक्षणम् विष्ठामूत्रभक्षणमेव । यथा भक्षणाय विष्ठामूत्रं भक्षणे न केनाऽपि मनुष्येण प्रातिस्वेनोपयुज्यतेऽभिलष्यते वा किंतु परिजिहीर्ष्यंते एव । एतत्खल्वतीव

अराष्ट्रियों की प्रार्थना से प्राप्त जीवन को धिक्कार है । वास्तव में यह जीवन जीवन नहीं है । यह आकार रूप भेद से केवल विष्ठा और मूत्र के भक्षण (की तरह) है ।

सभी प्राणियों का जीवन स्वाभाविक है, इसका निरूपण पहले किया जा चुका है । भिक्षा मांग कर जीवन-यापन करने को मनु आदि महर्षियों ने निन्दनीय कहा है । विप्रवर समर्थ रामदास ने भी कहा है "संसार में लज्जा प्रदान

निन्द्यमिति धिक्कारयोग्यमेवेति । यथा यवतण्डुलगोधूमादिपदार्थानां विष्ठामूत्रादिभ्य आकारतो भेदो गुणे परिणामे चाऽपि भेदः तथा नात्र भेदो जीवनविषये किं त्वराष्ट्रियप्रार्थितं जीवनमेकं, राष्ट्रियप्रार्थितमपरं, अप्रार्थितं चाऽन्यत् तेऽप्यराष्ट्रियप्रार्थितं जीवनमाकारेण विष्ठामूत्रत्ववत्त्वाऽभावेऽपि फले विण्मूत्रमेवेति बोध्यम् । तदत्रेदं बोध्यम्—स्वातन्त्र्येणाऽऽर्यविधया जीवनममृतम् । राष्ट्रियाऽऽर्यप्रार्थितं जीवनं मध्यमम् । अराष्ट्रियाऽऽर्यप्रार्थितमधमम् । अनार्याराष्ट्रियप्रार्थितं जीवनं विण्मूत्रभक्षणमेव । यत्तु राष्ट्रान्तरे रभसादराष्ट्रिया जीवन्ति तदपि न जीवनं किन्तु तद्दस्युवज्जीवनमेवेति वक्ष्यति । भवतु सर्वथाऽपि अराष्ट्रियेभ्यो नवजीवन प्रार्थनीयमनार्यत्वाऽवश्यम्भावादराष्ट्रियाणाम् । ततश्च तेभ्यः प्रार्थितं जीवनं विण्मूत्रभक्षणमेवेति तत् धिगेव । अराष्ट्रियेभ्योऽप्रार्थितमपि परिहरणीयमनार्यत्वप्रायकत्वात् । अत एव मनुना अराजन्यप्रसूतितः प्रतिग्रहणमेकविंशतिनरकगामित्वप्रायकमित्युक्तम् । ततोऽप्यधममेतदराष्ट्रियप्रार्थितमिति विण्मूत्रभक्षणमेव । ततश्च कथमिदमनार्यजुष्टं जीवनं जीवेदार्यः आर्यत्वप्राप्तिकामो वा । अत एवाऽऽर्याः सर्वदा देवताभ्यः स्वाभिलषितं निवेदयन्त्येवम्—"याचितारश्च नः सन्तु मा च याचिष्म कं च न" इति । तस्मात् आर्या जात्वपि नाऽनार्येभ्यो जीवनमिच्छेयुरिति तत्त्वम् । अलमनेनाऽऽवेदितेन । अन्यदग्रे विवेचयिष्यते ।। 74।।

एवमराष्ट्रियप्रार्थितजीवनस्य विण्मूत्रभक्षणत्वं. तत एव च तस्य धिक्कारयोग्यत्वं निन्द्यत्वं चाऽभिहितम् । तेन सर्वथाऽप्यराष्ट्रियेभ्यो नैवाऽर्थनीय जीवनमिति सिद्धान्तितम् । कः कतरो वै एव पतितः । शूकर इव यो विण्मूत्रभक्षणरूपं जीवनमपि समीहेत । आर्यस्तु न कदाऽप्येव माचर्तुमभिलषति । तस्मादेवं भूतेन जीवनेन जीवतां कुत उन्नत्यवसर-

---

करने वाला जीवन भस्म हो जाय, तो अच्छा है, जिस जीवन में भिक्षापात्र का अवलम्बन लेकर मांगा जाता है, वह जीवन तो निन्दनीय है ।

जो लोग निश्चित ही अपने स्वातन्त्र्य-सामर्थ्य से जीवित रह सकते हैं, वे तो याचना नहीं करते हैं, परन्तु संसार में सभी ऐसे नहीं होते हैं । परमात्मा के विलास स्वरूप इस ब्रह्माण्डकदम्ब में सभी लोग आंशिक भाव से शक्तिमान् नहीं होते हैं । सभी सर्वथा न तो स्वतन्त्र होते हैं और न सर्वथा परतन्त्र । जो वस्तु पुरुष के पास नहीं होती है, पुरुष उसी वस्तु की अभिलाषा करता है ।

शंका सम्भवेत् । नत्वेवं जीवनज्वालाया अनिवार्यत्वात् कथं सा समयितव्या अराष्ट्रियशासिते रभसात् । अयमर्थः—सर्वतोऽपि यत्राऽनार्याऽराष्ट्रियशासनं सुदृढमूलं स्फुरति तत्रार्यैः स्वजीवनज्वालाऽशान्त्यै तच्छमनकीलालं केनोपायेन प्रापणीयम् एतदपि निर्णेतव्यमेव । एवं सर्वं मनसि सम्प्रधार्य शंकाजातं तन्निर्णयायाह—

वरं प्राणपरित्यागो निरन्ने निर्जले स्थले
श्ववृत्त्या जीवनं नैव वरं राष्ट्रहितैषिणाम् ॥75॥

वरमिति राष्ट्रहितैषिणाम् — निरन्ने — निर्जले — स्थले — प्राणपरित्यागः—वरं—श्ववृत्या जोवनं – न —एव — वरम् । इति पदयोजनिका ।

"राष्ट्रहितैषिणाम्—'राष्ट्र"=पूर्वलक्षणलक्षितं तस्य ये हितं= पारिणामिकसुख स्वभावेन कर्तव्यबुद्ध्या वाऽभिलषन्ति ते तेषाम् आर्यराष्ट्रवादिनामार्यराज्यवादिनां च तथा भविष्णूनां वा निरन्ने'= निर्गतं=नाऽस्त्यन्नं=भोजनसाधनं यत्र तत् निरन्नं तस्मिन् । यद्यपि श्रुतिषु 'अद्यतेऽत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते' इत्येव रूपेण सर्वस्याऽप्यन्नत्वं प्रतिपाद्यते । तथाऽप्यत्र नान्नशब्दस्तथार्थः किं त्वद्यते तदन्नमित्यर्थकः । श्रुतिष्वन्नस्य ब्रह्मत्वबोधनाय समस्तभेदविगलनाय सर्वत्राऽभेदबुद्धिराय्यर्थाय तथा प्रतिपादनं युक्तमेव । तत्र हि 'अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्' इत्युपक्रमात् । भवतु विषयान्तरचर्चणमनुपयुक्तमिह त्यज्यते 'निजले'—निर्गतं नास्ति जलं=पानसामग्री यत्र तस्मिन् सर्वमपि बस्तुजातं भोजनं पानं त्वावश्यकमित्यतिदुर्निवारमित्यभिलषत्येव तच्च द्वयमपि यत्र नास्ति । निरुपसर्गेणाऽभावस्याऽऽत्यन्तिकत्वे निश्चयो द्योत्यते । तेन च भोजनपानप्राप्तिसम्भावनाऽपि यत्र नास्ति तादृशं स्थलं ध्वन्यते । स्थले=स्थाने प्राणपरित्यागः—प्राणाः=असवः

यह कामना-पूर्ति भी दो प्रकार से होती है– आर्यविधा से एवं अनार्यविधा से । अविद्यमान वस्तु को ग्रहण किया जाता है तथा विद्यमान वस्तु को प्रदान किया जाता है । इस प्रकार से जीवलोक सब प्रकार से सन्तुष्ट रहते हुए आनन्दित होता है । दान तो दाता की इच्छा के अधीन होता है तथा आदान भी आदाता (ग्रहणकर्ता) के अधीन होता है । जहां स्वातन्त्र्य से दान-आदान का विधान होता है, वहां आर्यविधा होती है । जहां पारतन्त्र्य से दान और आदान का विधान होता है, वहां अनार्यविधा होती है । जहां आदाता एवं प्रदाता इन दोनों में

"पुंसि भूम्न्यसवः प्राणाः" इत्यमरः। तेषां परितः=आसमन्तात्, तथा च कोषः—

परिः समन्ततोभावप्राप्तिदोषकथासु च।

'त्यागः'=उत्सर्जनम्। वरं=अत्यभीष्टम्। अव्ययमत्र वरमिति। तथा च मेदिनी कोषः—

वरो जामातरि वृतौ देवतादेरभीप्सिते।
षिङ्गे पुंसि त्रिषु श्रेष्ठे कुङ्कुमे तु नपुंसकम्॥
वरी प्रोक्ता शतावर्या वरा च स्यात् फलत्रिके।
मनागिष्टे वरं क्लीबं केचिदाहुस्तदव्ययम्॥

पारिणामिकसुखजनकमिति भावः 'श्ववृत्त्या'=शुनः=कुक्कुरस्य 'वृत्ति'=जीवनं श्ववृत्तिशब्देन नीचसेवा गृह्यते नोच्चसेवा तथा सति पित्राचार्यगुर्वतिथिसेवाऽपि श्ववृत्तिः स्यात् तथात्वे च सर्वोऽप्यादानप्रदानव्यवहार एवोच्छिन्नः स्यात्। तया हेतुभूतया जीवन=प्राणधारणं न 'एव'=निश्चयेन निषिद्धतमं 'वरं'=अभीष्टम्। अत्रेदं तात्पर्यम्—इह खलु सौषुप्तस्वाप्नजाग्रत्केति त्रिविधेऽपि विश्वप्रपञ्चे प्राणधारणं समस्तमपि वस्तुजातं सर्वदैव समभिलष्यति। अयमर्थः—स्वतन्त्रादपि स्वतन्त्रमारभ्य परतन्त्रादपि परतन्त्रपर्यन्तं प्रतीयमानताऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नं सर्वमपि जीवनाऽभिलाषितामवगाहमानमेव विद्योतते।अनेनैवम्भूतं च न च शङ्क्यते न चाऽपि समाधीयते। तत्र स्वतन्त्रः स्वातन्त्र्येण परतन्त्रश्च पारतन्त्र्येण जीवति। अभिलषति त्वानन्दमेव। आनन्दमुद्दिश्यैव च समस्तस्याऽपि गतिमत्वात्। अत एव कदाचिदानन्दाय पारतन्त्र्यमप्यभिलषत्येव स्वयं प्रभुरयं नानारूपेणात्मन्येव रममाणः परमात्मा। वस्तुमात्रस्य परमात्मरूपत्वं यथा चाऽवगम्यते तथा

आर्यत्व होता है, वहीं पूर्णरूपेण आर्यविधा होती है, वहीं पूर्ण शान्ति होती है, वहीं सतयुग होता है। जहां दाता आर्य होता है, अदाता अनार्य होता है, दाता सबल होता है, अदाता दुर्बल होता है, वहां कुछ शान्ति होती है, वह त्रेतायुग है। जहां दाता अनार्य होता है और प्रबल होता है, अदाता आर्य होता है और दुर्बल होता है, वहां अशान्ति अधिक होती है, वह गैश्ययुग होता है। जहां दोनों अनार्य होते हैं, वहां पूर्ण अशान्ति होती है। यह अनार्यविधा होती है। व्यवहार में आर्य और अनार्य का मिश्रण भी होता है। इस मिश्रत्व में भी आर्य प्रबलता में उत्तमता तथा अनार्य प्रबलता में अधमता होती है। दोनों के निःस्पृष्ट होने

निरूपितमात्मविलासे तद्व्याख्यायां च तेनेह वितन्यते । यथैवमभिलषति तथैवाऽयं सम्पद्यते । यथा च आत्मविलासे—

सापेक्षतत्तत्स्वातन्त्र्यमीहमानः स्वयम्प्रभुः ।
सापेक्षमेव लभते स्वातन्त्र्यं स्वविलासतः ।। (आ. वि. 3/10)

ननु पारतन्त्र्यस्याऽतिनिन्द्यत्वात्तदर्थं कथमभिलाषा इति चेन्नेदं युज्यते । परमात्मनः पूर्णत्वात्कथं निवारयितुं शक्यः । तदतिरिक्तस्याऽन्यस्याऽसम्भवात् केन वा स निवार्यः । किं च स्वयं निवारणेऽपि निवार्यमाणस्य प्रतीतिरवश्यमेव वाच्या, तदन्तरेण निवारणस्यैवाऽनुपपत्तिरिति सर्वमपि घटत एव परमात्मनि । अत एव श्रीसोमाऽऽनन्दनाथपादा श्रीशिवदृष्टिशास्त्रे प्राहुरेवम्—

कुत्सितेऽकुत्सितस्य स्यात् कथमुन्मुखतेति चेत् ।
रूपप्रसाररसतो गर्हितत्वमयुक्तिमत् ।।

सर्वथाऽपि सर्वमपि परमात्मनि सम्भाव्यत एव पूर्णत्वादिति तत्त्वम् । इदं तु बोध्यम्—स एव परमात्मा नानाविधस्वरूपैः सौषुप्तावस्थाभिः

पर तो व्यवहार ही नहीं होता है । आर्यों के दान और आदान में तमस् की मात्रा अल्प ही होती है । अनार्यों के दान और आदान में सत्त्व की मात्रा अल्प होती है । जहां तमस् की अधिकता होती है, उसे मृत कहना उचित होगा । जहां सत्त्व की अधिकता होती है, उसे अमृत कहना उचित होगा । अतः पिता, माता एवं आचार्य की शुश्रूषा से प्राप्त अमृत ही कहलायेगा तथा अनार्य से प्राप्त मृत कहलायेगा ।

जब अनार्यों का प्राबल्य होता है, तो आततायि-भाव का प्रादुर्भाव होता है और जब आर्यों की प्रबलता होती है, तो आततायित्व का नाश होता है । अनार्यों से प्रार्थित जीवन भी मृत ही है, अतः निन्दनीय है । अनार्यों से प्रार्थित जीवन में राष्ट्रको उतनी हानि नहीं होती, बल्कि लाभ ही होता है, किन्तु आर्यों का अनार्यों से प्रार्थित जीवन में राष्ट्र की सब ओर से हानि ही होती है ।

अराष्ट्रिय निश्चित ही अपने राष्ट्र में, किन्तु आर्य भी राष्ट्रान्तर में अनार्यभाव का ही आश्रय लेते हैं । वे यदि दैववशात् शासक पद पर आरूढ़ हो जाते हैं, तो निरंकुश हो जाने से अनार्यभाव को ही प्राप्त होते हैं । अतः उनसे प्रार्थित जीवन धिक्कार के योग्य ही होता है ।

उन अप्रार्थित अराष्ट्रियों से प्राप्त जीवन, दस्युप्राप्त एवं दण्डयुत्वकारक जीवन वास्तव में जीवन नहीं है, क्योंकि यह जीवन अस्वाभाविक है । जीवन

परस्परोन्मुख इव क्रीडति । तत्र यान्यनार्यरूपाणि तानि परिहार्याणि यानि चार्यरूपाणि तानि परिग्राह्याणीति तस्यैव नियतिः । नियतिपरतन्त्रे च सर्वदाऽयं विवेकः सरंक्षणीय एव व्यवहारश्च जीवजातस्य नियतिपरतन्त्र एव । तत्र चार्यत्वं सर्वैरप्युपादित्सितव्यं तस्यैव पारिणामिकसुखजनकत्वात् । अनार्यत्वं च सर्वैरपि विजिहासितव्यम् । परमात्मनः परशिवस्य तु सर्वतः स्वातन्त्र्यात् नेदमुपयुक्तम् । अत एवाभिनवगुप्तपादाः प्राहुः—

आत्मा प्रकाशवपुरेष शिवः स्वतन्त्रः ।
स्वातन्त्र्यमर्म रभसेन निजं स्वरूपम् ॥
संधापयत्पुनरपि प्रथमे स पूर्णे ।
तच्च क्रमाऽक्रमवशादथ वा त्रिभेदात् ॥

अत एव कार्याऽकार्यज्ञानस्य पूर्णताया अभावाज्जीवलोकस्य तद्विवेकाय शास्त्रस्य ऽपेक्षाऽपि वर्तत एव । अतः शासनप्रबन्धायाऽप्यावश्यकत्वं शासकानाम् । तत्र कार्योन्मुखा आर्याः अकार्योन्मुखा अनार्या इति तु प्रागेव निवेदित प्रकृतभाष्यकृता । भृतिग्रहणं च पातित्वकारितयाऽकार्यमित्युक्तपूर्वम् । राष्ट्रहितैषिणश्च द्विविधा इति नैव कुर्वीरन् स्ववृत्तिम् । अयमर्थः--आत्मदृष्ट्या सर्वत्रैकरसतया सर्वास्वप्यवस्थास्वानन्दवत्तया न क्वाऽपि विगर्हितत्वम् । अथाऽप्यात्मनः पूर्णतया सर्वदृष्टिमत्तया ऽऽत्मन एवापूर्णम्मन्यभावाऽवलम्बिदृष्ट्या जीवलोक आपेक्षिकद्वन्द्वजाते स्वातन्त्र्यस्याऽनन्दवत्वं पारतन्त्र्यस्य चाऽनानन्दवत्त्वमिति सूक्ष्मेक्षिकया पर्यालोच्य स्थापिते सति स्वातन्त्र्यस्योपादित्सितव्यता पारतन्त्र्यस्य परिजिहासितव्यता च प्रसिध्यत्येव । शास्त्रमिदं च श्रीराष्ट्रालोको व्यावहारिकमोक्षमधिकृत्य प्रवर्तत इत्यप्यावेदितं प्रागेव एवं च व्यवहारे किं कार्यं कैरिति निर्णीतव्यमेव शास्त्रेण ।

तो स्वाभाविक होता है । स्वाभाविक जीवन ही स्वातन्त्र्यजीवन है । पारतन्त्र्यजीवन तो अस्वाभाविक है, अतः निन्दनीय है । अराष्ट्रियों से प्रार्थित जीवन भर्त्सनीय और निन्दनीय होता है । वस्तुतः उसे जीवन कहना ही नहीं चाहिए ।

आकार का तो भेद होता है, किन्तु भर्त्सनीय एवं निन्दनीय में कोई अन्तर नहीं होता है । अराष्ट्रियों द्वारा प्रार्थित जीवन जीवन न होकर विष्टा और मूत्र का भक्षण मात्र है । कोई भी मनुष्य विण्मूत्रभक्षण करना नहीं चाहता, अपितु उसका परित्याग ही करना चाहता है । अतः यह अतीव निन्दनीय तथा

तत्र व्यवहारे सेवायाः सर्वत्राऽप्यनिवार्यत्वात् । सा तु स्वाभाविक्येवाऽऽदानप्रदानमये द्वैतप्रपञ्चेऽत्र । अतस्तस्याः प्रकारतारतम्यविवेके नैव कार्याऽकार्यव्यवस्थाऽपि स्थापनीयेत्यपि सुतरां निष्पद्यत एव । तत्र नारदादिभिः सेवकः पञ्चविधः प्रोक्तः तेष्वपि चत्वार आद्याः शुभकर्मकारिणो ऽन्यश्च पञ्चमः पञ्चदशविधोऽशुभकर्मकारित्वेनोक्तः । तत्राऽपि पूर्वेषु चतुर्विधेषु व्यवस्थेयमुचिता इत्युक्तं 'भृतिरन्या' (रा. 49) इति कारिकाया भाष्याऽवसरे । पञ्चविधाऽपि सेवाऽऽर्यस्य कार्या आर्यैरनार्यैश्च । अनार्याणां नैव व्यवहारे क्वापि सेव्यत्वं युज्यते । पातित्यकारित्वात् पतितसेवाया इति तु समस्तानां शैवादिब्राह्मान्तानां श्रुतिस्मृत्यादीनामविसंवादी सिद्धान्तः । तत्र दैवादनार्यकर्तृकपारतन्त्र्ये राष्ट्रहितैषिणां किं युज्यते जीवनायेति निर्णेतव्यमेव तत्र ब्रूमः—प्रथमतः खल्विदमेव पर्यालोचनीयं यत् जीवनं नाम किं, किं च तस्य प्रयोजनं, किं च कारणमिति । पर्यालोचितं च तात्पर्यंत इदं सुनिष्पद्यते—प्राणधारणं हि जीवनम् स्वभावादेव समुत्पद्यते । पारिणामिकः शाश्वतिक आनन्दश्च प्रयोजनम् । इति । राष्ट्रहितैषिणश्च तत्त्वदर्शिन इति ते सम्यगाकलयन्ति यदनार्यसेवनं नाम सर्वप्रकारकमपि राष्ट्रपतनकारणमिति । पातित्यं वैयक्तिकमपि न कोऽप्यार्योऽनार्यो वा हृद्यत्वेनाऽभिप्रैति । राष्ट्रपातित्वे च व्यक्तिपातित्वं सुतरां भाव्येनेति निर्णीतमेव पूर्वम् । अत एव राष्ट्रस्य स्वभावेन वा कर्तव्यबुद्ध्या वा ये हितमभिलषन्ति ते श्ववृत्तिं जात्वपि मा कुर्युरभिलषेयुरर्वा ।

धिक्कार योग्य है । जैसे तण्डुल-गोधूम आदि पदार्थों का विष्टा-मूत्र आदि से आकार, गुण तथा परिणाम में भेद होता है, वैसा भेद जीवन के विषय में नहीं होता है ।

जहां सब ओर से अनार्य एवं अराष्ट्रिय शासन फैला हुआ हो, वहां आर्यों को अपनी जीवन-ज्वाला की शान्ति का अमृत किस उपाय से प्राप्त करना चाहिए—इसका निरूपण किया जा रहा है । ग्रन्थकार के अनुसार उसके अभाव में तो श्ववृत्ति से मर जाना अच्छा है ।

अयमर्थः—ये तावत् परिनिष्ठा राष्ट्रहितैषिणस्ते तु नैव कुर्वन्तीति तु न ते उपदेश्या प्रस्तुतभाष्यकृता। ये तु न परिनिष्ठितास्त एवोपदिश्यन्ते। ये उन्निनीषवो राष्ट्रं प्रति ते प्राणांस्त्यजन्तु तदुचितं, परन्तु श्ववृत्त्या मा जीवन्तु। श्ववृत्तिशब्देनाऽत्रानार्यसेवा सर्वविधाऽपि सङ्गृह्यते। अयमर्थः—यः किल प्राणधारणस्योद्देशः स यदि प्राणधारणेन न निष्पद्येत तदा तत्प्राणधारणं निरर्थकमिति हेयमेव। किमधिकेन,प्राणपरित्याग एव तत्र वरम्। अव्ययमत्र वरमिति आर्याः किलाऽऽर्यत्वसंरक्षणमुद्दिश्य जीवन्ति तदुद्देशपरिपूर्त्तिकरणाऽशक्तजीवनं हेयमिति तेषां सिद्धान्तः। निमित्तादपराद्धेषोर्वल्गितमिव धानुष्कस्य निन्द्यतमं हि तत्प्राणधारणं यत् नोद्देशं परिपूरयितुं क्षमम्। अत एव आर्या अकीर्तिकरं प्राणधारणमतीव गर्ह्यमिति निरन्ने निर्जलेऽन्नपानसाग्र्या अभावात् प्राणपरित्यागं वरमिति मन्यन्ते। अत्रेदं बोध्यम्—वरं इत्यस्य अनव्ययत्वेऽभिमते 'इति मतम्' इति शेषोऽध्याहार्यः। तदेवं येऽपि नामाऽऽर्यत्वसंरक्षणकामास्तेऽन्नपानादिजीवनसामग्र्यभाववति स्थले प्राणपरित्यागमप्याचरेयुः, किंतु श्ववृत्त्या जीवनं मा कुर्युः। यतो हि राष्ट्रहितविघातिनी खलु सा श्ववृत्तिर्नाम। राष्ट्रहितमुद्दिश्यैव खलु व्यवहार आर्याः प्राणान्धारयन्ति। व्यवहारे राष्ट्रस्यैवाऽऽत्मत्वाद्राष्ट्रियाणाम्। आत्मघाताच्च न किमपि पापमधिकमन्यदस्ति प्रतीयमानं क्वाऽपि। अत एव गीतास्वपि भगवानाहाऽर्जुनं प्रति—

सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते।

(गी. 2।34)

इदं च बोध्यम्—श्ववृत्तिः किल सेवा सा च शुन एव जीवनमिति कथं नाम नरैर्विधेया। तां च विदधानाः कथं नाम नरपदव्यवहारभाजो भवेयुः। अस्तु। अनार्याणां याऽपि नाम सेवा क्रियत आर्यैः सा सर्वाऽपि श्ववृत्तिरेव। अत एव याज्ञवल्क्यादीनां महर्षीणामयं सिद्धान्तः—

वरं प्राणपरित्यागो निरन्ने निर्जले स्थले।
श्ववृत्त्या जीवनं नैव वरं राष्ट्रहितैषिणाम् ।।75।।

राष्ट्र हितैषियों का अन्न रहित एवं जल रहित स्थान पर प्राणों का परित्याग करना अच्छा है, किन्तु श्ववृत्ति से (कुक्करों की भांति) जीवन-यापन करना उचित नहीं है।

जो खाया जाता है अथवा जिसे मनुष्य खाता है, वह अन्न है। श्रुति में अन्न का ब्रह्म से अभेद स्थापित किया गया है—वह उचित ही प्रतीत होता है।

वर्णानामानुलोम्येन दास्यं न प्रातिलोम्यतः ।

तस्मात् शासकानामशासकानां येषां केषामप्यराष्ट्रियाणां सेवात्वाऽवच्छेदकाऽवच्छिन्ना श्ववृतिरेवेति परिहर्तव्यैव । पारतन्त्र्ये तु निरन्ननिर्जलप्रदेशे गत्वा निवसेयुर्यत्र नाऽराष्ट्रियसेवाप्रसङ्ग समायाति । ननु तत्र निरन्ननिर्जलस्थले प्राणधारणं न सम्भवतीति चेत् प्राणपरित्यागो विधेयः परन्तु सजलसान्नप्रदेशे यत्र प्राणधारण-सामग्री सर्वाऽपि लब्धुं शक्यते तत्र चेदराष्ट्रियसेवनमपि कर्मावश्यकं तदा प्राणधारणं विहाय प्राणपरित्यागो विधेय इति राष्ट्रहितैषिणां वरं मतमस्ति । राष्ट्रहितैषिणश्चाऽऽर्या एव सम्भवन्ति नाऽनार्याः । अनार्याः खलु राष्ट्रवादिनोऽपि न राष्ट्रहितैषिणः यतः खलु ते स्ववैयक्तिकभोगबुभुक्षाशान्त्यै राष्ट्रवादित्वं नाटयन्ति न राष्ट्रहिताऽऽशंसया । आर्याः पुना राज्यवादिनोऽपि न राष्ट्रद्रुहः, किंतु वैयक्तिकाऽऽशंसापूर्त्यै राज्यवादिनस्ते । राष्ट्रवादमन्तरेण न वैयक्तिकाऽऽशंसा सम्यक् परिपूरयितुं शक्येति न जानते ते इति त्वन्यत् । अत एव द्विविधानामप्यार्याणां राष्ट्रहितैषिपदव्यवहारयोग्यत्वं युज्यते वक्तुम् कथमपि । ततश्च श्ववृत्तिर्न कदाऽपि विधया आर्यराष्ट्रवादिभिरार्यराज्यवादिभिश्च । इदं च बोध्यम्–स्वराष्ट्रेऽविद्यमानस्य शिल्पादेः शिक्षार्थं राष्ट्रान्तरं गत्वा यत्तेशुश्रूष्यन्ते सा न श्ववृत्तिः । तत्राऽपि तेभ्यो भृतिं गृहीत्वा कार्याचरणं तु श्ववृत्तिरेव । तत्कर्म शुभं वाऽशुभं वा भवतु, भृत्यानामाविष्ठातृत्वं वा भवतु यदेव भृतिं गृहीत्वा क्रियते तत्सर्वमपि श्ववृत्तिरेवेति परिहार्यमेव। परिहाराऽसम्भवे प्राणपरित्यागो विधेयः । श्ववृत्तिः पुनर्न कार्या । किं च स्वतन्त्र राष्ट्रे राष्ट्रनेतृभिरराष्ट्रियां भृतिं दत्वा स्वराष्ट्रियान् शिक्ष्यादि शिक्षयितुं

जीवन के लिए अन्न और जल आवश्यक है। जहां इन दोनों की प्राप्ति की सम्भावना नहीं है, ऐसे स्थान पर प्राणों का परित्याग करना उचित है।

श्ववृत्ति से जीवन-यापन का अर्थ नीचसेवा से है, न कि उच्चसेवा से। यदि श्ववृत्ति का अर्थ नीचसेवा न होता, तो आचार्य, गुरु, अतिथि की सेवा भी श्ववृत्ति कहलाती। परतन्त्र व्यक्ति परतन्त्रता से तथा स्वतन्त्र व्यक्ति स्वतन्त्रता से जीवन व्यतीत करता है। आनन्दप्राप्ति ही सब प्राणियों का उद्देश्य है। परमात्मा का स्वरूप भी आनन्द ही है।

आर्यत्व की उपासना सभी को करना चाहिए, क्योंकि वह परिणाम में सुखदायक होता है। अनार्यत्व को छोड़ देना चाहिए। यह राष्ट्रालोक व्याव-

नियोज्यन्ते तत्र च शिक्षार्थिभिर्या शिक्षकस्याऽराष्ट्रियस्याऽऽज्ञापालनादिसेवा क्रियते साऽपि न श्ववृत्तिरिति । अत एव मनुरप्याह—

अब्राह्मणादध्ययनमापत्काले विधीयते ।
अनुव्रज्या च शुश्रूषा यावदध्ययनं गुरोः ॥

(मनु. 2।241)

किं च यद्यदेव राष्ट्रोन्नतिकरं तत्सर्वमपि यतो यतोऽनार्यादार्याद्वा लभेत ततस्ततः समाददीत । तथा च मनुरेवाह—

स्त्रियो रत्नान्यथो विद्या धर्मः शौचं सुभाषितम् ।
विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः ॥

(मनु. 2 240)

श्रद्दधानः शुभां विद्यामाददीताऽवरादपि ।
अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ॥

(मनु. 2।238)

विषादप्यमृतं ग्राह्यं बालादपि सुभाषितम् ।
अमित्रादपि सद्वृत्तममेध्यादपि काञ्चनम् ॥

(मनु. 2।239)

अत्रेदं च बोध्यम्—राष्ट्रियादार्यादलाभेऽनार्यादपि समादेयं राष्ट्रोन्नतिकरं सर्वमपि । अराष्ट्रियात्पुनरादानमतीव सावधानतया विधेयम् ।

हारिक मोक्ष शास्त्र है । अतः शास्त्र के द्वारा यह निर्णय किया जाना चाहिए कि व्यवहार में क्या करना चाहिए और किनके द्वारा किया जाना चाहिए । व्यवहार में तो सेवा सर्वत्र अनिवार्य है । नारद आदि ऋषियों के अनुसार सेवक पांच प्रकार के हैं । 4 प्रकार के सेवक विश्वस्त है और शुभ कर्म करने वाले होते हैं । तथा पांचवा सेवक अशुभ कर्म करने वाला है । यह पांचों प्रकार की सेवा आर्यों और अनार्यों द्वारा केवल आर्यों की ही की जानी चाहिए । व्यवहार में अनार्यों का कहीं भी सेव्यत्व नहीं कहा गया है, क्योंकि वे पतित हैं ।

प्राणधारण करना ही जीवन है । यह जीवन सबके लिए स्वाभाविक है । पारिणामिक और शाश्वतिक आनन्द प्राप्ति ही इस जीवन का उद्देश्य है । राष्ट्रहितैषी तत्त्वदर्शी होते हैं । अनार्यों का सेवन सब प्रकार के पतन का कारण है । जो राष्ट्र के प्रति परिनिष्ठित नहीं होते हैं । उन्हें ही उपदेश की आवश्यकता

तेषामतिगृध्नुत्वस्वाभाव्यात् । भवतु, श्ववृत्तिस्तु सर्वथाऽपि हेयैव । अत एव मनुरप्याह—

ऋताऽमृताभ्यां जीवेत मृतेन प्रमृतेन वा ।
सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदाचन ।।

(मनु. 4।4)

इदं हि ब्राह्मणमुपक्रम्योक्तं मनुना । तेन ब्राह्मणाब्राह्मणोन्मुखाश्च जात्वपि न श्ववृत्त्या जीवेयुरित्यभिप्रायः । ते च राष्ट्रवादिन आर्यराज्यवादिन एवेति राष्ट्रहितैषिण इति सङ्गृहीताः । एवं च स्वराष्ट्रे वा परराष्ट्रे वा राष्ट्रहितैषिणो न श्ववृत्त्या जीवेयुः । एतेन राष्ट्रहितैषिणः सन्तोऽपि ये श्ववृत्त्या जीवन्ति ते भ्रान्ता अकामेनाऽपि राष्ट्रघातिचण्डालपदमधिरुह्य राष्ट्रं समस्ताङ्गोपाङ्गसहितमात्मव्यक्तिसमेतं समूलघातं निघ्नन्त्येवेति तादृशजीवनान्मरणमेव श्रेय इति मतं राष्ट्रहितैषिणाम् । अत एव नन्दिनीसंरक्षणाऽशक्त दिलीपमुखेन कालिदास आह—

क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः ।
राज्येन किं तद्विपरीतवृत्तेः प्राणैरुपक्रोशमलीमसैर्वा ।।

(रघु 2।53)

इयमेव परा राष्ट्रहितैषिता यत् निरन्ननिर्जलस्थले मरणमपि वरं मन्यन्ते न पुनः श्ववृत्त्या प्राणधारणम् । तत्तु महदेव नीचैःकर्मेति सर्वं दोपानत्प्रहारयोग्यमिति मन्यन्ते । यत्तु 'सर्वत एवात्मानं गोपायीत' इति

नहीं होती, किन्तु जो परिनिष्ठित नहीं होते, उन्हें ही उपदेश दिया जाता है । वे राष्ट्र के लिए प्राणों का परित्याग कर दें, यह तो उचित है, परन्तु वे श्ववृत्ति से जीवन-यापन करें, यह उचित नहीं है । अतः आर्य लोग अकीर्तिकारक प्राण-धारण को अतीव निन्दनीय मानते हैं । अतः वे अन्नरहित तथा जलरहित स्थान पर प्राणों का परित्याग करना ही श्रेष्ठ मानते हैं । आर्य लोग अन्न जल से रहित स्थान पर प्राणों का परित्याग कर दें, किन्तु श्ववृत्ति से जीवन-यापन न करें, क्योंकि श्ववृत्ति राष्ट्रहित विघातिनी है । आर्य लोग राष्ट्रहित के लिए ही प्राणधारण करते हैं । आत्मघात से अधिक कोई पाप नहीं हैं । गीता में भी कहा है कि सम्भावित व्यक्ति का अपयश मरण से भी बढ़कर है ।

श्रूयते तत्तु समीचीनमेव । राष्ट्रहितैषिणां राष्ट्रस्यैवात्मत्वात्तदेव प्राण-परित्यागेनाऽपि संरक्षणीयमित्येव तस्यार्थः । यच्च मनुस्मृतौ—

आपदर्थे धनं रक्षेद् दारान् रक्षेद्धनैरपि ।
आत्मानं सततं रक्षेद् दारैरपि धनैरपि ।। (मनु. 7।213)

एतदपि राष्ट्रहितैषिणामार्याणां राष्ट्रपरमेव न व्यक्तिपरम् । इदं च बोध्यम्—अराष्ट्रियेभ्यः प्रार्थितं जीवनं विण्मूत्रमिति तदतीव निन्द्यमितिनि षिद्धमेवेत्युक्तमेव पूर्वस्यां कारिकायाम् । अनया च कारिकया अप्रार्थितमपि जीवनं चेल्लभ्येत तदपि न स्वराष्ट्रे जीवतां राष्ट्रहितैषिणां युज्यते । तस्याऽपि श्ववृत्तित्वाऽवश्यम्भावात् । या पुनर्वृत्ति-भृतिग्रहणपूर्विका क्रियते, सा तु साक्षात् श्ववृत्तिरेवेति तथा जीवनाऽपेक्षया प्राणपरित्याग एव वरम् । अत एव अराष्ट्रिये शासति स्वर्गीयाऽमृत-भोजनमप्यतिगर्हितमेवेत्युक्तं पूर्वम् । एवं च अराष्ट्रियकर्मिकाऽराष्ट्रिय-कर्तृका च सर्वाऽपि सेवा साक्षात् परम्पराया वा श्ववृत्त्यामेव परिणमत इति सा सर्वतोऽपि परिहर्तव्यैवेति विधीयत इत्यलम् ।।75।।

एवं वृत्तिप्रकरणं साङ्गोपाङ्गं निरूपितम् । अथ परतन्त्रे राष्ट्रे परकीयशासकप्रचारभेदभिन्ने सर्वतोऽपि मिथ एव राष्ट्रियाणां युद्धानि सम्प्रवर्तन्ते । तत्र राष्ट्रोन्नतिचिकीर्षुभिरीषदपि शक्तिसम्भवे राष्ट्रिया दण्डनीयाः । तत्र दण्डनं चाऽराष्ट्रियसहायतयैव सम्भवति । अदण्डने दण्ड्यानां न शान्तिः सम्भवः । दण्डन च पारतन्त्र्यनिगडगृहीततया

निश्चित ही सेवा श्ववृत्ति है । सेवा तो कुत्ते का ही जीवन है । मनुष्य इस सेवा को क्यों करें । आर्यों द्वारा जो अनार्यों की सेवा की जाती है, वह श्ववृत्ति ही है ।

राष्ट्रहितैषी आर्य ही होते हैं, अनार्य राष्ट्रवादी भी हों, तो भी राष्ट्र-हितैषी नही होते हैं, क्योंकि वे अपने वैयक्तिक भोग एव बुभुक्षा की शान्ति के लिए राष्ट्रवादी होने का नाटक करते हैं । राज्यवादी आर्य भी राष्ट्रद्रोही नहीं होते, क्योंकि वे वैयक्तिक आशंसा-पूर्ति के लिए राज्यवादी बने हैं । राष्ट्रवादी हुए बिना वैयक्तिक आशंसा की अच्छी प्रकार पूर्ति नहीं की जा सकती है । अतः आर्य राष्ट्रवादियों को और आर्यराज्यवादियों को भी श्ववृत्ति कभी नहीं करनी चाहिए ।

ऽराष्ट्रियसहायतयैव दण्डनीया इति प्राप्तम्। तत्र मिथो युद्धे हानी राष्ट्रस्य, अराष्ट्रियसंशयेन राष्ट्रियदण्डने वा राष्ट्रस्य हानिरित्यपि प्रसङ्गापतितं निर्णेयतयेति प्राह, अथ च स्वतन्त्रेऽपि राष्ट्रे राष्ट्रज्ञान-वैचक्षण्याभावादुत्पन्ने मिथः कलहे तं शमयितुं राष्ट्रियदण्डनायाराष्ट्रिय-सहायता गृहीतव्या यया समुन्नतिः स्याद्राष्ट्रस्य न वा गृहीतव्येत्यपि निर्णीतव्यमेवेति सर्वमपि प्रसङ्गतः समापतितमेवेत्याह वा—

राष्ट्रियाणां मिथो युद्धं न तादृग् हानिकारकम्।
अराष्ट्रियसहायेन यथा राष्ट्रियदण्डनम् ॥76॥

राष्ट्रियाणामिति। राष्ट्रियाणां—मिथः—युद्धं—तादृक्—हानि-कारकं—न यथा—अराष्ट्रियसहायेन—राष्ट्रियदण्डनम्। इति पदयो-जनिका।

'राष्ट्रियाणाम्'—राष्ट्रस्य चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धिनां पुंस्त्वं सर्वत्राऽप्यविवक्षितमेव। 'मिथः'=अन्योऽन्यम् "मिथोऽन्योऽन्यं रहस्यपि" इत्यमरः। 'युद्धम्'=सम्प्रहारव्यवहारः, युध् सम्प्रहारे ततो भावे क्तः। 'तादृक्=तथाविधतया 'हानिकारकम्'– हानेः सम्पादनं 'ण्वुल्तृचौ' (पा.सू.3।1।133) इति ण्वुल् प्रत्ययः। 'न' अभावेऽव्ययम्। तथा चाऽमरः —'अभावे नह्यनो नाऽपि मा स्म माऽलं च वारणे' इति।

शिल्प आदि की शिक्षा प्राप्त करने के लिए जो दूसरे राष्ट्र में आकर सेवा करते हैं, वह श्ववृत्ति कहलाती है उसका त्याग करना ही चाहिए। यदि यह त्याग असम्भव हो, तो प्राणपरित्याग कर देना चाहिए।

ब्राह्मण अथवा ब्राह्मणोन्मुख व्यक्ति कभी भी श्ववृत्ति से जीवन-यापन न करें। वे ही आर्यराष्ट्रवादी, आर्यराज्यवादी एवं राष्ट्रहितैषी कहलाते हैं। इस प्रकार राष्ट्रहितैषी अपने राष्ट्र में अथवा परराष्ट्र में श्ववृत्ति से जीवन व्यतीत न करें। इससे यह सिद्ध होता है कि राष्ट्रहितैषी होते हुए भी जो श्ववृत्ति से जीवित रहते हैं, वे भ्रान्त हैं, व्यर्थ में राष्ट्रघाती एवं चाण्डाल पद पर आरूढ होकर अंगोपांग सहित समस्त राष्ट्र को मूलरहित नष्ट कर देते हैं। ऐसे जीवन से मरना ही श्रेयस्कर है। श्ववृत्ति से प्राणधारण करना अतीव नीचकर्म है तथा उपानत्प्रहारयोग्य माना गया है।

'सम्पद्यते' इति शेषः । 'यथा'=येन प्रकारेण 'अराष्ट्रियसहायेन'—चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धिभिन्नस्य सहायं=सहायता सहायशब्दोऽत्र सहायः अस्ति यत्र तत् सहायं 'अर्शआदिभ्योऽच्'' । (पा.सू. 5।2।127) इत्यनेन मत्वर्थेऽच् प्रत्ययः । तेन । अथ वा अराष्ट्रियः सहायो यस्य तेन 'राष्ट्रियदण्डनम्'—राष्ट्रियाणां=पूर्वोक्तानामार्याणां वा दण्डनं=दोषदूरीकरणाय निग्रहण हानिकारकमिति शेषः । अस्या अयं भावः—राष्ट्रे तावत् न कस्मिन्नपि सर्वो लोकः समानस्वभावो भवति । अयं भावः—एको हि परमात्माऽनन्तशक्तिनिर्भरस्वभाव इति कोटिकोटिस्वरूपकल्पनाभिः स्वात्मनि रमते क्रीडति मिथुनीभावेनात्मन्येव परस्पराऽभिमुखस्वरूपभावनेन । ततश्च यथा मूलबिन्दुः स्वरूपरसिकशिरोमणितया द्वैविध्येन सम्मिश्रस्वरूपस्तथा तदुपकल्पितास्तदुपजीवकास्तदभिन्नस्वरूपास्तदुत्थकार्यबिन्दवोऽपि द्वैविध्येन मिश्रितरूपा इति स्वकल्पनया मिथुनीभावमुपेताः परस्पराऽभिमुखतामुपेताः कोटिकोटिकार्यबिन्दून् परिकल्पयन्तः क्रीडन्ति रमन्ते च । अथ चाग्रे तेऽपि तथैव । एवं हि बिन्दुरहस्यम् । अत्र हि मूलं कामकलैव । तदेतत्सर्वमपि कामकलाविलसितमेव । सर्वमेतत्प्रस्तुतभाष्यकृत्तातचरणैः स्फोटितं कामकलाविविलासव्याख्यायामिति तत एव विभावनीयम् । राष्ट्रमपि तस्यैव परशिवबिन्दोः कार्यबिन्दुरेव । अयमपि नानाविधान् कार्यबिन्दूनाविर्भावयति तिरोभावयति च । निग्रहाऽनुग्रहयोः सम्मिश्रणं बिन्दुरित्युच्यते

स्वतन्त्र राष्ट्र में राष्ट्रज्ञान की विचक्षणता के अभाव में कलह को शान्त करने के लिए राष्ट्रिय दण्ड के लिए अराष्ट्रिय सहायता ग्रहण करनी चाहिए अथवा नहीं ? इसका निरूपण किया जा रहा है । ग्रन्थाकार के अनुसार परस्पर कलह की अपेक्षा अराष्ट्रिय सहायता वर्ज्य है—

राष्ट्रियाणां मिथो युद्धं न तादृग् हानिकारकम् ।
अराष्ट्रियसहायेन यथा राष्ट्रियदण्डनम् ।।76।।

राष्ट्रियों का परस्पर युद्ध इतना हानिकर नहीं है, जितना अराष्ट्रिय सहायता से राष्ट्रियदण्ड ।

पूर्वोक्त राष्ट्रिय आर्यो अथवा अनार्यों के दोषों को दूर करने के लिए निग्रहण करना हानिकारक है । राष्ट्र में सभी लोग एक स्वभाव वाले नहीं होते

तत्र निग्रहः क्रियाशक्तिरनुग्रहो ज्ञानशक्तिः। एतस्यैव यथायथं गौण-मुख्यभावकल्पनातारतम्यवशात् समस्तसृष्टिकल्पना। सेयमैन्दवी वैसर्गिकी शक्तिः। अत एव राष्ट्रेऽपि परिपूर्णतया नानाविधत्वविकासात् सर्वत्र नानाविधत्वं दरीदृश्यते तत्र च कदाचिदार्याणां कदाचिच्चाऽनार्याणामाधिक्यं प्राधान्यं च। अत एव यदाऽऽर्याणां प्राधान्यं तदा न कलहः, यदा चानार्याणां प्राधान्यमुद्भवति तदा परस्परं कलहप्रचारः। कलहश्च पतनकारणमिति तु निश्चितमेव। पतनं च न कोऽपि जीव उपादित्सति। परिणामे आनन्दविनाशकत्वात् पतनस्य। अत एव सर्वोऽपि शान्तिकामस्वाभाव्याज्जीवलोकः कलहनाशायैव प्रयतते। यच्च कलहपरतादर्शनं विचक्षणेष्वपि तदपि कलहनाशायैव चिकीर्ष्यते। अयमर्थः—'कण्टकेनैव कण्टकशोधनम्' इति हि न्यायः। अनिष्टसाधनत्वेन सम्मतस्य कलहस्य परिजिहीर्षयाऽभीष्टसाधनत्वेन व्यवस्थापितकलह उपादित्सा सम्भवति। ते ह्यनार्या इति कलहं शान्तिस्थापनायाऽलं मन्यन्ते, परन्तु बुभुक्षायाः पूरयितुमशक्यतयाऽशान्तिरेवाऽधिकाऽधिकमभिवर्धते। भवतु, सर्वथाऽपि यत्रैव कलहे परिजिहीर्षा भवति, तं शमयितुं दण्डनस्याऽप्यावश्यकताऽपि सम्भवति। अत्र कारिकायां दण्डनं न केवल दण्डनीत्युपयोगमात्रपरम्। युद्धशब्दश्च न केवलं कलहमात्रपरः। किन्तु युद्धशब्दोऽनुचितकार्यमात्रपरः, दण्डनशब्दश्च सामदान-

---

हैं। एक ही परमात्मा भी अनन्त शक्ति वाला होता है तथा कोटि-कोटि स्वरूपों को धारण कर स्वयं में रमण करता है। यह राष्ट्र भी उस परशिव बिन्दु का का कार्य बिन्दु ही है। यह राष्ट्र भी अनेक प्रकार के कार्य-बिन्दुओं को प्रकट करता है एवं तिरोहित करता है। निग्रह एवं अनुग्रह का सभिश्रण ही बिन्दु होता है। क्रियाशक्ति निग्रह है तथा ज्ञानशक्ति अनुग्रह है। इसके गौण-मुख्य भाव के तारतम्य से समस्त सृष्टि की कल्पना ही ऐन्दवी या वैसर्गिकी शक्ति है।

अतः राष्ट्र में भी परिपूर्णतावश अनेक प्रकार के विकास से सर्वत्र अनेकता दृष्टिगोचर होती है। राष्ट्र में कभी आर्यों की अधिकता और प्रधानता होती है, कभी अनार्यों की। जब आर्यों का प्राधान्य होता है, तब कलह नहीं होता है, जब अनार्यों का प्राधान्य होता है, तब परस्पर कलह होता है। यह निश्चित है कि कलह का कारण होता है। कोई भी जीव पतन नहीं चाहता है, क्योंकि

भेददण्डेति चतुर्विधोपायपरः। एवं च यदैवैकस्मिन्नेव राष्ट्रे तच्चतुर्विधसम्बन्धिनां परस्परं युद्धेऽनार्यत्वेन वैमत्ये समुत्पन्ने हानिभर्वतीति निश्चितमेव। अत्र 'राष्ट्रियाणाम्' इति निर्धारणे षष्ठी। सम्बन्धसामान्ये वा षष्ठी। हानिर्मा भवत्विति युद्धवारणाय केचिद्राष्ट्रियाः प्रयतन्ते। तत्रोपायद्वयं सम्भवति राष्ट्रियसहायेनैव राष्ट्रियदण्डनं, अराष्ट्रियसहायेन च राष्ट्रियदण्डनम्। तदेतस्मिन् द्वये पूर्वस्योचिततया हानिनिषेधने साफल्यमपि निश्चितमेव। परं त्वशक्तौ राष्ट्रियाणादण्डनेऽराष्ट्रियसाहाय्यमप्यादेयतयाऽनार्याणां युयुत्सूनां युध्यतां वा राष्ट्रियाणां युद्धान्निवर्तनाय प्राप्तं, तत्र चाऽऽपाततो निरीक्षणपराणामराष्ट्रियसाहाय्येन राष्ट्रियदण्डने लाभः तीयते। ते हि मन्यन्ते यथा तथा दण्डनेन कलहो विनाश्य इति। एतन्न राष्ट्रविज्ञानवैचक्षण्यमिति द्योतयितुमस्याः कारिकाया आरम्भः। इदमत्राऽऽकूतम्—मिथो वैमत्येन सर्वत्राऽनार्यतायाः प्रसरण, तेन च सर्वतो मात्स्यन्यायस्योद्भवः। समुद्भूते च मात्स्यन्याये बुभुक्षया परस्परस्य सम्प्रहारेण समस्तानां संहार इत्येव मिथो वैमत्यं राष्ट्रस्य समस्तस्याऽपि विनाशकारणम्। अन्तिमं च कुफलं च व्यक्तिविनाशः, यो हि व्यष्टिवादिजोऽस्ति जीवलोकस्याऽत्यन्तमनभीष्टः यत्कल्याणमुद्दिश्य कलहप्रवृत्तिः समुद्भवति। एतत्सिद्धवदनूद्य तदपेक्षयाऽराष्ट्रियसाहाय्येन दण्डनस्य हानिकारकत्व आतिशय्यस्य विधेयत्वं द्योत्यतेऽनया कारिकया। अयं भावः—हानिकारक खलु मिथो

पतन का परिणाम आनन्द का विनाश करना है। अतः जीवलोक स्वाभाविक रूप से शान्ति के इच्छुक होते हैं और कलह के विनाश का प्रयास करते हैं। विद्वानों में भी जो कलह दृष्टिगत होता है, वह भी कलह के विनाश के लिए ही किया जाता है। तात्पर्य यह है कि कण्टक से कण्टक का शोधन होता है, यह एक सामान्य न्याय है। कलह अनिष्ट का साधन है, इसे त्यागने की इच्छा से अभीष्ट साधन की प्राप्ति करने की इच्छा होती है। अनार्य लोग शान्ति-स्थापना के लिए कलह को पर्याप्त मानते हैं। परन्तु भूख की पूर्ति करने में असमर्थ होने से अशान्ति ही अधिकाधिक बढ़ती है। ठीक है, जहा कलह को त्यागने की इच्छा होती है, उसे शान्त करने के लिए दण्डन की भी आवश्यकता होती है। युद्ध शब्द कलह का वाचक नहीं है, यह समस्त अनुचित कार्यों का वाचक है। दण्डन केवल दण्डनीति का पर्याय न होकर साम, दान, दण्ड, भेद— इन चार नीतियों का पर्यायवाचक है।

युद्धमित्यत्र न कोऽपि विवादाऽवसर इति सर्वैरप्यार्याऽनार्यलोकैरनुमन्यत एव। परं तु ये तावत्कलहवारणाय स्वयं कलहकारिणां दण्डनाय पारतन्त्र्येण स्वातन्त्र्येण वाऽप्यशक्ताःसन्तोऽराष्ट्रियसहायतामालम्ब्य प्रयतन्ते ते खलु महतीं हानिमापादयन्ति राष्ट्रस्य। अयं भावः—राष्ट्रस्य पारतन्त्र्यप्राप्तिरेव राष्ट्रघातः स च सर्वथाऽपि निवारणीयः। मिथः कलहे समुत्पन्ने परम्परया राष्ट्रस्य पारतन्त्र्यप्राप्तिः सम्भवति। अयमर्थः —'छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति' इति लौकिकानामाभाणकाऽनुसारेण राष्ट्रे छिद्रेषु समुत्पन्नेषु नानाविधा अनर्था अपि भवन्ति इति सुस्पष्टमेव। तत्र राष्ट्रान्तरछिद्राऽन्वेषीण्यनार्यतया तत्र प्रविश्य भेददण्डनोत्या सवमपि तद्राष्ट्रं मिथः कलहपरायणं परतन्त्रीकुर्वन्ति। एवमपि तदैव सम्भवति यदा राष्ट्रिया अराष्ट्रियान् स्वराष्ट्रे तत्तच्छिद्रेषु प्रविशतो विलोक्याऽपि नताननार्यानराष्ट्रियान् रुन्धन्ति। अथ ये हि स्वयमेव मिथः कलहनिवारणाकामास्तानाहूय तेषां साहाय्येन राष्ट्रियानेव निजभ्रातृभूतान् दण्डयितुमिच्छन्ति दण्डयन्ति च ते तु साक्षादेव तत्कालमेव परतन्त्रीकुर्वन्ति निजं राष्ट्रमिति ततोऽप्यधिकं हानिकारकत्वमत्र। एवं च मिथोयुद्धेन न कदाऽपि हानिसम्भावना काऽपि, किन्त्वराष्ट्रियसंसर्गेण राष्ट्रियशिक्षणेनैव सर्वदा हानि-सम्भावना भवतीति बोधितम्। ये हि स्वयमेवाऽराष्ट्रियान् स्वराष्ट्रे मिथोवैमत्यनिर्णयाय प्रवेशं वितरन्ति, तेऽप्यतिमूर्खा एवेति द्योत्यत एतेन। अत एव मिथोवैमत्यनिवारणाय विस्मृत्याऽपि जातु राष्ट्रियाऽराष्ट्रियाणां साहाय्यं लेशतोऽपि न गृह्णीयुः। इदं च बोध्यम् - अराष्ट्रियोऽन्यो राष्ट्रियदण्डनायाऽयाचितरूपेणाऽपि प्राप्यमाणं साहाय्यमपि राष्ट्रघातकरमिति गर्हिततममिति

परस्पर मतभेद होने से सर्वत्र अनार्यता का प्रसार होता है एवं मात्स्य न्याय की उत्पत्ति होती है। भूख द्वारा परस्पर प्रहार होने से सबका संहार एवं मतभेद निश्चित है। इससे समस्त राष्ट्र का विनाश होता है। अन्तिम कुपरिणाम तो व्यक्ति का नाश है। जब समष्टि का विनाश होता है, तो व्यक्ति का विनाश तो होता ही है। परस्पर युद्ध हानिकारक है, इसमें कोई विवाद नहीं है। सभी आर्य और अनार्य इसमें सहमत हैं। परन्तु जो कलह का निवारण करने के लिए, स्वयं कलह करने वालों को दण्ड देने के लिए स्वतन्त्रता से अथवा परतन्त्रता से असमर्थ हैं, वे वास्तव में राष्ट्र की महती हानि करते हैं।

न ग्राह्यमिति विधीयते। एतेन याचितस्याऽराष्ट्रियसाहाय्यस्य कैमुतिकन्यायेन कीदृग्गर्ह्यतमत्वं भवतीति स्वयमेवोह्यं राष्टविज्ञानविचक्षणैरिति। अराष्ट्रियप्रार्थितस्य अराष्ट्रियप्रार्थितं' (रा. 74) इत्यनया कारिकयाऽतीव गर्ह्यतमत्वं बोधितमेव। अनया पुनः कारिकया तैः सबहुमानमपि दीयमानं राष्ट्रियदण्डनाय साहाय्यं न स्वीकरणीयमिति बोध्यते। अत्रेदं बोध्यम्—राष्ट्रियाणां दण्डनाय वाऽनुग्रहणाय वा जात्वपि नाऽराष्ट्रियाणां साहाय्यमवलम्बनीयम्। ये चाऽवलम्बन्ते ते स्वयमेव राष्ट्रं घ्नन्तीति निवेदयिष्यते वक्ष्यमाणकारिकया। अराष्ट्रियाणां साहाय्यमेवाऽतिहानिकरं भवति राष्ट्रस्य न पुर्नमिथो युद्धं राष्ट्रस्य हननाय तथा समर्थं भवति। मिथोयुद्धं हि राष्ट्रियाणां हानिकरं यद्भवति तदप्यराष्ट्रियाणां राष्ट्रे प्रवेशाऽवसरलाभादेवेति तात्पर्यमिति विभावयन्तु सुधिय इत्यलम्॥76॥

एवं मिथोयुद्धस्य हानिकरत्वमनूद्य तदपेक्षयाऽप्यराष्ट्रियसाहाय्येन राष्ट्रियदण्डनस्याऽऽधिक्येन हानिकरत्वमुपादितम्। सम्प्रति तदेवाऽराष्ट्रियसाहाय्यं वाञ्छतामपि कुबुद्धित्वं राष्ट्रत्वं च बोधयितुमाह—

मिथो युद्धे राष्ट्रिया ये साहाय्यकमराष्ट्रियात्।
वाञ्छन्ति तेऽचिरादेव राष्ट्रं घ्नन्ति कुबुद्धयः॥77॥

मिथोयुद्धे इति। ये—राष्ट्रियाः—मिथः युद्धे—अराष्ट्रियात्—साहाय्यकं—वाञ्छन्ति — कुबुद्धयः—ते— अचिरात्—एव—राष्ट्रं— घ्नन्ति। इति पदयोजनिका।

'ये'=पुरुषा — राष्ट्रज्ञानविचक्षणम्मन्याः 'राष्ट्रियाः'=राष्ट्रस्य चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धिनः 'मिथः'=अन्योऽन्य 'युद्धे' = साम्प्रहारे

परतन्त्रता-प्राप्ति ही राष्ट्र के लिए राष्ट्रघात है। इसका पूर्णरूपेण निवारण करना चाहिए। यदि परस्पर कलह उत्पन्न हो जाय, तो राष्ट्र का परतन्त्र होना सम्भव हैं। 'छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति' इस लौकिक कहावत के अनुसार राष्ट्र में छिद्रों के उत्पन्न हो जाने पर अनर्थ होने लगते हैं। अतः राष्ट्रवर्ती छिद्रों की खोज की जानी चाहिए। अन्यथा अनार्य उनमें प्रविष्ट होकर भेद और दण्डनीति से कलह में संलग्न समस्त राष्ट्र को परतन्त्र कर देते हैं। परस्पर युद्ध से भी उतनी हानि नहीं है, जितनी हानि अराष्ट्रिय संसर्ग से

'मिथो युद्धे' इत्येकं वा पदम्। अन्योऽन्यकलहे इति तदर्थः। 'अराष्ट्रियात्' = चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धिभिन्नत्वाऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नात् 'साहाय्यकम्'—भावे ष्यत् ततः 'कुत्सिते' (पा. सू. 5।3।74) इत्यनेन कप्रत्ययः। कुत्सितं साहाय्यं साहाय्यकम्। अराष्ट्रियात् प्रार्थितस्याऽप्रार्थितस्य च द्विविधस्याऽपि गर्हितत्वमुक्तमेव। तत् ये 'वाञ्छन्ति' = इच्छन्ति 'कुबुद्धयः'—कुत्सिता = निन्द्या बुद्धिः=निश्चयकारिण्यन्तःकरणवृत्तिः येषां ते 'ते'=मूढाः पुरुषाः 'अचिरात्'=शीघ्रसमयात् 'एव' =निश्चयेऽव्ययम्'। 'राष्ट्रं'=पूर्वोक्तलक्षणम्। 'घ्नन्ति'=नाशयन्ति। 'घ्नन्त्येव' इति वा अवश्यमेव नाशयन्ति ते इति यावत्। अत्राऽयमभिप्रायः—

पूर्वस्यां कारिकायां राष्ट्रियाणां परस्परयुद्धेन यावती हानिः सम्भाव्यते साऽप्यराष्ट्रियसहायेन राष्ट्रियदण्डनादल्पैव यतः खलु राष्ट्रियाणामनार्यतामापन्नानामप्यराष्ट्रियसाहाय्येन दण्डनमप्यतीव हानिकारकतामवगाहते। तत्कारणं चाऽराष्ट्रियाणां राष्ट्रशासनव्यवस्थायां हस्तप्रवेश एवेति निवेदितं प्रस्तुतभाष्यकृता तद्भाष्य एव अनया कारिकया चाऽराष्ट्रियसाहाय्ये पणमपि राष्ट्रियाणां विनाशकारणमिति निवेदनीयम्। तदयमर्थः—सर्वमपीच्छाऽनन्तरमेव भवतीति निरूपितं पूर्वम्। इच्छैव हि-आशंसा बुभुक्षा चेति रूपद्वयमवगाहत इत्यपि पूर्वं निवेदितमेव। तत्र येयमराष्ट्रियात् साहाय्यग्रहणेच्छा साऽपि श्रेष्ठा, यतः खल्वराष्ट्रियाणां राष्ट्रान्तरेऽनार्यत्वाऽवश्यम्भावात्। अनार्यसङ्गमन्तरेण तत्साहाय्याऽनुपलम्भात्। अनार्यसङ्गमस्य चाऽऽर्यविरोधादप्यधमत्वात्। यथा ह महाकविर्भारविः—"अनार्यसङ्गमा-

---

अथवा अराष्ट्रिय शिक्षण से होती है। अराष्ट्रियों को अयाचित रूप से प्राप्त होने वाली सहायता भी राष्ट्र विघातक होती है। अतः वह गर्हित एवं अग्राह्य है। राष्ट्रियों का पारस्परिक युद्ध हानिकर होता है और वह अराष्ट्रियों के राष्ट्र में प्रवेश का अवसर देता हैं।

जो अराष्ट्रियों की सहायता की कामना करते हैं, वे वास्तव में कुबुद्धि राष्ट्रघाती हैं—इसका निरूपण किया जा रहा है—

जो राष्ट्रिय परस्पर युद्ध में अराष्ट्रिय से सहायता की इच्छा करते हैं, वे कुबुद्धि शीघ्र ही राष्ट्र को नष्ट कर डालते हैं।

वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः"। अयं भावः—महात्मानः खल्वार्या इति स्वविरोधिनामपि न हानिमापादयन्ति । अनार्यः पुनरनार्य इत्येव स्वसङ्गिनामपि हानिमुत्पादयत्येव । दृश्यत एवैतल्लोके निरन्तरम् । अतएव नीतिग्रन्थेष्वपि प्रतिपादितमेवमास्ते । तथा हि—

पण्डितोऽपि वरं शत्रुर्न मूर्खो हितकारकः ।
वानरेण हतो राजा विप्राश्चौरेण रक्षिताः ।।

अत्रत्यः कथाभागः पञ्चतन्त्रादिषु द्रष्टव्यः । अत्रेदं बीजम्–आर्याणां वाऽनार्याणां वा सङ्गस्तावत् निरिच्छस्य नैव सम्भवति । निरिच्छश्च न किमपि वस्तुमात्रमपि । तत्र परमात्मनो विलासादिच्छाया आविर्भावः । सोऽपि द्विविधः । आशंसारूपेण बुभुक्षारूपेण च ।

तत्राऽऽशंसारूपाविर्भाववन्त आर्याः । ज्ञानविज्ञानरुचयोऽन्तर्मुखस्वभावाः । बुभुक्षारूपाऽऽविर्भाववन्तोऽनार्याः क्रियाविक्रियारुचयो बहिर्मुखस्वभावाः । अत एव बहिर्मुखस्वभावा विषयान्ध्यायन्ति । अन्तर्मुखस्वभावाश्च देवान् । अत्रेदं रहस्यमवगन्तव्यम् । य एव बहिर्मुखरूपेण गृह्यन्ते पदार्थाः सङ्कुचिताऽऽनन्दोपभोगाय त एव विषया इत्युच्यन्ते । षिञ् बन्धने। विशेषेण विवर्त्तन विचित्रतया वा बध्नन्ति त इति विषया इत्युच्यन्ते । त एव पदार्था अन्तर्मुखरूपेण गृहीता भवन्ति व्यापकाऽऽनन्दोपभोगायेति त एव देवा इत्युच्यन्ते । दीव्यन्ति=व्यापकतया स्वातन्त्र्यवत्तया नन्दन्तीति यावत् । तदिदं खलु योगिनीहृदयमिति न विशेषतोऽरहस्यनीयम् । भवतु । एवंविधविषये खलु योगिनीनामादेशोऽवश्यं प्रेक्षणीयः । अतएव श्रीप्रकाशानन्दनामा अप्याहुः—

आर्य लोग अपने विरोधियों को भी हानि नहीं पहुंचाते हैं तथा अनार्य लोग अपने साथियों को भी हानि पहुंचाते हैं। जो अन्य की वस्तु पर वेग से स्वत्व स्थापित करते हैं, वे ही अनार्य होते हैं।

आर्य तो अनार्य-पीड़ा का निवारण करने के लिए राष्ट्रकल्याण अथवा राज्यकल्याण की इच्छा करते हैं। अराष्ट्रियों से सहायता की इच्छा करना वे स्वयं का अशक्ति-प्रदर्शन ही मानते हैं। जिनमें शक्ति नहीं होती है, वे क्या किसी का कल्याण करने में असमर्थ होते हैं? अभी अभीष्टों के बिनाश का मूल कारण भी अशक्ति ही है। अतः आर्यो को अराष्ट्रियों से सहायता की अपेक्षा

इह महति रहस्योन्मीलने मङ्गलाय ।
प्रभवति मम संविद्योगिनीनां प्रसादः ॥
अपि तु कुलसपर्याबिम्बसम्बन्धवन्ध्याः ।
सकृदपि मतिमन्तो नैनमुद्धारयेयुः ॥

भवतु । प्रकृतमनुसरामः । बुभुक्षिताः खल्वनार्या इति विषयान् ध्यायन्ति ततश्च तेषु संग्रहस्ततश्च कामस्ततः क्रोधस्ततः सम्मोहस्ततः स्मृतिविभ्रमस्ततो बुद्धिनाशस्ततो विनाशः पूर्णः । एतत्सर्वमपि श्रीगीता-सूक्तम्—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥
(गो. 2।62)

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः ।
स्मतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥
(गी. 2।63)

सर्वमिदं प्रस्तुतभाष्यकृता पूर्वमुक्तम् । अराष्ट्रियाः खल्वनार्या एव भवन्ति । स्वस्वराष्ट्र एवाऽऽर्याः प्रायो राष्ट्रान्तरे तु ते नाऽऽर्यस्वभावाः सम्भवन्ति । तत्र ये तावन्निजराष्ट्रेऽनार्यस्वभावमवलम्बन्ते त एव बुभुक्षापरवशा इति मिथोयुद्धेषु प्रवर्तन्ते । अत्रेदं बोध्यम्—रभसाद-स्वत्ववति वस्तुनि ये स्वत्वं स्थापयितुं वाञ्छन्ति त एवाऽनार्या भवन्ति । अत एवाऽनार्यदण्डनेनार्याऽनुग्रहेण समस्तानामुचितस्वत्वस्थापनाय ये

भी नहीं करनी चाहिए। अराष्ट्रियों की सहायता लेकर शान्ति स्थापना करना, आर्यों की यह अभिलाषा निन्दित नहीं है।

जो शक्ति सम्पन्न होता है. वही स्वतन्त्र होता है। जो पहले से ही अशक्त है एवं परतन्त्र है, उनका तो मरना ही अच्छा है, परतन्त्र जीवन बिताना अच्छा नहीं है। अराष्ट्रिय से सहायता प्राप्त करके सुख-प्राप्ति का निश्चय आकाश पुष्प ही है। कुत्सित है। परतन्त्रों को क्या सुख प्राप्त नहीं होता। फिर जो राष्ट्रियों से ही द्रोह करते हैं, उन्हें किञ्चित् सुख भी प्राप्त नहीं होता है। अतः अराष्ट्रियों से सहायता की इच्छा करना दुर्बुद्धि का सूचक है। इस कुबुद्धि से लाभ के स्थान पर हानि ही होती है। अतः जो अराष्ट्रिय से सहायता चाहते हैं, वे वास्तव में मूर्ख हैं तथा राष्ट्रहन्ता है।

प्रयतन्ते त एवाऽऽर्या.। अत एव ते युद्धे प्रवर्तमाना अपि नाऽनार्या इत्युच्यन्ते। एवं च मिथोयुद्धमत्र राष्ट्रस्य चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धिनामेव ज्ञेयम्। अत्र च युद्धे प्रवर्तमाने स्वयं स्वाऽभिलाषाऽनुकूलव्यवस्थामास्थापयितुं प्रयतन्त आर्याऽनार्यसाधारणाः। तत्र च स्वयमशक्तौ दण्डने वाऽनुग्रहणे वा सहायकान्तरापेक्षा सम्भवति। तत्र जात्वार्या अपि पीडिताः पीडां निवारयितुं राष्ट्रियसाहाय्यमनुपलभ्याराष्ट्रियसाहाय्यं लब्धुं वाञ्छन्ति। एवमेवाऽनार्या अपि पीडयितुमार्यान् स्वस्मिन् शक्त्यभावेऽराष्ट्रियेभ्यः साहाय्यं वाञ्छन्ति। त एत द्विविधा अपि मूढा एव। यतस्ते कुबुद्धय एव। अयं भावः—आर्यास्तावदनार्यपीडां वारयितुं राष्ट्रकल्याणं वा राज्यकल्याणं वा चिकीर्षन्ति। तेनैवेदं विचारयन्ति यत्—अराष्ट्रियेभ्यः साहाय्यवाञ्छनं नायं स्वकीयाऽशक्तिप्रदर्शनमेव। ये चाशक्तिं प्रदर्शयेयुस्ते किं कदाऽपि कल्याणं कर्तुं प्रभवेयुः। अशक्तत्वं नाम सर्वाऽभीष्टविनाशननिदानमिति। अत एवाऽराष्ट्रियेभ्यः साहाय्येषणमपि न शोभत आर्याणाम्। अथ यदि वाञ्छितमेव तदा तैरेवाऽराष्ट्रियैः परतन्त्रीक्रियन्ते ते। अत एव श्रीराष्ट्रालोकप्रणेत्रा 'कुबुद्धय' इत्युच्यन्ते ते। कुत्सिता खलु सा बुद्धिस्तेषाम्। अयं भावः—अराष्ट्रियाणां साहाय्यमवलम्ब्य शान्तिस्थापनं स्वाऽभिलषिताऽनुकूलं करिष्यामहे वयमिति यो निश्चयस्तेषां स न कुत्सितः। अनार्य इति भावः। अयमर्थः—राष्ट्रियस्य स्वभ्रातृभूतस्याऽऽर्यस्य वाऽनार्यस्य वा दण्डनं वाऽनुग्रहणं वा स्वस्मिन् जीवत्यराष्ट्रियेण कारणं न कदाऽपि रुचिरमिति राष्ट्रियाणां राष्ट्रज्ञानविचक्षणानां सिद्धान्तः।

आर्यों तथा अनार्यों के परस्पर कलह होने पर उनका निर्णय करने के लिए प्राड्विवाक (निर्णायक वकील) की आवश्यकता होती है। इन्हें कैसा होना चाहिए, इसका निरूपण किया जा रहा है

राष्ट्रियों को चाहिए कि वे कभी भी अराष्ट्रिय प्राड्विवाकों (वकीलों या न्यायाधीशों) को न रखें. क्योंकि उनकी राष्ट्र के प्रति ममता नहीं होती है और वे धन-हरण करने वाले ही होते हैं।

सभी वस्तुएं प्रकट तथा अप्रकट रूप से दो प्रकार की होती है। प्रकट प्रत्यक्ष होता है तथा अप्रकट अप्रत्यक्ष होता है। इष्ट उपादेय होता है तथा अनिष्ट हेय होता है। जिनका राष्ट्र के प्रति स्वत्व नहीं होता है, उनका उस राष्ट्र के

यतः खल्वराष्ट्रियाणां साहाय्याऽवलम्बनेनाऽराष्ट्रियाणामेव करगतं भवति राष्ट्रम् । किं च य एव शक्तिसमृद्धः स एव स्वतन्त्रः, स्वतन्त्र एव च कर्तैव्यराष्ट्रियाणां साहाय्याऽऽलम्बनेऽराष्ट्रियाणामेव कर्तृत्वम् । परतन्त्रत्वं चाऽशक्तानां राष्ट्रियाणामिति पुरुषार्थचतुष्टयविघाताऽऽवाप्तिरेवेति कुत्सित एव निश्चयः स इति । अथ च ये तावदनार्या राष्ट्रिया मिथो युद्धे आर्यान् पीडयितुमेव वा यथाऽभिलषितशासनव्यवस्थामार्यजुष्टामनार्यजुष्टां वा स्थापयितुं वा समीहमाना अराष्ट्रियादार्यादनार्याद्वा साहाय्यं वाञ्छन्ति तेऽप्यराष्ट्रियेभ्यो निजामशक्तिमेव प्रदर्शयन्ति । अथाऽशक्तिप्रदर्शकैःतैः स्वयमेवाऽराष्ट्रियशासनमङ्गीकृतप्राय भवतीति न तेषामपि मनोऽभिलाषः सिद्ध्यति । अत एवऽतेऽपि कुबुद्धय इति निगद्यन्ते । कुत्सितो हि तेषां निश्चयः । अयमर्थः—स्वभ्रातृन् पीडयितुमपि ये न क्षमा अराष्ट्रियात् साहाय्यं वाञ्छन्ति तेषां यस्मत्साहाय्येन सुखप्राप्तिनिश्चयः स खपुष्पमेवेति कुत्सित एव । परतन्त्राणां सुखप्राप्त्यभावात् । किं च ये राष्ट्रियेभ्य एव द्रुह्यन्ति तेषां क्व पुनः सुखलेशसम्भावनाया अवसरः । अत एवाऽवनतिगर्तपातो भवति तेषामित्यावेदितं पूर्वं "राष्ट्रियज्ञानहीनानां" (रा. 19) इत्यस्याः कारिकाया भाष्याऽवसर एव । एवं च न तदेव केवलं किं तु ये तावदीदृशाः कुबुद्धयः पुरुषास्तेऽचिरादेव राष्ट्रं घ्नन्ति । अयमभिप्रायः—राष्ट्रियाणामन्योऽन्ययुद्धेऽराष्ट्रियसाहाय्याऽनवलम्बने न सत्वरं नाशः, किन्तु अराष्ट्रियसाहाय्यावलम्बनेऽन्यतरेण पक्षेण द्वाभ्यामपि वा पक्षाभ्यामतिशीघ्रमेव नाशो भवतीति । इदं चाऽवगन्तव्यमत्र—अराष्ट्रियसाहाय्यवाञ्छायां स्वातन्त्र्यं राष्ट्रियाणाम् । अत एव राष्ट्रहनने राष्ट्रियाणामेव कर्तृत्वमिति 'घ्नन्ति' इति पदेन बोधितम् । अत एव पूर्वमपि 'राष्ट्रस्योत्थानपतने' (रा. 15) इत्य-

---

प्रति निर्ममत्व ही होता है । अराष्ट्रिय लोग तो अतिथि के रूप में भी उदासीन ही होते हैं । शासकादि के रूप में वे शत्रु ही होते हैं । अतः राष्ट्रियों का निर्ममत्व भी शत्रु के रूप में परिणत हो जाता है । सभी लोग ममत्व के कारण ही सब कार्य कर रहे हैं । ममत्व के न्यूनाधिक तारतम्य से रागद्वेष का तारतम्य निर्धारित होता है । इसी से योगक्षेम एवं संसर्ग-निसर्ग की प्रवृत्ति का आकलन होता है ।

इष्ट साधन होने पर राग स्वाभाविक है । स्वत्व वाली वस्तु पर ही सबका पक्षपात दृष्टिगोचर होता है । अनुराग ही पुरुष को कल्याण के मार्ग

नया राष्ट्रियाणामेव हेतुत्वं राष्ट्रस्योत्थानपतनयोः प्रदर्शितम् । पूर्वमेव ये परतन्त्रास्तेषां स्वोद्धाराऽशक्तौ मरणमेव वरं न पुनः पारतन्त्र्ये जीवनमित्यप्यावेदितमेव प्राक् । अयं भावः—अराष्ट्रियसाहाय्यवाञ्छनमेव कुत्सिता बुद्धिः । अनया च कुबुद्ध्या लाभस्थाने हानिमेव प्राप्नोत्यकामोऽपि पुरुषः सः ।

विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम् ।

इत्याभाणकवत् । यः पुरुषः स्वमनोऽनुकूलतयाऽऽशंसां पूरयितुं बुभुक्षां वा शमयितुं राष्ट्रियोऽराष्ट्रियात् साहाय्यमिच्छन् स्वराष्ट्रमेव हन्ति । तदपि न चिरात् किन्त्वतिशीघ्रमेव । राष्ट्रं हि नाम राष्ट्रियस्याऽऽर्यस्याऽनार्यस्य द्विविधस्याऽपि समस्तसुखनिदानभूततया तद्धनेन स्वमनोऽभिलाषमपि घ्नन्ति ते इति ते कुबुद्धय एवेति सर्वदा दुःखमेवाऽनुभवन्ति न सुखलेशमपि । इदं तु तथ्यतरमेव यत् मिथोयुद्धेऽराष्ट्रियस्य प्रवेशे वारिते न सत्वरं राष्ट्रनाशः । राष्ट्रनाशश्च सहैव राष्ट्रियाणां नाशेन भवतीत्यपि प्रसिद्धमेव । किं बहुना, यावत् कालमराष्ट्रियप्रवेशो न सम्भूतस्तावत्कालमेव राष्ट्रोन्नतिसम्भावनाऽपि सम्भवति । अराष्ट्रियसाहाय्यवाञ्छनं हि नामाराष्ट्रियप्रवेशाऽवसरदानमेव । अत एव तादृशाः पुरुषाः कुबुद्धय इति सत्वरमेव राष्ट्रं घ्नन्तीत्युक्तम् । महाभारतीया युधिष्ठिरस्योक्तिरप्यमुमेव सिद्धान्तं द्रढयति । तथा हि—

परस्परं विरोधे तु वयं पञ्च शतं च ते ।
साकमन्येन युद्धे तु वयं पञ्चोत्तरं शतम् ।।

एवं चाऽराष्ट्रियात् साहाय्यं ये वाञ्छन्ति ते मूढा एव राष्ट्रघ्ना इत्यलमनेन ।।77।।

एवं "राष्ट्रियाणां" (रा. 76) इत्यनया कारिकया राष्ट्रियाणां मिथो युद्धादप्यधिकं हानिकारकत्वमराष्ट्रियसाहाय्येन राष्ट्रियदण्डनस्य

पर नियोजित करता है । द्वेष करने वाले लोग परतन्त्र राष्ट्रों को लूटने के लिए ममत्व स्थापित करते हैं । प्राड्विवाक पद पर आरूढ होने के लिए इस प्रकार की निर्ममता भी प्रशंसनीय है ।

अनुग्रह बुद्धि को ममत्व कहते हैं । जिनमें यह बुद्धि नहीं होती है, वे निर्मम कहलाते हैं । अराष्ट्रिय निर्मम होते हैं । अतः उन्हें कभी भी प्राड्विवाक पद पर नहीं लगाना चाहिए । अनार्य होने के कारण उनमें ममता नहीं होती । अतः

निरूप्य, साहाय्यं चान्तरेण राष्ट्रियाणामीहां न प्राप्यमराष्ट्रियाणा-मिति तदीहावतां मिथो युद्धे राष्ट्रियाणामचिरादेव राष्ट्रघ्नत्वं कुबुद्धितया भवतीति "मिथोयुद्धे" (रा. 77) इत्यनया कारिकया निरूपितम्। सम्प्रति पुनर्द्वयोर्विवदमानयोर्निर्णयाय तृतीयस्य नितरामपेक्षा भवतीति लोकसिद्धत्वादनुभवस्य, परस्परं राष्ट्रियाणां युद्धेऽराष्ट्रियस्याऽपराधनिर्णयाय तु तृतीयस्याऽवश्यकता वर्तत एव। तृतीयस्य निष्पक्षपातितया निर्णायकत्वयोग्यत्वात्। अतोऽराष्ट्रियस्य निर्णायकत्वं त्ववश्यमेव ग्राह्यं राष्ट्रियाणां मिथो युद्धे इति शङ्कां मनसि कृत्वा तन्निरासाय, अथ च राष्ट्रे नानाविधलोकवसतेः परस्परं कलहस्याऽपि नाप्राप्तत्वात्तत्राऽपराधवतो निर्णयाय प्राड्विवाकनिरूपणमावश्यकमेवेति चाऽभिप्रेत्याह—

अराष्ट्रियाः प्राड्विवाका न कार्या जातु राष्ट्रियैः ॥
तेषां राष्ट्रे निर्ममत्वाद्भवन्ति धनहारिणः ॥78॥

अराष्ट्रिया इति। राष्ट्रियैः—जातु—प्राड्विवाका—अराष्ट्रियाः—न—कार्याः—तेषां—राष्ट्रे—निर्ममत्वात्—धनहारिणः—भवन्ति। इति पदयोजनिका।

वे न्याय के अनुकूल आचरण नहीं करते। वे भ्रान्त हैं। वे केवल धन का ही हरण करते हैं। धन पद से यहां समस्त उन्नति के साधनों का उपलक्षण हो रहा है। वे किसी भी अर्थी एवं प्रत्यर्थी के न्याय-अन्याय के बारे में विचार नहीं करते, अपितु वैयक्तिक भोग-बुभुक्षा का शमन करने का प्रयत्न करते हैं। वे राष्ट्रभुक् ही होते हैं।

समस्त संसार के कल्याण की अभिलाषा करने वाले, अहंकार एवं ममता से मुक्त, न्यायकारी, समदर्शी कोई दो, चार, पांच ही होते हैं। इसका तो सब पर अनुग्रह होता है, सब पर मैत्रीभाव और ममत्व होता है। किन्तु अराष्ट्रियों में ममत्व नहीं होता। अराष्ट्रिय प्राड्विवाकों से न्याय की आशा राष्ट्रियों को भूल कर भी नहीं करनी चाहिए।

ऐसे अराष्ट्रिय प्राड्विवाक केवल अन्याय ही नहीं करते, अपितु धनहरण भी करते हैं। अतः ऐसे अराष्ट्रिय प्राड्विवाकों की नियुक्ति का निषेध किया गया है।

'राष्ट्रियैः'=राष्ट्रस्य चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धिभिः 'जातु'= कदाचित् "कदाचिज्जातु सार्धं तु" इत्यमरः। "प्राड्विवाकाः"— अर्थि-प्रत्यर्थिनामपराधनिर्णायकाः। पृच्छतीति प्राट् स चासौ विवाकश्च 'वि-वाकः'=विवेचकः। अत एव विज्ञानेश्वर आचार्योऽप्याह मिताक्षरायाम्-अर्थिप्रत्यर्थिनौ पृच्छतीति प्राट् तयोर्वचनं विरुद्धमविरुद्धं च सभ्यैः सह विविनक्ति विवेचयति वेति विवाकः स चासौ विवाकश्चेति प्राड्वि-वाकः। उक्तं च—

विवादाऽनुगतं पृष्ट्वा पूर्ववाक्यं प्रयत्नतः।
विचारयति येनाऽसौ प्राड्विवाकस्ततः स्मृतः॥

इत्येवं रूपेण। पृच्छाप्रकारा निर्णयप्रकाराश्च मन्वादिषु धर्म-शास्त्रेषु द्रष्टव्याः। 'अराष्ट्रियाः'—राष्ट्रस्य चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धि-भिन्नाः 'न'=मा 'कार्याः'=कर्तुं योग्याः। 'तेषाम्'=अराष्ट्रियाणां 'राष्ट्रे'=पूर्वोक्तलक्षणलक्षिते 'निममत्वात्'—मम इति अस्मत् सम्बन्धि-नो वाचकः शब्दः ततो भावे त्वप्रत्ययः। निर्गतं=नास्ति ममत्वं= आत्मीयत्वं च तत् निर्ममत्वं तस्मात् निर्ममत्ववत्त्वादित्यर्थः 'प्रकृति-जन्यबोधे प्रकाशे भाव' इति न्यायात्। आत्मीयत्वविरहितत्वादिति

अब राष्ट्र-कोष का निर्माण कैसे किया जाय, इस सम्बन्ध में निरूपण किया जा रहा है :—

राष्ट्र का संचालन करने वालों को प्रत्येक राष्ट्रिय व्यक्ति से प्रतिवर्ष उसकी आय से दशमांश धन ग्रहण कर एक राष्ट्रकोष बनाना चाहिए।

स्वतन्त्र एवं परतन्त्र सभी लोग कुछ न कुछ कामना अवश्य करते हैं। वह कामना आर्यों की आशंसा के रूप में तथा अनार्यों की बुभुक्षा के रूप में होती है। विना कामना के कोई भी क्रिया इस संसार में दृष्टिगोचर नहीं होती है। बुभुक्षा रूप कामना को पूर्ण करना असम्भव है, अतः उसका निग्रहण आवश्यक है। आर्य राष्ट्रवादी राष्ट्रदृष्टियुक्त होने से सर्वतोभद्रनीति प्रधान का अवलम्बन होने से, समस्त राष्ट्र के काम रूप पुरुषार्थ को सिद्ध करना चाहते है। इन आर्यों का हृदय विश्व-कल्याण से परिपूर्ण होता है और वे ही शान्ति चाहते हैं। उनकी शासन-व्यवस्था ही विश्वशान्ति की स्थापना कर सकती है। कामरूप पुरुषार्थ को सिद्ध करने के लिए अर्थ की नितान्त आवश्यकता होती है,

भावः । 'धनहारिण' धनं=वित्तं हर्तुं शीलं येषां ते तथा । ताच्छील्ये णिनिः । धनशब्देन वस्तुमात्रं गृह्यन्ते हारिपदेन न लुब्धत्वं व्यज्यते । 'भवन्ति'=सम्पद्यन्ते । अत्रेदं निगूढमाकूतम्—द्वैतप्रपञ्चं खलु रागद्वेषाऽऽदिसमस्ताऽपेक्षिकाऽनुकूलप्रतिकूलधर्माणां व्यवहाराऽवसर इति तु निश्चप्रचमेव । उक्तमप्यत एवोपनिषत्सु "यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतर पश्यति" इत्यादि । अतश्च परस्पर समस्तमपि वस्तुमात्र संसृष्टमिवैव वर्तते । यद्यपि वस्तुतो न द्वैतं क्वाऽप्यथाऽपि द्वैतकल्पनाकलया यथाऽभिलषितं कल्पयितुं शक्यते द्वैतमिति प्रस्तुतभाष्यकृतैव निरूपितमास्ते **आत्मविलासे तद्व्याख्यायां** च । इदमप्यवगन्तव्यं रहस्यमत्र—संसर्गं एव बैन्दवी शक्तिरित्यभिधीयते । सैव साम्प्रदायिकैः कामकलेत्याख्यायते । सुनिरूपितोऽत्रत्यो रहस्यभूतः प्रस्तुतभाष्यकृत्तातचरणैः **'कामकलाविलास' व्याख्याने** इति तत एवाऽवगन्तव्यः सः । द्वैते खलु यस्य यावदेव संसर्गवेदनं स तावदेव ममत्वाद् भवति । अयमर्थः-—प्रपञ्चस्य द्वैतमयत्वेन कश्चिदस्मत्प्रत्ययगोचरोऽर्थः, कश्चिच्च युष्मत्प्रत्ययगोचरोऽर्थः । तत्र द्वावपि पदार्थौ । विवक्षाभेदेन द्रष्टृदृश्यतामवगाहेते । तावेव विषयिविषयौ भवतः । य एव द्रष्टृत्वेन विवक्षितः स एव विषयी ग्राहकः इत्यादिपदैर्व्यवह्रियते । अथ यश्च दृश्यत्वेन कल्पितः स एव विषय इति ग्राह्य इति च व्यवहारविषयो लोके । इदं च बोध्यम्-सम्बन्धश्च सर्वस्याऽपि सर्वत्राऽऽस्त एव । स च व्यवहाराय नैकविधतया कल्पनया स्थिरीक्रियते । द्वैताऽनन्दोपभोगाय । अनेकासु विधासु च सम्बन्धस्य कल्पितासु सन्निकृष्टविप्रकृष्टभावोऽपि व्यवस्थाप्यते । तत्र

क्योंकि राष्ट्र भोग्य एवं भोक्तृ वस्तु से परिपूर्ण होता है । भोक्ता स्वतन्त्र होता है और भोग्य परतन्त्र होता हैं । इन दोनों की व्यवस्था करना उचित है । इसके लिए नियमों का निर्माण तथा तदनुकूल शासन-व्यवस्था का प्रबन्ध करना उचित है । आवश्यक भोग सामग्री के उचित उपयोग के लिए धन का संग्रह करना भी आवश्यक है ।

अर्थ से समस्त कामनाओं की पूर्ति की जा सकती है । उसके विना कुछ भी प्राप्त नहीं किया जा सकता । समस्त कार्यों में धन की आवश्यकता भी होती ही है । इसी प्रकार स्वातन्त्र्य के विना कोई भी वस्तु सुख प्राप्त नहीं करा सकती है । राष्ट्र की उन्नति के लिए यह नितान्त आवश्यक है ।

युष्मत्प्रत्ययगोचरस्य द्रष्टृत्वेन विवक्षितस्य सन्निकटसम्बन्धिनि 'तव' इति व्यवहारः, अस्मत्प्रत्ययगोचरस्य द्रष्टृत्वेन विवक्षितस्य सन्निकटसम्बन्धिनि 'मम' इति व्यवहारः । किं चेदमपि बोध्यम्—सर्वमपि वस्तुजातं प्रकटाऽप्रकटभावतारतम्येन द्विविधम् । तत्राऽप्रकटस्य परोक्षतया तच्छब्देन व्यवहारः । तत्राऽपि द्रष्टृदृश्यभेदेन द्विविधो व्यवहारः । द्रष्टा 'स' इत्याख्यायते दृश्यं च 'तस्य' इति । प्रकटस्य च प्रत्यक्षतया युष्मदस्मच्छब्देन व्यवहारः । अयमपि द्विविधः-द्रष्टृत्वेन दृश्यत्वेन च । द्रष्टुर्वाचकोऽस्मच्छब्दो युष्मच्छब्दश्च । दृश्यस्य च वाचक इदमादिः । अस्यैवेदमादेः सम्बन्धिनि वाचकता विवक्षातारतम्येन सर्वत्राऽपीदमादेः प्रयोगः । भवतु । सर्वथाऽपि प्रतियोगितयाऽनुयोगितया च यदेवेष्यते तदेव तस्य मम तवेत्यादीनां व्यवहृतिपथे गोचरीभवति । एवं च व्यवहारेऽत्र सर्वोऽपि कर्तृत्वाऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नपदेन विवक्षितः, स्वसम्बन्धित्वेन विवक्षिते ममेति व्यवहरति । स एव युष्मत्सम्बन्धित्वेन विवक्षिते तवेति, तत्सम्बन्धित्वेन विवक्षिते च तस्येति । अत्राऽपीदमवगन्तव्यमेव—त्रिधाऽयं व्यवहारस्त्रिविधोऽपि मित्रशत्रूदासीनभेदात् । तत्रेष्टमुपादेयं मित्रमित्युच्यते । अनिष्टं हेयं शत्रुरिति, इष्टाऽनिष्टोभयभेदशून्यं साधारणमनुपादेयमदेयं चेत्युदासीनमित्युच्यते । तत्राऽस्मिन् व्यवहारे सङ्कुचिताऽसङ्कुचि-

---

जो परतन्त्र हैं, उन्हें भी स्वराष्ट्र की स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए राष्ट्रकोष की व्यवस्था करनी चाहिए । इसके विना सेना तथा परराष्ट्र-सम्बन्ध की स्थापना नहीं हो सकती है । इस कोष की स्थापना कैसे की जाय तथा इसकी व्यवस्था कौन करे, इसका निरूपण करते हैं ।

राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति से प्रतिवर्ष उसकी आय का दशमांश ग्रहण करना चाहिए । आयव्यय की परीक्षा के लिए-आय व्यय परीक्षण विभाग की स्थापना की जानी चाहिए । प्रत्येक व्यक्ति की आय-व्यय की परीक्षा करने के पश्चात् किसी को पीड़ा पहुंचाये विना उससे दशमांश ग्रहण करना चाहिए । विशेष दानशालियों से अधिक भी ग्रहण किया जाय, तो अन्याय नहीं होगा ।

यदि कृषक से दशमांश ग्रहण करना है, तो उसके धान्य का दशमांश ग्रहण किया जा सकता है । जो व्यक्ति जिस वस्तु से जीवन निर्वाह करता है, उस व्यक्ति से उस वस्तु का दशमांश ग्रहण करना चाहिए ।

तभेदवत्पुरुषभेदेनाऽनन्तो व्यवहारनिवहः। किं च सर्वोऽपि ममत्ववत्पदार्थाऽधिकप्रवणः पुरुषः। इदं च बोध्यम्—ममत्वमप्यार्याणामार्यमिति समस्तसुखदायकम्। तदेवाऽनार्याणामनार्यमिति दुःखदायकं भवति। तेषु तेषु च राष्ट्रलक्षणलक्षितेषु राष्ट्रेषु तत्तच्चतुर्विधसम्बन्धिनामेव स्वत्वमिति तेषामेव ममत्वव्यवहारोऽपि योग्यतमः श्लाघनीयश्च। चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धिनो ये न भवन्ति तेषां न स्वत्वमत एव तत्र राष्ट्रे तेषां निर्ममत्वमेव। अराष्ट्रियाश्चाऽतिथिरूपत्व एवोदासीना भवन्ति। शासकादिरूपत्वे तु प्रायः शत्रव एव। अत एव निर्ममत्वमपि शत्रुत्वे परिणमतेऽराष्ट्रियाणाम्। किं च सर्वोऽपि खलु जीवलोको ममत्ववत एव प्रथमं कार्याणि करोति। आर्या आर्यविधयाऽनार्याश्चाऽनार्यविधयेति तु बोध्यमेव। अथ च यत्र ममत्वमप्यधिकाऽधिकं तारतम्यभेदेन तत्रैवाऽवश्यकताऽनुसारेण रागद्वेषतारतम्येन च योगक्षेमादिप्रवृत्तिरिति संसर्गनिसर्गः। इष्टसाधने च रागोऽपि निसर्गसिद्ध एव। स्वत्ववत्येव वस्तुनि पक्षपातोऽपि सर्वस्याऽपि भवति। अनुराग एव हि कल्याणविधाने नियोजयति पुरुषम्। अराष्ट्रियाणां नैसर्गिकं निर्ममत्वमेव। तदप्यनार्याणां शत्रुत्वे परिणमत इति तु पूर्वमुक्तमेव। द्वेषवन्तश्च रभसान्ममत्वं स्थापयन्ति लुण्ठनायाऽस्वराष्ट्रेषु। अत एवैतादृशं निर्ममत्वमश्लाघनीयं प्राड्विवाकपदाऽऽरोहणाय। तदेतदस्यां कारिकायां प्रतिपाद्यते—अराष्ट्रिया इति। अयमर्थः—ममत्वमनुग्रहबुद्धिः सा येषां न भवति त एव निर्ममा इत्युच्यन्ते। अराष्ट्रियाश्च निर्ममा भवन्ति, अतस्ते प्राड्विवाकाः कस्मिन्नपि समये न कार्याः। तेषां नियोजनं च

राष्ट्रकोष की स्थापना राष्ट्र के योगक्षेम के लिए की जाती है। इस कोष से राष्ट्रियों को सुख मिलता है। यदि अराष्ट्रियों से दशमांश ग्रहण किया जायेगा. तो राष्ट्र में उसका भी स्वत्व हो जायेगा तथा इससे विवाद ही उत्पन्न होगा। अत उन अराष्ट्रियों से दशमांश ग्रहण नहीं करना चाहिए। इस कोष की स्थापना का प्रयोजन राष्ट्र की स्वतन्त्रता की रक्षा करना ही है। कोष केवल स्वर्ण-रूप्यादि का संग्रहमात्र नहीं है, अपितु समस्त भोजनाच्छादनादि आवश्यक वस्तुओं का संग्रह भी कोष ही है। प्रत्येक मण्डल में धान्यागार स्थापित किये जायँ। इसी प्रकार सोना-चांदी तथा अन्य वस्तुओं के आगार भी स्थापित किये जायँ। उन आगारों की देखभाल करने के लिए विशेष

स्वभावायातं राष्ट्रियाणामेवेत्युक्तमनुवादरूपेण राष्ट्रियैरिति । इदमवगन्तव्यम्—स्वतन्त्रे तावद्राष्ट्रे प्राड्विवाकान् राष्ट्रिया एव नियोजयन्तीति तु युक्तमेव सम्भवत्येव च । किन्तु परतन्त्रे राष्ट्रे तु पारतन्त्र्यादेव न नियोजयितुं शक्नुवन्ति राष्ट्रिया इति चेत्त बोध्यन्ते यत् तादृशाः प्राड्विवाका विस्मृत्याऽपि न प्राड्विवाकत्वेन रूपेण कार्याः । सम्मान्या इति भावः । प्राड्विवाकपदे नियुक्तोऽप्याराष्ट्रिया राष्ट्रियैर्न प्राड्विवाकरूपेण सम्मान्याः । स्वतन्त्रैः पुना राष्ट्रियैर्निर्ममा इति ते न कार्याः प्राड्विवाकाः । अराष्ट्रियाणां निर्ममत्वं खल्वनुग्रहविपरीतम् । ये पुनर्मन्यन्ते निर्ममा अवश्यमेव पक्षपातराहित्येन द्वयोर्विवदमानयोर्न्याय्यमेवाऽऽचरिष्यन्ति ते भ्रान्ता एवेत्यनया कारिकयोपदिश्यते । अनार्यत्वेनाऽराष्ट्रियाणां तेषां निर्ममत्वं धनहारित्वे परिणमते । अयं भावः—द्वेषबुद्ध्या खलु ते धनमेव हरन्ति । किं च नैतत्कृत्रिमं यत्कादाचित्कं स्याद्धनहरत्वं ते तु तच्छीला भवन्ति । धनपदं चाऽत्र समुन्नतिसाधनवस्तुमात्रस्योपलक्षणपरम् । अर्थिप्रत्यर्थिभ्यां धनं हरन्ति । ते खलु न कस्याऽपि प्रत्यर्थिनो वाऽर्थिनो वा न्याय्यं वाऽन्याय्यं वेति विचारयन्ति । सर्वथाऽपि तद्राष्ट्रस्य धनमपहरन्तो स्ववैयक्तिकं स्वसमष्टेर्वाऽपि भोगबुभुक्षां शमयितुं प्रयतन्ते । ते च राष्ट्रभुज एव भवन्तीति तात्पर्यम् । धनहारिपदं खलु समस्ताऽऽततायिनिमित्तानामभिधानतयाऽत्र बोध्यम् । यत्तु तत्र तत्र शास्त्रेषु निर्ममानां न्यायकारित्वं प्रोच्यते तस्याऽयमाशयः–

व्यवस्था की जाय । जो इस व्यवस्था में विघ्न डाले, उन्हें दण्ड भी दिया जाय । इस प्रकार राष्ट्र की उन्नति के इच्छुक व्यक्तियों को अनेक प्रकार के राष्ट्रकोष स्थापित करने चाहिए । राष्ट्र-कोष का विभाग तो एक ही होगा पर उसके अवयवशः विभाग बहुत रखे जा सकते हैं । उनकी भी स्थापना समुचित रूप से की जानी चाहिए ।

वस्तुओं का संग्रह राष्ट्रिय व्यापार-संरक्षण के अधीन होता है, अतः व्यापार के नियमों की व्यवस्था भी अवश्य होनी चाहिए–इसका निरूपण किया जा रहा है:—

व्यापारनियमा मूल्यस्थापना शुल्कयोजना ।
राष्ट्रियैरेव कर्तव्या राष्ट्रे तेषां निजत्वतः ।।80।।

राष्ट्रियों को अपने राष्ट्र में व्यापार के नियम, मूल्य-स्थापना शुल्कयोजना आदि की व्यवस्था करनी चाहिए, क्योंकि उनका राष्ट्र में निजत्व (अपनापन) होता है ।

यत् येषां किमपि ममत्वविशेषेण ग्राह्यं त्याज्यं वा वस्तु नाऽस्ति, ते निर्ममा न्यायकारिणः। अयं भावः—सर्वस्याऽपि संसारस्य भद्रत्वाऽभिलाषुकाः पूर्णाऽर्यभावमापन्ना अहन्ताममताभेदकवलनमहाकाया ये तेषां समदर्शित्वात्सर्वत्राऽपि न्यायकारित्वमुचितं यद्यपि जगति द्वित्राः पञ्चषा वा भवेयुस्ते। तेषां सर्वत्राऽप्यनुग्रहवत्तया सर्वत्राऽपि साम्येनैव ममत्वमप्यस्ति। अत एव सर्वत्राऽपि मैत्रीभावेन वर्तमानाः सर्वत्राऽपि ममतावन्त एव। अराष्ट्रियाणां खलु न साम्येन ममत्व भवति, किन्तु स्वराष्ट्रेऽनुग्रहयोग्यमिदमिति परराष्ट्रे च निग्रहयोग्यमिदमिति भेदेन ममत्वमतश्च यत्राऽनुग्रहयोग्यमिदमित्येवं रूपेण ममत्वं भवेत् तत्रैव युज्यतेऽपि तेषां प्राड्विवाकत्वम्। नाऽन्यत्र। एवं च राष्ट्रियेभ्यः प्राड्विवाकेभ्यो न्यायस्याऽऽशा न विस्मृत्याऽपि राष्ट्रियैः कर्तव्या प्रत्युत न्यायविरोधित्वमेव तेषु सम्भावनीयं निश्चयेन। अथ च नैतदेव केवलमपि तु धनहारित्वमपि तेषु निश्चेतव्यम्। 'जातु' इत्यनेन च स्वातन्त्र्यसमये पारतन्त्र्यसमये चेति बोध्यम्। अथ च मिथो युद्धे तु नैवाऽराष्ट्रियाः प्राड्विवाकाः कार्याः। अत्रेदं च बोध्यम्—य एव निर्ममा धनहारिणश्च ते क्वाऽपि न राष्ट्रज्ञानविचक्षणैः प्राड्विवाकाः कार्याः। अराष्ट्रियाश्च प्रायः सर्वत्रैव निर्ममा धनहारिणश्च भवन्त्येव। एवं चार्ऽथिप्रत्यर्थिनः साम्येन ये ममत्ववन्तो धनाऽपहारविरुद्धस्वभावाश्च त एव राष्ट्रिया एव च

समस्त पदार्थों का परस्पर आदान-प्रदान सर्वदा ही हुआ करता है। दान के विना आदान भी नहीं हो सकता है। विनिमय ही व्यापार है। यदि इस व्यापार को आर्यविधा से सम्पादित किया जाय, तो यह लोगों को सुख प्रदान करता है। तथा अनार्यविधा से सम्पादित किया जाय, तो दुःख प्रदान करता है। अतः आहरण राष्ट्रियों के द्वारा किया जाना चाहिए।

किसी भी व्यापार को अच्छी प्रकार से चलाने के लिए अच्छे नियमों की आवश्यकता होती है। देश, काल, वस्तु के भेद से नियम भी तीन प्रकार के हैं। इस देश से खरीदना चाहिए, इस देश में बेचना चाहिए–यह देशभेद कहलाता है। इस समय बेचना चाहिए, इस समय नहीं बेचना चाहिए—यह कालभेद कहलाता है। यह वस्तु ही बेचनी चाहिए, यह वस्तु नहीं बेचनी चाहिए—यह वस्तु भेद कहलाता है। नियम बनाने वाले यदि राष्ट्रिय होंगे, तो राष्ट्रहित होगा। राष्ट्रहित के विना राष्ट्रियों का भी हित नहीं होगा।

प्राड्विवाकपदेषु स्थापनीया इति बोध्यते। प्राड्विवाकपदं चाऽतिमहत् पदमिति तत्राऽत्यन्तसावधानताया अपेक्षा भवतीति पृथगेतद्विषये निरूपणम्। अलमनेन ॥78॥

एवं प्राड्विवाकविषयो निरूपितः। अथ कोषविषयेऽपि निरूपणीय-मावश्यक निरूपयितुं साम्प्रतमिति तद्विषये वक्तुमाह—

आयतो दशमांशोऽपि प्रत्यब्दं प्रतिराष्ट्रियात् ॥
राष्ट्रकोषो विधातव्यो गृहीत्वा राष्ट्रचालकैः ॥79॥

आयत इति। राष्ट्रचालकैः—प्रतिराष्ट्रियात्—प्रत्यब्दं—दशमांशः—अपि—आयतः—गृहीतव्य इति शेषः। गृहीत्वा—राष्ट्रकोषः—विधातव्यः। इति पदयोजनिका।

'राष्ट्रचालकैः—राष्ट्र=पूर्वोक्तलक्षणलक्षितम्। तस्य 'चालकाः' =उन्निनीषवो योगक्षेमसम्पादका इति भावः। तैः 'प्रतिराष्ट्रियात्'—राष्ट्रियो राष्ट्रियः प्रति प्रतिराष्ट्रियं तस्मात्। वैकल्पिकोऽव्ययीभावः। राष्ट्रस्य चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धी राष्ट्रिय इत्युच्यत इत्यावेदितं पूर्वम्। राष्ट्रियत्वाऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नात् सर्वस्मादपि नियमेनेति भावः। प्रत्यब्दम्—अब्दमब्दं प्रति प्रत्यब्दं पूर्ववत्समासोऽव्ययीभावश्च। अब्दं= वर्षं, तदाहाऽमरसिंहः—

सम्वत्सरो वत्सरोऽब्दो हायनोऽस्त्री शरत्समाः ॥

वर्षे वर्षे इत्यर्थः। 'दशमांशः—दशानां पूरणो दशमः "नान्ताद-सङ्ख्यादेर्मट्" (पा. सू 5।2।49) इत्यनेन "तस्य पूरणे डट्" (पा सू. 5।2।48) इति विहितस्य डटो मडागमः। स चाऽसौ 'अंशः'=भागः

मूल्यस्थापन के विना व्यापार भी नहीं होता है। अर्थात् व्यापार के लिए वस्तुमात्र का मूल्य-निर्धारण किया जाना चाहिए। इस जगत् में स्थूल पदार्थों का ही मूल्य निर्धारण होता है, पारलौकिक सुख के लिए किसी को दिया गया दान आदि सूक्ष्म पदार्थों का नहीं। यज्ञकर्ता यजमान ऋत्विग् आदि को जो दक्षिणा आदि देता है, वह व्यापार नहीं कहलाता है।

स्थूल पदार्थों का मूल्य-निर्धारण करके पदार्थों का जो विनिमय किया जाता है वह व्यापार कहलाता है। यदि बाह्य पदार्थो से बाह्य पदार्थों का विनिमय नियमित नहीं होगा अथवा मूल्य निर्धारित नहीं किया जायेगा, तो

"अंशभागौ तु वण्टके" (इत्यमरः)। 'अपि' समुच्चयेऽव्ययम्। 'गृहीतव्य' इति शेषः। अन्यथा कर्मणि द्वितीया स्यात् दशमांश इत्येवं पठनीयम् 'गृहीत' इति पाठे तु न द्वितीया प्राप्तिर्न च 'गृहीतव्य' इत्यस्याध्याहारोऽपि। 'आयतः'—आयः=प्राप्तिः इण् गतौ आङुपसर्गकादिणो भावे घञ्। तस्मात् "पञ्चम्यास्तसिल्" (पा. सू. 5/3/7) इति तसिल्। आयमध्यादित्यर्थः। अथ च गृहीत्वा=उपादाय 'राष्ट्रकोषः'—राष्ट्रस्य=पूर्वोक्तलक्षणस्य कोषः=अर्थौघः तथा चाहाऽमरसिंह एवैवम्—

कोषोऽस्त्री कुड्मले खड्गपिधानेऽर्थौघदिव्ययोः।

क्वचित्तालव्यान्तोऽपि कोश इति दृश्यते। विधातव्यः=कार्यः विधिवाक्यमिदमिति तव्यप्रत्ययेन बोध्यते। अस्या अयमभिप्रायः—स्वतन्त्रो वो परतन्त्रो वा सर्वोऽपि जीवलोकः किमपि तावत्कामयमान एव सर्वत्र दरीदृश्यते द्वैतप्रपञ्चेऽस्मिन्। स चार्याणां काम आशंसारूपोऽनार्याणां च बुभुक्षारूप इत्यादि निवेदितमेव पूर्वम्। अत एव सर्वथाऽपि जीवलोकस्य सकामत्वमेव। अकामस्य खलु काचिदपि क्रिया न दृश्यते। एतत्सर्वमपि भगवता मनुनाऽभिहितमेव तथाहि—

अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्।
यद्यद्धि किंचित्कुरुते तत्तत्कामस्य चेष्टितम्॥ (मनु. 2/4)

तत्र बुभुक्षुरूपस्य कामस्याऽनार्यजुष्टस्याऽनुपादेयत्वं तस्य। आशंसारूपस्य चार्यजुष्टस्योपादेयत्वम्। अत एव मनुरेवाह—

राष्ट्र-संचालकों द्वारा राष्ट्र में अनार्यभाव का प्रसार ही किया जायेगा। जब अनार्यभाव का प्रसार होगा, तो राष्ट्र का विनाश निश्चित है। अतः समस्त राष्ट्र के कल्याण के लिए विविध वस्तुओं का विनिमय आर्यविधि से किया जाना चाहिए।

पदार्थों की सुलभता एवं दुर्लभता के आधार पर वस्तुओं का मूल्य-निर्धारण होता है। अनेक प्रकार के पदार्थों के उत्पादन से लेकर विक्रय पर्यन्त व्ययादि का अनुमान लगाकर वस्तु की उपयोगिता एवं अनुपयोगिता के आधार पर मूल्य निर्धारित किया जा सकता है।

मूल्यस्थापन के लिए मुद्रा-विभाग अत्यन्त आवश्यक है। मुद्रा राष्ट्र चिन्हांकित होनी चाहिए। व्यवहार ही साधन होने के कारण और मोद (आनन्द) प्रद होने के कारण इन्हें "मुद्रा" कहते हैं। इतनी ताम्रमुद्रा से इतनी स्वर्णमुद्रा

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहाऽस्त्यकामता ।
काम्यो हि वेदाऽधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः ।।
(मनु. 2।2) ।

बुभुक्षारूपस्य कामस्य हि पूरणमेवाऽशक्यम् । अत एव तस्य निग्रहणमेवोचितमित्यादि सर्वमपि पूर्वमावेदितम् । अत्रेद बोध्यम्-- आर्यराष्ट्रवादिनो राष्ट्रदृष्टिसम्पन्नतया सर्वतोभद्रनीतिप्राधान्यमवलम्बन्त इति समस्तराष्ट्रस्य कामरूपं पुरुषार्थं साधयितुमीहन्ते । विश्वकल्याणस्पृहापूरिताऽन्तःकरणाः । त एव शान्तिभाजोऽपि भवन्ति । अथ च तेषामेव शासनव्यवस्था विश्वत्र शान्तिस्थापनाय प्रभवति । अत एव श्रीमता भगवता पार्थं पति **वासुदेवेनाऽवोचि--**

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ।।
(गी 2।70) ।

कामरूपपुरुषार्थसाधनाय राष्ट्रस्याऽर्थौघस्य नितान्तमावश्यकताऽपि भवतीति विश्वजनविदितमेव । अयमर्थः—राष्ट्रं तावद्भोग्यभोक्तृवस्तुपरिपूरितमस्तीति तु स्फुटमेव । तत्र भोक्तारः स्वतन्त्रा भोग्याश्च परतन्त्राः । द्विविधानामपि तेषां व्यवस्थापनमुचितम् । एतदर्थमेव नियमनिर्माणं तदनुकूलशासनप्रबन्धकरणं चाऽवश्यकमिति पूर्वं वर्णितम् । इदानीं पुनरावश्यकभोगसामग्र्या यथायथमुपभोगाय राष्ट्रस्य तत्सङ्ग्रहनिरूपणमपि विधेयमेवेति सुतरां शोभते । इदं च बोध्यम्—आर्यराष्ट्रवादिनां वाऽऽर्यराज्यवादिनां वा, अनार्यराष्ट्रवादिनां वाऽनार्य-

---

का विनिमय होगा, इसका निर्धारण पहले कर लेना चाहिए । मुद्रा स्वर्ण, रजत, ताम्र, लौहादि द्रव्यों की ही निर्माण की जानी चाहिए ।

जिस पदार्थ का व्यवहार एवं उपयोग अधिक होता है, वह वस्तु अधिक मूल्य की हो जाती है, जिसका उपयोग कम होता है अथवा जो वस्तु अधिक मात्रा में उत्पन्न होती है, उसका मूल्य कम होता है ।

आय के स्थानों से जो द्रव्य लोकव्यवहार की रक्षा के लिए ग्रहण किया जाता है, वह शुल्क कहलाता है । आर्यलोग इस शुल्क का उपयोग राष्ट्र की उन्नति के कार्यों में करते हैं । देश, काल, वस्तुभेद से शुल्क में भी भेद हो जाता

राज्यवादिनां वा सर्वेषामपि धनसङ्ग्रहव्यवस्थाया अत्यावश्यकत्वं भवतीति निर्विचिकित्सः सिद्धान्तः । अर्थेन ये हि सर्वाण्यपि कर्माणि साधयितुं शक्यन्ते । अत एव चोक्तमपि यथा—

यस्याऽर्थास्तस्य मित्राणि यस्यार्थास्तस्य बान्धवाः ।
यस्यार्थाः स पुमाँल्लोके यस्यार्थाः स च पण्डितः ॥

किं चाऽन्यत्राऽत एवोक्तम्—

अर्थेभ्योऽपि हि वृद्धेभ्यः संवृद्धेभ्यस्ततस्ततः ।
प्रवर्तन्ते क्रियाः सर्वाः पर्वतेभ्य इवाऽऽपगाः ॥

किं बहुनोक्तेन । अर्थेन हि सर्वमपि काम्यं प्राप्यते, तदन्तरेण न किमपि प्राप्तुं शक्यते । एतद्बलेनाऽसम्भावनीयमपि सम्भावयितुं शक्यते, अत एव महाकविः क्षेमेन्द्र आह चतुर्वर्गसाधने—

यत्क्लीबे भटकुक्कुटोत्कटरणक्रीडा समादिश्यते ।
यन्मूर्खैः सुखलीलया कविशुकाऽऽलापश्चिरं चर्व्यते ॥
....
तद्वित्तस्य विलासवृत्तवसतेरुद्वृत्तवृत्तायितम् ॥

भवतु, सर्वथाऽपि धनस्याऽऽवश्यकत्वमस्त्येव समस्तकार्येषु । "सर्वाऽऽरम्भास्तण्डुलप्रस्थमूलाः" इत्याऽऽभाणकोऽपि योग्य एव । स्वातन्त्र्यमन्तरेण खलु न किमपि सुखमुत्पादयति । तच्च राष्ट्रोन्नत्यै नितान्तमावश्यकमित्यसकृदावेदितमेव । तत्र वस्तुत्रये राष्ट्रियाणां करगतं भवतीति 'परराष्ट्रस्य" (रा 22) इत्यस्याः कारिकाया भाष्याऽवसर एवोक्तं प्रस्तुतभाष्यकृता । तत्र परराष्ट्रसम्बन्धस्य नियमविषयतया,

---

है । जो उचित शुल्क नहीं देते हैं, उन्हें राष्ट्रियों द्वारा दण्डित किया जाना चाहिए । सर्वथा राष्ट्रहित का ध्यान रखना चाहिए । अराष्ट्रियों के आयस्थान से अधिक शुल्क लिया जाना चाहिए तथा राष्ट्रियों के आयस्थान से न्यून शुल्क लिया जाना चाहिए ।

इसका कारण यह है कि राष्ट्र में राष्ट्रियों का ही स्वाभाविक स्वत्व होता है । राष्ट्र का कल्याण भी राष्ट्रिय ही कर सकते हैं । मूल्यों की स्थापना में, शुल्क योजना में, व्यापार के नियम निर्माण में राष्ट्रियों को ही प्रयत्न करना चाहिए ।

सेनायाश्च शासनप्रबन्धविषयतया द्वयोरपि पूर्वं वर्णनमुचितमेवेति तद्द्वयमपि निरूपितमेव । तृतीयस्य कोषस्य निरूपणमपि साम्प्रतं साम्प्रतमिति तद्विधोयते । ये तावत्स्वतन्त्रास्तेऽपि राष्ट्रकोषयोगक्षेमार्थं प्रयतेरन् । अथ ये परतन्त्रास्तेऽपि स्वराष्ट्रस्वातन्त्र्यप्राप्तये राष्ट्रकोषं विदध्युः । तदन्तरेण सेनापरराष्ट्रसम्बन्धस्थापनाया अनुपपत्तेः । अथ स कथं कश्च विधातव्य इत्यावेदयति आयत इति । प्रत्यब्दं प्रतिराष्ट्रिया-त्तदायतो दशमांशोऽपि गृहीतव्यः । अयमर्थः—यो यो राष्ट्रस्य चतुर्विध-सम्बन्धन सम्बन्धी तस्मात्तस्मात् सर्वस्मात् नियमेन, यावान् यावान् यस्य यस्यायस्तन्मध्यात् दशमांशो ग्राह्यः । कस्यचिद्रूप्यकशतकं प्रत्यब्दमायः तस्य दशमांशो रूप्यकदशकं तस्माद ग्राह्यम् । किंचेदमप्यव-गन्तव्यम् प्रत्यब्दमित्यनेन प्रतिवर्षं राष्ट्रियस्यायव्ययौ निरीक्ष्य तत्तद्वर्षे प्राप्तिदशमांशोऽपि ग्राह्यः । एतेन प्रतिवर्षमायव्ययपरीक्षणं कर्त्तव्य-मिति व्यज्यते । किं च तेन राष्ट्रकोषविभागाङ्गभूतो राष्ट्रोन्नत्यर्थ-मायव्ययपरीक्षणविभागोऽपि स्थापनीय इति व्यज्यते । अथ चाऽत्राऽपि शब्दो नाऽवधारणे किन्तु समुच्चयेऽन्ववसर्गे वा । अन्ववसर्गः कामचाराऽनुज्ञा । अयं भावः—यथा यस्य शक्तिस्तां परीक्ष्य राष्ट्रियमपीडयित्वा ततो दशमांशमपि गृह्णीयू राष्ट्रचालकाः । एतेन विशेषदानशालिभ्योऽधिकग्रहणे न निवारणमिति व्यज्यते । निर्धारणे तु दशमांशादधिकग्रहणेऽन्याय्यं स्यात् । भवतु । एतद्ग्रहणे राष्ट्रचालकानामेवाऽधिकार इत्याह—राष्ट्रचालकैरिति । राष्ट्रस्य=पूर्वलक्षणलक्षितस्य चालकाः=नेतृत्वे-

---

अब व्यापार्य द्रव्य के सम्बन्ध में निरूपण किया जा रहा है कि प्रत्येक वस्तु का आयात राष्ट्र के लिए हानि कारक है ।

वस्तुशक्योत्पत्ति राष्ट्रान्तरादायाति यत्र तत् ।
नाशमाशु प्रयात्येव राष्ट्रमात्रस्य संयुतम् ॥81॥

(राष्ट्र में) जिस वस्तु का उत्पादन किया जा सकता है, वह वस्तु यदि दूसरे राष्ट्र से आयात की जाती है, तो वह राष्ट्र आलस्ययुक्त होकर शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ।

इस संसार में अनन्त वस्तुएं उत्पन्न होती हैं । कौन सी वस्तु आवश्यक है, कौन सी अनावश्यक है, इसका एक साथ वर्णन नहीं किया जा सकता है ।

नाऽभिममताऽभियुक्ता राष्ट्रियाः तैः। अयमर्थः—कोषविभागाऽधिकृत राष्ट्रकार्यप्रबन्धकैर्यथानियमं राष्ट्रकोषयोगक्षेमार्थं प्रतिराष्ट्रियेभ्यः प्रत्यब्दमायदशमांशादिरूपं द्रव्यं गृहीत्वा राष्ट्रकोषो विधातव्यः। अत्रेदं च बोध्यम्—अत्राऽऽयदशमांशो ग्रहीतव्य इत्युक्तं सामान्येन न पुनर्द्रव्यादिनाम निर्धारितम्—तेन यस्यैव द्रव्यस्य यस्याऽऽयस्तस्मात्तदेव द्रव्यं ग्राह्यम्। न पुनः सुवर्णरूपाद्येन। अयं भावः—येनैव द्रव्याऽऽदानप्रदानेन प्राधान्येन जीवति तस्यैव द्रव्यस्य दशमांशो ग्राह्यः। यथा कृषाणेभ्यो धान्यानां दशमांशः, सर्वथाऽपि केनाऽपि प्रकारेणाऽपीडयित्वैव ग्राह्यो दशमांशः। यथावसरं राष्ट्रचालकैर्निरीक्ष्य व्यवस्थापनीयमेतदार्यविधयैवेति। किंच प्रतिराष्ट्रियादित्यनेन राष्ट्रस्य चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धिता ये न भवन्ति तेभ्यो न दशमांशो ग्राह्यो राष्ट्रकोषार्थमिति व्यज्यते। अत्रेदं बीजम्—राष्ट्रकोषस्तावद्राष्ट्रयोगक्षेमार्थमेव विधीयते। तच्च राष्ट्रियप्रधानमेव सुखकरमिति राष्ट्रियाणामेव सर्वस्वम्। अराष्ट्रियाणां चाऽस्वतया राष्ट्रे ततो बहिर्निःसारणमेव सर्वथा युज्यते। निवासोऽपि तेषामतिथिरूपत्व एव सम्मान्य इत्यपि प्रागेव निरूपितम्। ततश्च तेभ्यो ग्रहणे तेषामपि स्वत्वविषये विवादः सम्भवेत्। अतस्तत्प्रसङ्गवारणाय तेभ्यो नैवं गृह्णीयू राष्ट्रचालका राष्ट्रकोषार्थम्। शुल्करूपेण तु ग्राह्यमेव तेभ्यो धनम्। अय भावः—अराष्ट्रिया आनृशंस्येन पोषयितव्यास्तथा यथा तेषां न क्वाऽप्यधिकारो भवेत्। तत्तद्विषये च राष्ट्रे हस्तक्षेपमाचरन्तोऽराष्ट्रिया दण्डनीया एवेति। किं च राष्ट्रियमात्राद्

फिर भी लोककल्याण के लिए इनका वर्णन आवश्यक है। जो हितकर है, वह आवश्यक है और जो अहितकर है, वह अनावश्यक। आर्यविधि से प्रयुक्त सब कुछ हितकर होता है। अनार्यविधि से प्रयुक्त सब कुछ अहितकर होता है।

आर्य आशंसाप्रधान एवं अनार्य बुभुक्षाप्रधान होते हैं। आर्य आभ्यन्तरदर्शी एवं अनार्य बाह्यदर्शी होते हैं। अतः अनार्य विषय का भोग करना चाहते हैं और आर्य उसे छोड़ना चाहते हैं। अत एव आर्य तृप्त होते हैं, अनार्य अतृप्त होते हैं। आर्य तृष्णारहित होते हैं, अनार्य सतृष्ण होते हैं।

आत्मवादियों का यह सिद्धान्त है कि स्व के अतिरिक्त सभी वस्तुएं कल्पित हैं। समस्त विकृतियों की प्रकृति आत्मा ही है। विकृति की सत्ता भी प्रकृति ही है। इस प्रकार यह प्रकृति-विकृति भाव आत्मा में कल्पित ही है।

द्रव्यं गृहीत्वा कोषो विधातव्यः। एतत्कोषस्य प्रयोजनं तु सर्वथाऽपि राष्ट्रस्य स्वातन्त्र्यरक्षा। सा चाऽनार्यनिग्रहेणाऽऽर्यानुग्रहेण च भवति। अयं भावः—राष्ट्रियाणां शिक्षादि सर्वमपि व्यवस्थापयितुं राष्ट्रस्य कोषो विधातव्य एव। इदं च बोध्यम्—कोषो न केवलं स्वर्णरूप्यादि-संग्रह एव भवति, किन्तु तत्तदावश्यकसमस्तवस्तुनिचयः कोष इत्यभिधीयते। अत एव भोजनाच्छादनादिसमस्ताऽऽवश्यकसामग्र्या कोषो विधातव्य इत्युक्तं भवति। अयमर्थः प्रतिमण्डलं धान्याऽऽगाराः स्थापनीयाः, अथ च स्वर्णरौप्याद्यागाराः स्थापनीयाः। तत्तन्मण्डलपर्याप्तं तत्र धान्यादि सङ्ग्राह्यम्। प्रत्यब्दं चेयं व्यवस्था निरीक्षणेन शोधनीया। किं बहुनाऽनया कारिकया सर्वेऽपि कोषविभागा यथायथं स्थापनीया इति बोध्यते। अथ च टङ्कशालाऽपि स्थापनीयेति बोध्यते। सर्वथाऽपि तत्र यथायोग्या राष्ट्रकल्याणाय कोषाः स्थापनीयाः। कोष इत्येकवचनं च जात्यभिप्रायमिति कोषत्वाऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नपरम्। 'आयत' इत्यनेन सञ्चितनिषेधोऽवगम्यते। राष्ट्रकोष इति पदेन समस्तस्याऽपि राष्ट्रस्य स्वत्वं बोध्यते सम्मिलितम्। तेन व्यक्तिविशेषस्य स्वमनोऽनुकूलव्यवस्थायां दण्ड्यत्वं व्यज्यते। राष्ट्रचालकैरित्यनेन नियुक्तानामेव राष्ट्रनेतृणामधिकार इति बोध्यते। विधातव्य इति विधिना तदकरणे प्रत्यवायजनकत्वं दण्ड्यत्वं च बोध्यते राष्ट्रचालकानाम्। एवं च राष्ट्रोन्नति-चिकीर्षवा नानाविधान् राष्ट्रकोषान् विदध्युः। अत्रेदं बोध्यम्—राष्ट्रकोषविभागस्त्वेक एव परंतु तत्राऽवयवशो विभागा बहव एव भवितु-

---

यद्यपि कलियुग में तथा द्वापर युग में अनार्य अनेक प्रकार की समृद्धियों से परिपूर्ण दिखायी देते हैं। परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से पर्यालोचन करने पर ज्ञात होता है कि भोग-समृद्धि शान्ति व सुख का कारण नहीं होती है, तत्त्वदर्शियों की यह धारणा है। अनार्यों में जितनी वाणी की कठोरता और दण्ड की कठोरता आदि का प्रचार दृष्टिगत होता है, उतना आर्यों में नहीं। बाह्य शत्रुओं के जीतने से कुछ नहीं होता। विना आन्तरिक शत्रु जीते, शान्ति की सम्भावना नहीं होती।

पूर्वाचरित कर्म के अनुसार ही भोगादि की प्राप्ति होती है। पूर्वजन्म का कर्म ही दूसरे भव में बनता है। जो भाग्यशाली हैं, वे सब कुछ प्राप्त कर लेते हैं। जो दुर्भाग्यशाली हैं, वे वर्तमान को भी नहीं देखते हैं। सभी वस्तुएं प्राप्त

मर्हन्ति ते सर्वेऽपि यथायथं स्थापनीया इति बोध्यतेऽनया कारिकया। भवतु, किमनेनाऽधिकेन। सर्वथाऽपि अर्थौघमन्तरेण न किमपि कार्यं प्रचलितुं शक्यमिति कोषविभागः साङ्गोपाङ्गः स्थापनीयोऽवश्यमित्यावद्यत इत्यलम् ॥79॥

एवं राष्ट्रकोषस्थापना विहिता यदधीना सर्वाऽप्यादानप्रदानव्यवहृती राष्ट्रस्य भवति। तत्र च कोषनिर्माणं वस्तूनां सङ्ग्रहमन्तरा न भवितुं शक्यमिति तु स्फुटमेव। वस्तूनां संग्रहश्च राष्ट्रियव्यापारसंरक्षणाऽधीन एवेत्यपि सर्वोऽपि जानात्येव। अत एव व्यापारस्य नियमादिभिर्व्यवस्थापनमप्यवश्यं निरूपणीयमत्र। तच्च व्यवस्थापनं मूल्यशुल्कादिनियमेन व्यवस्थाप्यत इत्यपि प्रसिद्धमेव। अतश्च तत्सर्वमपि निरूपणीयमेवेत्युपक्रान्तं विवक्षुराह—

व्यापारनियमा मूल्यस्थापना शुल्कयोजना।
राष्ट्रियैरेव कर्तव्या राष्ट्रे तेषां निजत्वतः ॥80॥

व्यापारनियमा इति। व्यापारनियमाः—मूल्यस्थापना—शुल्कयोजना—राष्ट्रियैः—एव—कर्तव्या—तेषां—राष्ट्रे—निजत्वतः। इति पदयोजनिका।

व्यापारनियमाः व्यापारस्य=आदानप्रदानकर्मणः नियमाः= नियन्त्रणानि मूल्यस्थापना - मूल्यानि=विक्रयार्थमर्घा तेषां स्थापना= व्यवस्था शुल्कयोजना - शुल्कं व्यापारिभ्यो गृह्यमाण द्रव्यं तस्य योजनाः=व्यवस्था राष्ट्रियैः=राष्ट्रस्य चतुर्विधसम्बधेन सम्बन्धिभिः एव- अवधारणेऽव्ययमेतत्।

की जा सकती है। यदि वे आर्य विधा से हैं, तो उपयुक्त और शान्तिप्रद होती हैं। आर्य विषयों का भोग करते हैं, अनार्य विषयों के द्वारा भोगे जाते हैं।

उस राष्ट्र के वातावरण के अनुसार सभी वस्तुएं वहां उत्पन्न होती हैं और जो उत्पन्न नहीं होती हैं या उत्पन्न नहीं की जा सकती हैं, उन्हें दूसरे राष्ट्र से विशेषतः मंगाना चाहिए, पर वे राष्ट्र हितैषी होनी चाहिए। जो वस्तुएं हितकारक नहीं हैं, उन्हें राष्ट्रान्तर से नहीं मगाया जाता है। जो वस्तुएं अनार्य भाव को उत्पन्न करती हैं, वे वस्तुएं हेय हैं। उपस्थित वस्तु का परित्याग करके जो अनुपस्थित वस्तु को ग्रहण करता है, वह महामूर्ख होता है, वह राष्ट्रविघातक होता है, वह आत्मघाती होता है।

'स्युरेवं तु पुनर्वै वेत्यवधारणवाचकाः' इत्यमरोक्तेः ।

कर्तव्या=विधेया । कर्तव्याः इति सविसर्गान्तच्छेदेन व्यापारनियमाः इत्यनेन संयोजनीय टाबन्तेन चैकवचनेन टाबन्तमेकवचनम् भवतु । तेषां=राष्ट्रियाणां 'राष्ट्रे'=पूर्वोक्तलक्षणे । 'निजत्वतः'= स्वत्वतः । पञ्चम्यत्र हेतौ । इति ।

अत्रेदमाकूतम्—द्वैतप्रपञ्चेऽत्र व्यापारराहित्यं नामाऽसम्भवकोटिमेवाऽवगाहत इति तु सर्वेऽपि सचेतसो विजानन्त्येव । आदानप्रदानमेव व्यापारः । अयं भावः–परस्परमादानं प्रदानं च सर्वदैव भवति पदार्थसार्थे । तत्र स्वातन्त्र्यविकासतारतम्येन कर्तृत्वकर्मत्वादीनामुपपादनम् । तत्सर्वमपि **व्याकरणतन्त्रे वाक्यपदीयादौ** विचारितमिति तत एव विभावयन्तु सुधियः । अत्रेदमवगन्तव्यम् –सर्वोऽपि जीवलोको जीवलोक इत्येव वाञ्छत्येव किमपि । अकामश्च जीवलोकश्चेति विरुद्धम् । तत्रायं आशसुरनार्यो बुभुक्षुरिति त्वन्यत् । तत्र सकामतयैव तत्परिपूर्तये प्रयतते । अत एवाऽऽदातुमिच्छति सर्वस्मादपि सर्वः । स्वेष्टसाधनाऽनुकूलमेवाऽऽदित्सतीति तु स्वाभाविकमेव । तत्राऽऽदानं खलु नोपपद्यते प्रदानमन्तरेणेति प्रददात्यपि । यःस्वाऽभिलषितपूतये प्रदानं स विनिमय एव पदार्थसार्थस्य । स च विनिमय एवाऽत्र व्यापारपदेन बोध्यते । स चार्यविधया सम्पादितः सुखयति सर्वान् । अनार्यविधया च दुःखयति । सुखं च समस्तस्यापि जीवजातस्याऽभिलषणीयतयाऽपादेयम् । दुःखं च समस्तस्याऽपि जीवजातस्य जिहास्यतया हेयमिति त्वसकृदुपपादितमेव । अत एवाऽऽर्यविधया व्यवस्थापनमावश्यकमिति नियमानामावश्यकता प्रतिभासते ।

वस्तु को उत्पन्न करने का सामर्थ्य होते हुए भी, जो उन्हें उत्पादित नहीं करते हैं, वे आलसी होते हैं । आलस्य युक्त व्यक्ति राष्ट्र को ही नष्ट कर देते हैं । स्वराष्ट्र के परतन्त्र हो जाने पर राष्ट्र का लुण्ठन करने के लिए अनेक प्रकार की वस्तुएं उत्पन्न की जाती हैं । इन सभी वस्तुओं को अन्य राष्ट्रों से आयात की हुई ही माननी चाहिए, क्योंकि उन वस्तुओं का सभी मूल्य दूसरे राष्ट्र में चला जाता है । जहां से दूसरे राष्ट्र में धन चला जायेगा, वहां कोष कैसे बन सकता है ? लोकव्यवहार के लिए वस्तुओं का आदान-प्रदान आवश्यक है । जिस राष्ट्र की आय, व्यय से अधिक होती है, वहां राष्ट्र अपने कोष को बढ़ा सकता है । सभी व्यवस्थाएं कोष के आधीन ही होती हैं । दूसरे राष्ट्रों से

अत्रेदं च बोध्यम्—पूर्वस्या कारिकायां खलु राष्ट्रकोषो विधातव्य इत्युक्तम्। राष्ट्रकोषश्च द्रव्याऽहरणमन्तरेण न सम्भवति। आहरणं चाऽयविधयैव विहितं सुखकरमन्यथा हानिकरमेवेत्यपि विदितमेव। आहरणं राष्ट्रियेभ्य एव कर्तव्यमित्युक्तमव। किं च राष्ट्रियेभ्योऽपि तत्तपदार्थसम्पन्नेभ्य एव सम्भवति। ततश्च प्रथमं तेषां सम्पादनव्यवस्थैव विधेयेत्यावश्यकम्। सम्पादनं च पदार्थानामार्यविधया सर्वलोकसुखाकरमिति तूक्तमेव। अतश्च व्यापारमन्तरेणाऽर्थाहरणस्याऽसम्भवात् स एव पूर्वं सुसम्पादनीयस्तत्तन्नियमनिर्माणादिना। ते च नियमा व्यापारस्य राष्ट्रियैरेव विधेया नाऽराष्ट्रियैः। अत्रेदं—बोध्यम् नियमः खलु व्यापारस्य त्रिविधः सम्भवति। देशकालवस्तुभेदात्। देशभेदाद्यथा—अस्मादेव देशात्क्रेतव्यम् अस्मादेव चाक्रेतव्यम्। एवमेव अस्मिन्नेव देशे विक्रेतव्यम्। अस्मिन्नेव चाऽविक्रेतव्यम् इति। कालभेदाद्यथा—अस्मिन्नेव काले विक्रेतव्यम्, अस्मिन्नेव चाऽविक्रेतव्यम्। अस्मिन्नेव क्रेतव्यमस्मिन्नेव चाक्रेतव्यम् इति। वस्तुभेदाद्यथा—एतदेव वस्तु विक्रेतव्यमेतदेव चाऽविक्रेतव्यम्। एतदेव वस्तु क्रेतव्यमेतदेव चाऽक्रेतव्यम्। इति। अत्रेदं बोध्यम्—राष्ट्रियाः खलु राष्ट्रज्ञानविचक्षणा इति राष्ट्रे स्वत्ववन्त इति राष्ट्रहितैषिणो भवन्ति। ये च हितैषिणस्त एव नियमविधातारश्चेद्भवेयुस्तदेव राष्ट्रहितमपि सम्भवेत्। राष्ट्रहितमन्तरेण च न राष्ट्रियाहितमपि भवतीति त्वसकृदावेदितमेव सर्वा अपि नियमविधा यथायथमेष्वेवाऽन्तर्भूता मतिमद्भिराकलय्य

व्यापार धनसंग्रह के लिए ही किया जाता है, अतः जिन वस्तुओं का उत्पादन किया जा सकता है, उन्हें अन्य राष्ट्रों से कभी भी आयात नहीं करना चाहिए। अपने राष्ट्र का व्यय आय से न्यून करना चाहिए।

कुछ लोगों का मत है कि भिक्षा से स्वतन्त्रता मिल जाती है—इसका खण्डन करते हुए स्वतन्त्रताप्राप्ति का उपाय बतलाते हैं—

स्वातन्त्र्यं भिक्षया नैव कदाचिदपि लभ्यते।
योगक्षेमसमर्थैका राष्ट्रशक्तिः प्रभाविनी ॥82॥

भिक्षा से कभी भी स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं की जा सकती है। प्रभावशाली राष्ट्रशक्ति ही एकमात्र योगक्षेम करने में समर्थ होती है।

स्थापनीयाः । नियमप्रणेतृविषये च सर्वमप्यावश्यकं पूर्वं "राष्ट्रसञ्चालकाः (रा. 59) "नियमानां" (रा. 60) इत्यनयोः कारिकयोर्भाष्यावसरे एव निवेदितम् । भवतु । इदमत्राऽवगन्तव्यम्—व्यापारः खलु मूल्यस्थापनमन्तरा न सम्भवति । अयमर्थः—वस्तुमात्रस्य मूल्यं निर्धारणीयं व्यापारार्थम् । अत एव यत्र मूल्यनिर्धारणं न सम्भवति तत्र न व्यापारः सम्भवति । आदानप्रदानादि तु भवत्येव । अयं भावः—जाग्रत् जगति स्थूलपदार्थानामादानं प्रदानं च । तत्राऽपि पारलौकिकसुखाकाङ्क्षायाः पूरणाय यदन्यस्मै दीयते तद्विनिमये च बाह्यं न किमपि वस्तु दानीयाद् गृह्यते । तत्र यो दानग्रहणक्रियाकलापः स न व्यापारपदेनोच्यते । अत एव यजमानो ऋत्विग्वा द्वारा यज्ञ कुर्वाणो ऋत्विग्भ्यो दक्षिणां ददानो न व्यापारं कुरुत इत्युच्यते । एव च यत्र स्थूलपदार्थं दत्त्वा तद्विनिमये कमपि स्थूलपदार्थं गृह्णानो न पारमार्थिकं फलं लभते । अत एवाऽयं क्रयविक्रयव्यापार इत्युच्यते । सर्वथाऽपि स्थूलपदार्थानां मूल्यं निर्धार्य पदार्थविनिमयः क्रियते स व्यापार इत्युच्यते । यत्राऽपि पुण्यकर्मणामपि वा पापकर्मणामपि वा मूल्यं निर्धार्यते सोऽपि क्रयविक्रय एव । इदं तु बोध्यमेव—बाह्यपदार्थैर्बाह्यपदार्थानां विनिमयो यदि नाम न नियमितः स्यादनिर्धारितमूल्यो वा स्यात् राष्ट्रसञ्चालकैस्तदा सर्वतोऽप्यनार्यभावः प्रसरेत् । अनार्यभावप्रसरे च राष्ट्रविनाश सुतरामेव सिध्यति । अत एव समस्तराष्ट्रकल्याणाय तत्तद्वस्तुविनिमयायाऽऽर्यविधया मूल्यं संस्थापनीयम् । अयं भावः—इयत्परिमाणेनाऽमुकेन पदार्थेन यत्परिमाणोऽमुकः पदार्थो विक्रेतव्यः क्रेतव्यश्च । किं च मूल्यमपि पदार्थसौलभ्यदौर्लभ्यादि समस्तमपि निरीक्ष्य यथायथं देशकालौ विचिन्त्य स्थापनीयम् इति । अत्रेदं बोध्यम्—नानाविधपदार्थानां उत्पादनादारभ्य विक्रयपर्यन्तं

प्रभाव उसे कहते हैं, जो यथाभिलषित को वश में कर ले (वही प्रभु शक्ति है) । कोश तथा दण्ड से उत्पन्न तेज ही प्रभाव कहलाता हैं । अप्राप्त वस्तु का प्राप्त करना योग कहलाता है तथा प्राप्त वस्तु का संरक्षण करना क्षेम कहलाता है । मोक्ष समस्त का निदान भूत परम पुरुषार्थ है । व्यावहारिक पूर्णानन्द की प्राप्ति नहीं होती है । मोक्ष स्वातन्त्र्य का पर्याय ही है । प्लवन (तैरना) ज्ञान के लिए जल में प्रवेश करना आवश्यक है तथा जल में प्रवेश करने

व्ययादि निरीक्ष्य तदुपयोगितां चाऽवलोक्य मूल्यं निर्धारणीयम्। मूल्यनिर्धारणं स्वर्णमुद्रादिनाऽपि निर्धारयितुं पार्यते। तत्तवस्तुनाऽपि। अयमर्थः—पूर्वं स्वर्णरजतताम्रलोहादीनां मुद्राः स्थाप्यते मूल्यव्यवहाराय क्रयविक्रयव्यवहाराय। इदं चाऽवगन्तव्यम्—मूल्यस्थापनाय मुद्राविभागोऽत्यन्तमावश्यक इति संस्थापनीयः पूर्वमेव बोधितम्। मुद्राश्चार्यराष्ट्रवादिभी राष्ट्रचिह्नाङ्किताः कार्याः। व्यवहारसाधनमुद्राश्चार्यराष्ट्रवादिभी... तया मोदप्रदतया मुद्रा इत्युच्यते। तच्च शासकादिव्यवस्थापित चिह्नविशेषेण मण्डितं वस्तु तत्रेदं बोध्यम—राज्यवादिनः प्रायो राजमूर्त्यादिचिह्नैः संवत्सरादिभिः सवादविशेषश्चाङ्कयन्ति। अनार्यराष्ट्रवादिनश्च सङ्घविशेषस्वत्वबोधकचिह्नैरङ्कयन्ति। आर्यराष्ट्रवादिनः खलु राष्ट्रस्य चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धिनामविरोधे नेष्ट चिह्नं मुद्रयेयुः। सर्वथाऽपि सुधीभिरिदं यथाऽवसरं विचिन्तनीयम्। मुद्राणां मूल्यमपि पूर्वमेव मुद्रान्तरैर्निर्धारणीयम्। यथा—एतावतीभिस्ताम्रमुद्राभिरेतावत्यः सुवर्णमुद्रा विनिर्मातव्या इति। मुद्राधाराश्च यथाशक्यं शाश्वतिका भवेयुः। यथा स्वर्णादि। स्वर्णरजतताम्रलौहादीनामेव प्रायो मुद्रा विधेयाः। आर्याः खलु स्वर्णरजतताम्रमुद्रा एव विदध्युः। सर्वथाऽपि यत्र यदेवोत्तमं मुद्राविधानयोग्यं च वस्तु तदेव मुद्राविधानमाधारतया नियोज्यम्। इदं च बोध्यम्-एकस्याः स्वणमुद्राया मूल्यमियत्यो रजतमुद्रा एकस्या रजत-मुद्राया मूल्यमियत्यस्ताम्रमुद्राः एकस्यास्ताम्रमुद्राया मूल्यमियत्यो लोहमुद्रा इत्यादि सर्वमपि संस्थापनीयम्। इदं च बोध्यम्-मूल्यसंस्थापनं तु नितरामावश्यकं क्रयविक्रयव्यवहारसाधनतयेति तु समस्ताऽविसंवादी सिद्धान्तः। तत्रेद विचार्यं पूर्वं किं नाम मूल्यं कथं च स्थाप्यते इति।

के लिए प्लवन-ज्ञान आवश्यक है। धर्मादि तीन पुरुषार्थों की प्राप्ति स्वतन्त्रता के आधीन है तथा स्वतन्त्रता की प्राप्ति धर्माधीन है।

भिक्षा से स्वतन्त्रता की प्राप्ति की सम्भावना भी नहीं है। भिक्षा मृत हैं। वीर्यवान् जीवन ही स्वतन्त्रता प्रदान करता है। प्रभाव को वीर्य कहा गया है। आर्यों का प्रभाव तथा अनार्यों का प्रभाव पृथक्-पृथक् है। आर्य लोग अपने प्रभाव का उपयोग अनार्यों की तरह नहीं करते हैं। योगक्षेम के लिए राष्ट्रशक्ति

उच्यते एतत् श्रूयताम्—मूलेन आनाम्यं मूल्यम् । "नौवयोधर्म-विषमूलमूलसीतातुलाभ्यस्तार्यतुल्यप्राप्यवध्यानाम्यसमसमितसम्मितेषु" (पा. सू. 4/4/91) इत्यनेन यत्प्रत्यये मूल्यशब्दः सिद्ध्यति । तदेतत्खलू-पयोगितामवेक्ष्य स्थाप्यते । अयं भावः यस्यैव पदार्थस्य व्यवहारे उपयोगोऽधिकः तदेवानाम्यते मूलेन । किं च यदेव तत्राऽपि दुर्लभं भवति तस्य महामूल्यत्वं सुलभस्य च स्वल्पमूल्यत्वं प्रायः स्थाप्यते । सेयं मूल्य-स्थापना । इयं खलु राष्ट्रियैः कर्तव्या । राष्ट्रियै राष्ट्रज्ञानविचक्षणै राष्ट्रनेतृभिरिति तात्पर्यम् । कर्तव्या इत्यनेन च विधेयत्वं बोध्यते तेन च तदकरणे प्रत्यवायः सूचितः । आर्यराष्ट्रवादिनां मते राष्ट्रियै राष्ट्रनेतृभिरित्यर्थः । राज्यवादिनां मते राष्ट्रियै राजभिरित्यर्थः । अनार्यराष्ट्रवादिनामनार्यराज्यवादिनां च मतमुपेक्षणीयं हेयत्वादिति न वर्ण्यतेऽत्र । इदं च बोध्यम्—मूल्यं हि सर्वस्याऽपि वस्तु-मात्रस्य स्थापनीयं क्रयविक्रयार्हम् । किं च मूल्यस्थापना इत्यनेन तुलापरिमाणस्थापनमपि स्थापनीयमिति बोध्यते । अयमर्थः—तुलया यत् सम्मितं तत् विक्रीयते स्थापितमूल्येन । यदि नाम मानान्येव कूटानि भवेयुस्तदा आर्या वञ्चिता भवेयुः । अतश्च कूटतुलामानान्यपि परीक्षणीयानि । मानानि च स्थापनीयानि । तानि च नानाविधानि भवन्ति । अयं भावः—मूल्यस्थापनं हि मानस्थापनमन्तरेण नोपेक्षत इति तदपि स्थापनीयं पूर्वम् । मानानि च धान्यानां, तैलादीनां, वस्त्रा-दीनां, आम्रादीनां च विविधान्येव भवन्ति । सर्वाण्यपि तानि मूल्यस्थापनो-पयोगीनीति सर्वाण्यपि यथायथं देशकालवस्तुपर्यालोचनपुरःसरं स्थाप-नीयानि तत्र तत्र परीक्षणीयानि च वारं वारम् । एवं च मानस्थापन-विभाग सूचितः । अथ च तत्तद्वस्तुक्रयविक्रयादिव्यवहारपरिरक्षणाय नानाविधेभ्य आयस्थानेभ्यो द्रव्यमपि शुल्करूपेण ग्राह्यम् । अयं भावः—

ही प्रभावशाली होती है । स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए राष्ट्रशक्ति ही प्रभाव-शालिनी है । भेदनीति का अवलम्बन लेना चाहिए । कोष के प्रभाव से बल का निर्माण होता है, तो दाननीति का अवलम्बन करना चाहिए । कोष तथा बल के प्रभाव से अन्य राष्ट्रों के साथ सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है तथा अनार्यों पर दण्ड का आरोपण किया जा सकता है । कोष, बल तथा प्रभाव सम्पन्न राष्ट्र सामनीति से भी अन्य राष्ट्रों को वश में कर सकता है । परतन्त्र

राष्ट्रयोगक्षमार्थं तानि तानि कार्याणि व्यवस्थापनीयानि भवन्ति। तानि च कार्याणि साध्यक्षानि सह च कर्मचारिवर्गेण स्थापनीयानि तेषां वृत्तिश्च व्यवस्थाप्या तदर्थं नानाविधपदार्थानामावश्यकता भवति सा च शुल्करूपेण द्रव्यसङ्ग्रहेण भवतीति निरूपणाय 'शुल्कयोजने' त्युक्तम्। 'शुल्कं'=आयस्थानेभ्यः समस्तराष्ट्रयोगक्षेमार्थं द्रव्यं गृह्यते। अयमर्थः—आयस्थानेभ्यो यदेव द्रव्य लोकव्यवहाररक्षणार्थं गृह्यते तदेव शुल्कमित्याख्यायते। तच्चाऽऽर्या आर्यविधयोपयुञ्जन्ति, अनार्याश्चऽनार्यविधयोपयोजयन्ति। इदं च बोध्यम्—सर्वत्राऽप्यायस्थलेष्वायव्ययादि सर्वमपि निरीक्ष्य यथैव राष्ट्रोन्नतिः स्यादविरोधेनाऽन्यराष्ट्राणां तथैव शुल्कयोजनाऽपि कार्या। देशकालवस्तुभेदेन शुल्कयोजनाऽपि भिन्नभिन्नरूपेण योजनीया भवति। सर्वथाऽपि राष्ट्रस्य हितं साधनीयं भवति। यदेव खलु लेशतोऽपि राष्ट्रस्याहितकरं तत् सर्वथाऽपि त्याज्यमेव। अयमर्थः- स्वातन्त्र्यमेव सर्वथा राष्ट्रस्य हितकरमिति तदेव योगक्षेमाभ्यां भावयितुं शुल्कमपि तत्र तत्राऽऽयस्थानेषु स्थापनीयम्। एतदकरणे प्रत्यवायो बोधितः 'कर्तव्य' इत्यनेन। किं च ये शुल्कं न प्रयच्छन्ति ते दण्डनीया राष्ट्रियैः। किं चार्यविधयैव स्थापनीया शुल्कयोजना। इदं चाऽत्र बोध्यम्—अराष्ट्रियाणामायस्थानेष्वधिकं शुल्कं ग्राह्यम्। राष्ट्रियाणां चायस्थानेषु तदपेक्षया न्यूनम्। एतत्सर्वमपि 'व्यापारनियमा' इत्यस्यैव प्रपञ्चः। एतत्सर्वमपि राष्ट्रियैरेव कर्तव्यम्। अत्र हेतुमाह—राष्ट्रे इति। यतो राष्ट्रे राष्ट्रियाणामेव निजत्वं नाराष्ट्रियाणाम्। अयं भावः—यत्र हि स्वत्वं भवति तस्यैव प्रायः कल्याणमपि समीहते सर्वेऽपि जीवलोकः। यत्र च न स्वत्वं भवति तत्किल भोग्यमित्येव लुण्ठनीयमित्येव मन्यते लोकः। यद्यप्यार्या अस्वस्याऽपि लुण्ठनीयत्वं न मन्यन्तेऽथाऽपि समुपेक्षन्ते त्ववश्यमेव। अयमर्थः—यत् किल न स्वकीयत्वेनाऽभिमतं

राष्ट्रों के लिए सर्वप्रथम राष्ट्रशक्ति का प्रभाव प्रकट करना भी आवश्यक है। सूक्ष्मशक्ति ही प्रभाव कहलाती है। राष्ट्रियों को चाहिए कि वे राष्ट्रशक्ति को ही प्रभावशालिनी बनावें।

जो लोग यह मानते हैं कि भिक्षा भी कोई प्रभावशालिनी शक्ति है, उससे भी स्वतन्त्रता की प्राप्ति हो सकती है। उनका यह मानना भ्रान्तिमूलक है,

भवति तस्य रक्षणायाऽपि नार्याः प्रयतन्ते, किन्तु सजोषमेवोपक्षन्ते। येषां च यत्स्वत्वेनाऽमभिमतं भवति तत्कल्याणायैव प्रयतन्त आर्यलोकाः। किं चेदं बोध्यम्—आर्याः किल आर्या इत्येव तत्तत्कल्याणायैव स्वत्वमपि स्थापयन्ति। अनार्याश्च बुभुक्षिततया भोगाय लुण्ठनाय च स्वत्वं स्थापयितुमीहन्ते। अत एव राष्ट्रे राष्ट्रियाणामेव स्वाभाविकस्वत्वात् तत्कल्याणमपि राष्ट्रिया एव कर्तुं शक्नुवन्तीति मूल्यस्थापनायै, शुल्कयोजनायै, व्यापारनियमनिर्माणाय राष्ट्रिया एव प्रयतेरन् नाराष्ट्रियाः। सवथाऽप्येतत् राष्ट्रियैः कर्तव्यमेवेत्यलमेतावता ॥80॥

समस्तस्याऽप्यादानप्रदानव्यवहारस्य कोषाधीनतया तद्व्यवस्थापनं "आयतो" (रा. 79) इत्यनया कारिकया प्रतिपादितम्। कोषश्च द्रव्याहरणेन भवतीति तदुपार्जनमपि विहितम्। तच्चाऽनियमतो विधीयमानं राष्ट्रं नाशयेदिति व्यापारनियमविधानं प्रतिपादितम्। द्रव्याहरणायैव शुल्कयोजनाऽपि विहिता साऽपि मूल्यस्थापनामन्तरेण न सम्भवतीति मूल्यस्थापनाऽपि प्रतिपादिता। तदुपयोगितया मुद्राविभागोऽपि प्रतिपादितः। अथेदानीं व्यापार्यद्रव्यविषये वक्तुमाह—

वस्तु शक्योत्पत्ति राष्ट्रान्तरादायाति यत्र तत् ॥
नाशमाशु प्रयात्येव राष्ट्रमात्रस्य संयुतम् ॥81॥

वस्त्विति। शक्योत्पत्ति—वस्तु- यत्र— राष्ट्रान्तरात् आयाति—तत्—राष्ट्रं—आलस्यसंयुतम्—आशु—नाशं एव—प्रयाति। इति पदयोजनिका।

'शक्योत्पत्ति'—'शक्या'=सम्भावनीया 'उत्पत्तिः=उत्पादनं यस्य तत् 'वस्तु'=पदार्थः 'यत्र'=यस्मिन् राष्ट्रे 'राष्ट्रान्तरात्—अन्यद् राष्ट्रं राष्ट्रान्तरं तस्मात् राष्ट्रं पूर्वलक्षणलक्षितं ततो यदन्यत् राष्ट्रलक्षण तत्

क्योंकि भिक्षा का प्रभाव स्वतन्त्रता प्राप्ति का साधक नहीं होता है। ज्ञेय है कि आर्य विधा से अनुभूत प्रभाव फलदायक होता है, स्वातन्त्र्य योगक्षेम के लिए होता है, जबकि भिक्षादि से योगक्षेम की सम्भावना भी नहीं होती।

प्रभाविनी राष्ट्रशक्ति क्या है? कितने प्रकार की है? इसका निरूपण किया जा रहा है—

पार्थक्यकारणानि च पूर्वमुक्तानि, तानि तत एवाऽनुसन्धेयानि । 'आयाति'=आगच्छति 'तत्'=तादृशं 'राष्ट्रं'=पूर्वोक्तलक्षणलक्षितं 'आलस्यसंयुतम्'—आलस्यः=निरुत्साहिता, तत्तत्कर्मकरणशक्तावपि तत्र तत्र प्रवृत्त्योऽभावे हेतुविशेषो वृत्तिरूप आलस्य इति प्रसिद्धतमः। तेन 'संयुक्तं'=सम्यङ् मिश्रितम् । सम्बद्धमिति भावः । 'आशु'=शीघ्रम् 'नाशम्'=अभावं अधोगतिमिति यावत् 'एव' अवधारणेऽव्ययमेतत् । 'प्रयाति'=प्रकर्षेण गच्छति । गमने प्रकर्षश्च साकल्येन बोध्यः । अस्या अयमभिप्रायः—इह खलु संसारेऽनन्तं वस्तुजातं विद्यते । तत्र किमावश्यकं किंचाऽनाऽऽवश्यकमिति पृथक् पृथक् न साकल्येन वर्णयितुं शक्यते । वर्णनस्य तु तथाऽऽवश्यकता खलु पुनर्नतत एव लोककल्याणायेति तत्त्वतो वर्णनीयमेव । व्यक्तीनामानन्त्येन वर्णनाऽशक्यतायामपि जातीनां बोधनेन बोधयितुं शक्यत्वमिति तथा बोधनीयमेवेति निरूप्यते तत्त्वतः—हितकरताऽवच्छेदकाऽवाच्छिन्नं यदेव भवति तदेवाऽऽवश्यकम् । यच्चाऽहितकरताऽवच्छेदकाऽवाच्छिन्नं तदनाऽवश्यकम् । इदं चाऽत्राऽऽकलनीयम्—आर्यविधया प्रयुक्तं सर्वमपि हितकारकं सम्पद्यते सर्वेषां च । अनार्यविधया चोपयुक्तं सर्वमप्यहितकारकं सर्वेषां च । आर्याः खल्वाशंसाप्रवणा इति सर्वतोऽपि वस्तुनः कल्याणमेव साधयन्ति । अनार्याश्च बुभुक्षाप्रवणा इति सर्वतोऽपि वस्तुनोऽकल्याणमेवाऽऽचरन्तीति निसर्ग एवाऽऽर्यानार्याणां लोकानाम् । अत एव प्राय आभ्यन्तरदर्शिन एव भवन्त्यार्याः । अनार्याश्च बाह्यदर्शिन एव भवन्ति । अत एव तत्तद्विषयजातं विशेषतो वाञ्छन्ति भोक्तुमनार्याः । आर्याः पुनस्तत्तद्विषयजातं

राष्ट्रकाली राष्ट्रलक्ष्मीस्तथा राष्ट्रसरस्वती ।
सेवनीया प्रयत्नेन भोगमोक्षप्रदायिनी ।।83।।

राष्ट्रकाली, राष्ट्रलक्ष्मी तथा राष्ट्रसरस्वती, भोग एव मोक्ष प्रदान करने वाली हैं, इनका प्रयत्न पूर्वक सेवन करना चाहिए ।

जो भावों का अवबोध कराने वाली है, जो कलन शक्तिवाली है, वही काली है । परशिव में अनन्त भावों का स्पन्दन क्रम अक्रम और विक्रम से होता हैं । इसी से आरम्भ, परिणाम एवं विवर्तादि वाद उत्पन्न होते हैं । उस महाभाव

हातुं वाञ्छन्ति । अत एव सर्वथाऽपि तृप्ता भवन्त्यार्याः । अनार्याश्च सर्वदा अतृप्ता एव भवन्ति वितृष्णाः । अनार्याश्च सतृष्णाः । आर्याणां समुचितं वर्णनं विहितं तत्र भवता **योगिप्रवरेण भर्तृहरिणा । तथाहि—**

उत्खातं निधिशङ्कया क्षितितलं ध्याता गिरेर्धातवो ।
निस्तीर्णः सरितां पतिर्नृपतयो यत्नेन सन्तोषिताः ।।
मन्त्राऽऽराधनतत्परेण मनसा नीताः श्मशाने निशाः ।
प्राप्तः काणवराटकोऽपि न मया तृष्णेऽधुना मुञ्च माम् ।।

अत्रेदमवगन्तव्यम्—स्वाऽतरिक्तं सर्वमपि कल्पितमेव भवतीत्यात्मविदां सिद्धान्तः । स्वात्माऽतिरिक्तस्याऽवस्तुत्वाद्वस्तुतः । आत्मा प्रकृतिः समस्तस्यापि विकृतिजातस्य । विकृतेरपि सत्ता तु प्रकृतिरेवेति प्रकृतिविकृतिभावोऽपि स्वात्मनि कल्पित एव । अत एव **शक्तिसूत्रेऽप्युक्तम्—**

"स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति" । तदेतत्सर्वमप्यात्मविलासे सम्यङ् निरूपितमास्ते । आर्याः खलु प्रकृत्यभिमुखवृत्तयः । अनार्याश्च विकृत्यभिमुखवृत्तयो भवन्ति । अत एवार्या सर्वान्कामानवाप्नुवन्ति । अनार्याश्च न सर्वान्कामानवाप्नुवन्ति, यतस्ते बुभुक्षिता दुर्भगा अकार्यकारिणश्च भवन्ति । अत एवाऽन्यत्रोक्तमपि—

सन्तोषामृततृप्तानां यत्सुखं शान्तचेतसाम् ।।
कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम् ।।

यद्यपि कलौ युगे द्वापरयुगे च नानाभोगसमृद्धत्वमनार्याणां दृश्यते, परन्तु सूक्ष्मक्षिकया पर्यालोचने सोऽयं मोह एवेति सिद्धयति । अय-

---

के परिस्फुरण में षड् भावविकारों की उत्पत्ति होती है, अर्थात् उत्पन्न होता है, वर्तमान रहता है, परिणत होता है, क्षीण होता है और विनष्ट होता है—ये छः भाव है । इन सबकी मूलभूत जो शक्ति है, वह काली कहलाती है । यह तन्त्रालोकादि में बारह या तेरह प्रकार की बताई गई है । राष्ट्र में जो काली है वह राष्ट्रकाली है, यह भी व्याख्या की जा सकती है । महाकाल को भी जो ग्रस लेती है, वह महाकाली है । काली दण्डशक्ति है । इसी प्रकार राष्ट्र की लक्ष्मी या शोभा या सम्पत्ति है, वह राष्ट्रलक्ष्मी है । शोभा, सम्पत्ति तथा श्री को लक्ष्मी कहते हैं, जो धन के रूप में दृष्टिगत होती है । वाग्देवता सरस्वती

मर्थः—भोगसमृद्धिः खलु न शान्तिसुखस्य कारणमित्यनुभवस्तत्त्वदर्शिनाम् । अत एवाऽनार्येषु यावान् वाक्पारुष्यदण्डपारुष्यादीनां प्रचारो दृश्यते न तावान् प्रचार एषामार्येषु । किमु खलु बाह्यशत्रुजयेन । आन्तरशत्रुजयमन्तरेण कुतः शान्तिसम्भावना । अत एव बाह्यपदार्था अपि साकल्येन न प्राप्यन्तेऽनार्यैः । किं च प्राप्तिरपि तेषामशान्तिमेवाऽधिकां जनयतीत्यनुभवोऽनार्याणामपि । किं चार्या पुनराशंसावन्त इति सर्वमपि वस्तुजातं प्राप्तुं शक्नुवन्ति । अप्राप्तौ कारणं त्वनार्यत्वमेव । अत्रेदमवगन्तव्यम्—"सिद्धिर्भवति कर्मजा" (गी. 4/12) 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' (गी. 18/46) इति हि परमः सिद्धान्तः । स्वस्वपूर्वाऽऽचरितकर्माऽनुरूपमेव भोगादि प्राप्यते । पूर्वकर्मैव भवान्तरे भाग्यमिति व्यवहारपथमवगाहते । अत एव ये सौभाग्यवन्तस्ते सर्वमप्याप्नुवन्त्येव । ये च दुर्भाग्यवन्तस्ते वर्तमानमपि न पश्यन्ति । अत एवोच्यतेऽपि लोके—

भाग्यहीना न पश्यन्ति बहुरत्नां वसुन्धराम् ।

अत एव सन्तोषमास्थायाऽऽन्तरशत्रुजयाय सर्वथा यतन्त आर्याः । अत एव चान्ते बाह्यशत्रूनप्यार्यतया जयन्त्येव ते । अत एव महात्मा तुलसीदासोऽप्याहैवम्—

पदार्थाः सन्ति सम्पूर्णा एतस्मिन् जगतीतले ।
हीनाः पुनः कमणा य आप्नुवन्ति न ते नराः ।।
अपि चाह स एव—कर्मप्रधानं सकलं विश्वमेतद्विनिर्मितम् ।
यथा येन कृतं कर्म तेन प्राप्तं तथा फलम् ।।

एवं च सकलमपि वस्तुजातं प्राप्तुं शक्यते इति, च आर्यविधया चोपयुक्तं शान्तिप्रदमपि भवति । इदमप्यवगन्तव्यमत्र—आर्याः खलु

को कहते हैं । यह सरस्वती वाणी दो प्रकार की है—भाषारूप एवं लिपिरूप । सब प्रकार की विद्याएं वाग्देवता हैं । इस प्रकार राष्ट्रशक्ति तीन प्रकार की है राष्ट्रकाली, राष्ट्रलक्ष्मी और राष्ट्रसरस्वती ।

सम्पूर्ण जीवलोक भोग एवं मोक्ष को चाहता हैं । भोग दो प्रकार का है, व्यावहारिक एवं पारमार्थिक । मोक्ष भी दो प्रकार का है । व्यावहारिक एवं पारमार्थिक । आत्मा का स्वरूप भी दो प्रकार है, बाह्य एवं आन्तरिक । आत्मा का बाह्य स्वरूप व्यवहार है, आन्तरिक स्वरूप परमार्थ है ।

विषयानेव भुञ्जते। अनार्याश्च विषयैरेव भुज्यन्ते। अतएव योगिप्रवरो भर्तृहरिरप्याह—

> अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वाऽपि विषया।
> वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत्स्वयममून्॥
> व्रजन्तः स्वातन्त्र्यादतुलपरितापाय मनसः।
> स्वयं ह्येते त्यक्ताः शमसुखमनन्तं विदधति॥

एवं च यदेव लोककल्याणकरं तदेवाऽवश्यकमिति सिद्ध्यति। किं च बाह्यं वाऽऽन्तरं वा वस्तु सर्वमपि तत्तद्राष्ट्रस्योपकारकं तेषु तेषु राष्ट्रेषूत्पद्यते, उत्पादयितुं शक्यते च। किं चेदमपि बोध्यम्—यद्यत् यस्मिन् यस्मिन् राष्ट्रे समुत्पद्यते तदेवोपकारकमपि भवति प्रायः। राष्ट्रान्तरोद्भवं राष्ट्रान्तरोपकारकं प्रायो न भवति। किं च राष्ट्रान्तरोद्भवोपयोगे राष्ट्रविनाशो भवति। एतत्सर्वमभिप्रेत्यास्याः कारिकायाः आरम्भः। यत् किल वस्तु शक्यते स्वराष्ट्र उत्पादयितुं तदनुत्पाद्य तदेव राष्ट्रान्तराद्यत्राऽऽनीयते तद्राष्ट्रं नाशमेव प्रयात्याशु। अयं भावः—नानाविधानि वस्तूनि खलु तत्र तत्र राष्ट्रेषूत्पद्यन्ते। तत्र न सर्वाणि वस्तूनि सर्वत्रोत्पद्यन्त उत्पादयितुं वा शक्यन्ते। तत्तद्राष्ट्रगतवातावरणाऽनुकूलानि सर्वाण्यपि वस्तूनि तत्र तत्रोत्पद्यन्ते उत्पादयितुं शक्यन्ते च तान्येव हितानि च यानि च हितान्यपि नोत्पद्यन्ते नोत्पादयितुं शक्यन्ते वा तानि पुनर्न राष्ट्रान्तराद्विशेषत आदेयानि। वस्तुतस्तेषां हितकरत्वाऽभावात्। अत एवोक्तमपि—

कालवर्ण समस्त वस्तुओं का तिरोभाव करने वाला प्रकाश है अर्थात् समस्त वस्तुओं का लय करने वाला जो शक्तिवर्ण है, वह काल है। संसार में यह स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है कि कालप्रकाश में किसी वस्तु की पृथक्ता दृष्टिगत नहीं होती है। इसमें समस्त पदार्थों की सुषुप्ति अवस्था होती है। अतः जाग्रत एव स्वप्नावस्था की मूलशक्ति यही सुषुप्तिशक्ति है। परतन्त्र राष्ट्र को परतन्त्रता के विनाश का प्रयास पहले करना चाहिए। पारतन्त्र्य के लय के बिना स्वातन्त्र्य की सृष्टि नहीं होती है। बाह्यदृष्टि से उस कालवर्ण का वर्णन तमोरूप से होता है। पापी लोग तम से अभिभूत होते हैं। अतः

यद्देशजो भवेज्जन्तुस्तज्जं तस्यौषधं हितम् ।

किंचेदं बोध्यम्—पूर्वं तावदिदमेवाऽवलोक्यं यत् राष्ट्रान्तरेषु वस्तूनीमानि यान्युत्पद्यन्ते उत्पाद्यन्ते वा तानि किमस्मद्राष्ट्रहितकराणि न वा, एतदालोचनं किलाऽऽर्यविध्यैव कार्यमिति तु न विरमतव्यम् । अयमर्थः—यानि किल वस्तून्यनार्यभाव समुत्पादयन्ति संवर्धयन्ति वा तानि हेयान्येव । इदं तु बोध्यमेव— अनार्यनिग्रहणाय तु तान्यप्यादेयान्येव । **तेषामार्यभावसंवर्धनकारित्वात्** । हितकराणि च वस्तूनि विज्ञाय तानि स्वराष्ट्र उत्पद्यन्ते न वा इत्यप्यालोचनीयम् । उत्पद्यन्ते चेत् तान्येवोपयोज्यानि स्वराष्ट्रोत्पन्नतया तेषामेव हितसाधनत्वाद् वस्तुतः । उपस्थितं परित्यज्याऽनुपस्थितग्राहिणां महामूर्खत्वादनार्यत्वाद्राष्ट्रविनाशकत्वादात्मघातित्वाच्च । अत एवात्मघातिनां लोकगर्हा श्रूयते । तथा **हीशावास्ये**—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
तांस्ते प्रेत्याऽभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ।। (ई. उ. 3)

श्रीराष्ट्रालोक प्रणेताऽपि स्वयं वक्ष्यत्यग्र आत्मघातिनाममितपापित्वम् । अतश्च यत् वस्तु स्वराष्ट्रे समुत्पद्यते तद्विस्मृत्याऽपि राष्ट्रान्तरान्नादेयमिति बोध्यते । अथ यन्नोत्पद्यते स्वराष्ट्रे तत्र विषये चेदमालोचनीयम् किमिदं वस्तु स्वराष्ट्र उत्पादयितुं शक्यते न वा । अथ शक्यते तदा तदुत्पादनाय यत्नः करणीयः । यत् किलोत्पादयितुं

महाशक्ति को भी तम के रूप में अभिव्यक्त किया जाता है । जो तामस भाव से शक्ति की उपासना करते हैं उनके निग्रह अनुग्रह के लिए तामसी भावना होनी चाहिए । कल्पारम्भ किंवा वर्षारम्भ जिस बिन्दु से होता है, वह बिन्दु अमावास्या ही है । कृष्णपञ्चदशी ही अमावास्या कहलाती है । कृष्णपञ्चदशी में रात्रि में जैसे सूर्यचन्द्र का दर्शन नहीं होता, वैसे ही काली के द्वारा कलित पदार्थों का दर्शन भी नहीं होता है । पदार्थों का दर्शन न होने पर भी उनकी सत्ता अक्षुण्ण बनी रहती है । काली का अधिष्ठाता शिव है, जिसका गौरवर्ण होता है । सृष्टि के आरम्भ में जब जगत् बिन्दुरूप में अवस्थित होता है, तब वह तमोरूप ही होता है ।

शक्यतेऽथाऽपि नोत्पाद्यते यत्र राष्ट्रे वस्तु तत्र खलु राष्ट्रान्तरात्तत्तद्वस्तु स्वयमेव समायाति । अत्रेदं तत्त्वम् - भोग्यं वस्तु खलु बाह्य बाह्यमनार्य-भावसंवर्धनं नार्या उत्पाद्योत्पाद्य राष्ट्रान्तरेषु नानाविधैरुपायैः सम्प्रेष-यन्ति, धनाऽऽहरणाय स्वल्पाऽतिस्वल्पमूल्येन तत्र तत्र विक्रीणन्ति प्रचारयन्ति च । अथ च नीचैः प्रवणत्वात्प्रायो जीवलोकस्य हिताऽहित-मविचार्यैव केवलं रुचिरमित्येव तत्तद्वस्तु राष्ट्रान्तरादायातमपि क्रीणन्ति बुभुक्षां शमयितुम् । अथाऽनन्तरं तदधीनजीविताः सन्तो मन्यन्ते तदावश्यकं हितकरं चेति । अथैव राष्ट्रान्तरेभ्यो वस्तून्यायान्ति । एतदेव बोधयितुं वस्तुनः कर्तृत्वमागमने विवक्षितम् । किं च राष्ट्रान्तराद्यदा शक्योत्पत्ति वस्तुजात समायाति तदा तत्तद्वस्तूत्पादने समर्थमपि नोत्पा-दयति वस्त्विति तद्राष्ट्रमालस्यसंयुतमित्येव ज्ञायते । अयमर्थः—आलस्य-मन्तरेण न तत्र कोऽपि हेतुरिति समस्तानां विदुषां सिद्धान्तः । 'वस्तु' इत्येकवचनं च जात्यभिप्रायम् । तेन वस्तुत्वाऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नमिति बोध्यते । आलस्येन संयुतं खलु राष्ट्रमाश्वेव नाशं सर्वथा प्रयातीति निश्चितमेव । 1982 विक्रमवत्सरे प्रस्तुतभाष्यकृदेकदा मूर्धज्योतिः संयमाऽवसरे कस्यचिन्महात्मनो दर्शनमुपलभ्य सप्रणिपातं प्राथितः स महात्मैवं प्राह स्म—

आलस्येन हता विद्या आलस्येन हतं धनम् ॥
आलस्येन हता सिद्धिरालस्यः सर्वघातकः ॥

भवतु । इदं हि निश्चितमेव यत्—आलस्यसंयुते खलु स्वतन्त्रेऽपि राष्ट्रेऽवश्यमेव राष्ट्रान्तराच्छक्योत्पत्त्यपि वस्तुजातमायात्येव । तेन

अनार्य-पारतन्त्र्य को दूर करने के लिए दण्डशक्ति का प्रयोग करके भिक्षादि का परित्याग कर क्रान्ति की उपासना करनी चाहिए । यह काली शक्ति क्रान्तिरूपा है । मनु ने दण्ड को भी श्यामरूप बतलाया है—'यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति पापहा' । दुर्गासप्तशती में भी सर्वप्रथम कालीचरित्र का ही वर्णन किया गया है ।

लक्ष्मीशक्ति भी प्रभाविनी है । जो न तो आर्य हैं तथा न अनार्य हैं, उन्हें लक्ष्मी से वश में किया जाता है । राष्ट्रलक्ष्मी पद का तात्पर्य कोष से है । लक्ष्मीपद भेदनीति अथवा दाननीति का उपलक्षण है । जैसे काल बिन्दु मिश्रण

लोकानां धनमपि तद्विनिमये गच्छत्येव राष्ट्रान्तरेषु । एवं च धनाऽभावे नाऽऽशंसां पूरयितुमसमर्थं सत्तद्राष्ट्रं दासीभवति राष्ट्रान्तराणां जीवनाशया । अथ च तादृक् राष्ट्रं स्वजीवनेनाऽपि जीवितुमिच्छति बुभक्षितं च भवति । बुभुक्षितं च नानाविधान्यकार्याणि कुर्वत स्वपापकर्मणां फलभूतं स्वनाशं समस्तेन सह स्वराष्ट्रेणाऽनुभवतीत्यहो निपातपरम्पराऽऽलस्यसंयुतस्य राष्ट्रस्य । अत एवाऽलस्यमधिकृत्य भारतेऽप्येवमुवाच भगवान् वेदव्यासः—

आलस्यं यदि न भवेन्महाननर्थः ।
को न स्याद्बहुधनवान् बहुश्रुतश्च ॥
आलस्यादियमवनी ससागरान्ता ।
सङ्कीर्णा नरपशुभिश्च निर्धनैश्च ॥

एवं च सर्वथाऽपि कष्टसाध्यमपि वस्तुजातं स्वराष्ट्र एवोत्पादनीयं यथाशक्यम् । किंच न नाम खलु वस्तु च समुत्पादयितुमशक्यं चोत्साहवतामार्यमार्गाऽनुवर्तिनाम् । शक्योत्पत्तिकस्य वस्तुनो राष्ट्रान्तरादायान आलस्य एव कारणम् । अथ चेदमपि बोध्यम्—शक्योत्पत्ति वस्तु राष्ट्रे यत्राऽऽगच्छत् न निवार्यते, तत् राष्ट्रमालस्येन सम्यग्युतं भवति, अतीवाऽऽलस्येन बद्धं भवतीति यावत् । आलस्यन सम्बद्धं च राष्ट्रान्तरैराक्रम्य विनाश्यत आश्वेवेति सिद्धान्तः । ननु परतन्त्रं राष्ट्रं खलु न निवारयितुं शक्नोति राष्ट्रान्तरादागच्छद्वस्तुजातम् । आलस्यरहितमपि पारतन्त्र्यनिगडितत्वादेवेति कथमुच्यत आलस्यसंयुत एव राष्ट्रे राष्ट्रान्तराद्व-

---

होता है, वैसे आर्य बिन्दु का भी । जहां दोनों का समता से मिश्रण होता है—वह राष्ट्रलक्ष्मी है । राष्ट्रकाली तो निग्रह प्रधान होती है । इस प्रकार आर्यविधा से कोषादि का संग्रह करना चाहिए । वह निग्रह और अनुग्रह दोनों के लिए होता है । अतएव लक्ष्मी-चरित्र की अपेक्षा होती है । जो आर्य अनुग्रह से वशीकृत किये जा सकते हैं, उन्हें प्रभाविनी राष्ट्रशक्ति की उपासना करनी चाहिए । वही राष्ट्रसरस्वती है । अनुग्रह के आधिक्य से ही यह गौरवर्ण की है । अनुग्रह शिक्षादि से होता है, अतः सरस्वती के चरित्र का पाठ किया जाता है ।

स्त्वायातीति चेत्। ऋज्वी खलु भवतां मतिः कारुण्यमुत्पादयत्यस्माकं मनसि, रभसात्खलु विक्रीयमाणमनार्यैं राष्ट्रियैः किमपि भवन्तः क्रीणन्ति वस्तुजातम्। किमयं नालस्यः स्वकर्तव्यपालनविषये ? स्वकर्तव्यपालनविषये मोहो वा प्रमादो वाऽऽलस्यादप्यधिकः। किं चाऽत्राऽऽलस्यपदं न केवलमालस्यपरम्। तत् खलु मोहप्रमादभ्रान्त्यादीनां समस्ताऽऽकल्याण मूलभूतानां दुर्गुणानामुपलक्षणम्। एवं च येन केनाऽपि वा कारणेन शक्योत्पत्त्यपि वस्तुजातं राष्ट्रान्तराद्यत्र राष्ट्र आयाति तद्राष्ट्रमधिकाऽधिकमवश्यमेव विनाशं गच्छति। एतेन राष्ट्रान्तरादागतं वस्तु सर्वथा परिहर्तव्य परतन्त्रेण राष्ट्रेण। स्वतन्त्रेण च राष्ट्रान्तरोत्पन्नानि वस्तूनि स्वराष्ट्रे शक्योत्पन्नानि न क्रेतव्यानि। किं चेदमपि बोध्यम्—'आयाति' इत्यनेन राष्ट्रान्तरोत्पन्नानि वस्तूनि प्रतिग्रहरूपेणापि न ग्राह्याणि। अनार्यभावसंवर्धनकारित्वात्तेषामित्यपि ध्वनितम्। स्वातन्त्र्यवर्द्धिस्तप्राप्तिकामैश्चार्यविधया सर्वथाऽपि शक्योत्पत्तीनि वस्तु जातानि राष्ट्रान्तरोत्पन्नानि निवारणीयान्येव। किं चेदमपि बोध्यम्—राष्ट्रान्तरादित्यनायभावसंवर्धनानामुपलक्षणम्। तेन यदेव वस्तुजातं राष्ट्रविनाशकं तत्सर्वमपि परिहार्यमेव। अयं भावः—परतन्त्रे सति स्वराष्ट्रे परैर्नानाविधानि वस्तूनि समुत्पाद्यन्ते राष्ट्रलुण्ठनाय तान्यपि सर्वाणि राष्ट्रान्तरादायातान्येव मन्तव्यानि। यतो हि तन्मूल्यं सर्वमपि द्रव्यं राष्ट्रान्तरे गच्छति। राष्ट्रान्तरे खलु यत्रत्यं धनं गच्छति तत्र कोषः कथङ्कारं सम्पद्येत। अयमर्थः—आदानं प्रदानं खल्वनिवार्यमावश्यकं च लोकव्यवहारायाऽपि यस्य राष्ट्रस्यायोऽधिको व्ययश्चायादल्पस्तदेव राष्ट्रं कोषं संवर्धयितुं शक्नोति। कोषाऽ-

---

इसे इस प्रकार समझा जा सकता है कि जैसे सर्वप्रथम रोगी के रोग को दूर करने का प्रयत्न किया जाता है, तदनन्तर उसे पुष्ट करने का तथा आनन्दोपभोग का। इसी प्रकार परतन्त्र राष्ट्र को स्वतन्त्र करने के लिए सर्वप्रथम दण्डनीति से अनार्यों का नाश किया जाय, तदनन्तर कोषशक्ति से, भेदनीति से, दाननीति से राष्ट्र की पुष्टि की जाय तथा अनुग्रहशक्ति से, सामनीति से स्वतन्त्रता का उपभोग किया जाय।

धीनं च सर्वमपि व्यवस्थापनमिति तु विदितमेव । शृणुताऽत्र विषये —
आयादधिकं व्ययीकुर्वन् कुबेरोऽपि कालान्तरे किम्पचानोऽवश्यं भविष्यति । तथा चायात्स्वल्पं व्ययीकुर्वन् किम्पचानोऽपि कालान्तरे कुबेरो भवितुं शक्नोति । सर्वदाऽपि राष्ट्रान्तरेण व्यापारो धनसङ्ग्रहायैव क्रियते न धननाशाय । अत एव शक्योत्पत्तीनि वस्तूनि न जात्वपि राष्ट्रान्तराद् ग्राह्याणि, क्रेतव्यानि, आदेयानि वा । यानि चाशक्योत्पत्तीनि तान्यपि हितकराण्येव चेत्स्युस्तदैव क्रेतव्यान्युचितमूल्येन । एवं च स्वास्थ्यविभागद्वारा, चारविभागद्वारा राष्ट्रनेतृभिश्च सुतरां परीक्ष्य तदनन्तरं तदनुकूलव्यापारनियममूल्यस्थापनशुल्कयोजनादिभिरादानप्रदानव्यवहारः कार्यः । सर्वथापि राष्ट्रकोषसंवर्धनं संरक्षणं च यथा भवति तथा समाचरणीयम् । स्वराष्ट्रस्यायात् स्वराष्ट्रस्य व्ययः सर्वदाऽपि न्यून. कार्यस्तेनैव कोषनिर्माणसम्भवात् । किं चेदप्यनेन बोध्यते—यथा राष्ट्रियो न कोऽप्यालस्यमोहप्रमादग्रस्ता निर्वृत्तिको वा भवेत्तथा सर्वोऽपि व्यापार आचरणीयः । एतेन सर्वोऽपि व्यापारो राष्ट्रियाणामेव हस्तगत आवश्यक इति बोध्यते । अन्यथा सर्वथाऽपि राष्ट्रविनाश एव भवेत् । किं च राष्ट्रान्तरादराष्ट्रियाद्वा वस्तु यथाशक्ति नैव ग्राह्यम् । अनया च कारिकया कृषिविभागः, वस्त्रनिर्माणविभागः, तत्तदामोदप्रमोदसाधनानां ते ते विभागाः साध्यक्षाः साङ्गोपाङ्गाः स्थापनीया इति सूचितम् । किं बहुनाऽलमनेन ।।8।।

एवं कोषनिर्माणं, तदर्थं धनाहरणं, तदुपायभूततया व्यापारनियमविधानं, मूल्यस्थापनं, मुद्राविभागस्थापनं मानविभागस्थापनं शुल्कविभागस्थापनं, स्वराष्ट्रोत्पन्नस्य ग्रहणं, स्वराष्ट्रे शक्योत्पत्तिकस्य वस्तुनो राष्ट्रान्तरादागमननिवारणं, कृषिविभागस्थापनं

बलशक्ति, कोषशक्ति तथा मन्त्रशक्ति इन तीन रूपों वाली यह प्रभाविनी राष्ट्रशक्ति है । अतः क्रम, अक्रम और विक्रम भेद से सेवित, यह चतुर्विध पुरुषार्थ को प्राप्त कराती है । राष्ट्र का योगक्षेम भी इन्हीं शक्तियों के सेवन से होता है । अनार्य विध से सेवित होने पर भोग-मोक्ष प्रदान करने वाली नहीं होती ।

अराष्ट्रियों द्वारा की गई क्रान्ति को सहन नहीं करना चाहिए । जो ऐसा करते हैं वे राष्ट्रघाती होते हैं, इसका निरूपण किया जा रहा है—

वस्त्रनिर्माणविभागस्थापनं, स्वराष्ट्रे एव नानाविधवस्तूनामुत्पादनं, आलस्यादित्यागः इत्येवमादिसर्वमपि कोषनिर्माणोपयोगि साङ्गोपाङ्गं निरूपितम् । अथ स्वातन्त्र्यमन्तरेण न किमपि कर्तुं पार्यते कार्यमकार्यं वेत्यसकृदुक्तमेव । स्वोन्नतिश्च सर्वेषामपि चिकीर्षितेत्यपि निर्विचिकित्समेव । ततश्चेदानीं स्वातन्त्र्यप्राप्तये प्रधान उपायो निरूपणीयोऽवश्यम् । तत्र केषांचिन्मतं यत् भिक्षया स्वातन्त्र्यं प्राप्तुं शक्यमिति तत्खण्डनपूर्वकं वस्तुतः स्वातन्त्र्यप्राप्त्युपायं प्राह—

स्वातन्त्र्यं भिक्षया नैव कदाचिदपि लभ्यते ।
योगक्षेमसमर्थैका राष्ट्रशक्तिः प्रभाविनी ॥82॥

स्वातन्त्र्यमिति भिक्षया—स्वातन्त्र्यं—कदाचित्— अपि—न—एव लभ्यते—प्रभाविनी—राष्ट्रशक्तिः—एका—योगक्षेमसमर्था । इति पदयोजनिका ।

'भिक्षया' "भिक्षा" प्रार्थना "याच्ञा भिक्षाऽर्थनाऽर्दना" इत्यमरः । तया स्वातन्त्र्यम्—स्वं निजं तन्त्रं=सिद्धान्तः यत्र तस्य भावः तत् 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च" (पा.सू 5/1/124) इत्यनेन ष्यञ् प्रत्ययः । कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं सामर्थ्यमिति भावः । कदाचित् अपि=जात्वपि "कदाचित् जातु" इत्यमरः । सम्भावनायामपिरत्र । कस्मिन्नपि काले सम्भावनाविषयेति तात्पर्यम् । न एव—अभावे नेत्यव्ययम् । निर्धारणे चैवेत्यव्ययम् । कस्मिन्नपि काले न सम्भावनाविषयमपीत्येव निश्चितमेतदिति भावः । 'लभ्यते'=प्राप्यते ।

अराष्ट्रियकृतां क्रान्तिं सहन्ते येऽल्पबुद्धयः ॥
शान्तिभंगभिया राष्ट्रे नूनं ते राष्ट्रघातिनः ॥84॥

जो अल्पबुद्धि राष्ट्र में अराष्ट्रियों द्वारा की गई क्रान्ति को शान्ति-भंग होने के भय से सहन करते हैं, वे निश्चित ही राष्ट्रघाती हैं ।

समस्त जीवलोक शान्ति की कामना करते हैं, क्योंकि शक्ति आनन्दप्रद होती है । व्यवहार में वह सदा नहीं प्राप्त होती । जब तक मन में भोग की इच्छा विद्यमान रहती है, तब तक पूर्णशान्ति की प्राप्ति नहीं होती है । भोग स्पष्टतः चाहे आशंसा रूप हो या बुभुक्षा रूप पारमार्थिकी शान्ति सम्भव नहीं

कर्मणि प्रयोगेन च स्वातन्त्र्याऽपेक्षया तत्प्रापकाणामेव मुख्यत्वमिति ध्वन्यते। तेन मुख्यानामेवं कल्पनं न सर्वथा शोभावहमिति बोध्यते। तेनैवं मन्यमानानां देवानां प्रियत्वमेव भवतीति ध्वन्यते। अथ तर्हि क उपायः स्वातन्त्र्यप्राप्तावित्याह—योगेति 'प्रभावनी'—भवनं भावः भूधातोर्भावे घञ् विद्यमानतेति यावत् प्रकृष्टः=गुणा आधिक्येन शोभाशाली भावः प्रभावः। अथ वा भावः=स्वभावः शीलमिति यावत् प्रकर्षश्च शीले सर्वतोभद्रनीतिप्राधान्यम्। अथ वा भावः=अभिप्रायः प्रकर्षश्च तत्र पूर्वोक्तरूपः। अथवा भावः चेष्टा प्रकर्षश्च तत्र विवेकशालित्वम्। अथवा भावः=आत्मा प्रकर्षश्च तत्रार्यत्वेन, अथवा भाव=जन्म प्रकर्षश्च तत्र मान्यगुणसम्पन्नत्वम्। मान्यस्थानानि चोक्तानि यथा—

वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी।।
एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम्।। (मनु. 2/156)

सर्वथाऽपि प्रकृष्टो भावः प्रभाव आवश्यकः। भावशब्दार्थाश्चाऽमरसिंह आह—

भावः सत्ता स्वभावाऽभिप्रायचेष्टात्मजन्मसु ।।

प्रभाव ऐश्वर्यमिति भावः। ततः प्राशस्त्ये मत्वर्थे "अत इनिठनौ" (पा सू. 5/2/115) इत्यनेनेनिः। ततः स्त्रीत्वविवक्षायां "ऋन्नेभ्यो ङीप्" (पा. सू. 4/1/5) इति ङीप्। प्रभावः खलु स उच्यते येन सर्वेऽपि यथाऽभिलषितं वशीकर्तुं पार्यन्ते। शक्तिरिति तात्पर्यम्। प्रभावः खलु कोशदण्डजं तेज इत्येवं मन्यन्ते केचित्। यथाऽहामरसिंह एव—

किन्तु आपेक्षिकी शान्ति व्यवहार में भी पाई जा सकती है। अपने-अपने कर्मों का अविरोधतः आचरण करना ही तो शान्ति है। यह स्वातन्त्र्य में प्राप्त होता है, पारतन्त्र्य में नहीं। अतः व्यावहारिक शान्ति की प्राप्ति के लिए योगक्षेम की कल्पना की जाती है। सर्वतोभद्रनीति के प्राधान्य से राष्ट्रस्वातन्त्र्य में समस्त लोक का कल्याण तथा व्यावहारिकी पूर्ण शान्ति सम्भव है।

क्रान्ति को "क्रामण" या परिणाम कह सकते हैं। वह दो प्रकार की होती है—आर्या और अनार्या। आर्यों से उपासित आर्या क्रान्ति सङ्क्रान्ति है तथा अनार्यों से उपासित क्रान्ति अनार्या क्रान्ति या किङ्क्रान्ति है। अराष्ट्रिय अनार्य

स प्रतापः प्रभावश्च यत्तेजः कोशदण्डजम् ।

प्रस्तुतभाष्यकृत्तु ब्रवोति नैतदेव केवलं किन्तु तत्तच्छक्तीनां जीवातुभूतं वीर्यमेव प्रभाव इति । यथा कोशदण्डजं तेजः प्रभावस्तथा नियमप्रणेतृत्वस्य तेजोऽपि । अत एव "तेजः प्रभावे दीप्तौ च" इत्यमरोक्तं सङ्गच्छते । 'एका'=मुख्या केवला वा । तदुक्तं कोशे—

एकोऽन्यार्थे प्रधाने च प्रथमे केवले तथा ।
साधारणे समानेऽल्पे संख्यायां च प्रयुज्यते ॥

'राष्ट्रशक्तिः' - 'राष्ट्रस्य'=पूर्वलक्षणलक्षितस्य 'शक्ति':=सामर्थ्यम् । 'योगक्षेमसमर्था'—'योगः'=अविद्यमानस्य प्रापणं 'क्षेमं'=लब्धस्य परिरक्षणं च तयोः समर्था=शक्ता 'अस्ति' इति शेषः ।

अत्रेदमाकूतम् समस्तोऽप्यार्याऽनार्यसाधारणो जीवलोकः सकाम एवेति प्रसिद्धमेव । कामः पुनराशंसारूपो वा बुभुक्षारूपो वा भवतु तत्प्रतिबद्ध एव सर्वोऽपि जीवलोकव्यवहार इत्यसकृदुक्तम् प्रस्तुतभाष्यकृतैव । तं च काम पूरयितुमर्थं वा धर्मं वा मोक्षं वेच्छति । मोक्षश्च समस्तनिदानभूततया परमः पुरुषार्थ इत्यप्यावेदितमेव । तत्र व्यावहारिकमोक्षलाभमन्तरा न व्यावहारिकपूर्णाऽऽनन्दाऽवाप्तिरित्यपि सर्वेषां विद्वत्तल्लजानां विदितमेव । अयं च स्वातन्त्र्याऽपरपर्यायो मोक्ष एव बीजफलन्यायेन कारणोद्देश्यभावमवगाहते । तत्रैवं बोध्यम्—प्लवनज्ञानाय जलप्रवेश आवश्यकः जलप्रवेशाय च प्लवनज्ञानमावश्यकम् । तत्र यथा प्लवनजिज्ञासोः स्थले यथा न सम्भवति प्लवनज्ञानं तदर्थं जानुदघ्नेऽपि

होते हैं, अतः उनकी क्रान्ति को सहन नहीं करना चाहिए । जो राष्ट्र स्वतन्त्र हैं, वे यदि अराष्ट्रियों द्वारा की गई क्रान्ति (किंक्रान्ति) को सहन करते रहेंगे, तो वे निश्चित ही अल्पबुद्धि एवं विवेकशून्य हैं । वे यह विचार ही नहीं कर सकते हैं कि अराष्ट्रियों द्वारा की गई क्रान्ति को (शान्तिभंग की आशंका से) सहन करने से राष्ट्रघात होगा । जिस प्रकार एक मूर्ख बालक जाने अनजाने में अपने हाथ में अग्नि ग्रहण कर लेता है और उसके परिणाम स्वरूप हस्तदाह को भोगता है, उसी प्रकार से अल्पबुद्धि राष्ट्रिय लोग हैं ।

अराष्ट्रिय अपने ही राष्ट्र में रहकर दूसरे राष्ट्रों में यदि क्रान्ति करते हैं,

जल एवाऽवतरणमावश्यकं भवत्येवमेव धर्मादिकामान्तस्य पुरुषार्थत्रयस्य प्राप्तिः स्वातन्त्र्याऽधीना स्वातन्त्र्याऽप्तिश्च धर्माद्यधीनेति तत्राऽपि किंचित्स्वातन्त्र्यमवलम्ब्य धर्मादिव्यवस्था ततश्च तया व्यवस्थयेषत्-स्वातन्त्र्याऽधिकं तेन च पुनस्तेषामाधिक्यमिति क्रमशः पूर्णस्वातन्त्र्य-लाभः पूर्णकामावाप्तिश्च। तत्र स्वातन्त्र्यं जातु भिक्षया लभ्येतेति न युक्तम्। अयमर्थः—भिक्षया खलु स्वातन्त्र्यप्राप्तेः सम्भावनाऽपि नेति निश्चयस्तत्त्वदृशाम्। भिक्षा खलु मृतमित्याख्यायते। तदाह मनुः–'मृतं तु याचित भैक्षम्' इति। (मनु. 4/5) मृत नाम निर्वीर्यमित्यर्थः। सवीर्यमव जीवनं स्वातन्त्र्यं प्रददाति। वीर्यं च प्रभाव इत्युच्यते प्रस्तुतभाष्यकृताऽत्र। प्रभावोऽपि आर्याणामनार्याणां च पृथक् पृथगेव। आवश्यकता च द्वयो-रपि। आर्याः खलु अनार्यविधया न भावस्योपयोगं कुर्वन्तीत्यन्यदेतत्। ज्ञानं तु द्वयोरप्यावश्यकमेव। अयमर्थः—राष्ट्रशक्तिरेव प्रकटप्रभावा योगाय च क्षेमाय च कल्पत एव। स्वातन्त्र्यप्राप्तये खलु प्रभाविनी राष्ट्र-शक्तिरेवैका सम्पद्यत इति। तत्राऽयमारोहक्रमः स्वातन्त्र्यप्राप्तये। सर्वत आदौ यथाशक्ति कोषनिर्माणं कार्यम्। अयमर्थः—भेदनीतेरवलम्बः कार्यः। ततश्च कोषप्रभावाद्बलनिर्माणम्। दाननीतेरवलम्बः कार्य इति भावः। कोषबलप्रभावाच्च राष्ट्रान्तरैः सम्बन्धो यथाऽभिलाषं स्थापयितुं शक्यते दण्डप्रणयनमप्यनार्याणां कर्तुं शक्यते। एतत्त्रितयसम्पन्नं च राष्ट्रं साम्नाऽपि वशीकर्तुं शक्नोति। राष्ट्रान्तरमपीति किमु वाच्य स्वराष्ट्रविषये। अत एव परतन्त्राणां कृते सर्वथाऽपि सर्वादौ राष्ट्रशक्ति-प्रभावप्रकटनमावश्यकमिति ध्वनितम्। अत्रेदं बोध्यम् - शक्तिरेव सूक्ष्मा

तो एक प्रकार है और दूसरे राष्ट्र पर आक्रमण करके क्रान्ति करते है, तो यह दूसरा प्रकार है। इन द्विविध शान्तियों को जो सहन करते हैं, वे अल्पबुद्धि और राष्ट्रघाती हैं।

सर्वतोभद्रनीति प्रधान आर्य राष्ट्रवादी किसी के आघात को सहन नहीं करते हैं, किन्तु यथाशक्ति राष्ट्रघातियों को दण्ड देने के लिए सर्वदा तैयार रहते हैं। अनार्य राष्ट्रवादी भी वास्तव में राष्ट्रघाती ही होते हैं। आर्य राज्यवादी भी अराष्ट्रियों द्वारा की गई क्रान्ति को सहन करते हैं, अतः वे भी राष्ट्रघाती ही हैं।

शान्ति किसे कहते हैं? अब इसका निरूपण किया जा रहा है:—

प्रभाव इत्युच्यते । यदुपासनया तत्तदभिलषितं प्राप्यते । उपासनाप्रकार एवं विहितः **शिवसूत्रे**—"महाह्लदाऽनुसन्धानान्मन्त्रवीर्याऽनुभव" एतदर्थश्च यथा तद्वार्तिके **कृष्णदास** आह—

महाह्लद इति प्रोक्ता शक्तिर्भगवती परा ।
अनुसन्धानमित्युक्तं तत्तादात्म्यविमर्शनम् ।।

एवं च राष्ट्रस्य या पराशक्तिस्तत्तादात्म्यविमर्शनात् तत्प्रभावाऽनुभवः तेन चाऽनुभवेन स्वातन्त्र्याऽवाप्तिः तया च समस्तपुरुषार्थसिद्धिरिति । अत्रेदं च बोध्यम् किं नाम राष्ट्रम् ? तस्य का नाम शक्तिः ? तस्या को वा प्रभावः ? कथं वा तस्यैतस्याऽवाप्तिः क्रियते ? अथ किं फलमेतस्याः ? एतत्सर्वमप्यादौ विज्ञेयम् । तदेतत्सर्वमपि राष्ट्रज्ञानवैचक्षण्यमित्युच्यते तच्च शिक्षाऽधीनमतः सर्वतः पूर्वं राष्ट्रशिक्षाया एवाऽवश्यकत्वं स्वतन्त्राणां परतन्त्राणां च राष्ट्राणाम् । परतन्त्राणां स्वातन्त्र्ययोगाय स्वतन्त्राणां च स्वातन्त्र्यक्षेमाय । एतत्सर्वमभिप्रेत्यैव राष्ट्रशिक्षैव प्रस्तुतभाष्यकृता पूर्वं निरूपिता । राष्ट्रज्ञानवैचक्षण्य चानेनैव ग्रन्थेन भविष्यतीत्यग्रे वक्ष्यत एव ग्रन्थान्ते । भवतु । तदेवं स्थितौ राष्ट्रशक्तिरेव प्रभाविनी विधयेति स्वातन्त्र्याय राष्ट्रियैरिति विधीयते । किं च भिक्षा इत्युपलक्षणं प्रभावाऽतिरिक्तस्य सर्वस्याऽपि । ननु प्रभावः खलु शक्तिमात्रेऽपि वर्तत एव । भिक्षाऽपि तावत्काचिच्छक्तिरेव । ततश्च साऽपि प्रभावशालिनी चेत् तयाऽपि स्वातन्त्र्यप्राप्तिः स्यात् इति चेदहो ते देवानां प्रियस्यायुष्मतो युक्तिवादपाण्डित्यम । तात ! नास्माकमवगतोऽभिप्रायस्त्वया, अङ्ग ! श्रूयतामत्रत्य रहस्यम् । भिक्षायाः खलु प्रभावो न स्वातन्त्र्याऽवाप्तिसाधक इत्युच्यते प्रस्तुतभाष्यकृता । सर्वा अपि शक्तयः प्रभावशालिन्य इति तु

यथा शान्त्या पराधीनं राष्ट्रं भवति सा न हि ।
शान्तिः किन्तु नितान्त सा केवल क्लीबता मता ।।85 ।।

जिस शान्ति से राष्ट्र पराधीन होता है, वास्तव में वह शान्ति नहीं है, वह केवल क्लीबता है ।

शान्ति अनिर्वचनीय आनन्द को देने वाली होती है । शान्ति का अनुभव करने वालों को शान्त कहते हैं । वास्तव में पूर्ण अवस्था की प्राप्ति ही शान्ति

तथ्यतरमथापि स्वातन्त्र्याऽवाप्तिसाधन एव सर्वविधोऽपि प्रभाव इति तु नैकान्तेन सम्भवति। अयमर्थः—कश्चित् पारतन्त्र्याऽवाप्तिसाधनः कश्चिच्च स्वातन्त्र्यावाप्तिसाधनः। तत्रेदं रहस्यम्—यथास्वं विचक्षणतयाऽर्यविधयाऽनुभूतः प्रभावोऽनुकूलफलमुत्पादयति। वैपरीत्ये विपरीतम्। अत एव प्राशस्त्येऽत्रेनिरिति व्याख्यातं प्रकृतभाष्यकृता पूर्वम्। अन्यथा चाऽर्थो न शङ्कनीयः। अत एवोक्तं महाभाष्ये पङ्क्तिविंशतीतिसूत्रे—"नाऽसूया कर्तव्या यत्राऽनुगमः क्रियते इति। अत एव स एवाऽन्यत्राह—"व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्" इति। एवोक्तमन्यत्राऽपि—

आर्षधर्मोपदेशं च वेदशास्त्राऽविरोधिना ॥

यस्तर्केणाऽनुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः। (मनु. 12/106)

श्रीराष्ट्रालोकश्चायं परमधर्मशास्त्रमित्यावेदितमेव प्रस्तुतभाष्यकृता। एवं चाऽऽर्यविधया प्रयुक्ताऽऽर्यप्रभाववती राष्ट्रशक्तिरेवैका स्वातन्त्र्यस्य योगाय क्षेमाय च कल्पत इत्युक्तं भवति। भिक्षादीनां पुनः सम्भावनाऽपि न सम्भवति योगक्षेमार्थम्। इदं च बोध्यम्—अत्र राष्ट्ररूपा या शक्तिः इत्येवं व्याख्येयम्। अयमर्थः—आर्यत्वं यत्र यावत्येवांशेऽधिक विकासशालि तावत्येवांशे प्रभाविनीत्युच्यते राष्ट्रशक्तिः। सर्वथाऽपि स्वातन्त्र्ययोगक्षेमार्थं राष्ट्रज्ञानवैचक्षण्यं सम्पाद्य तत्प्रभावेन स्वातन्त्र्यं सम्पादयितुं शक्यते इत्यलमेतावता बहुना ॥82॥

समस्तपुरुषार्थनिदानभूतस्य स्वातन्त्र्यस्य प्राप्तये प्राप्तस्य परिरक्षणार्थं च प्रभाविनी राष्ट्रशक्तिरेवैका सम्पद्यते न भिक्षादिरूपा काऽपि कल्पनेति निरूप्य साम्प्रतं प्रभाविनी राष्ट्रशक्तिः का कतिधा चेति निरूपणमप्यावश्यकममिति तन्निरूपणायाऽऽह—

है। इसे मौन भी कहा जा सकता है। यह निष्काम भाव से उत्पन्न होता है। पूर्णकामता के बिना निष्कामभाव भी नहीं होता है। व्यवहार में सर्वतः पूर्णकामना नहीं होती। अपूर्णकामना ही उसका स्वभाव है। पूर्णकाम की प्राप्ति ही पूर्णकैवल्य है। कैवल्यावस्था में पूर्णकामता के कारण ही वास्तव में मौन होता है। आर्य आशंसावान् होते हैं। अतः शान्त होते है। अनार्य बुभुक्षावान् होते है। अतः अशान्त होते हैं। आशंसा की पूर्ति करनी चाहिए और बुभुक्षा का

राष्ट्रकाली राष्ट्रलक्ष्मीस्तथा राष्ट्रसरस्वती ।
सेवनीया प्रयत्नेन भोगमोक्षप्रदायिनी ।।83।।

राष्ट्रकालीति राष्ट्रकाली—राष्ट्रलक्ष्मीः—तथा—राष्ट्रसरस्वती—भोगमोक्षप्रदायिनी—प्रयत्नेन—सेवनीया । इति पदयोजनिका ।

'राष्ट्रकाली'—'राष्ट्र'=पूर्वोक्तलक्षणं तस्य 'काली'=कलनशक्तिः अत्र सम्बन्धसामान्ये षष्ठी । तदयमर्थः—राष्ट्ररूपा या कलनशक्तिः । भावानां क्रमाऽवभासिनी शक्तिः कालीत्युच्यते । अयं भावः—इह खलु परशिवेऽनन्ता एव भावाः स्पन्दन्ते यथाऽभिलषितम् । क्रमेणाक्रमेण विक्रमेण च । अत एवाऽऽरम्भपरिणामविवर्तादयः सर्वेऽपि वादाः समुत्पद्यन्ते । अत्र सर्वेषां भावानां वस्तुतो महाभावाऽनतिरिक्तत्वमिति सर्वविधान्यपि स्फुरणाऽन्यनुस्फुरणानि महाभावस्यैवेति तु रहस्यम् । यथैक एव महाबिन्दुर्निजविसर्गकलयाऽनन्तबिन्दुतामवगाहते । षड्विधा भावविकारा अपि महाभावपरिस्फुरणमात्रसारा एव । जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति इति षड्भावा वाक्यपदीयादौ व्याकरणतन्त्रे स्फुटं प्रतिपादितास्तत एव विज्ञेयाः । एषां सर्वेषां मूलभूता या शक्तिः सा कालीत्युच्यते । इयं द्वादशविधा मतान्तरे त्रयोदशविधा चेत्यादि श्रीतन्त्रालोकादितोऽवगन्तव्यम् । राष्ट्रे या काली सा राष्ट्रकालीति वा व्याख्येयम् । इयं खलु महाकालमपि ग्रसन्तीति कालीत्युच्यते । तदुक्तमन्यत्र—"कालीं महाकालमलं ग्रसन्तीम्" इति । किं च 'कलगतौ सङ्ख्याने च' यतोऽस्य समस्तमपि कलयति=जानाति, गमयति, गणयति वा । अत एव कालपदनिरुक्तिरेवं प्रतिपादिताऽन्यैः—"कलयति जगदेष कालोऽतः" इति । किं च नानाविधरूपतया क्षेपण-

---

हनन करना चाहिए । जहां आशंसापूरणी व्यवस्था होती है, वहां शान्ति होती है । आशंसापूर्ति के विना शान्ति की सम्भावना नहीं है । आशंसा की पूर्ति कब, कैसे व कहां होती है ? ये प्रश्न उपस्थित होते हैं । पूर्णरूपेण पर्यालोचन करने पर पता लगता है कि स्वराष्ट्र की स्वतन्त्रता में ही योगक्षेम है । क्योंकि यहीं व्यावहारिक परधर्म है । जहां काम-कामना जागृत है, वहां शान्ति की सम्भावना नहीं हो सकती ।

शक्तिः कालीत्युच्यते। अत एवाऽन्यत्रोक्तमपि 'क्षेपाज्ज्ञानाच्च काली कलनवशतया' इति। भवतु। काली दण्डशक्तिः। अथैवमेव 'राष्ट्र-लक्ष्मीः'—राष्ट्रस्य=पूर्वलक्षितस्य लक्ष्मीः=शोभा, सम्पत्तिः, पद्मा च। तथा चाऽऽह कोशकारः—

शोभा सम्पत्तिपद्मासु लक्ष्मीः श्रीरिव दृश्यते।

राष्ट्ररूपा या लक्ष्मीरिति वा। अथवा राष्ट्रे या लक्ष्मीः=धनं सा 'तथा'=एवमेव 'राष्ट्रसरस्वती'—राष्ट्रस्य=पूर्वलक्षितस्य सरस्वती वाग्देवता, राष्ट्ररूपा या सरस्वती, राष्ट्रे च या सरस्वती। सरस्वती= वाणी द्विविधाऽपि भाषारूपा लिपिरूपा च, अथ च विद्या सर्वविधाऽपि वाग्देवतेति। तदाहाऽमरः—

ब्राह्मी तु भारती भाषा गीर्वाग्वाणी सरस्वती।

भाषाविषये विद्याविषये चाऽपूर्वं शिक्षाप्रकरणे विस्तृतभावोदित-मेव। सा च तथेत्यव्ययं समुच्चये। साम्य एव वा। 'न वा यथा तथैवैवं साम्ये' इत्यमरः।

साम्यं=पारिपूर्ण्यम्। सर्वतोभावेन राष्ट्रकाली, राष्ट्रलक्ष्मीः, राष्ट्र-सरस्वती चेति तात्पर्यम्। 'भोगमोक्षप्रदायिनी'—भोगः=अभ्युदयः मोक्षः =निःश्रेयसम्। एतयोर्द्वन्द्वः तयोः प्रदायिनी=प्रदात्री 'प्रयत्नेन'= शास्त्रोक्तविधानाऽनुसारेण 'सेवनीया'—सेव्या, सेवयितव्या च।

अत्रेदमाकूतम्—पूर्वस्यां कारिकायां हि स्वातन्त्र्ययोगक्षेमार्थं प्रभाविनी राष्ट्रशक्तिरेवैका समर्था सम्पद्यत इत्युक्तम्। सा च प्रभाविनी राष्ट्रशक्तिरेवाऽत्र कारिकायां वर्ण्यते राष्ट्रेति। सा हि त्रिविधा राष्ट्र-शक्तिः—राष्ट्रकाली राष्ट्रलक्ष्मीः राष्ट्रसरस्वती चेति। इयं प्रत्येकमार्या-नार्यभेदेन द्विधा भवतीति तु न विस्मर्तव्यम्। अत्रेदं बोध्यम्—सर्वोऽपि

जहां भय से, शोक से, मोह से, प्रमाद से, मौन रखा जाता है तथा यदि स्वराष्ट्र परतन्त्र है, तो सुसिद्धि कैसे हो सकती है? व्यवहार में अन्याय एवं मौन का जो अवलम्बन दृष्टिगत होता है, वह वास्तव में शान्ति न होकर मिथ्या-चार है, आत्मवञ्चना है, आत्मघात है। जिस शान्ति से परतन्त्रता प्राप्त होती है, वह वास्तव में शान्ति नहीं है। राष्ट्र यदि परतन्त्र है, तो पूर्णकामता को आंशिक सम्भावना भी नहीं है। तो वहां शान्ति की चर्चा कैसे सम्भव है?

जीवलोको भोगं मोक्षं च वाञ्छन्तीति तु निसर्ग एव। तत्र भोगो द्विविधः, व्यावहारिकः परमार्थिकश्चेति। मोक्षोऽपि द्विविधः व्यावहारिकः पारमार्थिकश्चेति। इदं च बोध्यम्—आत्मनो द्विविधं खलु रूपम्। बाह्यमान्तरं चेति। तत्र बाह्यं व्यवहारः, आन्तरं परमार्थः। सवमप्येतदात्मविलास एवेत्यापेक्षिकमेव। अत एव सर्वविदः पुरुषस्यैवं वणनमुपलभ्यते यथा—"न बाह्यं वेद नान्तरम्" इति। अस्तु, सर्वमेत दात्मविलासे निरूपित प्रस्तुतभाष्यकृता। जगतस्त्रैविध्यमप्यापेक्षिकमेव। तत्र सर्वविधस्याऽपि बाह्यस्याऽऽनन्दोपभोग इति सङ्केतो रहस्यविदाम्। सर्वविधस्याऽप्यान्तरस्याऽऽनन्द आन्तरभोगः। द्वयोरप्यत्राऽऽपेक्षिकतया पारतन्त्र्यमस्त्येव। आन्तरो भोगः शिवभोगो बाह्यभोगो जीवभोगः। एवमवायं क्रमभोग इत्युच्यतेऽपि रहस्यविद्भिः। अत्रेदं च बोध्यम्-जीवक्रम एव शिवदृष्ट्या क्रमः। शिवक्रमश्च जीवदृष्ट्याऽक्रमः। सर्वथाऽपि पारतन्त्र्यसुखं भोगः, स्वातन्त्र्यसुखं मोक्ष इति। स्वातन्त्र्यं च न कस्याऽपि हेयं भवति। पारतन्त्र्यं च हेयं सर्वस्याऽपि। यच्च क्वचित्पारतन्त्र्यं समीहाविषयं दृश्यते तद् ज्ञानेन न विज्ञानेनेति न स सिद्धान्तः। किं च अस्तु वा पारतन्त्र्यं समीहाविषयम्। तत्राऽपि स्वाऽऽनन्दोपभोग एवोपादित्सितव्यः। भोगमोक्षेच्छा सर्वस्याऽपि भवतीति पारमार्थिकः सिद्धान्तः। भोगमोक्षौ च राष्ट्रशक्तिरेव प्रददाति। ततः सा प्रयत्नेन सेवनीया। अत्रेदं बोध्यम्—सा त्रिविधाऽपि राष्ट्रशक्तिः प्रयत्नेन सेवनीया। यद्यपि राज्यशक्तिरपि भोगप्रदायिनी मोक्षप्रदायिनी च भवति तथाऽपि सा न स्थायिभावेनेति क्षरत्वं तस्या इति सा व तुतो न भोगमोक्षप्रदायिनीति द्योत्यते। इदं चाऽवगन्तव्यम्—सर्वमपि वस्तु बिन्दुरेवाऽऽविर्भवति। स च कामकलारूप इति त्रिधैव प्रत्यक्षीभवति।

परतन्त्र राष्ट्र में प्रतीत होने वाली शान्ति शान्ति न होकर नितान्त क्लीबता है। मौन को सम्मति का लक्षण भी कहा गया है। यदि कोई अराष्ट्रियों द्वारा की गई क्रान्ति के विषय में मौन रहता है, तो वह अन्यायकारी और राष्ट्रघाती है। वे जहां रहते हैं, वह राष्ट्र स्वतन्त्र होते हुए भी शीघ्र ही अराष्ट्रियों के हाथों आक्रान्त हो जाता है। यदि परतन्त्रता के कारण मौन धारण किया गया है, तो यह क्लीवता है। वीर्यवान् लोग कभी भी परतन्त्र नहीं होते हैं। जो

यतः स निग्रहाऽनुग्रहरूपद्वयसम्मिश्रः। तत्र निग्रहस्य भयानकरूपतया कालरूपत्वम्। एवं च स्वातन्त्र्यस्य प्राप्तये परिरक्षणाय च लोके निग्रहस्य नितरामपेक्षा भवतीति तच्छक्तेः पूर्वमेव निरूपणमावश्यकमिति द्योतनाय प्रथममेव राष्ट्रकालीत्युक्तम। किंचदेमपि बोध्यम्—कालः खलु वर्णः समस्तवस्तुतिरोभावकः प्रकाशः। अयमर्थः—समस्तानामपि वस्तूनां लयकृत् यः शक्तिवर्णः स कालः। लोकेऽपि स्पष्टमेवेदं प्रतीयते यत् कालप्रकाशे न किमपि पार्थक्येन विविच्यते वस्तुजातमिति। अत एवेयं तमोरूपा बाह्यतः। अत्र हि समस्तानामपि पदार्थानां सुषुप्तिः। अत एव जाग्रत्स्वप्नयोर्मूलकारणमियं शक्तिः। दण्डरूपेयं बाह्यतः। अत एव प्रथममियमेवोपासनीया। अयं भावः परतन्त्रराष्ट्राणां पारतन्त्र्यनाशाय प्रथममुद्योग आवश्यकः। पारतन्त्र्यस्य लयमन्तरेण स्वातन्त्र्यस्य सृष्टिर्न सम्भवति। लयाऽवस्थाया अत एव कालवर्णः। तस्य तमोरूपेण वर्णन च बाह्यदृष्ट्या सङ्गच्छत एव। पापवतां तमोऽभिभूतत्वं, ततश्च तदृष्टया महाशक्तेरपि तमोरूपत्वमेव युक्तम्। अयमर्थः–ये हि तामसभावेन शक्तिमुपासन्ते, तेषां निग्रहाऽनुग्रहावपि तामसभावेनैव सम्पादनीयौ भवतः। अत एव गीतास्वप्युक्तम्

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्माऽनुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ (गी. 4/11)

किं चाऽत एव तामसी शक्तिः कालीत्युच्यते। अत एव प्रारम्भे सृष्ट्या एतद्रूपत्वं भवति। वर्षारम्भः कल्पारम्भो वा यतो भवति स बिन्दुरमावास्यैव। अमावास्या च कृष्णपञ्चदशी। कृष्णपञ्चदश्यां रात्रौ यथा न सूर्याचन्द्रमसोर्दर्शनं तथैव काल्या कलितानां पदार्थानां न दर्शनम्। अदर्शनेऽपि पदार्थानां सत्ता त्वक्षुण्णैव भवति तत्त्वदृशाम्। अत

पहले परतन्त्र रह चुके हैं, वे भी वीर्यलाभ के बाद परतन्त्रता का ही सेवन करते हैं। जो मोह आदि के कारण मौन धारण करते हैं, वे क्लीब हैं। पराधीनता व शान्ति तम व प्रकाश की तरह विरुद्धधर्मी हैं। पराधीनता पतन को उत्पन्न करने वाली है, यह शान्ति को उत्पन्न नहीं कर सकती है। पराधीन व्यक्ति वीर्यवान् नहीं होते हैं, क्लीब होते हैं। जो क्लीब न होकर क्लीब की तरह आचरण करते

एव तदधिष्ठातुः शिवस्य गौरवर्णत्वम् सृष्ट्यारम्भे जगतोऽपि बिन्दु-रूपेणाऽवस्थानात्तमोभूतमिवेति वर्णयति **मनु** :—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ।। (मनु. 1/51)

निग्रहो दण्डशक्तिः साऽत्र प्रभाविनी सेवनायेत्युपदिश्यते । प्रयत्नतः सेवनोया आर्यविधया इति भावः । अयमर्थः – दण्डशक्त्यायत्तं नु खल्वनायपारतन्त्र्यदूरीकरणमतो भिक्षादिकं विहाय क्रान्तिरूपासनीया । कालीशक्तिः क्रान्तिरूपा भवतीति भावः । दण्डस्य श्यामरूपत्वमत एव वर्ण्यते **मन्वादिभि** :—

यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति पापहा ।
प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत्साधु पश्यति ।। (मनु. 7/25)

इत्यादि रूपेण । **दुर्गासप्तशतीस्तोत्रे मार्कण्डेयपुराणे**ऽप्यत एव प्रथमं कालीचारित्रमेव वर्णितम् । भवतु । अथ न केवलमियमेव विधा सेवनीया किन्तु राष्ट्रशक्तेर्द्वितोया विधा राष्ट्रलक्ष्मीरूपा साऽपि सेवनीया प्रयत्नेन । अय भाव :—प्रभाविनी खलु लक्ष्मीरपि सेवनीया । ये हि नाऽनार्या न चाऽऽर्यास्ते लक्ष्म्या वशीकर्तुं शक्यन्ते । राष्ट्रलक्ष्मीपदेन कोषो बोधितः । लक्ष्मीः खलु भेदनोतेर्दाननीतेश्चोपलक्षणम् । अत्रेदं बोध्यम्—कारणबिन्दोर्यथा मिश्रत्वमेवमेव कार्यबिन्दोरपीति यत्र द्वयोरपि साम्येन सम्मिश्रणं कार्यबिन्दौ स राष्ट्रलक्ष्मीपदेन सूचितः । राष्ट्रकाली तु निग्रहप्राधान्येन भवति । एवं चाऽऽर्यविधया कोषादिसङ्ग्रहः कार्यः, स च निग्रहायाऽप्यनुग्रहायापि सम्पद्यते । अत एव लक्ष्मीचरित्रं मध्ये पठ्यते । अथ ये पुनरार्याः अनुग्रहेण वशीकर्तुं शक्यन्ते ते, इति प्रभाविन्या राष्ट्रशक्तेस्तृतीया विधा सेवनीया । सा च राष्ट्रसरस्वती । इयमनुग्रहाऽऽधिक्येन गौरवर्णा । शिक्षादिभिरनुग्रहा भवति । सामनीते रूपलक्षणमिदम् । अत

हैं, वे वास्तव में मूर्ख होते हैं । जो प्रमाद अथवा आलस्य से अशान्ति को ही शान्ति मनते हैं । वे भी अन्त में पराधीनता प्राप्त कर बैलों की तरह क्लीब कर दिये जाते हैं । यह अनचाहे पतित होने का फल पाते हैं ।

क्रान्ति स्वाभाविकी होती है, अतः राष्ट्रिय एवं अराष्ट्रिय क्रान्ति के जनक

एवान्ते सरस्वती चरित्रपाठः। अत्रेदं बोध्यम्—यथा रोगिणः पुरुषस्य रोगनिवृत्तये प्रथमं यत्नो विधीयते, ततः पुष्ट्यै, ततश्चाऽऽनन्दोपभोगाय। एवमेव परतन्त्रराष्ट्राणां स्वतन्त्रीकरणाय प्रथमं दण्डशक्त्याऽनार्य-नाशस्ततो मिश्रया कोशशक्त्या भेदेन दानेन च पुष्टिः। ततश्चानुग्रह-शक्त्याऽऽर्याऽनुग्रहणम्। साम्ना स्वातन्त्र्योपभोगः। एवं हि त्रिविधाऽपि राष्ट्रशक्तिर्यथायथं सेविता प्रयत्नतो भोगं मोक्षं च प्रददाति। त्रिविध-पुरुषार्थसाधनं स्वातन्त्र्याऽपरपर्यायव्यावहारिकमोक्षाधीनमिति मोक्ष-मपि ददाति। अत्रेदं च बोध्यम्—बलशक्तिः, कोषशक्तिर्मन्त्रशक्तिश्चेति त्रिविधाऽपि प्रभाविनो राष्ट्रशक्तिः सेविता भोगमोक्षप्रदायिनी भवत्य-वश्यमेव। इदं च बोध्यम्—क्रमेणाऽक्रमेण विक्रमेण चाऽऽर्यविधया सेविता एव पूर्णतया चतुर्विधपुमर्थफलदायिनी भवति। राष्ट्रस्य योगो वा क्षमं वैतत्त्रिविधशक्तिसेवनाधीनमिति तत्त्वम्। अनार्यविधया सेविता न भोगमोक्षप्रदायिनी भवतीति प्रयत्नेन 'तथा' इत्यनेन च ध्वन्यते। भवतु। अन्यत्सवमंशांशिकया किंचित्पूर्वमावेदितं किंचिच्च पुरस्तान्निवेदयिष्यते चेत्यलमेतावता ॥83॥

स्वातन्त्र्ययोगक्षेमार्थप्रभाविनी त्रिविधाऽपि राष्ट्रशक्तिरेव प्रयत्नेन सेवनीयेति निरूपितम्। तस्या एव भोगमोक्षप्रदत्वात्। तौ च सर्वेऽपि शान्त्यर्थमेव वाञ्छन्ति। शान्तिश्चाऽशान्तिनिवारणमन्तरेण न सम्भवति। अशान्तिनिवारणाय क्रान्तिः सेवनीयेति बीजरूपेण सूचितमेव 'राष्ट्र-कालीं' (रा 83) इत्यनया कारिकया। किं च राष्ट्रकाली सेवनविधानेना-राष्ट्रियकृतक्रान्तेः सहनं नोचितं राष्ट्रियाणां शान्तिकामानामित्यु-पदिष्टम्। एवमाचरतामकामेऽपि राष्ट्रघातित्वं भवतीति निरुपयितुकाम आह—

अराष्ट्रियकृतां क्रान्तिं सहन्ते येऽल्पबुद्धयः।
शान्तिभङ्गभिया राष्ट्रे नूनं ते राष्ट्रघातिनः ॥84॥

होते हैं। राष्ट्रियों को अराष्ट्रियों द्वारा की गई क्रान्ति को सहन नहीं करना चाहिए।

अन्य राष्ट्रों पर आक्रमण करने वाले वास्तव में निन्दनीय होते हैं—इसका निरूपण किया जा रहा है :—

[अराष्ट्रियेति । ये—अल्पबुद्धयः—राष्ट्रे - अराष्ट्रियकृतां—क्रान्तिं—शान्तिभङ्गभिया—सहन्ते—ते नूनं—राष्ट्रघातिनः ॥84॥

'ये'=नराः 'अल्पबुद्धयः'—अल्पा=क्षुद्रका बुद्धिः=निश्चयः येषां ते 'राष्ट्रे'=पूर्वलक्षणलक्षिते 'अराष्ट्रियकृताम्'—राष्ट्रं=पूर्वलक्षणलक्षितं तस्य चतुर्विधसम्बधेन सम्बन्धिनो राष्ट्रियाः तेभ्यो विरुद्धाश्चाऽराष्ट्रियाः तैः कृता=विहिता ताम् 'क्रान्ति=परिणामम् 'शान्तिभङ्गभिया'—'शान्तिः'=उपशमः तस्या 'भङ्गः=नाशः तस्यः भीः=भयम् । सम्बन्धसामान्ये षष्ठी, ततः तत्पुरुषः । अतो नाऽत्र पञ्चमी । तया सहन्ते=मर्षयन्ति । 'ते'=तादृशा अल्पबुद्धयः पुरुषाः 'नूनं'=निश्चयेन 'नून तर्केऽर्थनिश्चये' त्यमरः । 'राष्ट्रघातिनः'—राष्ट्रं=पूर्वोक्तलक्षणं तत् हन्तुं शीलं येषां ते, अथवा राष्ट्रघातोऽस्ति येषां ते, राष्ट्रं घातयितुं वा शीलं येषां ते तथा भवन्ति इति शेषः । अत्रेदमाकूतम्—शान्ति किल सर्वदा सर्वोऽपि जीवलोक आकाङ्क्षत एव। तस्या आनन्दप्रदत्वात् । व्यवहारे च सा पूर्णरूपेण सर्वदा नैव प्राप्तुं सम्भाव्यते । अयमर्थः—यावत्कालं भोगस्पृहा मानसे विराजते तावत्कालं पूर्णा शान्तिर्नैव भवति । भोगस्पृहा पुनराशसारूपा वा भवतु बुभुक्षारूपा वा भवतु शान्तिस्तु पारमार्थिकी न सम्भवति । अत एव योगिप्रवरो भर्तृहरिप्याह—

मातर्लक्ष्मि भजस्व कंचिदपरं मत्काङ्क्षिणी मा स्म भू-
र्भोगेभ्यः स्पृहयालवो न हि वयं का निस्पृहाणामसि ॥
सद्यःस्यूतपलाशपत्रपुटके पात्रे पवित्रीकृते
भिक्षासक्तुभिरेव सम्प्रति वयं वृत्तिं समीहामहे ॥

आक्रामन्त्यन्यराष्ट्राणि लोभोपहतबुद्धयः ।
नूनं नरपिशाचास्ते भवन्त्यार्यविगर्हिताः ॥86॥

जो लोभी व्यक्ति अन्य राष्ट्रों पर आक्रमण करते हैं. वे नरपिशाच निश्चय ही आर्यों द्वारा निन्दित होते हैं ।

क्रान्ति की अनिवार्यता और नित्यता के कारण शान्ति दुर्लभ होती है । सर्वत्र दुःख ही दृष्टिगत होता है । क्रान्ति स्वभाविक होती है । गति ही क्रान्ति

एवं च पूर्णनिराशंसतामन्तरेण न पूर्णशान्तिसम्भावना। तस्यै स्पृहयालुश्चाऽऽत्मविलासमेवाभ्यस्यतु। अथापेक्षिकी खलु शान्ति-र्व्यवहारेऽपि प्राप्तुं शक्यते। तत्रेदमुच्यते—शान्तिर्नाम स्वस्वकर्मणां परस्पराऽविरोधेनाऽऽचरणेन स्वस्वभोगाय स्पृहयालुता। अयमर्थः— आर्य-विधया व्यवहारवर्तनम। इति। तदेतच्च सर्वथा स्वातन्त्र्य एव सम्भ-वति न जात्वपि पारतन्त्र्य इति सिद्धान्तो निर्बाधः। तेन व्यावहारिकशा-न्तिलाभाय स्वातन्त्र्ययोगक्षेमावेव कल्पेते इत्यपि निर्बाधमेवास्वातन्त्र्यं च व्यक्तिस्वातन्त्र्यं समष्टिस्वातन्त्र्याऽधीनमिति तदेव काम्यम्। समष्टिस्वा-तन्त्र्यमप्यनार्यविधया न कल्याणकरमित्यसकृदावेदितं प्रस्तुतभाष्यकृतैव पूर्वम्। एवं च सर्वतोभद्रनीतिप्राधान्येन राष्ट्रस्वातन्त्र्य एव समस्तलोक-कल्याण व्यावहारिकी पूर्णशान्तिश्च सम्भावयितुं शक्यते। राष्ट्रस्वात-न्त्र्ययोगक्षेमार्थं च प्रभाविनी त्रिविधाऽपि राष्ट्रशक्तिरेव निदानमिति तु पूर्वस्यां कारिकायां निवेदितमेव। साऽप्यार्यविधयैव सेवनीयेत्यप्युक्त-मेव। तत्राऽनार्यानग्रहणं राष्ट्रकालीपदेन बोधितम्। काली च क्रान्तिरिति साऽवश्यिका क्रान्तिरेव प्रथममुपासनीयेति तत्त्वम्। अत्रेदं बोध्यम् क्रान्तिर्नाम क्रामणं परिणाम इति भावः। सा ह द्विविधा-आर्या अनार्या चेति। आर्योपासिताऽऽर्या, अनार्योपासिता चाऽऽनार्या। तत्रार्योपासिता सङ्क्रान्तिः, अनार्योपासिता च किंक्रान्तिरिति सङ्केत्यते प्रस्तुतभाष्य-कृता। एतत्स्वरूपं च प्रस्तुतभाष्यकृता स्वोपज्ञक्रान्तिकौमुद्यां मङ्गलाचरण एवमुक्तम्—

> शिष्टाऽनुग्रहदुष्टनिग्रहमिषात् कल्याणमातन्वती
> विश्वस्याक्रमविक्रमाऽक्रममयी धर्मस्वरूपा शिवा।

है। क्रिया ज्ञानपरतन्त्र होती है और ज्ञान क्रियापरतन्त्र होता है। स्वाभाविकी क्रान्ति आर्यविधा से की जानी चाहिए, अनार्यविधा से नहीं। ऐसा करने से सभी का कल्याण होगा। क्योंकि आशंसा की पूर्ति से ही शान्ति होती है। आशंसा के हनन व निरोध से नहीं। बुभुक्षा के हनन से शान्ति होती है, पूरण से नहीं। यह स्वाभाविकी व्यवस्था है।

जो-जो स्वाभाविक होता है, वह-वह होता है, परन्तु जो-जो स्वाभाविक

आनन्दाऽमृतवर्षिणी शिवमहासत्ताचिदम्भोनिधि-
र्देवी क्रान्तिरुदारधीर्विजयतामार्या परा भैरवी ॥

क्रान्तिविषये विस्तरेण क्रान्तिकौमुद्यामेव निरूपितमिति सर्वमपि तत एवाऽवलोकनीयम् । अत्रेदं बोध्यम्—अराष्ट्रिया: खल्वनार्या एव भवन्ति । स्वराष्ट्रे तेषामार्यत्वसम्भवेऽपि परराष्ट्रेऽनार्यत्वमेव भवतीति प्राङ् निवेदितं निवेदयिष्यते च यथाऽवसरमग्रेऽपि । अत एव ते भोगान् बुभुक्षया भोक्तुमिच्छन्ति । आर्याः पुनराशंसया भोक्तुमिच्छन्ति भोगान् । ततश्चाराष्ट्रिया अपि काल्याः लक्ष्म्याः सरस्वत्याश्चोपासनां तु कुर्वत एव, परन्तु बुभुक्षयैवेति समस्ताकल्याणमेवाऽऽचरन्ति । अत एव ते यां क्रान्तिमुत्पादयन्ति सा किङ्क्रान्तिः, सा च न मर्षयितव्या राष्ट्रियैः । ये च राष्ट्रियास्तां शान्तिभङ्गभिया सहन्ते तेऽल्पबुद्धय एव यतस्तेऽकामेनाऽपि राष्ट्रघातित्वं प्राप्नुवन्ति । अयं भावः—यानि किल राष्ट्राणि स्वतन्त्राणि सन्ति तानि चेदराष्ट्रियकृतां क्रान्तिं सहेरन्, मन्येरंश्च दण्डादिप्रणयनेनाऽशान्तिर्भवेदिति जोषमेव स्थानं वरमिति ते खल्वल्पबुद्धयः पुरुषाः विवेकशून्यास्ते इति यावत् । यतः खलु ते नैतद्विचारयितुं प्रभवन्ति यदनेनाऽराष्ट्रियकृतक्रान्तिसहनेन राष्ट्रघातोऽवश्यं भवितेति । अल्पबुद्धित्वात् । ते हि विचारयितुं प्रभवन्तु मा वा तत् परंत्वराष्ट्रियकृतक्रान्तिं ये सहन्ते तेषां राष्ट्रस्य घातो निश्चित एवेति नयविदो विवेचका मेधाविनो विजानन्त्येव । यथा माणवको ज्ञात्वा वाऽज्ञात्वेव वा निजहस्तमग्नौ प्रक्षिपन् हस्तदाहं तु लभत एव । किं च 'सहन्ते' इति कर्तरि प्रयोगेण सहने सर्वथाऽपि सर्वदा स्वातन्त्र्यमेव भवति न पारतन्त्र्यमिति द्योत्यते । तेनाऽराष्ट्रियकृतक्रान्तावपि कर्तृत्वं

होता है, वह-वह उपादेय नहीं होता है । अनार्यों की स्वाभाविकी क्रान्ति किङ्क्रान्ति होने के कारण त्यजनीय है।आर्यों की क्रान्ति सङ्क्रान्ति होने के कारण उपादेय होती है । स्वाभाविक सब आचार का विषय होता है, इस नियम के स्वीकार कर लेने पर भी स्वभाव का पर्यालोचन समदृष्टि से किया जाना चाहिए । जब दृष्टि में समता का अभाव होता है, तो न्याय भी ध्वस्त हो जाता है । न्याय के ध्वस होने पर जगत् का प्रलय हो जाता है । समदर्शियों का यह

राष्ट्रियाणामेव व्यज्यते तेन च तत्फलं च राष्ट्रघातरूपमपि दुःखाकरं राष्ट्रियानेव गच्छति। शान्तिभङ्गभीतिश्च तेषामज्ञानं मोहमेव च बोधयति। न पुनरार्यत्वं बुद्धिमत्त्वं च। आर्या बुद्धिमन्तश्च न कदाऽप्येवं जाड्यं समवलम्बन्ते। अथ ये परतन्त्राः पुनः स्वातन्त्र्ययोगार्थं यतन्ते तेऽनया कारिकया बोध्यन्ते यत् शान्तिभङ्गभिया ते कदाप्यराष्ट्रियकृतां क्रान्तिं मा सहन्तामिति। अयं भावः—शान्तिभङ्गो यदि भवेत् भवतु नाम सः, परन्तु क्रान्तिस्तावदराष्ट्रियकृता नैव सोढव्या। ये च सहन्ते तेऽवश्यमेव राष्ट्रघातित्वं यान्ति। अत एवाऽल्पबुद्धयस्त इति निश्चयः। वस्तुतोऽल्पबुद्धयो यां शान्तिं मन्यन्ते सा शान्तिरेव नास्ति। शान्तिः का भवतीत्यग्रे निवेदयिष्यते। एवं वा व्याख्येयम्—'अये'= कोमलाऽऽमन्त्रणेऽव्ययम्। तेन 'अये'=प्रियशिष्यः 'अराष्ट्रघातिनः= सर्वतोभद्रनीतिप्रधानमतेः। षष्ठ्येकवचनमिदम्। 'ते'=तव इदमपि षष्ठ्येकवचनमेव। राष्ट्रे=पूर्वोक्तलक्षणे शान्तिभङ्गभियेति समानं पूर्वेण 'अराष्ट्रियकृतां'=अराष्ट्रियनिमित्तां 'ये' इत्यध्याहार्यम्। 'क्रान्ति =पूर्वलक्षितां सहन्ते ते इत्यध्याहार्यम्। निश्चयेनाऽल्पबुद्धयः। ते शिक्षणीया इति ध्वन्यते। इति। अथवैवं व्याख्येयम्—'अल्पबुद्धयः= हे मतिमन्दाः! सम्बोधनमेतत्। राष्ट्रे ये अराष्ट्रियानिमित्तां क्रान्तिं सहन्ते शान्तिभङ्गभिया ते निश्चयेन राष्ट्रघातिनः। एतेन ते दण्डनीया एवेति द्योत्यते। एवमपि व्याख्येयम्—येऽल्पबुद्धयो ये च वा राष्ट्रहननशीलास्ते नून=त एव निश्चयेन शान्तिभङ्गभङ्गभियाऽराष्ट्रियनिमित्तां क्रान्तिं सहन्ते। एतेन अनल्पबुद्धीनामराष्ट्रघातिनां च नैवायं स्वभावो यत् राष्ट्रेऽराष्ट्रियनिमित्तक्रान्तिसहनं नामेति व्यज्यते। ननु परतन्त्रास्तु परतन्त्रा एवेति तेऽप्यराष्ट्रियकृतक्रान्तिसहनमन्तरेण किं कुर्युः।

स्वभाव है कि सभी कार्य आर्यविधा से करो, न कि अनार्यविधा से। लोभी व्यक्ति ही, अनार्य और दण्डनीय होते हैं। ये ही अन्य राष्ट्रों पर आक्रमण करते हैं। विनाशोन्मुख वस्तु का यह स्वभाव ही होता है।

अनार्य लोग पहले आक्रमण करते हैं, पुनः उन पर भी कोई आक्रमण करता है। ऐसे अनार्य नरपिशाच कहलाते हैं। वेद में नर शब्द नेतृवाची है। जो अन्य राष्ट्रों पर आक्रमण करते हैं, वे देवनायक नहीं असुर नायक हैं। नेताओं में तो

ना सहेरंश्चेत् वर्तमानांशिक्यप्यशान्तिर्विनश्येतेति चत्, अयेऽल्पबुद्धयः ! एवं मन्यमानास्ते नूनं राष्ट्रघातिन एव। अयमर्थः—यदि परतःत्रास्ते ततो न कर्तृत्व सहने तेषां ततश्च शान्तिभङ्गभीतिरपि वृथैव, यतस्ते जडाः शान्तिमपि कुतः कामयेयुः। शान्तिकामनायामपि स्वातन्त्र्यं त्वावश्यकमेव यतः । अथ सहन्ते तदा सहने स्वातत्र्य नैजं मन्वाना राष्ट्रघातित्वमप्यवश्यमेव भजन्ते इति युक्तमेव। एतेनाराष्ट्रियकृता क्रान्तिः सर्वथाऽपि न मर्षणीया राष्ट्रियैरिति बोध्यत । अत्रेदं च बोध्यम्—अराष्ट्रियाः खलु स्वराष्ट्र एव निवसन्तः क्रान्तिं राष्ट्रान्तरेषु तत्तद्राष्ट्रघातिभ्यः कुर्वन्ति संका, अथ राष्ट्रान्तरेषु तत्र तत्राऽऽक्रम्य क्रान्तिं कुर्वन्ति सा द्वितीया। इमां द्विविधामपि ये सहन्ते तेऽल्पबुद्धयो राष्ट्रघातिन एवेति निश्चयस्तत्त्वदृशाम्। एवं च स्वातन्त्र्ययोगक्षेमाऽभिलाषुकाः शान्तिभङ्गभीत्या जात्वप्यराष्ट्रियकृतां क्रान्तिं न सहन्तामिति बोध्यते। किं चेदमपि बोध्यम्—य राष्ट्रघातिनः—आर्यराष्ट्रवादिन तं चेदराष्ट्रेऽपि=राष्ट्रान्तरेऽपि शान्तिभङ्गभयाऽ राष्ट्रियकृतां=अनायकृतां किङ्क्रान्तिमिति भावः । क्रान्तिं=विपरीतव्यवस्थां सहन्ते तेऽल्पबुद्धयो नूनमिति । अयमर्थः—सर्वतोभद्रनीतिप्रधाना आर्यराष्ट्रवादिनः कस्याऽपि राष्ट्रस्य घातं न सहन्ते। किं तु यथाशक्ति राष्ट्रघातिनो दण्डयितुं सर्वदाऽपि सन्नद्धा एव भवन्ति। एतेनाऽनार्यराष्ट्रवादिनामपि वस्तुतो राष्ट्रघातित्वमेवाऽस्तीति व्यज्यते। आर्यराज्यवादिनश्च येऽप्यराष्ट्रियकृतां क्रान्तिं सहन्ते तदा तेऽपि राष्ट्रघातिन एवाकामा अपि भवन्तीत्यल्पबुद्धयस्ते इति बोध्यम्। अथ यद्यराष्ट्रियकृतां

प्रवृत्तिनिवृत्तिपरक विवेक आवश्यक होता है। वह विवेक लोभाक्रान्त बुद्धि वालों में नहीं होता। अविवेक तो समस्त आपदाओं का स्थान होता है। अतः ऐसे नरपिशाच आर्य लोगों द्वारा गर्हित होते हैं। किङ्क्रान्ति की निन्दा आर्य और अनार्य दोनों करते हैं। सङ्क्रान्ति की आर्य और अनार्य दोनों प्रशंसा करते हैं। अनार्य भेदबुद्धिपरक और लघुचेता होते हैं। अतः दूसरों पर आक्रमण करते हैं और करना चाहते हैं। पर अपने ऊपर आक्रमण नहीं चाहते हैं। आर्य अभेद

क्रान्तिं न सहन्तेऽथाप्यार्यराज्यवादिनो भवन्ति ते न राष्ट्रघातिनः किन्तु राज्यवादस्याऽनार्यराष्ट्रवादा दुर्बलतयांऽऽशिकतयाऽल्पबुद्धय एव भवन्ति। भवतु । सर्वमपीदं सकृदुक्तमिति पुनः पुनः पिष्टपेषणमरुचिकरमिति विरम्यते ॥84॥

एवं सर्वदा सर्वथा च समस्तजीवलोकाऽभिलषिततमभोगमोक्ष-प्रदानसामर्थ्यनिदानभूतस्याराष्ट्रियकृतक्रान्तिसहनविरहस्य निरूपणं विहितम् । तत्र च यत् शान्तिभङ्गभीतेरनौचित्यमल्पबुद्धित्वद्योतकत्व-मुक्तं तत्र विषये का नाम शान्तिरुच्यते यद्भङ्गभीत्या क्रान्तिमर्षणमुद्भवति तस्या अपि निर्वचनमावश्यकमेव । अथ च शान्तिभङ्गभीतिर्युक्ता वाऽयुक्ता वेत्यादि समस्तमपि समासतो विवेचयिषया प्राह—

यया शान्त्यपराधीनं राष्ट्रं भवति सा न हि ।
शान्तिः, किन्तु नितान्तं सा केवलं क्लीबता मता ॥85॥

[ययेति । यया—शान्त्या—राष्ट्रं—पराधीनं—भवति - सा—न हि—शान्तिः—किं--तु—सा-—नितान्तं--क्लीबता--मता—केवलम् । इति पदयोजनिका ।

यया=वर्ण्यमानया करणभूतया 'शान्त्या'=उपशमवृत्त्या 'राष्ट्रं' =पूर्वोक्तलक्षणं 'पराधीनं'=परतन्त्रम् "परतन्त्रः पराधीनः" इत्यमरः । 'भवति'=सम्पद्यते 'सा'=शान्तित्वेनाऽभिमता 'न' अभावेऽव्ययम् । 'हि' निश्चयेऽव्ययम् । 'शान्तिः'=वास्तविकी शान्तिः । 'किं तु'=अपि तर्हि 'सा' अवास्तविकी 'शान्त्याभासरूपा शान्तिः 'नितान्तं'=अतिमात्रं

बुद्धिपरक उदारचेता, सर्वतोभद्रवादी और आशसावान् होते हैं । अत अपने को व्यापक मानते हुए किसी पर आक्रमण नहीं करना चाहते हैं । जो समदर्शी दूसरों पर आक्रमण नहीं करना चाहते हैं, वे अपने पर आक्रमण को कैसे सहन करेंगे ? अतः अनार्य ही आक्रमण करते हैं । अकार्य करते हैं, इसलिए उन अनार्यो को दण्ड देना आवश्यक है । आर्य लोग परतन्त्रता में प्राणों का त्याग करना भी अच्छा मानते हैं, किन्तु अन्याय के मार्ग पर चलना अच्छा नहीं मानते । अत लोभ

'क्लीबता'=नपुंसकता 'मता'=कथिता 'इति' इति शेषः । 'केवलं'= निर्णीतम् । "निर्णीते केवलमिति त्रिलिङ्ग त्वेककृत्स्नयोः" इत्यमरः । अत्रेदमाकूतम्- शान्तिः खलु ब्रह्म, आ च स्तम्बपर्यन्तमभिलाषाविषय इति सर्वेऽपि वदावदा विदांविदा वा जानन्त्येव । अत्र हेतुश्चाऽनिर्वच-नीयस्याऽनन्दस्य प्राप्तिरेव । अत एव तदनुभवशालिनः शान्ता इत्युच्य-न्ते । एवं च पूर्णाऽवस्थाऽवस्थितिरेव शान्तिरित्युच्यते वस्तुतः । अत एव तत्र मौनं भवति । मौनं नाम निराशंसता । निराशंसता च पूर्णकामता-मन्तरेण नोपपद्यते । व्यवहारे च सर्वतोभावेन पूर्णकामता नास्त्येव । अपूर्णकामताया एव व्यवहार स्वाभाव्यात् । पूर्णकामाऽवाऽप्तिः पूर्णकै-वल्यमुक्तावेव सम्भवति । कैवल्ये पूर्णकामत्वादेव मौन वस्तुतः । अत एव न तत्र मौनशब्दस्य निर्वचनाऽभाव इत्यर्थः । सर्वमपीदं यथा तथाऽऽत्म-विलासे सूपपादितम् । तद्व्याख्यायां च वितत्य विवेचितम् । समासतश्च तत्रत्यमङ्गलाचरणप्रकरणे यथा--

अभिनवरमणीयं सच्चिदानन्दकन्दं ।
स्वनवनवविलासोल्लासनैकप्रवीणम् ।
अनुभवसुरहस्यं मङ्गलं मङ्गलाना-
मधिहृदि परमेशं मौनमेवाश्रयेऽहम् ।। आ. 1/1

भवतु । व्यवहारे पुनरार्याः शान्ता इत्युच्यन्तेऽनार्याश्चाऽशान्ता इति । आर्याणामाशंसावत्त्वादनार्याणां च बुभुक्षावत्त्वात् । आशंसा हि सर्वदा पूरणीया, बुभुक्षा च हन्तव्यैवेति राष्ट्रज्ञानविचक्षणानां राष्ट्रवादिनां सिद्धान्तात् । अत एव श्रीगीतासु भगवानेवमाहाऽर्जुनं प्रति--

---

ही सब अनर्थों का मूल कारण है । अतः सर्वप्रथम लोभ का विनाश करना चाहिए ।

अब आर्यों का लक्षण एवं उनके कर्त्तव्यों का निरूपण किया जा रहा है :—

निग्रहाऽनुग्रहाभ्यां ये निर्लोभाः समदर्शिनः ।
समुन्नयन्ति संसारं त एवार्याः स्मृताः बुधैः ।।87।।

जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् । (गी. 3/43

एवं चाशंसापूरणी यत्र व्यवस्था तत्र शान्तिर्भवति । अत्रेदं बीजम्-आशंसाया अपूरणे साऽऽशंसैव बुभुक्षारूपतामवगाहते । बुभुक्षा-याश्चाहनने सर्वथा नाश एव भवति । अयमर्थ :--आशंसापूरणमन्तरेण न शान्तिः सम्भाव्यते जात्वपि बुभुक्षायाश्चाऽहनन इति । अथेदमपि विचार्यं यदाशंसापूरणं कदा सम्भवति क्व सम्भवति कथं च सम्भवति, एवमेव बुभुक्षाहननं कदा, क्व, कथ च सम्भवतीति । सर्वतोभावेन पर्यालो-चने सुतरामिदमेव निष्पद्यते यत् स्वराष्ट्रस्वातन्त्र्यसमये स्वतन्त्रे स्वराष्ट्र आर्यविषया चेति । अत एव सर्वदा सर्वतोभावेन स्वराष्ट्रस्वातन्त्र्यमेव योगक्षेमाभ्यां भावनीयम् । अस्यैव व्यावहारिकपरमधर्मत्वात् । एवं च कामकामना यत्र जागर्ति तत्र शान्तिः कुतः सम्भाव्येत । एतत्सर्वमभि-प्रेत्यैवास्याः कारिकाया आरम्भः। उपर्युपरि मौनालम्बनं खलु न शान्ति-करं न वस्तुतः शान्तिद्योतकमपि । अत एव गीतासु भगवान् वासुदेवो ऽप्याह पार्थं प्रति--

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ।। (गी. 3.6)

किंचेदमपि बोध्यम्--यत्र किल भयेन शोकान्मोहात्प्रमादाद्वा तूष्णीम्भावस्तत्र कुतो न्याय्यकथाऽवसरः स्वराष्ट्रं चेत्परतन्त्रं तदा समस्तपुरुषार्थविघटनमेव सम्भवति न सुसिद्धिरिति प्रागेव विस्तृतं निर्वर्णितमेव । "पुमर्थसाधनम्" (रा. 6) इत्यस्याः कारिकाया

जो निर्लोभ हैं, समदर्शी हैं (और) निग्रह, अनुग्रह से ससार को सम्यक् उन्नति के मार्ग पर ले जाते हैं विद्वान् लोग इन्हें आर्य कहते हैं ।

आवश्यक वस्तुओं के होने पर भी जो अधिक वस्तु की आकांक्षा करते हैं, वे लोभी कहलाते हैं । जिस वस्तु पर अपना स्वत्व न हो अथवा जो अन्याय से उपार्जित हो ऐसी वस्तु की अभिलाषा करना काम है । इस काम को ही गीता में नरक का द्वार बतलाया गया है । सभी अनार्यवृत्तियां लोभ कहलाती है । प्रति-

भाष्याऽवसरे। व्यवहारेऽन्यायं दृष्ट्वाऽपि यत् मौनावलम्बनं दृश्यते सा नैव शान्तिः, किन्तु मिथ्याचारः, आत्मवञ्चना, आत्मघातः। यया खलु शान्त्या परतन्त्रता भवति सा न हि शान्तिः। अयमर्थः—यत्राऽपि वा खलु यद्विषयिणी पूर्णकामता तत्र स्वातन्त्र्यमेव। स्वातन्त्र्यमन्तरेण पूर्णकामताया असम्भवात्। अथ स्वतन्त्रश्चाऽप्यनार्याऽऽचरितमन्याय्यं सहते चेति नितान्तं विरुद्धमेव। अथाऽपि शान्तिस्थापनाय सहेत चेद-वश्यमेव तया शान्त्या राष्ट्रं पराधीनं भवेत्। सा हि न शान्तिः। अथ यदि परतन्त्र तदा नैव पूर्णकामतायाः आंशिक्यपि सम्भावना।ततश्च कुतः शान्तिचर्चा। एवं सत्यपि या शान्तिः परतन्त्रे राष्ट्रे विद्यमानेव दरी-दृश्यते साऽपि न शान्तिः किन्तु सा भासमाना शान्तिर्नितान्तं क्लीबता मतेति निर्णीतं तत्त्वदर्शिभिः। अत एव यदा पार्थ उवाच—

गुरूनहत्वा हि महाऽनुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वाऽर्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्॥
(गी. 2।5)

तदा भगवतैतदाचरणस्य शान्तिरूपता न स्वीकृता, किन्तु क्लीबतैवाऽभिमता। तां दूरीकर्तुमेव चोपदिष्टः सः। तथा हि गीतास्वेव--

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप॥
(गी. 2।3)

अनार्यस्य दण्डो देय इति 'परं तप' इत्यनेन स्पष्टमेवोक्तम्। आशंसापूरणं विना यद्रभसादेवमेव मौनमालम्ब्यतेऽन्याय्यविषये सा

योगी ज्ञान अभावज्ञान के प्रति कारण है। निग्रह (दण्ड) एवं अनुग्रह (दया) शिवतत्त्वरूप हैं, ये अभेद सम्बन्ध से रहते हैं। प्रत्येक पदार्थ का स्वभाव गतिमान् होता है। चितिरूप बल नाना रूपों में भासित होता है। अतः संसार ही राष्ट्र है। यह अर्थ लाभ है। राष्ट्र के स्वातन्त्र्य में ही समस्त उन्नति सम्भव है। दिग्भ्रान्त व्यक्तियों को विधि मार्ग दिखाने वाले शस्त्र ही हैं। शस्त्र भी परस्पर विधि निषेध रूप हैं। शास्त्रों का निर्णय भी निर्णायकों के आधीन है। सम-

केवलं क्लीबतैव। अत एव मनुरप्याहैतादृशमौनस्य किल्बिषजनकता-मेव। तथा हि—

सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समञ्जसम्।

अब्रुवन् विब्रुवन् वाऽपि नरो भवति किल्बिषी ।।

(मनु. 8।13)

अत्रेदं बोध्यम्—"अप्रतिषिद्धमनुमतं भवति" "मौनं सम्मति-लक्षणम्" इति च न्यायः। यः खलु राष्ट्रे वसति मौनमास्ते चाऽराष्ट्रिय-कृतक्रान्तिविषये। तत्र पूर्वन्यायाभ्यां सोऽप्यन्यायकारितया राष्ट्रघाति-चाण्डालत्वं याति। ते च यत्र निवसन्ति तद् राष्ट्रं स्वतन्त्रमप्यचिरादे-वाऽराष्ट्रियकराक्रान्तं भवतीति पूर्वं "अराष्ट्रियकराक्रान्तं" (रा. 84) इत्यस्या भाष्याऽवसर एव निरूपितमेव। अथ यदि मौनं पारतन्त्र्यात् तदा तु नितान्तं क्लीबता वर्तत एव। सवीर्याः खलु कदाऽपि न पार-तन्त्र्यं भजन्ते। पूर्वं परतन्त्रा अपि वीर्यलाभाऽनन्तरं परतन्त्रतां भञ्जन्त्येव। एवमेव मोहादिनाऽपि मौने क्लीबतैव कारणम्। अभेदो-पदेश "आयुर्घृतम्" इतिवदौपचारिकः। क्लीबत्नामन्तरा तादृशी शांति-र्नैव सम्भवतीति भावः। पराधीनता च शान्तिश्चति तमः प्रकाशवद्वि-रुद्धस्वभावतया सामानाऽधिकरण्यं नैव सम्भवति। एवं विरुद्धयोः सामानाऽधिकरण्यं न जातु भवतीति निरूपितमास्ते। तथाहि तत्र— 'सामानाऽधिकरण्यं न प्रसिद्ध्यति विरुद्धयोः' (आ. वि. 6/13) कार्य-कारणभावोऽप्यत एव निरस्तः। लोकेऽपि खलु सर्वदेवमेवोच्यते—

स्वप्नेऽपि न सुखाऽऽवाप्तिः पराऽऽधीनस्य सर्वथा ।।

पराधीनता खल्वाशंसा रभसाद्रुणद्धि, न खलु पूरयत्यत एव पातित्यं जनयति पराधीनता। न पुनः शान्ति जनयति, प्रत्युत रभसादव-

---

दर्शियों का ही निर्णायकत्व उपयुक्त है। वे ही आर्य होते हैं। ज्ञानवान् लोग ही सत्यासत्य का निर्णय कर सकते हैं। जो रागद्वेष रहित समदर्शी हैं, उन्हें ही निर्णय करने का अधिकार होता है।

श्रेष्ठ पद को प्राप्त हुए आर्य भी दो प्रकार के हैं—लोकसंग्रहपरायण तथा अवधूत। लोकव्यवहार के निर्णय के लिए लोकसंग्रहपरायण आर्यों को ही नियुक्त किया जाना चाहिए, क्योंकि अवधूत बाह्य विषयों का निर्णय नहीं कर

रुद्धसमस्तमार्गः पयःपूर इवोन्मार्गेण विभिद्य समस्तमार्गानशान्तिमेव जनयति । अत एव यथा शान्त्या राष्ट्रं परतन्त्रं भवति सा नैव शान्तिरिति निर्णयः । अथ का तर्हि सा इत्युत्तरयति—किं तु । केवलं क्लीबतैव सेति । एवं चाऽत्रेदं बोध्यम्—ययैव स्वातन्त्र्यस्थितिर्भवति सैव वृत्तिः शान्तिरित्यभिधातुं शक्यते । पराधीनाः खलु क्लीबा भवन्ति न सवीर्याः । ये चाऽक्लीबा अपि क्लीबवदाचरन्ति ते मूढा इत्युच्यन्ते । तेऽपि क्लीबाऽऽधारा इ.ीषत् क्लीबा एव । अथ ये प्रमादेनाऽऽलस्येन वाऽशान्तिमेव शान्तिमिति मन्यन्ते । तेऽपि परिणामपराधीनतामापद्य बलीवर्दा इव क्लीबाः क्रियन्ते इत्यपि सूत्रशाटकन्यायेन क्लीबा एव । अत एवैतादृशानां पातित्यमेवैकमनभीष्टमपि फलं लभ्यम् पातित्वकारणान्यप्यत एव स्मृतिषूपदिष्टानीमानि—

विहितस्याऽननुष्ठानान्निन्दितस्य च सेवनात् ।
अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां नरः पतनमृच्छति ।।

(या. प्रा. 219)

आशंसापूरणं विहितम्, बुभुक्षापूरणं च निषिद्धम्, एवमेव बुभुक्षाहननं विहितम् आशंसाहननं च निषिद्धम् । सर्वमप्यार्यभावाऽवलम्बनेनैव सुतरां सिद्ध्यतीत्यप्यसकृदुक्तम् । तेनाऽन्यथाकरणे पातित्यं निश्चितमेव । यथार्थाऽनुष्ठाने पातित्यनाशः । उन्नतिप्राप्तिश्च निर्णीतैव । एवं च पातित्यकारिणस्तूष्णीम्भावस्य न शान्तिरित्यभिधानम् । तदयं निगलितोऽर्थः—पराधीनता किल क्लीबतामेव जनयति न शान्तिम् । क्लीबता च पराधीनतामेव जनयति न शान्तिम् । या खलु वस्तुतः शान्तिः सा न पराधीनतां जनयति न च क्लीबतां जात्वपि । यश्च

सकते हैं । जो समस्त राष्ट्रों में सुहृद्भाव रखकर और यथायोग्य निग्रह और अनुग्रह से उन्नति करते हैं—ऐसे समदर्शी पुरुष ही आर्य कहलाते हैं । इनसे विरुद्ध आर्य नहीं है । इस प्रकार समस्त संसार में कर्तव्य और अकर्तव्य के संशय को दूर करने वाले तथा शास्त्र की प्रतिष्ठा करने वाले ऐसे ही आर्य पुरुषों का ही निर्णय (स्वीकार्य) होता है । आर्यों का यही निर्विवाद लक्षण भी है ।

पराधीनताजनकः पराधीनताजन्यश्च तूष्णीम्भावरूप उपशमाभासः स क्लीबतैव नितान्तमिति निर्णयः। भगवता च गीतासु स मिथ्याचार इति व्यपदिष्टः। एवं च पूर्वकारिकायामराष्ट्रियकृतक्रान्तिसहने या शान्तिभङ्गभीतिर्निवारिता सा समीचीनैव। अराष्ट्रियकृतक्रान्तिसहन एव शान्तिभङ्गो भवतीति तत्र भीतिः सा न धर्मभीरुताऽऽर्यत्वं वा, किन्तु क्लीबतैव। सर्वमपीदं भगवता गीतासु सूपदिष्टमित्यलम्॥

ननु क्रान्तिस्तु स्वाभाविक्येव। अत एवाऽराष्ट्रिया वा राष्ट्रिया वा तां कुर्वन्ति। तत्राऽराष्ट्रियकृतक्रान्तिर्न सोढव्या राष्ट्रियैः, यतः सहनेऽप्यल्पबुद्धित्वप्रयुक्ता निन्दा श्रूयते, राष्ट्रघातरूपं चाऽनभीष्टं फलमवाप्यत इत्युक्तं पूर्वम्। अथ च शान्तिभङ्गभीतिरपि तत्रत्याऽसारैवेत्यप्युक्तम्। तेन क्रान्तिः स्वाभाविकीति गम्यते स्वभावश्चानिवार्य एव "स्वभावो दुरतिक्रमः" इत्याऽऽभाणकोऽप्येतन्मूलक एवेति तस्या अराष्ट्रियकृतायाः सहने एव निन्दाश्रवणेऽपि तस्या अराष्ट्रियकर्तृक प्रयोगस्तु स्वाभाविकतया पुनरपि विधेयतया प्राप्त एवेति मन्यमानानां शङ्काऽऽतङ्काकुत्सितहृदयानां तस्याः सहेतुकं निषेधं विधातुमाह—

आक्रामन्त्यन्यराष्ट्राणि लोभोपहतबुद्धयः।
नूनं नरपिशाचास्ते भवन्त्यार्यविगर्हिताः॥86॥

आक्रामन्तीति। लोभोपहतबुद्धयः—अन्यराष्ट्राणि—आक्रामन्ति—ते—नरपिशाचाः — नूनं — आर्यविगर्हिता—भवन्ति। इति पदयोजनिका।

'लोभोपहतबुद्धयः'—लोभः=भोगतृष्णा तेन 'उपहता'=विनष्टा

आर्यों के लिए त्याज्य एवं अनार्यों के लिए सेवन करने योग्य कर्मों का निरूपण किया जा रहा है—

श्ववृत्या जीवनं राष्ट्रद्रोहो, राष्ट्रियनेतृता।
आर्यैरेतत्त्रयं त्याज्यमनार्यैरेव सेव्यते॥88॥

श्ववृत्तियुक्त जीवन, राष्ट्रद्रोह, अराष्ट्रियनेतृता (अथवा राष्ट्रियों का नेतृत्व न होना), आर्य लोग इन तीनों का त्याग कर देते हैं। अनार्य ही इस (त्रयी) का सेवन करते हैं।

'बुद्धिः'=धीः येषाम् ते 'अन्यराष्ट्राणि'– अन्यानि=चतुर्विधसम्बन्ध-रहितानि राष्ट्राणि=पूर्वलक्षणलक्षितानि 'आक्रामन्ति'=आसमन्तात् परतन्त्रीकुर्वन्ति भृत्यीकुर्वन्ति, 'ते' आक्रामकाः किङ्क्रान्तिकारिणः 'नरपिशाचाः'—'नराः'=मनुष्या अपि 'पिशाचा' इव=राक्षसा इव। 'नून'=निश्चयेन 'आर्यविगर्हिताः'–'आर्यैः'=श्रेष्ठपुरुषैः वक्ष्यमाणलक्षणैः 'विगर्हिताः'=विशेषतया निन्दिताः आर्येषु वा विशेषेण गर्हिताः गर्हायां विशेषश्च समस्ताऽकल्याणकारितया। 'भवन्ति'=सम्पद्यन्ते। अत्रेद-माकूतम्—क्रान्तिः खलु स्वाभाविकी। क्रमु पादविक्षेपे। पादविक्षेपो नाम गतिः। ततो भावे स्त्रियां क्तिन्। अत्रेद बोध्यम्—वस्तुत्वाऽवच्छेद-काऽवच्छिन्नं हि सर्वमपि क्रमविषयमस्त्येव। वस्तु च क्रमरहितं चेति न जात्वप्युपपद्यते। ततश्च तस्या अनिवार्यत्वेन नित्यत्वम्। एवं सति शान्तिः खलु दुष्प्रापैवेति सर्वत्र दुःखमेव दृश्येत तच्च न केनाऽप्यु-पादित्स्यते, ततश्च स्थितिरेव न कस्यचित्स्यात् वाञ्छति च तामेव सर्वोऽपि जीवलोकः। अतस्तद्व्यवस्थानमावश्यकमित्यभिप्रेत्यैव तत्त्व-दर्शिभिर्व्यवस्थाऽपि कृता। व्यवस्था चैवम्—ज्ञानपरतन्त्रा क्रिया समीहा-विषयोपादेयतया। क्रियापरतन्त्रं च ज्ञानं जिहासाविषयम्। इत्येवंरूपेण अत एव मनुरप्याह प्रवृत्तिं निवृत्तिं चाऽधिकृत्य—

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला॥

(मनु. 5।56)

अयमर्थः—स्वाभाविक्येयं क्रान्तिरार्यविधया कार्या, अनार्यविधया चाऽकार्या। अनया च व्यवस्थया सर्वेषामपि भद्रं भवेत्। यतः खलु आशंसापूरणेनैव शान्तिर्भवति न हननेन निरोधेन वा। बुभुक्षा च

भृतिग्रहण पूर्वक जो सेवा की जाती है, वही श्ववृत्ति है। गुरुजनों की जो सेवा की जाती है, वह भृति नहीं है। अतः राष्ट्रसेवा भी श्ववृत्ति नहीं है। वह तो भक्ति है, जो मोक्षप्रदायिनी है।

बुभुक्षा की पूर्ति के लिए की जाने वाली सेवा श्ववृत्ति कहलाती है, किन्तु आशंसा की पूर्ति के लिए की जाने वाली सेवा कर्तव्यकर्म है। सेव्य और सेवक दोनों के हृदय में जहां आशंसा रहती है, वह सेवागत कर्तव्य कर्म है। जहां

हननेनैव शान्ता भवति न पूरणेनैवेत्यपि स्वभावः। अत एव व्यवस्थेयं स्वाभाविकी। अत एव भगवान् व्यासोऽप्याह—

लोके व्यवायाऽऽमिषमद्यसेवा नित्याऽस्ति जन्तोर्नहि तत्र चोदना।
व्यवस्थितिस्तत्र विवाहयज्ञः सुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा ॥
(भा. 11)

एवं चेदं निर्णीतं यत् स्वाभाविक्यपि क्रान्तिः सर्वविधा नोपादित्साविषया। अयमर्थः—यद्यत् स्वाभाविकं तत्तद्भवतीति तु व्याप्तिर्वर्तते परं तु यद्यत् स्वाभाविकं तत्तदुपादेयमिति तु न नियमः। एव चाऽनार्याणां स्वाभाविक्यपि क्रान्तिः किंक्रान्तितया जिहासाविषयैव, आर्याणां च क्रान्तिः सङ्क्रान्तितयोपादित्साविषयैवेति नियमव्यवस्था। अयं भावः-प्रतीयमानताऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नं सद्रूपमत एव स्वाभाविकमपि। सत् चाऽस्वाभाविकं चेति नोपपद्यते। स्वाभाविकं सर्वमप्याचारविषयमित्येव नियमाङ्गीकारेऽपि स्वभावपर्यालोचनाऽपि समदृशा कार्या। दृष्टौ साम्याऽभावे न्यायप्रध्वंसस्य दृष्टत्वात्। न्यायप्रध्वंसे जगत्प्रक्षय एव स्यात्। अत एव भगवानपि 'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि (गी. 2।4) इत्यनार्यक्रान्ति निषेधति। आर्यक्रान्ति च कर्तव्यत्वेनोपदिशति "कार्यं कर्म समाचर" (गी. 3।19) इति। अथ च स्वदृष्टान्तमपि दर्शयति कर्मकरणविषये गीतास्वेव—

न मे पार्थाऽस्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किं च न।
नाऽनवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ (गी. 3/22)

अनार्यक्रान्तिः स्वाभाविकमात्रतां वीक्ष्य सदुपादाने महदनिष्टं स्यादित्यपि तत्रैव गीतासु भगवान् स्वदृष्टान्तेनैवोपन्यस्य पार्थं प्रति बोधयति—

एक को भी हृदय में बुभुक्षा रहती है, वहां सेवा श्ववृत्ति ही है। अत एव गुरुजन की सेवा का आर्यों के ग्रन्थों में अति माहात्म्य वर्णित है।

आर्यों के जो लक्षण होते हैं, अनार्यों के उनसे विपरीत होते हैं। अनार्य कर्म निन्दनीय होते हैं। अनार्य आर्य बनने की इच्छा करते हैं, यह उनका स्वभाव है। उसके लिए आवश्यक गुणों का आधान भी करना चाहिए। किन्तु अधिकार प्राप्ति के विना गुणों का धारण करना सम्भव नहीं है। जिस प्रकार

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥ (गी. 3/24)

अत्रेदं रहस्यमप्याकलनीयम्—अनार्यविधयोपहननं वर्ज्यम्। आर्यविधया च विधेयमिति स्वभाव इति समदर्शिनां श्रीकृष्णादीनां निर्णयः। एवं च द्विधाऽप्यनार्यक्रान्तेर्हननमेव श्रेयस्करं वा स्वभाव इति पर्यवस्यति। एतत्सर्वमभिप्रेत्यैवास्याः कारिकाया आरम्भः। लोभेन खलु बुद्धिरूपहता भवति। अत्रोपहतपदेन लोभस्याऽनार्यस्वभावत्वं ध्वन्यते। तेन च लोभोपहतबुद्धीनां सर्वदाऽनार्यत्वमेव भवतीति व्यज्यते, तेन च तेषां सर्वदा सर्वथा च दण्ड्यत्वमेवेति ध्वन्यते। "लोभमूलानि पापानि" इति सिद्धान्तात् लोभ इति समस्ताऽनार्यवृत्तीनामुपलक्षणम्। यत्र हि स्वाभाविकं स्वत्वं निषेधावधया प्रतीयते तान्यराष्ट्राणीत्युच्यन्ते तानि च य आक्रामन्ति ते लोभोपहतबुद्धय एव। बुद्धेर्लोभोपहननमन्तरेण नैतदनार्यमाचारत्वेन सम्भाव्यते। एवं च ये राष्ट्राऽन्तराण्याक्रामन्ति त लोभोपहतबुद्धय एवेत्यवगम्यते। ये च लोभोपहतबुद्धयः त एव राष्ट्रान्तराण्याक्रामन्त्यपि। अयं स्वभाव एव वस्तुमात्रस्य विनाशोन्मुखस्य। आक्रामन्तीत्यनेन स्वातन्त्र्यं बोधितम्। अयमर्थः - अनार्याणां स्वातन्त्र्ये राष्ट्रान्तराऽऽक्रमणमवश्यम्भावीति, अथ चाऽत एव तेऽप्याक्रम्यन्ते पारतन्त्र्य इति। अत एव भगवताऽप्युक्तम्—'दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धाप्यासुरी मता।' अत एवाऽनाया पूर्वमाक्रामन्त्यथाऽनन्तरं तेऽप्याक्रम्यन्ते इत्यपि निसर्ग एवेति। एव भूता ये ते नरपिशाचा एव। अयमर्थः—नरशब्दो नेत्रर्थः नॄ नये ऋग्वेदे बहुत्र

विभिन्न रंगों से रगे गये वस्त्र में अन्य रंग नहीं चढ़ाया जा सकता है, केवल श्वेत वस्त्र में ही अनेक प्रकार के रंग चढ़ सकते हैं, उसी प्रकार अनार्य भाव को दूर किए विना अनार्यों में आर्यगुणों का आधान नहीं किया जा सकता है। दोषभेद से अनार्यत्व भी अनेक प्रकार का होता है। कुछ दोष तो अक्षम्य होते हैं। तथा कुछ क्षम्य। सर्वप्रथम उन दोषों को दूर करना चाहिए, जो अतीव निन्दनीय हैं। जिस कर्म से अधिक पतन होता है, वह अनार्यत्व प्रदान करता

नरः नेता इति व्याख्यातं सायणाचार्यैः । युक्तं च तत्, ये पुनर्नरा भूत्वाऽन्यराष्ट्राण्याक्रामन्ति ते नरा नायका इति तु सत्यं परन्तु ते न खलु देवनायकाः, किन्तर्हि पिशाचास्ते। असुरनायका इति युक्तमभिधानं तेषाम् । यतः खलु नेतॄणां प्रवृत्तिनिवृत्तिविवेक आवश्यकः। स च विवेको लोभोपहतबुद्धीनां नैव भवति। यतस्त आसुरीं सम्पदमभिजाता भवन्ति । उक्तं च भगवतैव—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।

(गी. 16।7)

अविवेकः खलु समस्तविपदाऽऽपत्तीनां मूलम । अत एव भारविराह—"अविवेकः परमापदां पदम्" (कि. 2।30)। ते च नरपिशाचा इति कृत्वा, ऽऽर्यविगर्हिता एव भवन्ति। आर्यैः खलु विशेषेण निन्दिता भवन्ति। आर्याणां वा विगर्हिता भवन्ति। निन्दितं च निषिध्यते। अयमर्थः—निन्दितत्वाऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नं निषेधविषयमित्यपि स्वभाव एव। ननु निन्दन्ति तावदार्या अनार्यवृत्तीः, अनार्याश्चार्यवृत्तीरित्युभयस्याऽऽप्यापेक्षिकतया किमत्र विनिगमकमार्यवृत्तिरेवोपादेयाऽनार्यवृत्तिश्च जिहासितव्येत्यत्रेति चेत् मैवं शङ्कनीयम्। यतः खलु किङ्क्रान्तिमार्याश्चानार्याश्च सर्वेऽप्यवैमत्येन निन्दन्ति। सङ्क्रान्ति चाऽऽर्या अनार्याश्चाऽवैमत्येन स्तुवन्ति। इयांस्तु तत्र विशेषः। अनार्या भेदबुद्धयः परमाथ इति लघुचेतस इत्यसर्वतोभद्रवादिन इति, बुभुक्षिता इति सङ्कुचितं स्वं मन्यमानाः पराऽक्रमणं कुर्वन्ति चिकीर्षन्ति च। आत्मविषये च नेच्छन्ति पराक्रमणम्। आर्याः पुनरभेदबुद्धयः परमार्थ इति

है। अतः उक्त तीनों दोषों (श्ववृत्ति से जीवन, राष्ट्रद्रोह और अशक्तियों का नेतृत्व) को त्याग करने की बात कही गई है।

यदि अराष्ट्रियों को नेतृत्व प्रदान किया जायेगा, तो वे अवश्य ही अनार्यभाव का अवलम्बन लेंगे। नेतृत्व दो प्रकार का होता है नियम प्रणेता के रूप में और शासन प्रबन्धकर्ता के रूप में। आर्यों को चाहिए कि वे अराष्ट्रियों को भूलकर भी नेतृत्व न स्वीकार करें। अनार्यों का यदि नेतृत्व स्वीकार किया

उदारचेतस इति सर्वतोभद्रवादिन इति आशंसावन्त इति व्यापकं स्वं मन्यमानाः पराऽऽक्रमणं न कुर्वन्ति न च चिकीर्षन्ति । ये खलु समदर्शिन इति परानप्याक्रमितुं नेच्छन्ति ते आत्माऽऽक्रमणं परैः कथंकारं सहेरन् । एवं चानार्या एव राष्ट्रान्तराण्याक्रामन्तीति तदकार्यं परिणामे निबन्धनकारणमिति जात्वप्यार्याणां न शोभते इत्युपदिष्टम् । किं चाऽनार्या अकार्याणि नाऽऽचरन्तीति आर्यैः दण्डनीया एव सर्वथेत्यपि ध्वन्यते । एवं चाऽयं सर्ववादिसम्मतः । किं चानार्या नरपिशाचा इति ते यद्यप्यार्यान्निन्दन्त्यपि तथाऽप्यनार्यांस्ते हृदयेन नाऽभिनन्दन्ति । तेऽपि खलूपादेयतयाऽऽर्यभावमेव समीहन्त इति सर्वथा सत्यं शिवं सुन्दरमित्यार्यभाव एवाऽवलम्बनीयः सर्वैः सर्वदेति स्वभावनिर्णयः । एवं मतद्वयेऽपि राष्ट्रान्तराऽऽक्रमणं निन्दितमेव । निन्दितं च स्वसमक्षं भूयमानं निरीक्ष्य मौनं जात्वपि नाश्रयन्त आर्याः पारतन्त्र्ये च प्राणत्यागमपि वरं मन्यन्ते न पुनरन्याय्यसरण्यनुसरणम् । एतेन लोभः खलु महाऽनर्थनिदानमिति स सर्वादौ निहन्तव्य इत्युपदिष्टम् । अत एव आन्तरारिषड्वर्गजयाय सतत प्रयतनीयमित्यप्युपदिष्टं भवति । बुद्धिश्च शोधनीया । बुद्धेः शोधनं च ज्ञानेनैव भवतीति सिद्धान्तः । तदाह याज्ञवल्क्यः—"बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति" इति । ज्ञानं चाऽद्वैतज्ञानं पारमार्थिकम् । अत एव **भासुरानन्दनाथाः** प्राहुः—"अद्वैतविद्याविहीनाः पशवः ।" "योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहं न स वेद यथा पशुः इति श्रुतेरिति" । अद्वैतज्ञानं च व्यावहारिकमोक्षोपयोगिभूतमेतद्ग्रन्थस्य विधिवदध्ययनेन भवितेति ग्रन्थान्ते निवेदयिष्यते । पारमार्थिकं **चात्मविलासा**ध्ययनेनेत्यप्येतद्ग्रन्थान्ते वक्ष्यत्येवेत्यलमेतावता ॥86॥

गया, तो अवश्य वे आशसा का हनन करेंगे । आशंसा के हनन से बुभुक्षा उत्पन्न होगी । बुभुक्षा ही समस्त पापों को उत्पन्न करती है । अतः वे राष्ट्रद्रोह अवश्य करेंगे । अतः आर्यत्व के योगक्षेम के इच्छुक व्यक्तियों को अराष्ट्रियों के नेतृत्व का त्याग करना चाहिए । इससे ही आर्यत्व की सिद्धि नहीं होगी । राष्ट्रद्रोह का भी सर्वथा त्याग करना चाहिए । परराष्ट्रद्रोह से भी स्वराष्ट्रद्रोह अधिक निन्दनीय है । जो जो स्वाभाविक है, उस कर्म को पहले करना चाहिए । यदि

लोभोपहतबुद्धीनां राष्ट्रान्तराण्याक्रामतां नरपिशाचत्वमार्यविग-
र्हितत्वं च पूर्वकारिकया निरूपितम्। आर्याणां तावद्वारंवारं प्रशंसा
विधीयत एतद्ग्रन्थे। तत्र किं तावदार्यत्वं के च तद्युक्ताः इत्यप्यव-
श्यमेव निर्णेयमित्यभिप्रेत्याऽऽर्यलक्षणं तत्कर्तव्यं स्वाभाविकं च
बोधयन्नाह—

निग्रहाऽनुग्रहाभ्यां ये निर्लोभाः समदर्शिनः।
समुन्नयन्ति संसारं त एवार्याः स्मृता बुधैः ॥87॥

निग्रहेति। ये—निर्लोभाः — समदर्शिनः — निग्रहाऽनुग्रहाभ्यां—
संसारं—समुन्नयन्ति—ते—एव—बुधैः—आर्याः—स्मृताः। इति पद-
योजनिका।

'ये'=पुरुषाः 'निर्लोभाः'—निरिति निषेधेंऽव्ययमत्र। तथा चामरः
—"निर्निश्चये निषेधेऽपि" इति। "निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या"
इत्यनेन समासः। निष्क्रान्ता लोभात् ते निर्लोभाः लोभः खलु अनुचितो
गर्धः। अत्रेदं बोध्यम्—आवश्यकवस्तुसद्भावेऽपि तदधिकवस्तुनो गर्धो
लोभः अस्वत्ववतोऽन्याय्यरूपोऽभिलाषः कामः। यः किल नरकद्वार-
मित्यभिधीयते भगवता। तथा हि—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः॥
कामः क्रोधश्च लोभश्च तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥
(गी. 16।21)

एवं च लोभपदेनाऽत्र समस्ताऽनार्यवृत्तय उपलक्षिताः। तदेवं
लोभात्=लोभोपलक्षितात् अनार्यवृत्तिजातात् निष्क्रान्ताः=रहिताः।
अत्रेदं बोध्यम्—'अभावज्ञानं प्रति प्रतियोगिज्ञानं कारणम्' इति खलु
नियमः। निषेधस्य प्राप्तिपूर्वकत्वनियमाच्चाऽत्र निष्क्रान्ता इत्यनेन

अधोगमन की अभिलाषा हो, तो अनार्यभाव में वृद्धि करनी चाहिए तथा यदि
उन्नति की अभिलाषा है, तो आर्यभाव में वृद्धि करनी चाहिए।

अब द्विविध क्रान्ति का निरूपण किया जा रहा है—

क्रान्तिरुक्ता द्विप्रकारा प्रथमा शान्तिदायिनी।
अशान्तिकारिणी चान्या पर्वा श्रेष्ठाऽपरा न हि ॥89॥

पूर्वकालिकस्तत्सद्भावो व्यज्यते। अयमर्थः—लोभाद्यनार्यवृत्तीनां फलाऽफलविषयविज्ञतया तस्मान्निष्क्रान्ताः। एतेन जात्वपि तद्वशङ्गतत्वं न सम्भवतीति ध्वन्यते। अन्तरेण हि षड्वर्गजयं न केनाऽपि मानवी नेतृपदवी प्राप्तुं सुशकेति ध्वन्यते। नेतृत्व खलु न पिशाचप्रायाणामविहितारिषड्वर्गजयानां सम्भवति। अत एव महाकविरप्याह—

कृतारिषड्वर्गजयेन मानवीमगम्यरूपां पदवीं प्रपित्सुना।।
विभज्य नक्तन्दिवमस्ततन्द्रिणा वितन्यते तेन नयेन पौरुषम्।।

(कि. 1।9)

अत एवोपनिषत्स्वपि कर्मविचिकित्सायां वृत्तविचिकित्सायां च निर्णयायैवमुपदिष्टम्—"अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात् ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः युक्ता आयुक्ताः अलूक्षा धर्मकामाः स्युः यथा ते तत्र वर्तेरन् तथा तत्र तेषु वर्तेथाः। एष आदेशः। एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषत् (तै.उ. शिक्षावल्ली)। अथ ये 'समदर्शिनः'=समं=सम्पूर्णं द्रष्टुं=वीक्षितुं शीलं येषां ते। एतद्व्याख्यातं पूर्वम्। 'निग्रहाऽनुग्रहाभ्याम्'—निग्रहः=दण्डः अनुग्रहः=दया च अनयोर्द्वन्द्वः ताभ्याम्। अत्रेदं बोध्यम्—निग्रहाऽनुग्रहौ किल शिवतत्त्वरूपौ सर्वदाऽभेदेनैवाऽवतिष्ठेते। यथार्थतयाऽनयोः शक्तिविशेषयोरुपयोग एव शिवताऽन्यथा जीवतैवेति रहस्यम्। 'संसारम्'—सम्यक्=उत्तमप्रकारेण सरति=गच्छति सृ गतौ ततो भावे घञ्। अधिकरणे वा घञ्, गतौ सम्यक्त्वं नानाविधनियतक्रमपरतयेति। गतिस्वभावं पदार्थमात्रमिति। अथ वा सम्यक् सारो=बलं यत्र तमिति। अयमर्थः—

क्रान्ति दो प्रकार की है—शान्तिदायिनी तथा अशान्तिकारिणी। शान्तिदायिनी क्रान्ति श्रेष्ठ हैं तथा अशान्तिकारिणी क्रान्ति श्रेष्ठ नहीं है।

यह क्रान्ति क्रम, अक्रम, विक्रम भेद वाली, सच्चिदानन्दरूपिणी, नैसर्गिकी, परमशिवस्वरूपा, बैन्दवी, विसर्गमहाशक्ति है। यह व्यवहार में अनन्तरूपों से ओतप्रोत रहती है। मुख्यतः उसके दो रूप होते हैं—आर्या क्रान्ति और अनार्या

"बललाभे विश्वमात्मसात्करोति" इति हि शक्तिसूत्र उक्तम् । तदेतद्बलं नाम चितिरेव, तदेतदाह क्षेमराजोऽप्यत एव—"विश्वग्रसनशीलत्वाच्चितिरेव बलम्" इति । अत एव श्रुतिष्वपि "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः" इत्युक्तम् । नानाविधरूपेण भासनेन चितिरूपं बलमत्र वर्तत इति स्फुटमेव प्रतीयते । तेन संसारो राष्ट्रमित्यर्थलाभः । राष्ट्रस्वातन्त्र्य एव समस्तोन्नयनसम्भवात् । 'समुन्नयन्ति'—'सम्यक्'= उत्तमप्रकारेण 'उत्'=ऊर्ध्वं 'नयन्ति'=प्रापयन्ति, यथार्थतयाऽऽर्यविधयोन्नतिं प्रापयन्तीति भावः । ते'=पुरुषाः 'एव'=निश्चयेन 'बुधैः' =पण्डितैः "बुधवृद्धौ पण्डितेऽपि" इत्यमरः । राष्ट्रज्ञानविचक्षणैरिति तात्पर्यम् । 'आर्याः'=आर्य इत्याख्याः 'स्मृताः' = कथिताः । अत्रेदमाकूतम्—इह खलु नानाविधतया भासमाने शिवरूपे सर्वमपि विधिमुखेन वा निषेधमुखेन वा प्रतीयमानं सर्वमपि शिवस्य स्वाभाविकमेव । तस्यैव परिपूर्णत्वात्, एकत्वात्, समस्तशक्तिरूपत्वात्समरसत्वाच्च । जीवानां च परस्परं पार्थक्येनाऽपूर्णत्वात् बहुत्वात्, असमस्तशक्तिरूपत्वात्, असमरसत्वाच्च । विधिमुखेन प्रतीयमानं स्वाभाविकं निषेधमुखेन च प्रतीयमानमस्वाभाविकमित्युच्यते । आपेक्षिकः शिवस्तु जीव एव तस्याऽपि कल्पितत्वात्, तदेतत्सर्वमात्मविलासव्याख्यानाऽवसरे प्रतिपादितमस्तीति तत एव विचार्यम् । एवं च व्यवहारदशायां व्यावहारिकं यत् स्वाभाविकमस्वाभाविकं वा, तत्र कर्तव्याऽकर्तव्यविचिकित्सा, उन्मत्तादीन् पशुप्रायान् समस्तविज्ञवरान् देवप्रायांश्च विहाय समस्तस्याऽपि मनुष्यस्य प्रायो भवत्येव । अत एव तत्र निर्णयोऽप्यावश्यक एव । निर्णयश्चाज्ञो न कर्तुं पारयति । अनर्थकारित्वात् । एवं च पूर्वं निर्णायका एव के भवितुमर्हन्ति तदेव निरूपयितुमुचितम् । ननु निर्णयः शास्त्रेणैव भविष्यति तर्हि किं निर्णायकैः ।अत एव भगवताऽप्युक्तं गीतासु

क्रान्ति । आर्यों द्वारा आर्यविद्या से उपासित आर्या और अनार्यों द्वारा अनार्यविद्या से उपासित अनार्या कहलाती है । प्रकारताभेद से विशेष्यता में भी भेद होते हैं, न कि वस्तु में ।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याऽकार्यव्यवस्थितौ ।
(गी. 16।23)

इति चेदङ्ग ! भ्रान्तो भवान् । यतः शास्त्राणि कानि नाम भवेयुः । तानि पुनरन्योन्यं विसंवादीनि केन वा व्यवस्थाप्यानि । विनिगमनाविरहात् । सर्वाण्यपि प्रमाणानि वा सर्वाण्यप्रमाणानि वा सम्पद्येरन् । अत एवाऽन्यत्रोक्तमपि—

श्रुतिर्विभिन्ना स्मृतयोऽपि भिन्ना नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम् ॥
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः ॥

तस्माच्छास्त्रशब्देन न केवलं ग्रन्थग्रहणं किं तु तदर्थबोधतदनुकूलाऽऽचारप्रचारपरायणानामनुभवशालिनामधिगतयाथातथ्यानामार्याणामपि ग्रहणमत्र विवक्षितमेव । किं च शास्त्राणि खलु परप्रकाशाण्येवेति तेषामपि सदसत्त्वनिर्णयो निर्णायकाधीन एव । अत एवोपनिषत्सु सम्मर्शिब्राह्मणोपगमनमेव विहितम् । तद्वाक्याऽनुपूर्वी चोपदिष्टैव 'अथ यदि ते' इत्यादि । एवं चैतत्सर्वमप्यभिप्रेत्यैवाऽस्याः कारिकाया आरम्भः । तत्र समदर्शिनामेव निर्णायकत्वं युक्तम् । त एव चाऽऽर्या भवन्ति । अयमर्थः—समस्तोऽपि जीवलोकः स्वकल्याणमेवाऽऽकाङ्क्षते, अत एव तत्प्राप्तिमार्गमेव च तेभ्यस्तेभ्यो विजिज्ञासति । तत्राऽज्ञस्यैव जिज्ञासाऽप्युपपद्यते, विज्ञानवतश्च न विजिज्ञासेत्यपि सर्वेषां नाऽविदितमेव । एवं च ज्ञानवतामेव निर्णायकत्वं सर्वत्रेति निर्णयः समस्तानाम् । ते चाप्रस्तुतभाष्यकृताऽऽर्या इति सङ्केत्यन्तेऽन्वर्थतया । अथ किमर्थमार्या इति उच्यते । समदर्शित्वमार्यत्वम् । 'ऋ गतौ' ततो "ऋहलोर्ण्यत्" (पा. सू. 3।1।124) इति ण्यत्प्रत्ययः । अथ च "आर्यो ब्राह्मणकुमारयोः" इति निपात्यते । अन्यत्र "अर्यः स्वामिवैश्ययोः" इति । ये गत्यर्थास्ते ज्ञानार्थाः । एवं चार्यो ज्ञानवानित्यर्थः ।

परिचय के साधन को प्रकार कहते हैं, वे अनन्त हैं । क्रान्ति की उपासना के विना कोई भी क्षणभर जीवित नहीं रह सकता है, क्योंकि यह आत्मरूपा होती है । उद्देश्य के विना कोई प्रवृत्ति नहीं होती है । यह क्रान्ति

ब्राह्मणश्च जात्यैव ज्ञानप्रिय इति ब्राह्मणानां स्वाभाविकमार्यत्वम् । अत एवोपनिषत्सु—वृत्तकर्मविचिकित्सा निर्णायकनिरूपणाऽवसरे "ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिन" इत्युक्तम् । आर्यत्वमप्यपेक्षातारतम्येन सर्वेष्वपि सम्भवेदिति न कोऽप्यनार्यः स्यात् इति समदर्शिन' इति प्रोक्तम् । समदर्शित्वं च पूर्वमेव प्रस्तुतभाष्यकृता व्याख्यातं "शक्तित्रय" (रा 35) इत्यस्याः कारिकाया भाष्याऽवसर इति तत एवाऽवसेयम् । एतदेवोपनिषत्सु 'युक्ता आयुक्ताः' इत्यनेन ध्वनितम् । समदर्शिनोऽपि रागद्वेषादियुक्ता जातु लोकानामकल्याणं कुर्वाणा दृश्यन्त इति तेषामार्यत्वं नेष्टमित्याह—निर्लोभा इति । अयमाशयः—लोभोपलक्षितसमस्ताऽकल्याणकारिवृत्तिरहितानामेवाऽऽर्यत्वमभीष्ट न पुनस्तत्सहितानां पूर्णज्ञानवताम् । अयमर्थः—लोभादिवृत्तिराहित्यमत्राऽऽचारे न पुनर्ज्ञानेऽपि । अन्यथा पूर्णज्ञानवत्त्वमेव न सम्भवेत्तेषामिति । अत्रेदं च बोध्यम्—समदर्शिन इत्यनेन वस्तुतः समदर्शित्वमेव विवक्षितम् । न पुनः समदर्शिम्मन्या अप्यार्या भवितुमर्हन्ति । तेषां मूढत्वात् ते सहैव शिष्यैः पतिता भवन्ति गर्तकुहरेषु । अत एव तद्विषये श्रुतिष्वेवं श्रूयते—

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः ।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥

(क उ. 2।5)

अत एव निर्लोभा इति प्रोक्तम् । अयं भावः—लोभादिनिमित्ताऽभावे पाण्डितंमन्यत्वादिनोपपद्यते । अत एवोपनिषत्सु 'अलूक्षा' इत्युक्तम् । किं चाऽयज्ञस्य संशयच्छेदनं वा श्रेयोमार्गज्ञानं वा नाऽज्ञादुपद्यते । तद्विषये खल्वेवमाह श्रुतिर्भगवती—"तमसो वा एष तमः प्रविशति यमविद्वानुपनयते यश्चाऽविद्वान्" इति । अत एव लोकेऽप्याभाणकः—अन्धस्येवाऽन्धलग्नस्य विनिपातः पदे पदे । इति । एवं च

स्वभाव-संरक्षण के लिए प्रवर्तित होती है । स्वभाव आनन्द है । कामनाओं की पूर्ति से आनन्द होता है । क्रमविशेष विशिष्ट कल्पना ही बिन्दुशक्ति है । उसका आरम्भ भी बिन्दु में होता है और समाप्ति भी बिन्दु में । सहारक्रम ही सृष्टि

आर्येषु सर्वमप्येतदावश्यकमेव । अथ लोकाऽतिवृत्तवृत्तयो ये न लोकमाकाङ्क्षन्ते, तेषामार्यत्वं तु नितरां वर्तते परन्तु न तेषां लोकसङ्ग्रहणे रुचिस्ते परमार्थत आर्या अपि नाऽत्र विवक्षिता इति ध्वननायाह— निग्रहाऽनुग्रहाभ्यामिति । निग्रहाऽनुग्रहाभ्यां ये संसारं समुन्नयन्ति । अत्रेदं बोध्यम्—आर्याः खल्वपि परां कोटमारूढा द्विविधा दृश्यन्ते लोकसङ्ग्रहपरायणा एके, अवधूताश्चाऽन्ये । अस्य पुनः शास्त्रस्य **श्रीराष्ट्रालोकस्य** व्यावहारिकमोक्षशास्त्रत्वादार्यपदेन लोकसङ्ग्रहपरायणा एव ग्राह्या लोकव्यवहारनिर्णयाय । एवं तु तेऽवधूता अपि समस्ताऽऽर्यलक्षणमण्डिता भवन्त्येव ऽथाऽपि तेषां बाह्याऽरुचितया बाह्यविषये निर्णायकत्व नाऽस्ति । अत एवोपनिषत्स्वपि 'धर्मकामाः स्युः' इत्युक्तम् । एवं चाऽत्र संसारपदेन बाह्यभावो विवक्षितः । तेन समस्तराष्ट्राणां सुहृद्भावेन यथायोग्यं निग्रहेणानुग्रहेण च समुन्नतिं कुर्वन्ति तादृशा निर्लोभाः समदर्शिन एव पुरुषाः पण्डितैरार्या इत्युच्यन्ते । त एवेत्यनेनैतद्विरुद्धानामार्यत्वं नास्तीति । निश्चयेन बोध्यते । एवं च समस्तेऽपि जगति कर्तव्याऽकर्तव्यसंशयनिवर्तकत्वं, शास्त्रप्रतिष्ठापकत्वं चैतादृशानामेव पुरुषाणां बाह्यजगद्विषय इति निर्णीतं भवति । एतदेवाऽऽर्याणां सर्वत्र निर्विवादं लक्षणं सम्भवति नान्यदिति ध्वन्यते बुधैरित्यनेन । आर्यभेदादि पूर्वमेव व्याख्यातमधिकमित्यलम् । 87।।

एवं समस्तकर्तव्याऽकर्तव्यसंशयनिर्णयप्रतिपत्त्यर्थमार्या एव शरणीकर्तव्या इति तेषां लक्षणमिषेण निरूपितम् । आर्याणां कर्तव्यानि निरूपितानि । तद्विरुद्धानि चाऽकर्तव्यानि सर्वाण्यपि पारिशेष्यादवगम्यन्त एव। अथाऽपि तत्राऽकर्तव्येषु कानिचिदतीव निन्द्यानीति तानि विशेषतया निर्देष्टव्यानीत्युचितम् । एवं चानार्यस्वभावानां कर्माण्यपि कानि

की दृष्टि से अक्रम है तथा सृष्टिक्रम ही संहार दृष्टि से अक्रम है । सभी बिन्दुओं के जन्य जनक भाव सम्बन्ध कल्पित किये जा सकते हैं, इसी प्रकार शान्तिबिन्दु तथा आनन्दबिन्दु की भी कल्पना की जाती है ।

निग्रह, अनुग्रह भेद से सङ्क्रान्ति भी दो प्रकार की है । निग्रहप्रधान सङ्क्रान्ति निग्रहसङ्क्रान्ति और अनुग्रहप्रधान सङ्क्रान्ति अनुग्रहसङ्क्रान्ति होती है

चित् कदाऽप्यसेव्यानि भवन्तीति तानि विवक्षुः सममेवाऽनार्यलक्षणम-प्यार्यप्रतियोगितया वर्णयन्नाह—

श्ववृत्त्या जीवनं राष्ट्रद्रोहोऽराष्ट्रियनेतृता ॥
आर्यैरेतत्त्रयं त्याज्यमनार्यैरेव सेव्यते ॥88॥

श्ववृत्त्येति । श्ववृत्त्या—जीवनं राष्ट्रद्रोहः—अराष्ट्रियनेतृता—एतत् —त्रयं—आर्यैः—त्याज्यम्—अनार्यैः—एव—सेव्यते । इति पदयोजनिका ।

'श्ववृत्त्या'—शुनः=कुक्कुरस्य वृत्तिः=वर्तनं तया सेवया इति भावः । "सेवा श्ववृत्तिराख्याता" (मनु. 4/6) । 'सेवा श्ववृत्तिः" इत्यमरः । एतद्विषये पूर्वं निर्णीतमेव । श्ववृत्तिवर्णनं खलु योगिवर-भर्तृहरिणा सुतरां शोभनमुपात्तं वर्तते । तथाहि—

लाङ्गूलचालनमधश्चरणाऽवपातं भूमौ निपत्य वदनोदरदर्शनं च ॥
श्वा पिण्डदस्य कुरुते गजपुङ्गवस्तु धीरं विलोकयति चाटुशतैश्च भुङ्क्ते ॥
(भ. नी. 31)

एवं भूतयोपलक्षितया श्ववृत्त्या । अत एव केनाऽप्युक्तमपि "सेवा-धर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः" । अत्रेदं तु बोध्यमेव—भृति-ग्रहणपूर्वकं सेवा या क्रियते सैव श्ववृत्तिः । या तु गुरुजनस्य सेवा क्रियते सा न भृत्यर्थमिति सा न सेवा । अत एव राष्ट्रसेवा न श्ववृत्तिः किन्तु सा भक्तिः । सा तु मोक्षप्रदायिनी । अत एव प्रस्तुतभाष्यकृता 'राष्ट्रसेवाराष्ट्रमाहात्म्यकोविदाः' (रा. 47) इत्यस्याः कारिकाया भाष्याऽवसरे तस्या विहितत्वं प्रतिपादितम् । अत एव भगवान् श्रीकृष्णो योगीश्वरः श्रीराधारुक्मिणीकान्तो महागुरुर्गीतास्वेवमुवाच—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ॥
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ (गी. 4।34)

आर्यराष्ट्रवादियों की अनुग्रह प्रधान संक्रान्ति होती है । आर्यराज्यवादियों की निग्रहप्रधान सङ्क्रान्ति होती है । अशान्तिकारिणी किङ्क्रान्ति कहलाती है । यह भी निग्रह अनुग्रह भेद से द्विविध होती है ।

अत्रेदं रहस्यम्––बुभुक्षापूर्त्यर्थं क्रियमाणसेवा श्ववृत्तिरित्यर्थः। आशंसापूरणाय च क्रियमाणा सेवा न श्ववृत्तिः, किन्तु कर्तव्यं कर्म तत्। इदं चाऽत्राऽतिनिगूढमाकूतम्––सेव्यसेवकयोर्द्वयोर्हृदये यत्राऽऽशंसा तत्रैव सेवाया अपि कर्तव्यकर्मत्वम्। यत्र चाऽन्यतरहृदयेऽपि बुभुक्षा वर्तते तत्र सेवा श्ववृत्तिरेवेति। अत एव वेदेषु विष्टेरतिप्रशंसा वर्तते। परन्तु सैव बुभुक्षया क्रियमाणा बुभुक्षावतां वा क्रियमाणाऽतीव गर्ह्य-भावं याति। अत एव शुश्रूषाया गुरुजनस्याऽतीव माहात्म्यमार्यग्रन्थै-रवगम्यते। भवतु। तयैतादृशयाऽतिनिन्द्यया सेवया 'जीवनं'=प्राण-धारणम् अथ च 'राष्ट्रद्रोहः'––'राष्ट्रं' पूर्वोक्तलक्षणं तस्य 'द्रोहः' वैरम्। अथ च 'अराष्ट्रियनेतृता'='राष्ट्रं'=पूर्वलक्षणलक्षितं तस्य ये चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धिनः ते राष्ट्रिया इत्युच्यन्ते ते च ये न भवन्ति ते 'अराष्ट्रियाः' इति व्याख्यातमसकृत्। तेषां 'नेतृता'=नायकत्वं कर्तरि षष्ठी ततस्तत्पुरुषः। न तु कर्मणि षष्ठी। 'एतत्'=कारिकापूर्वार्धोक्तं श्ववृत्त्याजीवनमित्यादि कर्म 'त्रयम्'=त्रिकम्। 'सङ्ख्याया अवयवे तयप्'' (पा.सू. 5।2।42) ''द्वित्रिभ्यां तयस्याऽयज्वा'' (पा.सू. 5।2।43) इत्ययच्। 'एतत्त्रयम्' इत्येकमेव वा पदम्। एतेषां त्रयमेतत्त्रयमिति षष्ठी तत्पुरुषः। एतेषां पूर्वोक्तानां कर्मणां त्रयं=त्रिकं 'आर्यैः'—आर्यत्वयोगक्षेमपरायणैः। 'त्याज्यम्'=हेयम्। ''कृत्यानां कर्तरि वा'' (पा.सू. 2।3।71) इति विकल्पेन तृतीया। कर्तृत्वेन स्वातन्त्र्यं ध्वन्यते। त्याज्यमित्यनेन च विधिवाक्यत्वमेतस्याऽवगम्यते। तेन विध्यतिक्रमे दण्ड्यत्वमपीति सूचितम्। त्यागहेतुमाह—अनार्यैरिति। 'अनार्यैः'=आर्यलक्षणरहितैः, आर्यविरुद्धलक्षणैर्वा, अनार्यत्वयोगक्षमकामैर्वा 'एव' निर्धारणेऽव्ययम्। 'सेव्यते'=परिशील्यते। अत्रेदमाकूतम्—पूर्वया कारिकया खलु आर्यलक्षणं वर्णितम्। तत्रार्गेषु यानि लक्षणानि

निष्कर्षतः क्रान्ति के दो रूप बताए गए हैं। उनमें से एक श्रेष्ठा और दूसरी अधमा है। श्रेष्ठा शान्तिदायिनी है और अधमा अशान्तिकारिणी है। प्रथम प्रकार की क्रान्ति ही अभ्यर्हित और समस्त के लिए उपादेय है। अतः उसी श्रेष्ठ शान्तिदायिनी क्रान्ति का विवेचन किया जा रहा है—

भवन्ति तद्विरुद्धगुणकर्मस्वभावा अनार्या इति निष्पद्यत एवेति यद्यपि तथाऽप्यनार्यकर्मस्वप्यतिगर्हितकर्माण्यपि समासतो वर्णनीयान्यवश्यं भवन्ति। यतोऽनार्या अपि स्वात्मानमनार्यं कथयितुं भावयितुं वा नेच्छन्तीति निसर्गः। अयमर्थः—अनार्या अप्यार्या भवितुं समीहन्त एव सर्वदा इति स्वभावः। ततश्च तदर्थमत्यावश्यका गुणा धारणीया भवन्ति। अत्रेदं चाकलनीयम्—अधिकारप्राप्तिमन्तरा गुणधारणं न सम्भवति। यथा तत्तद्रागरञ्जिते पटे रागान्तरं वासयितुं न शक्यते पूर्वरागाऽपसारणमन्तरेणेति सर्वादौ निर्णेजकद्वारा समस्तरागधावनेन शुद्धः क्रियते पटः। धावनेन निर्मलीकृतः शुक्लः पटो येन केनाऽपि वा यथाऽभिलषितेन रागेन रञ्जयितुं शक्यते। शुक्ल एव पटे रागः स्थाय्यपि भवति। एवमेवानार्यत्वाऽपसारणमन्तरेण नाऽऽर्यगुणाऽऽधानं सम्भवति। किं चाऽनार्यत्वमप्यनेकधा भवति शेषभेदात्। तत्र दोषा अपि केचिदक्षम्याः केचिच्च क्षम्याः। तत्र येऽतीव गर्ह्यास्ते सर्वतः पूर्वं दूरीकरणीयाः। त एवाऽनया कारिकया उच्यन्ते—श्ववृत्त्येति। येन कर्मणा खल्वतीव पातित्यं भवति तदनार्यत्वप्रापकम्। तानि च बहूनि। तेष्वपि त्रयमेतदतीव गर्ह्यमिति तेषां त्याज्यत्वाऽभिधानम्। न पुनरन्येषामनार्यकर्मणामत्यागाय। अयं भावः—"छिन्ने मूले नैव शाखा न पत्रम्" इति हि सकललोकाऽनुमतो न्यायः। अत एव मूले कुठाराघाते समस्तमपि सुखेन फलपर्यन्तं निहनन भवति। अनार्यकारिसमस्तदुर्वृत्तीनां मूलभूतास्त्रयो दोषाः, श्ववृत्त्या जीवनं, राष्ट्रद्रोहः, अराष्ट्रियनेतृता चेति। तत्रेदं बोध्यम्—अराष्ट्रियाः खलु नेतृतया स्वीकृता अवश्यमेवाऽनार्यभावमवलम्बन्ते। नेतृत्वं च द्विविधमपि नियमप्रणेतृत्वरूपं शासनप्रबन्धकर्तृत्वरूपं चेति। आर्याः खल्वराष्ट्रियान् विस्मृत्याऽपि नेतृत्वेन न स्वीकुर्युः। ये तावदार्याः सन्ति वा समीहन्ते वा भवितुमग्रे ते द्वयेऽपि

या क्रान्तिः क्रियते लोके दण्डनायाततायिनाम्।
सा शान्तिदायिनी श्रेष्ठा लोकद्वयसुखावहा ॥90॥

जो क्रान्ति संसार में आततायियों को दण्ड देने के लिए की जाती है,

दोषममुं विजह्युः। अत्रेदं तात्पर्यम्--ये खल्वराष्ट्रियान् नेतृत्वेन स्वीकुर्वन्ति तेऽवश्यमेव निजाशंसां निघ्नन्ति। आशंसाहनने च बुभुक्षितत्वमवश्यम्भाव्येव। बुभुक्षिताः पुनः समस्तान्यपि पापानि कुर्वन्ति। उक्तमपि "बुभुक्षितः किं न करोति पापम्" इति नयविद्भिः। अतश्च राष्ट्रद्रोहोऽपि तेऽवश्यमेवाऽऽचरन्ति। ततोऽराष्ट्रियनेतृता सर्वथा त्याज्याऽऽर्यत्वयोगक्षेमकामैः। अथ चाऽराष्ट्रियनेतृतात्यागेनाऽपि न केवलमार्यत्वसिद्धिः किन्तु राष्ट्रद्रोहोऽपि सर्वथा त्याज्यः। अत्रेदं बोध्यम्--राष्ट्रत्वाऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नानां सर्वेषामपि मनसा वाचा कर्मणा च द्रोहो हातव्यः। अन्यत्रोक्तमपि--'अद्रोहः सर्वभूतानां कर्मणा मनसा गिरा" इति। स्वराष्ट्रं वा परराष्ट्रं वा न द्रोहविषयतया विधेयम्। अन्येभ्यो ये द्रुह्यन्ति तेऽप्यात्मघातिन एव भवन्ति। अत एव तेषां लोकगर्हाऽपि भवत्येव। अत्रेयांश्च विशेषः--परराष्ट्रद्रोहादपि स्वराष्ट्रद्रोहस्त्वतीव निन्द्यः। एतत्सर्वमसकृदुक्तमेवेति नेहोच्यते। न न्वराष्ट्रियनेतृतास्वीकारनिषेधेनैव राष्ट्रद्रोहो गतार्थः। यतोऽराष्ट्रियनेतृता नाम राष्ट्रद्रोह एवेत्यन्यतरोपादानेनैव सिद्धे किम्पुनरुभयोपादानेनेति चेत् सत्यमेतन्तथाऽपि पृथगुपादानं विशेषाऽवगमायेति ज्ञेयम् तत्र विशेषश्चायम्--केचित्खल्वनार्या अराष्ट्रियं न नेतृत्वेन मन्यन्तेऽथाऽपि राष्ट्रद्रोहं नाचरन्ति स्वबुभुक्षापूर्त्यै। केचिच्च राष्ट्रद्रोहं नाचरन्ति तथाऽप्यराष्ट्रियान् नेतृत्वेन स्वीकुर्वन्तीति न गतार्थताऽन्यतरोपादानेन। अथ गतार्थतायामेव यद्याग्रहस्तदाऽस्तु गोबलीवर्दन्यायेन ब्राह्मणवशिष्ठन्यायेन वा पृथगुपादानम्। अथ च तृतीयो महान् दोषः 'श्ववृत्त्याजीवनम्'। एतच्चातीव निन्द्यम्। व्याख्यातमेतत् पूर्वम्। यत्तु केचन वदन्ति—

> सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः।
> शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम्॥

वह शान्तिदायिनी तथा दोनों लोकों का कल्याण करने वाली (क्रान्ति) श्रेष्ठ होती है।

शास्त्रों में 6 प्रकार के आततायी बतलाये गये हैं—आग लगाने वाले,

तदप्यनार्यभावकरमेव । राष्ट्रसेवापरत्वेनाऽऽर्यभावपरं वा भवतु । एतत् त्रयं खल्वार्यैस्त्याज्यमेव । यतोऽनार्यैरेव सेव्यते । सेव्यते इत्यनेन लयवस्तुस्थितिबोधनमात्रं क्रियते । तेन सेव्यत्वं न विधीयते केषामपि । अत एव यद्यत्स्वाभाविकं तत्तत्कार्यमिति त्वपसिद्धान्त एव । नन्वेवं भगवद्वचनविरोधः स्यात् तथा हि गीतासु--

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाऽग्निरिवाऽवृताः ।।
(गी. 18।48)

अत एव कविकुलगुरुः कालिदासोऽप्याह शाकुन्तले—

शहजे किल जे विणिन्दिए ण हु दे कम्म विवज्जणी अए ।।
पशुमालणकम्मदालुणे अणुकम्पामिदुजेव्व शोत्तिए ।।
(शा. 6।1)

अहो नैतदर्थोऽवगतोऽस्य वाक्यस्य भवता । अपरिहार्यं किल यत्तद्विषयकं भगवद्वाक्यमिदम् । न पुनः परिहर्तुं शक्यमप्यत्याज्यम् । अन्यथा 'कार्यं कर्म समाचर' (गी 3।19) 'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि' (गी. 2/47) इत्यादि भगवद्वचनानां का खलु सङ्गतिः स्यात् । अत एवोपनिषत्सु "यान्यस्माक सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि इति "यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि" इति चोक्तं सङ्गच्छते । भवतु सर्वथाऽप्येतत्त्रयमनार्यत्वप्रापणेऽसाधारणमेव निमित्तमिति परिहर्तव्यम् । अत एवार्यलक्षणमेवमाह वशिष्ठः—

कर्तव्यमाचरन् कर्म त्वकर्त्तव्यमनाचरन् ।
तिष्ठति प्राकृताचारो यः स आर्य इति स्मृतः ।।

एवं चाऽऽयविरुद्धत्वमनार्यत्वमित्यनार्यत्वलक्षणं सम्पद्यते । अत्र खलु विश्वे विश्वस्मिन्नपि सर्वमपि प्रतीयमानताऽवच्छेदकाऽवच्छिन्न

विष देने वाले, हाथ में शस्त्र रखने वाले, धन हरण करने वाले, क्षेत्र हरण करने वाले तथा स्त्रीहरण करने वाले । ये सभी प्रकार के आततायी अनार्य ही हैं ।

स्वभाव इति स्वाऽभिलाषाऽनुकूलं कर्तुमकर्तुमन्यथा च कर्तुं युज्यते। पूर्णं स्वातन्त्र्यं स्वभाव इति प्रस्तुतभाष्यकृत्सिद्धान्तः। विवृतमिदं चैतत्येनाऽऽत्मविलासे तद्वाख्यायां चेति तत एव बोध्यम्। ततश्चाऽधोगमनाऽभिलाषेऽनार्यभावः समुल्लासनीयः। उन्नत्यभिलाषे आर्यभावः समुल्लासनीयः। स्वस्याऽधोगमनाऽभिलाषं न कोऽपि जीवः करोतीत्यन्यदेतत्। अत्रत्यं रहस्यमात्मविलासे द्रष्टव्यम्। अलमनेन ॥88॥

एव हि राष्ट्रस्वातन्त्र्ययोगक्षेमपरायणा आर्या इति निरूपिता आर्यास्तद्विरुद्धा अनार्याः। अराष्ट्रियाश्चानार्या भवन्ति। तैः कृता च क्रान्तिरपि सर्वदा समस्तराष्ट्रघातिन्येव भवतीत्यपि स्फुटमेव। राष्ट्रघाते च राष्ट्रियघातः सुतरां सिद्ध एव। अथ स्वनाशं च नो कोऽप्युपादेयतया वाञ्छतीति च विधिनिसर्गः। प्रत्युताऽनन्दोपभोगाय विनाशं विजिहासन्त्येव सर्वे सचेतनाः। अत एव अराष्ट्रियकृतक्रान्तिसहनमस्वाभाविकमकार्यं च राष्ट्रियाणामार्याणामिति निरूपितं "अराष्ट्रियकृतां" (रा. 84) इति कारिकया। अथेदानीं क्रान्तिविषयेऽपि किंचिदवश्य निरूपणीयमेवेति निरूपयन् आह—

क्रान्तिरुक्ता द्विप्रकारा प्रथमा शान्तिदायिनी ॥
अशान्तिकारिणी चाऽन्या पूर्वा श्रेष्ठाऽपरा न हि ॥89॥

क्रान्तिरिति। क्रान्तिः—द्विप्रकारा— उक्ता — प्रथमा — शान्तिदायिनी—अन्या—च—अशान्तिकारिणी—पूर्वा—श्रेष्ठा—परा—न—हि—श्रेष्ठा। इति पदयोजनिका।

'क्रान्तिः'—परिचालः, परिणामः, चेष्टा परिवर्तनं क्रान्तिलक्षणं साङ्गोपाङ्गं प्रस्तुतभाष्यकृता क्रान्तिकौमुद्यां निरूपितमिति नाऽत्र निरूप्यते जिज्ञासुभिस्तत एव समवलोकनीयं सर्वमपि। 'द्विप्रकारा'=द्वौ प्रकारौ

पहले भी कहा था कि क्रान्ति स्वाभाविकी है। वह किस कारण से होती है, इसकी समालोचना भी करनी ही चाहिए। परशिव परमात्मा परिपूर्ण है, स्वतन्त्र है, स्वयं में स्थित है तथा स्वयं में ही रमण करता है। उसका यह क्रीडाभाव जब मनुष्य को बोधगम्य नहीं होता है, तब वह दिव्य कहलाता है।

यस्याः सा द्वौ द्विसङ्ख्याकौ प्रकारौ=भेदौ यस्याः "प्रकारो भेदसादृश्ये" इत्यमरः। 'उक्ता'=परिभाषिता 'वच परिभाषणे' क्रान्तिकौमुद्यामिति शेषः। तत्र 'प्रथमा'=एका "शान्तिदायिनी"—'शान्ति'=जीवजातमात्रेणोपादेयतया सर्वदाऽभिलषणीयमाशंसापूरणोत्तरकालाऽनुभवगोचरमानन्दविशेषं दातुं शील यस्याः सा 'अन्या'=इतरा एतद्विरुद्धा, च=त्वर्थेऽव्ययम्। 'अशान्तिकारिणी' — शान्तिरुक्तलक्षणा तद्विरुद्धा अशान्तिः बुभुक्षेति यावत् तां करोति=उत्पादयति सा "कर्मण्यण्" (पा. सू. 3/2/1) इत्यण्। अत्र च 'पूर्वा'=शान्तिदायिनी 'श्रेष्ठा'=उपादेयत्वेनोत्तमा 'परा'=अन्या 'न'=अभावेऽव्ययम्। 'हि' निर्धारणेऽव्ययम्। श्रेष्ठाऽतिश्रेष्ठा हेयत्वेनाऽधमैवेति निश्चीयत इति भावः। अत्रेदमाकूतम्—क्रान्तिः खलु क्रमाक्रमविक्रममयी सच्चिदानन्दरूपिणी नैसर्गिकी परशिवस्वभावभूता बैन्दवी विसर्गमहाशक्तिरिति क्रान्तिकौमुद्यामेव प्रस्तुतभाष्यकृतैव प्रपञ्चितम्। सा च व्यवहार ओतप्रोतभावेन व्याप्यावतिष्ठतेऽनन्तरूपैः। तथाऽपि सर्वेषामपि रूपाणां रूपद्वय मूलभूतम। द्वैतमूलत्वान्निखिलस्याऽपि व्यवहारस्य। एतन्मूलमपि परस्मिन्नेकस्मिन्नेव तत्त्वे इति तत्तत्त्वमद्वैतं परिपूर्णमिति व्यवहारातीतमित्युच्यते। अस्य च शास्त्रस्य व्यवहारप्रधानत्वात्तदेवाऽत्र विवेचयितुं युक्तम्। तदेवं व्यवहारे किल क्रान्तिद्वैरूप्यमवगाहते, आर्या क्रान्तिरनार्या क्रान्तिरिति। अत्रेदं बोध्यम्—द्विभेदवती सर्वविधाऽपि क्रान्तिः परिभाषिता प्रस्तुतभाष्यकृता। शिष्यबोधसौकर्याय। किं च द्विप्रकारा इत्यनेन वस्तुतो न क्रान्त्यनेकत्वमिति प्रतिपादितम्। प्रकारताभेदमात्रेण विशेष्यतायां भेदाः सम्भवन्ति न पुनर्वस्तुनि। अत एवाऽऽत्मविलासउक्तम्—

प्रकारताभेदवशाद्भिद्यते हि विशेष्यता ।।
निर्विशेषं निष्प्रकारं कथं वाचा निरूप्यताम् ।।

(आ.वि. 2।19)

तत्त्वदर्शियों ने दिव्य कीडा को 5 भागों में विभक्त किया है। वे भी शिवरूप हैं। अतः शान्त और अशान्त भाव से वहीं विहार करता है। इसमें अशान्ति

किं च प्रकारश्च परिचयसाधनमिति तेऽनन्ता एव कल्पयितुं शक्यन्ते। तत्र सर्वस्याऽपि बिन्दुरूपतया द्वैरूप्यमस्त्येवेति त्वसकृदुक्तमेव। तत्रैकं रूपं प्रकारो वाऽर्यत्वेनाऽऽर्या कान्तिरित्युच्यते। द्वितीयं रूपं प्रकारो वाऽनार्यत्वेनाऽनार्या कान्तिरित्युच्यते। अत्रेदं तत्त्वम्—आर्योपासिता आर्या, अनार्योपासिता चाऽनार्या इति। आर्यविधयोपासिता चाऽनार्या इति वा। सर्वथाऽपि कान्त्युपासनामन्तरेण न कोऽपि क्षणमपि जीवितुं प्रभवति पदार्थः। एतस्या आत्मरूपत्वात्। अत एव भगवताऽप्युक्तं गीतासु—

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयाऽन्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥

(गी 9।23)

नन्वस्याः क उद्देश इति चेच्छ्रूयताम्—उद्देशमन्तरेण प्रवृत्तिरेव न सम्भवतीति सर्वजनीनः सिद्धान्तः। प्रवृत्तिः पुनरन्तर्वा बहिर्वाऽऽस्ताम्। द्विविधापि प्रवृत्तिरेवेति तु रहस्यमस्त्येव। अत एव मूर्खस्याऽप्युद्देशमन्तरेण न प्रवृत्तिः सम्भवतीत्युक्तमन्यत्र यथा—

प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते॥

भवतु। कान्तिस्तु स्वभावसंरक्षणमुद्दिश्य प्रवर्तत एव सर्वत्र। स्वभावश्चाऽऽनन्दः सर्वत्रेति निर्णीतं सर्वत्र। अत एव प्रस्तुतभाष्यकृतात्मविलासे प्रतिपादितमेतदेवं रूपेण—

आनन्द एव पर्यन्तः साऽपेक्षसुखदुःखयोः।
स्वाऽनुभूत्या विमृशतां निश्चितं मतमुत्तमम्॥

(आ. वि. 2/16)

किं चानन्दः कामनापूरणेन भवतीति स शान्तिजन्योऽपि शान्तिरूप एवेति निगूढं रहस्यम्। तत्र पूर्णसकलकामस्य पूर्णानन्द-

---

की अनुपपत्ति नहीं हैं। अतः आर्यभाव और अनार्यभाव दोनों का ही बीज देवदेव महेश्वर है।

स्वभाव में सामरस्य (समरसता) होता है। स्वभाव में अभाव नहीं

रूपत्वमिति तु न कथनान्तरमपेक्षते एवं च व्यवहारेऽत्र सर्वेऽपि शान्तिमाकाङ्क्षन्त इति निर्विवादमेव । अत्रेदं रहस्यमाकलनीयम्–क्रमविशेषविशिष्टकल्पनैव बिन्दुशक्ती रेखा भवतीति निर्विवादमेव । तत्रारम्भोऽपि बिन्दावेव समाप्तिरपि बिन्दावेवाऽवगम्यते । मध्येऽपि तदतिरिक्तस्याऽभाव एवेत्यपि नाऽतितिरोहितं विदुषाम् । अयमेव **सिद्धसम्प्रदाये** 'स्पन्दसन्दोह' इत्युच्यते । तत्र संहारक्रम एव सृष्टिदृष्ट्याऽक्रमः । सृष्टिक्रमश्च संहारदृष्ट्या क्रमः । अनयोरविवक्षायामविवेके वा विक्रम इति ।

अत्र च यथा परस्परं सर्वेषामपि बिन्दूनां जन्यजनकभावादिसम्बन्धाः कल्पयितुं शक्यन्ते तथैव शान्तिबिन्दोरानन्दबिन्दोरपि कल्पना विज्ञेयेति । भवतु । शिवारोहणक्रमे प्रथममाशंसापूरणं ततः शान्तिः ततश्चानन्द इति सर्वमपि रहस्यं नोद्घाटनीयमेकत्रेति **सिद्धसम्प्रदायादेश**परिपालनायाऽत्रैव विरम्यते । तत्रैका क्रान्तिः 'शान्तिदायिनी' शिवाऽऽरोहणमार्गरूपा । इयं चाऽऽर्या सङ्क्रान्तिः इति च सङ्केत्यते प्रस्तुतभाष्यकृता इयं खलु श्रेष्ठा । अत्रेदं बोध्यम्–सङ्क्रान्तिरपि निग्रहाऽनुग्रहभेदेन द्वैविध्यमवगाहत एव । आर्याः खलु निग्रहाऽनुग्रहप्रधाना भवन्ति । निग्रहसङ्क्रान्तिरनुग्रहसङ्क्रान्तिश्चेति । 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इति न्यायेन निग्रहप्रधाना सङ्क्रान्तिर्निग्रहसङ्क्रान्तिः, अनुग्रहप्रधाना सङ्क्रान्तिरनुग्रहसङ्क्रान्तिरिति सङ्केतः । इद चाऽवगन्तव्यमत्र–द्वयोरपि द्वयं गौणरूपेण वतत एव । आर्यराष्ट्रवादिनामनुग्रहप्रधाना सङ्क्रान्तिः । आर्यराज्यवादिनां निग्रहप्रधाना सङ्क्रान्तिरिति । अथान्या प्रथमविरुद्धलक्षणा न हि श्रेष्ठा, अधमेति तात्पर्यम् । इयं खलु यतोऽशान्तिकारिणी । अशान्तिं खलु न कोऽपि समीहत उपादेयतया । एतदेव ध्वनयितुमशान्तिकारिणीत्युक्तं न पुनरशान्तिदायिनीति । 'अशान्ति-

---

होता है, क्योंकि वह पूर्ण है। अतएव शान्ति से अशान्ति की ओर अशान्ति से शान्ति को क्रम, अक्रम और विक्रम के द्वारा चैतन्य किया जाता है। आत्मा पूर्णचैतन्य स्वभाव वाला कहा भी गया है। इसका यह अनुपम विलास ही कर्म,

कारिणी' जीवाऽवरोहणमार्गरूपा। इयमनार्या इति 'किङ्क्रान्तिः' इति च सङ्केत्यते प्रस्तुतभाष्यकृता। इयं खलु श्रेष्ठा नास्तीति निश्चयः सर्वेषाम्। अत्राऽप्येवमाकलनीयम्—किङ्क्रान्तिरपि निग्रहाऽनुग्रहभेदेन द्वैविध्यमवगाहत एवेति। अनार्या अपि निग्रहाऽनुग्रहप्रधाना भवन्ति स्वतन्त्राः। परतन्त्रास्त्वार्या अपि निग्रहीतुमनुग्रहीतुं वा नैव प्रभवन्तीति स्फुटमेवेति न निर्णयाऽपेक्षामवगाहते। एव च निग्रहकिङ्क्रान्तिरनुग्रह-किङ्क्रान्तिश्चेति द्विविधा सेति। इयमपि 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इति न्यायेन निग्रहप्रधाना किङ्क्रान्तिर्निग्रहकिङ्क्रान्तिः, अनुग्रहप्रधाना किङ्क्रान्तिरनुग्रहकिङ्क्रान्तिरिति सङ्केतः। अत्राऽपि गौणरूपेण द्वयोरपि द्वय वर्तत एवेति पूर्ववद् बोध्यम्। अनार्यराष्ट्रवादिनां सङ्घवा-द्यपरपर्यायाणामनुग्रहप्रधाना किङ्क्रान्तिः। अनार्यराज्यवादिनां व्यक्ति-वाद्यपरपर्यायाणां निग्रहप्रधाना किङ्क्रान्तिरिति। अत्रेदं च बोध्यम्—चतुर्विधास्वपि पूर्वपूर्वा श्रेष्ठा उत्तरोत्तराऽधमा। अनुग्रहप्रधाना आर्य-सङ्क्रान्तिरार्यपुंयुगयोगक्षेमसाधनरूपा 'उत्तमा' इति सङ्केतनीया, निग्रह प्रधाना आर्यसङ्क्रान्तिरार्यस्त्रीयुगयोगक्षेमसाधनरूपा '**मध्यमा**' इति सङ्केतनीया, अनुग्रहप्रधाना किङ्क्रान्तिरनार्यपुंयुगयोगक्षेमसाधनरूपा '**अधमा**' इति सङ्केतनीया। निग्रहप्रधाना किङ्क्रान्तिरनार्यस्त्रीयुगयोग-क्षेमसाधनरूपा '**अधमाऽधमा**' इति सङ्केतयितुं योग्या। तदेवं चतुर्वि-धाऽपि द्विविधा क्रान्तिरुच्यत आर्याऽनार्येति भेदेन। अत्र पूर्वं द्वयमार्यतया सर्वैरप्युपादित्सितव्यम्। परं द्वयं चाऽनार्यतया सर्वैरपि विजिहासितव्यं, स्वभावात्, शास्त्रात्, युक्तितश्चेति समस्तविद्वदपश्चिमानां निर्णय एष इति निश्चयः।

सर्वमप्येतत् 'द्विप्रकारा' इत्यनेनाऽवगम्यते। तत्र प्रथमा क्रान्ति-र्द्विप्रकारोक्ता, अन्या च द्विप्रकारोक्ता इत्येवमन्वयः उत्तमोद्देशेनो-त्तममधमोद्देशेनाऽधमं सर्वमपीति विवेकः। विशेषश्चाऽत्र **क्रान्तिकौमुदी-**

अकर्म, विकर्म भाव को व्यवस्थित करता है। इस प्रकार आदि से अन्त तक सब कुछ पशुपतिरूप महेश्वर ही हैं।

यह अलौकिकी क्रान्ति का विषय है, अतः शंका नहीं करनी चाहिए।

तोऽवसेयः । इयं खलु राष्ट्रकाली सर्वैरपि नानाविधोपासनाप्रकारैः समुपास्यते स्वस्वाऽभीष्टलाभायेत्यलमेतेन ॥89॥

क्रान्तिः खलु द्विप्रकारेत्युक्तम् । तत्रैका श्रेष्ठाऽपरा चाऽधमेत्यप्युक्तम् । अथ च श्रेष्ठायाः शान्तिदायिनीत्वमपि वर्णितम् । अधमायाश्चाऽशान्तिकारिणीत्वमुक्तम् । अथ प्रथमोपस्थिततयाऽभ्यर्हिततया, समस्तस्याऽपि जीवलोकस्याऽभीष्टप्रदतयोपादेयतया च प्रथमं सैव सविशेषं वर्णनीयेत्युचितमिति मनसि विभाव्य तां विशदयितुमाह—

या क्रान्तिः क्रियते लोके दण्डनायाऽऽततायिनाम् ॥
सा शान्तिदायिनी श्रेष्ठा लोकद्वयशुभावहा ॥90॥

या 'क्रान्तिरिति । आततायिनां—दण्डनाय—लोके—या—क्रान्तिः—क्रियते—शान्तिदायिनी—लोकद्वयशुभाऽऽवहा सा-श्रेष्ठा क्रान्तिः । इति पदयोजनिका ।

'आततायिनाम्'—आसमन्तात् ततं=विस्तृतं आयातुं=प्राप्तुं शीलं येषां, आक्रम्याऽऽहरणकारिणामिति यावत् । परस्वस्य । तदनुज्ञामन्तरेणाऽऽहरणकर्तार इति भावः । दस्यूनामिति यावत् । शास्त्रेष्वेते मुख्यतया षड्विधा उक्ताः यथा—

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनाऽपहा ।
क्षेत्रदारहरश्चैव षडेते ह्याततायिनः ॥

अनार्याः खलु सर्वमप्येतत् कुर्वन्ति । ततश्चाऽऽततायिनामनार्याणामिति फलति । इदं षड्विधत्वं न षड्विधत्वनिर्धारणाय, किं तु समस्तविधाऽनार्यकर्मकारिणामुपलक्षणम् । 'दण्डनाय'—ताडनाय नियमनायेति यावत् । 'लोके'=जगत्यां ससारे इति भावः । दृश्यमानपदार्थसार्थविषय इति वा या वर्णितप्रकारमध्यस्था । 'क्रान्तिः'=क्रामणं, परिणामः,

---

यह राष्ट्रालोक तो लौकिक विषयक है । अलौकिक क्रान्ति विषयक तत्त्व तो (लेखक की अन्य रचना आत्मविलास में स्पष्ट किया गया है) यहां संक्षेप में संकेत मात्र है । जो (विषय) बुद्धिगम्य नहीं है, उसे तर्क से दूषित नहीं किया

परिचालः, परिवर्तनं वा । 'क्रियते' विधीयते । 'शान्तिदायिनी'=शान्तिदानशीला । 'लोकद्वयशुभावहा'—लोक्यते=दृश्यतेऽसौ लोकः दृश्यमानः पदार्थसार्थः तयोः 'द्वयम्'=द्विकम् । तस्मिन् 'शुभं'=कल्याण आ समन्तात् 'वहति'=प्रापयति, समस्तस्याऽपि लोकवर्गस्य भेदद्वयेऽन्तर्भाव इति समभिप्रेत्य लोकद्वयेत्युक्तम् । तद्विषयकं समस्तमपि कल्याणं सर्वतोभावेन प्रापणशीलेति भावः । 'सा'='या इत्यनेनाऽऽक्षिप्ता 'श्रेष्ठा'= अतिशयेन प्रशस्या 'अतिशायने तमबिष्ठनौ' (पा. सू. 5/3/55) इतीष्ठन् । 'प्रशस्यस्य श्रः' (पा. सू. 5/3/60) इति श्रादेशः प्रशस्यस्य । स्त्रीत्वविवक्षायां टाप् । 'क्रान्तिः' अस्तीति शेषः इति । अत्रेदमाकूतम्—क्रान्तिः खलु स्वाभाविकीति तु वर्तत एव । सा हि केन कारणेन भवतीत्यपि समालोचनीयमेव । तस्याः श्रेष्ठत्वाऽश्रेष्ठत्वनिर्णयस्य तदधीनत्वादित्युच्यते—परशिवः परमात्मा परिपूर्णस्वतन्त्र इति स्वातन्त्र्योल्लासनपरमपण्डित इति स्वस्मिन्नेव क्रीडति । सोऽयं क्रीडाभावो मनुष्यबोधाऽगम्य इति दिव्य इत्युच्यते । दिव्यक्रीडा चेयं पञ्चविधकृत्येषु विभाजिता तत्त्वदर्शिभिः शिष्याऽनुविक्षापरायणैः । तेऽपि वस्तुतः शिवरूपा एवेति तु न विस्मर्तव्यम् । अत एव शान्तभावेनाऽशान्तभावेन च स एव विहरतीति नाऽशान्त्यनुपपत्तिः काऽपि । एवं चार्याऽनार्यभावद्वयस्याऽपि बीजं स एव देवदेवो महेश्वरः । इदं च बोध्यम्—सामरस्यं हि स्वभावः । तत्र हि स्वभावे नाऽभावस्याऽप्यभावः पूर्णत्वात् । अत एव शान्त्या अशान्तिमशान्त्या च शान्तिं क्रमेणाऽक्रमेण विक्रमेण च चेतयते । पूर्णचैतन्यस्वभाव आत्मा । अत एव शिवसूत्रेऽप्युक्तम्—"चैतन्यमात्मा" (शि.सू. 1।1) इति अस्याऽयमनुपमो विलास एव कर्माऽकर्मविकर्मभावजातं व्यवस्थापयति । एवं चाऽऽदिक्षान्तपशुपतिरूपेण

जाना चाहिए । क्योंकि तर्क अनेक प्रकार के हैं । अतर्क के आधार पर उसकी प्रतिष्ठा नहीं हो सकती है । भगवान् व्यास ने भी तर्क को अप्रतिष्ठित ही कहा है ।

महेश्वर एव सर्वम् । अत एवोक्तमप्यन्यत्र "शिव एव गृहीतपशुभावः" । इति । अत एव वस्तुत एकत्वमेव तत्त्वस्य । अत एवाऽन्यत्रोक्तम्—

यावन्न वेदका एते तावद्वेद्याः कथं प्रिये ! ॥
वेदकं वेद्यमेकं तु तत्त्वं नास्त्यशुचित्वतः ॥

अयमेव स्वस्वातन्त्र्यरसात् 'क्षपितपशुपाशव्यतिकरः' इत्येवं रूपेण वर्णनीयोऽपि । अत एव परिपूर्णस्याऽनायभावग्रहणेऽपि न काऽप्यनुपपत्तिः अत एव **श्रीसोमानन्दनाथपादा** अप्येवमाहुः—

कुत्सितेऽकुत्सितस्य स्यात्कथमुन्मुखतेति चेत् ।
रूपप्रसाररसतो गर्हितत्वमयुक्तिमत् ॥

एवं च सेयं लोकाऽतीता क्रान्तिः सर्वथा समुपपद्यत एवेति तद्विषयेऽलमनेन रहस्याऽरहस्येन । एतत्सर्वमभिप्रेत्यैव 'लोके' इत्युक्तम् । लोके=दृश्यमानपदार्थसार्थे । अलौकिकी खलु क्रान्तिर्न शङ्काविषयाऽत्र । यतः शास्त्रमिदं **राष्ट्रालोको** लौकिकविषयमधिकृत्यैव प्रवर्तते । अलौकिकक्रान्तिविषयकं तत्त्वं पुनरात्म**विलासे** स्फुटीकृतम् । समासतश्चाऽत्राऽप्युक्तम् । यदपि न बुद्धिगम्यं तत्तर्कैर्न दूषणीयम् । अत एवोक्तमपि क्वचित्—

अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत् ॥

तर्कशब्देनाऽत्र विरोधितर्कत्वाऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नं गृह्यते हेतुशास्त्राऽपरपर्यायम् । अत एवोक्तमन्यत्र—

योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राऽऽश्रयाद् द्विजः ।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ॥

(मनु. 2।11)

यतो हि तर्का बहुविधास्तेषां च प्रतिष्ठानं न सम्भवत्यतर्क्यविषय-

---

परिपूर्ण शिव की अलौकिक क्रान्ति के विषय में कोई शंका नहीं होनी चाहिए । यह सम्पूर्ण जीवलोक पशु है । यह कामनापूर्ति के लिए उद्योग कर

मधिकृत्य । अत एव "तर्काऽप्रतिष्ठानात्" इति सूत्रितं भगवता व्यासेन । अत एव स्तुतिकुसुमाञ्जलावुक्तम्—

तर्ककर्कशगिरामगोचरं स्वाऽनुभूतिसमयैकसाक्षिणम् ।
मीलिताऽखिलविकल्पविप्लवं पारमेश्वरमुपास्महे महः ॥

अत एव पञ्चस्तव्यामप्येवं प्रार्थितम्—

मिथः केशाकेशि प्रधननिधनास्तर्कघटना
बहुश्रद्धाभक्तिप्रणयविषयाश्चाऽऽप्तविधयः ।
प्रसीद प्रत्यक्षीभव गिरिसुते, देहि शरणं
निरालम्बं चेतः परिलुठति पारिप्लवमिदम् ॥

(प. स्त. 5।6)

अनुकूलस्तु तर्को न निवार्यते । अत एव भगवान् मनुरेवमाह—

आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राऽविरोधिना ।
यस्तर्केणाऽनुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥

(मनु. 12।106)

एवं च परिपूर्णशिवस्यालौकिककान्तिविषयेऽत्र न शङ्काऽवकाशलेशोऽपीति तद्विषये समाधानस्याऽप्यनवसर एव । भवतु । लोके या कान्तिः क्रियते इत्यनेन लौकिककान्तेर्लोकपरतन्त्रता, तया च दोषगुणाऽऽसज्जनं च लोककर्तृकं ध्वन्यते । अत्रेदं बोध्यम्—सर्वोऽपि जीवलोकः पशुरिति न पूर्णकाम इति कामनां पूरयितुमुपयुङ्क्ते कामनापूरणे न शान्तिस्तया च सुखं भवति । शान्तिः खलु कामधेनुरिव सर्वान् कामान् प्रददाति । उक्तमप्यत एवाऽभियुक्तैः—'सन्तोषो नन्दनवनं शान्तिरेव हि कामधुक् । इति । उक्तमप्यत एवाऽन्यत्र "अशान्तस्य कुतः सुखम्" इति । आशंसापूरणेन शान्तिर्भवति इत्यप्यसकृदुक्तमेव । आशसापूरणं च स्वराष्ट्रस्वातन्त्र्यायत्तमित्यप्युक्तमेव । तच्च यदा राष्ट्रस्वातन्त्र्यं

रहा है, क्योंकि कामनापूर्ति से ही शान्ति तथा सुख होता है । कहा भी है कि अशान्त को सुख कहां होता है ? आशंसा की पूर्ति होने से शान्ति मिलती है ।

नास्ति तदैव क्रान्तेः सम्भावना भवति । अत एव साऽऽर्यत्वप्राप्तिमुद्दिश्य प्रवर्तते । अत एव सा क्रान्तिरार्येति सङ्क्रान्तिरित्युक्ता पूर्वम् । सा किल द्विविधेत्युक्तं पूर्वम् । तत्र निग्रहप्राधान्यमनुग्रहप्राधान्यं च गौणमुख्यभावेन भवत्येव । निग्रहणं चाऽऽततायिनामेवाऽभीष्टं तत्र । अनुग्रहणं च साधूनामित्यपि विदितमेव आततायिनां दण्डनं तु द्वयोरपि क्रान्त्योर्वर्तत एवेति तु स्फुटमेव । अत्रेदं बोध्यम् - आयः=प्राप्तिः सोऽपि आसमन्तात्ततः=विस्तृतः सः निन्दितो येषां ते आततायिनः, अत्र निन्दायां मत्वर्थ इनि प्रत्ययः । आततायिशब्दो निरूढः खल्वनार्यविधया योगक्षेमकर्तृषु । आयशब्दो न केवलमप्राप्तप्रापणपरोऽपि तु लब्धपरिपालनपरोऽपि । एतेनाऽन्यायप्राप्तस्य न्यायेन परिपालन कर्तृणामप्याततायित्वमेव भवतीति ध्वन्यते । एवं च द्विविधानामपि तेषामाततायिनां दण्डनं ध्वन्यते । एवं चाऽर्यानुग्रहणं वा प्रधानमस्त्वनार्यनिग्रहणं वा प्रधानं भवतु समस्तविधाऽऽततायिदण्डनं त्वावश्यकमेव । अत एव भगवान्वासुदेवोऽप्याह पार्थं प्रति—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ।। (गी. 4।8)

सेयं लोकद्वयशुभावहा । वर्तमानभविष्यल्लोकद्वयविषयकमपि कल्याणमेवाऽऽवहति । भूतं तु भूतमेवेति तन्न चर्चामास्कन्दति । आततायिदण्डनमन्तरेण नैहलौकिकं पारलौकिकं वा कल्याणं साधयितुं शक्यते । अत एव भगवानप्याहाऽर्जुनं प्रति--

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ।। (गी. 2।38)

यतः खल्वियं शान्तिदायिनी शान्तिदानशीला क्रान्तिस्तत एव च श्रेष्ठाऽपीयमेव । या लोकद्वयसाधिनी सुचतुरा सा चातुरी चातुरी इति

जब राष्ट्र स्वतन्त्र हो, तब आशंसा की पूर्ति होती है । जब राष्ट्र स्वतन्त्र नहीं होता, तब क्रान्ति की सम्भावना होती है । वह आर्य क्रान्ति ही सङ्क्रान्ति है । ऐसा पहले कहा गया है ।

नोत्या यस्याः कान्तेः सर्वत्र कल्याणाऽऽवहत्वं तस्याः श्रेष्ठत्वमुचितमेव । शान्तिदायिनीत्यनेनाऽस्याः कान्तेरार्याऽनार्यसाधारण्येन शान्तिदानमुक्तम् । अत एव समदर्शित्वमेतत् कान्तिकारिणामार्याणामनार्याऽपेक्षया । अत एवाततायिदण्डनमप्याततायिनां च परिणामे लोकद्वयशुभावहं शान्तिदायकं चेति श्रैष्ठ्येऽतीव समुचितत्वं बोधयति । अत एवाऽऽर्येषु वैषम्यनैर्घृण्ये न सम्भवतः साऽपेक्षत्वात्तयोः । उक्तं चैतत्परमार्थपरब्रह्मविचाराऽवसरे भगवता व्यासेनाऽपि - "वैषम्यनैर्घृण्ये न साऽपेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति' इति । अत एवाऽऽततायितामापन्नानां बालवृद्धाऽऽतुरगुर्वादीनां दण्डनमेवोक्तं मन्वादिभिः । तथा हि –

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा तपस्विनम् ।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाऽविचारयन् ।।
(मनु. 8।350)

अत एव च ते नैवाऽऽततायिनां वधे दोषाऽभावोऽपि प्रतिपादितः । तथा हि –

नाऽऽततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ।
प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमृच्छति ।।
(मनु. 8।351)

आततायिनां दण्डनमेवाऽनुग्रहः सर्वेषामत एव मार्कण्डेयपुराणे सप्तशतीस्तोत्रे प्रोक्तमिदम्--

दुर्वृत्तवृत्तशमनं तव देवि शीलं ।
रूपं तथैतदविचिन्त्यमतुल्यमन्यैः ।।
वीर्यं च हन्तृ हृतदेव पराक्रमाणां ।
वैरिष्वपि प्रकटितैव दया त्वयेत्थम् ।। (स 4।20)

यह भी कहा गया है कि निग्रह-अनुग्रह भेद से द्विविध क्रान्ति है। आततायियों का निग्रह और साधुओं का अनुग्रह अभीष्ट है। आततायियों को दण्ड देना दोनों क्रान्तियों में है। इस प्रकार आर्यानुग्रह प्रधान हो या अनार्यनिग्रह, आततायियों को दण्ड देना आवश्यक है। इसके बिना ऐहलौकिक तथा पारलौकिक कल्याण सिद्ध नहीं किया जा सकता है।

त्रैलोक्यमेतदखिलं रिपुनाशनेन
त्रातं त्वया समरमूर्धनि तेऽपि हत्वा ।
नीता दिवं रिपुगणा भयमप्यपास्त-
मस्माकमुन्मदसुरारिभवं नमस्ते । (स. 4।22)

किं चात्रेदमप्याकलनीयमेव—अनार्यनिग्रहणं खलु न केवलमार्या एवेहन्ते तत्त्वनार्या अपीहन्त एव । अनार्या बुभुक्षापूरणायेहन्ते, आर्याश्चाऽऽशंसापूरणायेत्यन्यदेतत् । एवं च समस्तजीवजातस्य शान्तिदायिनी, समस्तजीवलोकस्य लोकद्वयेऽपि कल्याणकारिणी च सा श्रेष्ठा क्रान्तिः, या लोक आततायिनां दण्डनाय क्रियते इति सुष्ठूक्तम् । 'दण्डनायाऽऽततायिनाम्' इत्यनेन 'शान्तिदायिनी' इत्यनेन च द्विविधाऽपि 'सङ्क्रान्तिः' श्रेष्ठेति ध्वनितमित्यलम् ।।90।।

एवं सङ्क्रान्तिः श्रेष्ठेति हेतूपन्यासपुरःसरं समर्थिता । सम्प्रति तत्प्रतिपक्षभूता किङ्क्रान्तिरपि निरूपणीयैव । उक्तमप्यत एव नीतिविशारदैरेवम्—

उपायं चिन्तयेत्प्राज्ञस्तथाऽपायं च चिन्तयेत् ।

एवमभिप्रेत्य दुष्टक्रान्तिमपि वर्णयितुमेवमाह—

राष्ट्रान्तरेषु क्रियते दुष्टैः क्रान्तिरराष्ट्रियैः ।
अशान्तिकारिणी दुष्टा सा लोकद्वयनाशिनी ।।91।।

राष्ट्रान्तरेष्विति । दुष्टैः—अराष्ट्रियैः—राष्ट्रान्तरेषु—सा—लोकद्वयनाशिनी—दुष्टा—अशान्तिकारिणी—क्रान्तिः—क्रियते । इति पदयोजनिका ।

'दुष्टैः'=दोषवद्भिः विकृतिमापन्नैरिति यावत् । 'अराष्ट्रियैः'= राष्ट्रस्य चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धिभिन्नैरित्यर्थः । 'राष्ट्रान्तरेषु'=स्व-

---

यह शान्तिदायिनी क्रान्ति ही श्रेष्ठ क्रान्ति है । जो क्रान्ति सर्वत्र कल्याण करने वाली है, वही तो श्रेष्ठ हो सकती है । मनु ने कहा है कि आततायी का वध करने में कोई दोष नहीं है । जो क्रान्ति आततायियों को दण्ड देने में प्रयुक्त होती है, जो समस्त जीवलोक का कल्याण करने वाली है, वही क्रान्ति कल्याणकारिणी एवं श्रेष्ठ क्रान्ति है ।

राष्ट्रभिन्नेषु 'सा'=श्रेष्ठत्वेनोक्ता वर्ण्यमाना च। 'लोकद्वयनाशिनी'—वर्तमानभविष्यत्प्राप्येति द्विविधलोकस्य नाशिनी। प्राप्यश्च लोको यद्यपि नरकोऽपि सम्भवति तथाऽपि तस्य नाऽत्र ग्रहणम्। यतो नरकः केनाऽपि जीवेन नोपादेयतयेष्यते। अतश्च उत्कृष्टलोकस्यैव ग्रहणमिति। अत एव लोकद्वयमित्येवोक्तं न त्रयमिति। एवं च वर्तमानस्योत्कृष्टस्य लोकस्य प्राप्यस्याऽप्युत्कृष्टस्यैव लोकस्य नाशिनी। ताच्छील्यणिनिमाश्रित्य स्वभावेन लोकद्वयनाशकारिणीत्यपि व्याख्यातुं शक्यते। 'दुष्टा' =हेयफलप्रदतया दुष्टा 'अशान्तिकारिणी'—अशान्तिः=शान्तिविरुद्धावृत्तिरशान्तिः सा च बुभुक्षा भवतीति न वक्तव्यान्तरमपेक्षते। असकृदुक्तत्वात्। तां करोति=उत्पादयति "कर्मण्यण्" (पा. सू. 3/2/1) इत्यण्। ताच्छील्ये णिनिरेव वा। 'क्रान्तिः'=परिवर्तनं 'क्रियते'=विधीयते। इति। अत्रेदमाकूतम्—पूर्वस्यां कारिकायां सङ्क्रान्तिः श्रेष्ठेत्युक्तम्। तस्या उद्देशश्च "दण्डनायाऽऽततायिनाम्" इत्युक्तः। अत्र पुनः किङ्क्रान्तौ दण्डनायाऽऽततायिनामिति न सम्भवति। यतो नानार्यजुष्टिस्तस्यां सम्भवति सङ्क्रान्तौ। अत एव नोद्देशोऽत्र किङ्क्रान्तौ स्पष्टमुक्तः। ननु निष्प्रयोजनस्तु व्यापारो न मूर्खस्याऽपि सम्भवतीति किमर्थं किङ्क्रान्तिः क्रियते। दृश्यते च सर्वत्राऽपि क्रियमाणा किङ्क्रान्तिरिति शङ्कां मनसि विभाव्यैव हेतुगर्भं विशेषणमुपात्तं 'दुष्टैः' इति। अयमर्थः—सर्वोऽपि जीवलोकव्यापारः सुखसमभीप्सयैव भवतीत्यसकृदुक्तमेव। सुखं च शान्तिमन्तरा नैव सम्भवतीत्यपि विदितमेव विदुषाम्। एवं चोद्देशस्तु शान्तिप्राप्तिरेवाऽनार्याणामपि निश्चयेनाऽवगम्यते। परन्तु विकृतिं गतास्ते कुतः शान्तिमाप्नुयुः। शान्तिस्त्वाशंसूनामेव सम्भाव्यते न बुभुक्षू-

---

अब अशान्तिकारिणी किङ्क्रान्ति या दुष्ट क्रान्ति का निरूपण किया जा रहा है—

राष्ट्रान्तरेषु क्रियते दुष्टैः क्रान्तिरराष्ट्रियैः।
अशान्तकारिणी दुष्टा सा लोकद्वयनाशिनी ॥91॥

दुष्ट अराष्ट्रियों द्वारा अन्य राष्ट्रों में (जो) क्रान्ति की जाती है, वह दुष्ट (क्रान्ति) अशान्तिकारिणी तथा इस लोक और परलोक का नाश करने वाली है।

णामित्यसकृदावेदितमेव। यतः खलु शान्तिः कामनापूरणेनैव भवति पूरणं च कामनायास्तस्या आशंसारूपमवगाहमानायामेव सम्भावनीयम्। बुभुक्षाशय्यामधिशयानायां पुनस्तस्यां कामनायां पूरणं नैव सम्भाव्यते। अत एवैतादृशकामनाया हननमेवोचितमित्युक्तम्। बुभुक्षायाः शान्तिर्न पुनः सम्भवतीत्युक्तं मनुना यथा--

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाऽभिवर्द्धते॥

(मनु. 2।94)

बुभुक्षाया हननविषये भगवान् **श्रीकृष्ण** एवमाहार्जुनं प्रति **श्रीगीतासु**--

जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्। (गी. 3।43)

एवं च दुष्टानां खलु बुभुक्षास्वाभाव्यात् शान्त्यै प्रयतमाना भोगान् भोक्तुमिच्छन्ति त इति न जात्वपि शान्तिमायान्ति। यतः खलु भोगवासनाया अन्त एव नास्ति। दुष वैकृत्ये। विकृतिश्च बहिर्भावश्चेति पर्यायान्तरम्। बहिर्मुखविषयाऽवबद्धो जीव इति सङ्कुचित इति। निरन्तरं पारतन्त्र्यनिगडितं इति तृप्तिं न लभते। यतो नैव आत्मानं साक्षात्कर्तुं प्रभवति। शान्तिः किल न कामकामिनां जात्वपि सम्भाव्यते इत्युक्तमेव **श्रीगीतासु**। दोषवतां किलाऽयमेव दोषो यत्तेऽन्यथाबुद्धयः। विषयाऽभिमुखा एव भवन्तो मन्यन्ते यद्वयमात्मानं जानीम इति। अयमर्थः--ते हि मूलप्रकृतेर्बहिर्भूता विकृतिभावमापन्नास्तत्तद्विकृतिमेव

पूर्वकारिका में शान्तिकारिणी श्रेष्ठ क्रान्ति का निरूपण किया गया था। सुख शान्ति के विना नहीं होता और शान्ति सभी को, अनार्यों को भी अभीष्ट है, परन्तु जो विकृति को प्राप्त हो चुके हैं, वे कैसे शान्ति प्राप्त कर सकते हैं ? आशंसा वालों को ही शान्ति प्राप्त होती है, बुभुक्षा वालों को नहीं। कामना की पूर्ति से ही शान्ति होती है, किन्तु वास्तव में कामना की पूर्तिमयी शान्ति तो कभी हो ही नहीं सकती है। अतः ऐसी कामना का हनन ही उचित है। भोगवासनाओं का अन्त ही नहीं है। विकृति स्वयं ही एक बहिर्भाव है। जीव

समीहमाना ग्रात्मतया न ज्ञातुं पश्यन्ति स्वभावम् । ग्रत एव भगवतीं महाशक्तिं समस्तराष्ट्रचैतन्यभूतां ब्रह्मादयोऽपि बहिर्मुखा न द्रष्टुं प्रभवन्तीत्युक्तं मार्कण्डेयपुराणे सप्तशतीस्तवे—

हेतुः समस्तजगतां त्रिगुणाऽपि दोषै-
र्न ज्ञायसे हरिहरादिभिरप्यपारा ।।
सर्वाश्रयाऽखिलमिदं जगदंशभूत-
मव्याकृता हि परमा प्रकृतिस्त्वमाद्या ।। (स. 4।7)

ग्रन्यथाबुद्धिमत्त्वं, सङ्कुचितत्वं चाऽयं महान् दोषस्तेन युक्ता इमे । ग्रत एव उद्देशाऽननुकूलप्रयत्नकारिण इति दुष्टास्तेन नाऽत्रोद्देशकथनं युक्तमिति ध्वन्यते । यदि चोद्देशकथने एवाग्रहस्तदा दूषणमेवोद्देशः स्वीकर्तव्यः । ग्रयमर्थः—शान्तिभङ्ग एव दुष्टानामुद्देश्यमिति । ग्रत एव वस्तुतः शान्ति-प्राप्त्यै, बुद्धिशोधनमावश्यकम् । ग्रत एव श्रीमद्देवीभागवते व्यासेन भगवतैवं प्रारम्भे एव मङ्गलाचरणमिषेण प्रार्थितम्—

सर्वचैतन्यरूपां तामाद्यां विद्यां च धीमहि ।
बुद्धिं या नः प्रचोदयात् ।। (दे. भा. 1।1।1)

एवं हि संशोधितबुद्धयो यथायथाऽन्तर्मुखा व्यापकतामधिगतास्तत्प्रकृतिमालोचयन्तो विषयविमुक्ताः स्वभावोन्मुखा भवन्ति तथा तथा निर्दोषा गुणवन्तो भूत्वा स्वमूलप्रकृतिस्वभावं पश्यन्ति । तथा च तत्र कामनापूरणवशेन शान्तिमप्यापद्यन्ते । तस्मात् दुष्टैः क्रियमाणा क्रान्तिर्न शान्तिं गमयितुं प्रभवतीति दुष्टा इति किङ्क्रान्तिरित्युच्यते ।

भी बहिर्मुख विषयों में अवबद्ध है । यह जीव निरन्तर परतन्त्रता की शृंखला में बंधा हुआ है । अतः यह कभी तृप्त नहीं होता तथा आत्मा का साक्षात्कार भी नहीं कर पाता । निश्चय ही कामकामियों को शान्ति नहीं मिलती । दुष्ट लोगों का केवल यही तो दोष है कि वे बुद्धि रहित किम्वा अन्यथाबुद्धि होते हैं । वे मूल प्रकृति से बहिर्भूत होते हैं, विकृतिभाव को प्राप्त होते हैं और विकृति की ही कामना करते हुए स्वभाव को नहीं जान पाते हैं । शान्ति-भंग करना ही दुष्टों का उद्देश्य है ।

अथ दुष्टाः खल्वराष्ट्रिया भवन्ति इत्यग्रेऽनुपदमेव वक्ष्यते एव । अत्रेदं बोध्यम्—दुष्टैः क्रियमाणा क्रान्तिर्दुष्टा इति निर्णयः क्रान्तिः खलु भगवती स्वयं न दुष्यति किन्तु दुष्टोपासिता सती दुष्यतीवेति दुष्टा इत्युच्यते । अत एव सप्तशतीस्तवेऽप्युक्तम्—

> या श्रीः स्वयं सुकृतिनां भवनेष्वलक्ष्मी ।
> पापात्मनां कृतधियां हृदयेषु बुद्धिः ।।
> श्रद्धा सतां कुलजनप्रभवस्य लज्जा ।
> तां त्वां नताः स्म परिपालय देवि विश्वम् ।। (स. 4।4)

भवतु, अराष्ट्रियाः खलु राष्ट्रान्तरविषये दुष्टा एव भवन्ति कारणमत्रत्मनुपदमेव वक्ष्यते एवं च स्वाऽतिरिक्तेषु राष्ट्रेषु अराष्ट्रियैः दुष्टैर्वा क्रान्तिः क्रियते सा दुष्टा । अराष्ट्रियाणां राष्ट्रान्तरेषु दुष्टत्वस्य स्वाभाव्यात् । किमर्थं पुनरुक्तं दुष्टैरिति चेदत्रैवं समादधीम :—अराष्ट्रियाः खलु सर्वे दुष्टा एवेत्येकान्तेन सिद्धान्तेन किन्तु प्रायिकः । अयमर्थः—आर्यवादिनः राज्यवाद्यपरपर्यायाः स्वराष्ट्रे प्रायो न दुष्टाः परंतु त एव अनार्यराज्यवादं प्रपन्ना व्यक्तिवाद्यपरपर्याया दुष्टा भवन्ति । इति तेषां द्विविधानामपि सङ्ग्रहायोक्तं दुष्टैरिति । अथ वा स्वराष्ट्रविषये अदुष्टत्वेऽपि राष्ट्रान्तरविषये दुष्टतां गतैः या क्रान्तिः क्रियते । इति । एतेन अदुष्टैरपि राष्ट्रान्तरेषु क्रान्तिकरणे दुष्टत्वं गम्यते इति ध्वन्यते । वस्तुतस्तु आर्यराष्ट्रवादिनो विहायैव राष्ट्रान्तराक्रमणकारित्वसम्भवात् तेषां च राष्ट्रान्तरेषु च दुष्टत्वाऽवश्यं भावस्वाभाव्यात् दुष्टैरिति युक्तमेवेत्यत्राऽतिशयध्वननाय तथोक्तिरिति निर्बाधः सिद्धान्तः ।

अतः वास्तव में शान्ति-प्राप्ति के लिए बुद्धि का शोधन आवश्यक है। अराष्ट्रिय दूसरे राष्ट्रों के विषय में दुष्ट होते हैं। दुष्टों के द्वारा की जाने वाली क्रान्ति दुष्ट होती है। वह शान्ति को प्राप्त नहीं करा सकती है। वह दोनों लोकों को नष्ट कर देती है। ऐहिक और पारलौकिक सुख को नष्ट करती है। श्रेष्ठों द्वारा अन्य राष्ट्रों में क्रान्ति करना भी दुष्टता ही है। यह अशान्तिकारिणी क्रान्ति इहलोक तथा परलोक का विनाश करने वाली है। शुभाशुभ कर्म का फल

सा खलु क्रान्तिर्लोकद्वयमपि स्वभावेन नाशयति ऐहिकं पारलौकिक च सुखं नाशयति। अत्र द्वेधाऽपि व्याख्यातुं शक्यते—तथाहि—यस्मिन्नेव स्वाऽतिरिक्ते राष्ट्रे दुष्टैरराष्ट्रियैः क्रान्तिः क्रियते तद्राष्ट्रस्य लोकद्वयं तया क्रान्त्या नाश्यते। अयमर्थः—अराष्ट्रियकराक्रान्तं तद्राष्ट्रं परतन्त्रतामागतं पारतन्त्र्यवशात् न धर्मार्थकाममोक्षेति चतुर्विधाऽन्यक्षममपि पुरुषार्थं सम्पादयितुं प्रभवति। जडप्रायत्वात्। अकर्तृत्वाच्च। स्वतन्त्रस्यैव कर्तृत्वस्मरणात्। यथाह शालातुरीय आचार्यो व्याकरणतन्त्रे—"स्वतन्त्रः कर्ता" (पा. सू. 1/4/54) इति। अनुभूद्भूतेश्च तत्त्वदर्शिनाम्। अत एवोपनिषत्स्वपि "एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य इमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः" इति। अत एव न पारलौकिकमपि सुखं साधयितुं प्रभवति किं च पारतन्त्र्यात् आशंसापूर्णायामक्षम बुभुक्षितभावमेत्य नानाविधपापाचारपरायणं भवति। तथाविधं च सन्नश्यत्यचिरेणैवेति लोकद्वयनाशिनी तद्राष्ट्रस्य सा क्रान्तिः। अथ स्वाऽतिरिक्तराष्ट्रे दुष्टा अराष्ट्रियाः क्रान्तिं कुर्वाणा लोकद्वयनाशं प्राप्नुवन्ति। अयमर्थ :—दुष्टाराष्ट्रियैः कृता राष्ट्रान्तरेऽपि क्रान्तिः दुष्टतया बुभुक्षितान् बुभक्षारूपा भूत्वा भुङ्क्ते। अयमर्थ :—बुभुक्षा हि वृद्धिं गता परस्परं भुङ्क्त एवाऽवश्यम्। यद् राष्ट्रं भोक्तुमिच्छन्ति भुञ्जते वा तदेव बुभुक्षयाऽऽक्रान्तं प्रतिक्रान्त्या भुङ्क्ते। भोक्तॄनेव प्रति क्रान्त्या भुङ्क्त इत्यर्थः। प्रतिक्रान्त्या विनाशमेतीत्यर्थः। जातु तदसामर्थ्येऽपि दुष्टानामराष्ट्रियाणां क्रान्तिकारिणामकीर्त्या परलोकनाशं विदधाना, ऐहलौकिकभोगांश्च नानाविधतया विरुणद्धि त्ववश्यमेव। एवं चाऽऽर्यानाऽऽर्यसमस्तजन-

---

अवश्य भोगना पड़ता है। भोक्ता के लिए भोग ही प्रबल है। अशान्ति परतन्त्रता को ही प्रदान करती है। इसीलिए इसे दुष्ट कहा गया है। अशान्तिकारिणी यह दुष्ट क्रान्ति भी दो प्रकार की है—आर्यपु युगयोगक्षेमसाधनरूपा सङ्क्रान्ति जो विज्ञानाधिक्य से सुखप्रद होती है और आर्य स्त्री युग योगक्षेम साधन रूपा सङ्क्रान्ति जो ज्ञानाधिक्य से पूर्णकल्प सुखप्रद होती है। तथा अनार्यपुंयुग योगक्षेमसाधनरूपा किङ्क्रान्ति जो क्रियाधिक्य से दुःखकारिणी

जातस्याऽपि लोकद्वयनाशिनी कान्तिरियम्। अत्रैव हेतुं प्रदर्शयति—अशान्तिकारिणीति। अयमर्थो बोध्योऽत्र—शान्तिश्च सकलजीवलोकस्योपादेयतया सर्वदा समभीप्साविषयेत्यसकृदावेदितमस्माभिस्तत्र तत्र। शान्तिविरुद्धा चाऽशान्तिः। अत एव सा सकलजीवलोकस्य विजिहास्यतयैव सर्वदा समभीप्साविषया सम्पद्यते। तां चेयं दुष्टैरराष्ट्रियैः कृता क्रान्तिः करोति स्वभावमहिम्ना। अयं भावः विजिहास्याऽपि पारवश्येनाऽशान्तिरूपं भोगं भोजयति। अत एवोक्तमप्यन्यत्र—

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाऽशुभम्।

अकामेनाऽपि भोक्तव्या भवति सा। एतदेवाऽभिप्रेत्य योगवरो भर्तृहरिरप्याह—

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्तास्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।
कालो न यातो वयमेव यातास्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः॥

यत्र भोग एव प्रबलो भोक्तुस्तत्र भोगस्यैव स्वातन्त्र्यात् कर्तृत्वमुचितमिति भावः। एतेनाऽशान्तिः खलु पारतन्त्र्यमेव प्रददाति स्वसेवकमपीति द्योत्यते। अत एवेयं दुष्टा इत्याख्यायते। अस्माभिरियं 'किङ्क्रान्तिः' इति सङ्केतिता। अत्र कारिकायां य यच्छब्दोपादानमन्तरेणैव तत्पदोपादानं दुष्टानामनार्याणामराष्ट्रियाणामयं स्वभाव एव यत्समस्तलोकोद्दिष्टमुपादेयमपि हन्तव्यमेव। साकमेव स्वोपादित्सितव्यस्याऽपि परिणामे। कारिणीमित्यनेन च क्रियाशक्तिप्राबल्यं सूचितम् एतेन क्रियाशक्तियोगक्षेमपरायणानां ज्ञानशक्त्यनुद्रेका-

---

होती है। अनार्य स्त्रीयुग योगक्षेमसाधनरूपा किङ्कान्ति विक्रिया के आधिक्य से दुःखकारी होती है।

अब अराष्ट्रिय आततायियों का कारण निर्देशपूर्वक निरूपण किया जा रहा है—

अराष्ट्रियैराक्रमणं प्रायो राष्ट्रान्तरेषु यत्।
क्रियते लोभतस्तस्मात्ते भवन्त्याततायिनः ॥92॥

दशान्तत्वमेव नियतमिति द्योत्यते । अत एव श्रेष्ठक्रान्तेः 'शान्तिदायिनी' इत्येवं वर्णनमाऽऽचरितम् । तेन च तत्र ज्ञानशक्तियोगक्षेमपरायणानां क्रियाशक्तिमभिभूय ज्ञानशक्त्युद्रेकाच्च शान्तत्वमेव नियतमिति द्योतितम् । ज्ञानक्रियाशक्तिलक्षणं यथा मालिनीविजयतन्त्रे समुपात्तम् । तथा हि—

एवमेतदिति ज्ञेयं नान्यथेति सुनिश्चितम् ।
ज्ञापयन्ती जगत्यत्र ज्ञानशक्तिर्निगद्यते ।।
एवम्भूतमिदं वस्तु भवत्विति यदा पुनः ।
जाता तद्वैव तत्तद्वत्कुर्वत्यत्र क्रियोच्यते ।।

अत्रेदं च बोध्यम्—पूर्वस्यां कारिकायां यथा शान्तिदायिनो पदेन द्विविधाऽपि श्रेष्ठा क्रान्तिः सङ्गृहीता तथैवाऽत्र 'दुष्टैः' इति हेतुगर्भविशेषणेन 'अशान्तिकारिणी' इति पदेन च द्विविधाऽपि दुष्टा क्रान्तिः सङ्गृह्यते । एवं चार्यपुंयुगयोगक्षेमसाधनरूपा सङ्क्रान्तिः व्यावहारिकपूर्णसुखप्रदा विज्ञानाधिक्यात् आर्यस्त्रीयुगयोगक्षेमसाधनरूपा सङ्क्रान्तिः पूर्णकल्पसुखप्रदा ज्ञानाधिक्यात्. अनार्यपुंयुगयोगक्षेमसाधनरूपा किङ्क्रान्तिः दुःखकरक्रियाधिक्यात्, अनार्यस्त्रीयुगयोगक्षेमसाधनरूपा किङ्क्रान्तिरति दुःखकरो विक्रियाऽधिक्यात् । इति सर्वमपि यथायथ स्थापितम् । इयमेव चतुर्युगीव्यवस्थाऽपि स्तुतिविषया क्रान्तिः सेवनीयत्वेन, निन्दाविषया च क्रान्तिर्हेयत्वेन बोध्यते मीमांसा नीत्या इति तु बोध्यमेवेति सङ्क्रान्तिः किङ्क्रान्तिश्च यथायथं निर्णीता । अलमनेन ।।91।।

अराष्ट्रियों द्वारा अन्य राष्ट्रों में जो आक्रमण होता है, वह प्रायः लोभवश किया जाता है, इसीलिए वे (अराष्ट्रिय) आततायी होते हैं । समस्त राष्ट्र में अपने राष्ट्र का योगक्षेम सम्पन्न करना स्वाभाविक है । व्यावहारिक पूर्ण शान्ति स्थापित करने वाले आर्य राष्ट्रवादियों का यही सिद्धान्त है । दूसरे लोगों का सिद्धान्त अशान्ति कारक होने से उपेक्षणीय है ।

अनार्य विकृतिप्रधान होने से अशान्ति करने वाले होते हैं, अतः उनका

प्रथमं "अराष्ट्रियकृताम्" (रा. 84) इत्यनया कारिकया अराष्ट्रियकृतक्रान्तेः सहनं राष्ट्रघातित्वयापकमिति प्रतिपादितम् । तत्पूर्वं च राष्ट्रस्वातन्त्र्ययोगक्षेमार्थं प्रभाविनी राष्ट्रशक्तिरेवैका प्रभवतीति "स्वातन्त्र्यं भिक्षया" (रा 82) इत्यनया प्रतिपाद्य तस्यास्तिस्रोऽपि भिदाः प्रयत्नेन सेवनीया इत्यपि "राष्ट्रकाली" (रा 83) इत्यनया प्रतिपादितम् । अनन्तरं च प्रसक्तानुप्रसक्तिकया शान्तिनिर्णयं (रा. 85) लोभाऽभिभूतानामाक्रमणकारिणामायगर्हितत्वं (रा. 86) प्रतिपादितम् । ततश्च पुनरपि मध्ये प्रसक्ताऽनुप्रसक्तमार्याऽनार्यविवेकं (रा 87-88) विधाय पुनरपि पूर्वसूचिता क्रान्तिः "क्रान्तिरुक्ता" (रा. 89) इत्यनया भेदप्रभेदवती उपक्रान्तिः । साऽपि आततायिदण्डनाय क्रियमाणा श्रेष्ठा इत्येव लक्षिता "या क्रान्तिः" (रा. 90) इत्यनया कारिकया । तत्प्रतियोगिभूता च दुष्टा दुष्टैः क्रियमाणा 'राष्ट्रान्तरेषु' (रा. 91) इत्यनया निरूपिता । अथेदानीमराष्ट्रियाणामाततायित्वमेव भवति राष्ट्रान्तरेषु क्रान्तिं कुर्वाणानामिति कारणोद्देशोपन्यासपुरःसरं प्रवक्तुमाह—

अराष्ट्रियैराक्रमणं प्रायो राष्ट्रान्तरेषु यत् ।
क्रियते लोभतस्तस्मात्ते भवन्त्याततायिनः ॥92॥

अराष्ट्रियैरिति । अराष्ट्रियैः-- राष्ट्रान्तरेषु—आक्रमणं—यत्—प्रायः—लोभतः क्रियते—तस्मात्—ते—आततायिनः—भवन्ति इति पदयोजनिका ।

अराष्ट्रियैः—पूर्वोक्तलक्षणलक्षितराष्ट्रचतुर्विधसम्बन्धसम्बन्धिविरुद्धैरनार्यैरार्यैर्वा 'राष्ट्रान्तरेषु'=स्वातिरिक्तराष्ट्रेषु, परकीयराष्ट्रे-

---

सिद्धान्त हितकर नहीं होता । जो वस्तु अपनी नहीं है, उसे अपनी बनाने के लिए जो वेग पूर्वक प्रयत्न किया जाता है, वह आक्रमण है । कूटनीति से, प्रतिग्रह से, भिक्षा से जो उपलब्ध होता है, वह वास्तव में अपना नहीं हो सकता है, आक्रमणकर्ता आततायी होते हैं । आक्रमण वस्तुमात्र का होता है । केवल वस्तुओं का अपहरण करना ही आक्रमण नहीं है, उस आक्रमण के लिए शास्त्रादि धारण करना भी आक्रमण ही है । वस्तुप्राप्ति के अभाव में स्वयं का विनाश न करना

ष्विति भावः 'आक्रमणम्—स्वायत्तीकरणोद्योगम् 'यत्'=यस्माद्धेतुतः 'प्रायः—बाहुल्येन 'लोभतः, क्रियते'=वितन्यते 'तस्मात्'=तस्मात् हेतोः 'ते' आक्रमणकारिणः 'आततायिनः'-आततायिपदाऽभिधेया आन्वर्थक्येन 'भवन्ति'=सम्पद्यन्ते । अस्या अयमभिप्रायः—आसमन्तात् विस्तृतयोगक्षमौ निन्द्यौ येषां ते आततायिनो भवन्तीत्याततायिशब्दार्थः पूर्वमावेदितोऽस्माभिः अतश्च । आततायिनां लक्षणमनेनैव वर्णितमिति ध्वनितम् । अराष्ट्रियकृता क्रान्तिः कदाऽपि न सोढव्येत्युक्तं पूर्वम् (रा. 84) इत्यनया कारिकया तत्र । कारणं वक्तव्यमित्यपि प्रोच्यतेऽनया कारिकया तत् । अथ च (रा. 90) इत्यत्र आततायिनां दण्डनमेवोचितमिति प्रतिपादितं ततोऽप्याततायित्वं निर्णेतव्यमेवेत्यस्याः कारिकायाः आरम्भः येषामेव चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धित्वं वर्तते यत्र यत्र राष्ट्रे तत्तद्राष्ट्रं स्वकीयमिति, ततोऽन्यानि च राष्ट्राणि राष्ट्रान्तराणीति नैसर्गिकं तत्त्वम् । समस्तराष्ट्रविरोधेन स्वराष्ट्रयोगक्षेमभावनं सर्वदा कार्यं कर्म स्वाभाविकमिति व्यावहारिकपूर्णशान्तिस्थापकानामार्यराष्ट्रवादिनां सिद्धान्तः । अन्येषां चाऽशान्तिकारकतया उपेक्षणीय एव सिद्धान्तः । अत्रेदं च बोध्यम्—आर्यराज्यवादिनां यद्यपि सिद्धान्तो न पूर्णशान्तिस्थापनायालं भवत्यथाऽपि सङ्घवाद्यपरपर्यायाणामनार्यराष्ट्रवादिनां, व्यक्तिवाद्यपरपर्यायाणामनार्यराज्यवादिनां चाऽपेक्षया शान्तिविकासाऽधिक्यायैव प्रभवति । यतः खल्वार्यराज्यवादिनः प्रकृतिस्था विज्ञानोन्मुखा भवन्ति । अनार्याश्च द्विविधा अपि विकृति-प्राधान्येनाऽशान्तिकरा एवेति तेषां सिद्धान्तो नैव हितकर इत्यपसिद्धान्त एवेत्यु-

---

भी आक्रमण ही है । इस तथ्य को ध्यान में रखकर ही अग्नि देने वाले, विष देने वाले आदि को आततायी कहा गया है । अराष्ट्रिय दूसरे राष्ट्रों में आक्रमण करते हैं, तो उससे उनका आततायित्व ही प्रकट होता है । क्योंकि दूसरे राष्ट्र में स्वत्व नहीं होता । यह ज्ञातव्य हैं कि आर्यविधा से जीवनयापन के लिए जो स्वत्व स्थापित किया जाता है । वह आक्रमण नहीं है ।

लोभ अनार्य वृत्तियों का उपलक्षण है । दूसरे राष्ट्रों में अनार्यविधा से ही

पेक्षणीय एवेति । एवं अस्वं स्वीकर्तुं यः प्रयत्नो रभसाद् भवति तदाक्रमण-मित्युच्यते । अयं भावः—प्रकृतिस्थचेतनाऽनुज्ञामन्तरेण यदेव तदीय वस्त्वपहरणाय प्रयतनं तत्समस्तमप्याक्रमणशब्दवाच्यम् । एतेन कूट-नीत्या प्रतिग्रहरूपेण, भिक्षारूपेणाऽप्युपलब्धं न वस्तुतः स्वं भवितुमर्ह-तीति द्योत्यते । तत्र ह्यनुज्ञायाः सत्त्वेऽपि वस्तुसम्बन्धिनो दातुः प्रकृतिस्थ-चेतनत्वाऽभावात् । किं चेदमपि बोध्यम् । आक्रमणपदेन पूर्वमाक्रान्तस्य परिपालनमप्याक्रमणमेव बोध्यम्, तस्य वस्तुतः स्वत्वाऽभावात् । भवतु । आक्रमणकर्तार आततायिनः इति सर्वथाऽपि सिद्ध्यति । एतच्चाऽऽक्रमणं वस्तुमात्रस्य सम्भवति । अत एव वस्तुमात्राऽऽक्रमणकारिण आततायिन एव । अत एवाऽऽर्यराष्ट्रवादिसंवादिनी श्रुतिरप्येवम्—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किं च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ।।

इदं च बोध्यम्—आक्रमणपदेन न केवलं वस्त्वपहरणमुच्यते । किन्तु तत्सिद्धये शस्त्रादिधारणमप्याक्रमणमेव । अथ तथैव वस्तुप्राप्ते-रभावेऽपि जातु अस्वविनाशममप्याक्रमणमेव । एतदेवाऽभिप्रेत्याऽऽततायिषु अग्निदगरदशस्त्रपाणिनो निर्दिष्टाः । एवं च लक्षणमुपलक्षणमेवाऽऽतता-यिनां न गणननिर्धारणपरं षडेवेति । अराष्ट्रियाः खलु राष्ट्रान्तरेषु यदाक्रमणं कुर्वते तदाततायित्वमेव निर्धारयति तेषामराष्ट्रियाणाम् । राष्ट्रान्तरे स्वत्वाऽनुत्पत्तेः साधितत्वात् । अत्रेदं च बोध्यम्—आर्यविधया जीवनाय यत्स्वत्वं स्थापयितुं शक्यते इति पूर्वमुक्तं तन्नाक्रमणेनेति न स्वपूर्वाऽपरग्रन्थविरोधः । किं च तत्र राष्ट्रान्तरे आर्यविधया जीवनाय

प्रायः आक्रमण सम्भव होता है । उसके कर्ता आततायी होते हैं । अतः आर्यों के लिए यह सर्वथा त्याज्य है ।

अराष्ट्रियों द्वारा दूसरे राष्ट्र पर किए गए आक्रमण में दण्ड देने की भावना से यदि आर्य राष्ट्रवादी या आर्य राज्यवादी आक्रमण करते हैं, तो वह उनका आततायित्व नहीं है । वस्तुतः आशंसा के पूरण के लिए अन्य राष्ट्र पर आक्रमण आततायित्व परक नहीं है । किन्तु बुभुक्षा-पूरण के लिए अन्य राष्ट्र पर आक्रमण

स्वत्वं चतुर्विधमपि स्थापयितुं शक्यते, परंतु तदर्थं राष्ट्रान्तरेण सम्बन्धविच्छेदोऽप्यावश्यक इत्यप्युक्तम्। ततोऽपि युक्तमेवाऽऽक्रमणेन स्वत्वाऽनुत्पत्तिरिति सिद्धान्तप्रतिपादनम्। अस्तु। अत्र कारणमाह—लोभत इति। लोभश्च समस्ताऽनायवृत्तीनामुपलक्षणम्। अनार्यविधयैव प्रायो राष्ट्रान्तरेष्वाक्रमणं सम्भवत्यराष्ट्रियाणां नार्यविधया। यतस्तदार्याणां निरन्तरं विजिहासाविषयम्। अत एव लोभादीनां नरकसाधनत्व निर्दिष्ट भगवता गीतासु। तत्सर्वमस्माभिरनार्यलक्षणाऽवसरे संवादितमेव प्राक्। एवं चाऽनार्यविधया स्वाऽतिरिक्तस्य विनियोग आक्रमणमित्युच्यते तत्कर्तारश्चाऽऽततायिन इति निर्दिश्यन्ते। ततश्च अराष्ट्रिया राष्ट्रान्तरेष्वाक्रमणं यदेव कुर्वन्ति तल्लोभाद्यनार्यस्वभावत एवेति ते आततायिन एव निश्चयेन। अत्रेदं च वोध्यम्—राष्ट्रान्तरशब्द उपलक्षणमात्रं सर्वस्याऽप्यस्वभूतस्य पदार्थस्य। अराष्ट्रियशब्दश्चोपलक्षणमसम्बन्धिमात्रस्य। तेनाऽस्वस्याऽऽक्रामकाः सर्वेऽप्याततायिन एवेति। किं च जातु आर्यराष्ट्रवादिन आराज्यवादिनो वा राष्ट्रान्तरस्थाऽराष्ट्रिये राष्ट्रान्तराऽऽक्रमणे तद्दण्डनाय आक्रामकराष्ट्रे यदाक्रमणं क्रियते किं तदा आर्यराष्ट्रवादिनामार्यराज्यवादिनां वा आततायित्वं भवति इत्यपाकर्तुमाह 'लोभत' इति 'प्राय' इति च। एतेन आशंसापूरणाय' राष्ट्रान्तराऽऽक्रमणं नाऽऽततायित्वप्रापकम्। कि तु बुभुक्षापूरणाय राष्ट्रान्तराऽऽक्रमणमाततायित्वप्रापकमिति ध्वनितम्। अथवैवं कथनीयम्—बुभुक्षाहननाय राष्ट्रान्तराऽऽक्रमणं नाऽऽततायित्वप्रापकं किन्त्वाशंसाहननाय राष्ट्रान्तराऽऽक्रमणमाततायित्वप्रापकमिति ध्वनितम्। इदं च बोध्यम्—येषां चतुर्विधसम्बन्धेन भावितमेकं राष्ट्रमेव नास्ति ते च यत्र निवसन्ति जीवन्ति वा तत्र तत्तदधिकारप्राप्तये तेषामयोग्यतया

आततायित्वपरक होता है। जिस प्रकार आक्रमण करके किसी वस्तु को प्राप्त करना दुष्टता है, उसी प्रकार अन्याय से उपार्जित भोग भी दुष्टता है। अन्य राष्ट्रों पर आक्रमण भी लोभ के वशीभूत होकर ही किया जाता है।

अराष्ट्रिय आततायियों के सम्बन्ध में निरूपण किया जा रहा है—

चेष्टमानानामाततायित्वमेव। तदेवं निर्गलितोऽर्थः :- आततायिनस्तावत् प्रथमं द्विविधाः—स्वबुभुक्षापूरयितारः पराशंसानिहन्तारश्चेति । तत्र पूर्वे पुनर्द्विविधाः—स्वराष्ट्रस्यैवाऽनार्यविधया भोक्तारः परराष्ट्रस्यैवाऽनार्य-विधया च भोक्तारः परराष्ट्रस्यैवाऽनार्यविधया च भोक्तारः इति । पराऽऽ-शंसानिहन्तारोऽपि द्विविधाः—स्वराष्ट्रे एव पराशंसानिहन्तारः, पर-राष्ट्रे एव पराऽऽशंसानिहन्तार इति । एते सर्वेऽपि तारतम्येनाऽऽतता-यिन एव भवन्तीति सर्वेऽपि दण्डनीया एव । सर्वेष्वपि लोभाद्यनार्यवृत्ति-सम्बन्धात् उद्देशस्य दुष्टत्वात् । यत्र च नाऽनार्यवृत्तिसम्बन्धस्तेषां नाऽऽततायित्वं जात्वपि राष्ट्रान्तरेष्वपि तत्कृता क्रान्तिः सङ्क्रान्तिः रेव न किङ्क्रान्तिः । सा चाऽवश्यं विधेयेत्यप्यनुपदमेव वक्ष्यते । अत एवैतदराष्ट्रियकृतक्रान्तिसहनं नोचितमित्युक्तं पूर्वम् । अथ चेदमवगन्त-व्यमेव—सर्वेऽप्याततायिन उक्तास्ते पुनरपि द्विविधाः सर्वेऽपि प्रापका भोक्तारश्चेति । अयमर्थः-यथा खल्वाक्रम्य प्रापणं दुष्टं तथैवाऽन्यायार्जि-तस्य भोगोऽपि दुष्ट एवेति सर्वेऽप्याततायिनः एवेति । किं चैतेषां मनोवाक्-कायकर्मभिः सहायानामप्याततायित्वमेवेत्यलम् ॥92॥

अराष्ट्रियाः खलु राष्ट्रान्तरेष्वाक्रमणं कुर्वाणा आततायिनो भवन्ति । लोभाद्यनार्यवृत्तिमन्तरा परकीयवस्तुष्वाक्रमणस्याऽसम्भवात् । इत्यु-क्तम् । क्वचिच्च लोभाद्यन्तरेणाऽपि परकीयवस्तुष्वाक्रमण सम्भवतीत्य-प्युक्तम् । अथेदानीं "लाभाल्लोभः प्रवर्धते" इति न्यायेन पूर्वं जात्वार्यविषयाऽऽक्रमणेऽपि पश्चादाततायित्वमवश्यमुत्पद्यते । अथ च गुणवत्तयाऽप्याक्रामकानां जातु धनप्रभुत्वलोभस्त्वतीव दुष्परिहर

सहस्रगुणवन्तोऽपि बुद्धिमन्तोऽप्यराष्ट्रियाः ।
धनप्रभुत्वलोभेन भवन्त्येवाऽऽततायिनः ॥93॥

अराष्ट्रियों में भले ही हजार गुण हों, वे भले ही बुद्धिमान् हों, धन और प्रभुत्व के लोभ से वे आततायी हो जाते हैं ।

समस्त कामनाओं को सिद्ध करने वाले स्वर्ण, रूप्यक आदि धन हैं । आदेश देना प्रभुत्व कहलाता है । अराष्ट्रियों में भी प्रशस्त गुण होते हैं, उनमें

इत्यवश्यमेवाऽराष्ट्रिया आततायिनो भवन्तीति सर्वथैवाराष्ट्रियाणा-मातताथित्वं भवतीति दृढीकरणायाह—

सहस्रगुणवन्तोऽपि बुद्धिमन्तोऽप्यराष्ट्रियाः ।
धनप्रभुत्वलोभेन भवन्त्येवाऽऽततायिनः ॥93॥

सहस्रगुणवन्त इति । अराष्ट्रियाः—सहस्रगुणवन्तः—अपि—बुद्धि-मन्तः—अपि—धनप्रभुत्वलोभेन—आततायिनः—भवन्ति एव । इति पदयोजनिका ।

'अराष्ट्रियाः=असकृदुक्तलक्षणाः 'सहस्रगुणवन्तः'=सहस्रं= सहस्रसङ्ख्याकाः गुणाः=शौर्यवीर्यादयः दयादाक्षिण्यादयः प्रशस्ता येषां ते । तथा चाऽहामरः -

मौर्यां द्रव्याश्रिते सत्त्वे शौर्यसन्ध्यादिके गुणः ॥

अपि सम्भावनायामव्ययमेतत् । 'बुद्धिमन्तः'=प्रशस्तबुद्धियुक्ताः 'अपि' सम्भावनायां पूर्ववदेवाऽव्ययम् । तथाऽऽहामरो नामालिङ्गाऽ-नुशासने—

गर्हासमुच्चयप्रश्नशङ्कासम्भावनास्वपि ।

'धनप्रभुत्वलोभेन' – धनं=स्वर्णरूप्यादिकामसाधनम् । प्रभुत्वं= आज्ञापकत्वं द्वयोर्द्वन्द्वः तयोः लोभः=विद्यमानत्वेऽप्यधिकाऽधिको गर्धः एतदुपलक्षितः सर्वोऽप्यनार्यभावः सङ्गृह्यते लोभपदेन । तेन हेतौ तृतीया-ऽत्र । 'आततायिनः'=पूर्वोक्तलक्षणाः 'भवन्ति'=सम्पद्यन्ते । 'एव'= निश्चयेन । अत्रेदमाकूतम् –अराष्ट्रियाणां खलु प्रशस्ताऽतिप्रशस्तगुण-वत्त्वं सम्भाव्यतेऽथ च प्रशस्तबुद्धिमत्त्वमपि सम्भाव्यते परं तु

प्रशस्त बुद्धि भी होती है. वे कामदोष से रहित भी हो सकते हैं, परन्तु उनका आततायी होना असम्भव नहीं है । अन्तिम व्यावहारिक पुरुषार्थ काम है, जिसका उपभोग उन इन्द्रियों द्वारा किया जाता है । स्त्रीपुरुष का परस्पर सम्भोग ही काम है । इस काम की पूर्ति के लिए भी बहुत से लोग आततायी हो जाते हैं । इतिहास इसका साक्षी है कि स्त्रियों के लिए कितने ही महान् आर्य आततायी हो चुके हैं । कितने ही राष्ट्र अथवा राज्य नष्ट हो चुके हैं ।

आततायित्वं तु न निश्चयेन असम्भावयितुं शक्यते । अयमर्थः—आक्र-
मणकाले जातु लोभाद्यनार्यवृत्तेरनुदयेऽपि पश्चादाक्रमणस्य राष्ट्रान्तरे-
ऽराष्ट्रियाणामाततायित्वमवश्यमेव सम्पद्यते । तत्राऽपि प्रशस्तबुद्धिमत्वं
न निवार्यतेऽस्माभिः । अथ च प्रशस्तसहस्रगुणवत्त्वमपि सम्भाव्यते तेषु ।
एतेन कामदोषरहितत्वमपि सम्भावनाविषयमिति ध्वन्यते । अत्रेदं
तात्पर्यम् व्यावहारिकोऽन्तिमः पुरुषार्थः कामः स च तत्तद्विषयोपभोग-
स्तत्तदिन्द्रियद्वारा । तत्राऽपि स्त्रीपुरुषयोः परस्परं सम्भोग एव चरमः ।
तदर्थमपि बहव एवाऽऽततायिनो भवन्ति । इतिहासविदां नाऽतितिरोहित-
मेतत्, यत् स्त्रीणां कृते कति कति वा महान्त आर्या आततायिनः
संवृत्ताः । कति कति वा राष्ट्राणि वा राज्यानि वा विप्लुत्योत्प्लुत्य
विनष्टानीति वा । तथाऽपि सम्भाव्यतेऽसम्भावनीयमपि क्षणमात्रं यत्
जातु केचिदराष्ट्रिया दारापहरणरूपमाततायित्वं नाश्रयेयुरिति । तथा-
ऽपि धनप्रभुत्वलोभस्तु नावरीतुं शक्य इति निश्चयः । अत्रेदमपि
बोध्यम्—कामबुभुक्षया महान्ति महान्ति राष्ट्राणि राज्यानि च वि-
नष्टानीत्याकलय्याऽपि नाम केचिद्बुद्धिमन्तो गुणवन्तश्चाऽऽक्रामका
अराष्ट्रियाः परदाराबुभुक्षां विजह्युरपि किन्तु धनबुभुक्षा तैरपि हातुं न
शक्यते । एतदेव द्योतयितुं दारपदं नोपात्तम् । किं च धनलोभो राष्ट्रिया-
णामप्यनार्यभावमापन्नानामावरीतुमशक्यः, कुतः पुनरराष्ट्रियाणां धन-
लोभाऽवरणसम्भवः ? अथ च ततोऽपि सुतरां कठिनतमं प्रभुत्वलोभ-
हानम् । अय तु अराष्ट्रियैराक्रामकैर्हातुमशक्य एव । अय भावः—
प्रथम तावत् स्वाऽतिरिक्ते कस्मिन्नपि वस्तुनि लोभाद्यनार्यवृत्त्युदयं
विना आक्रमणमेव न सम्भवति । अन्यथा कार्यकारणभाव एव न स्यात् ।

अराष्ट्रिय परदारबुभुक्षा को तो त्याग सकते हैं, किन्तु धनबुभुक्षा का परि-
त्याग नहीं कर सकते हैं । धन-लोभ अनार्य भाव को प्राप्त राष्ट्रियों में भी नहीं
छिपाया जा स ता हैं, तो अराष्ट्रियों में धन-लोभ छिपाना कैसे सम्भव हैं ।
उससे भी अधिक कठिन प्रभुत्व को त्यागना है । वास्तव में आततायियों को
दण्ड देने के लिए जो आक्रमण किया जाता हैं, वह आक्रमण नहीं है । सक्रान्ति-
कारी धन, प्रभुत्व, दारा, क्षेत्र के लिए मरने मारने को उद्यत रहते हैं । इन्हें

अथ जातु आततायिदण्डनायाऽऽक्रमणेऽपि लोभाद्यनार्यवृत्तीनां तदानीमनुदयेऽपि आक्रमणाऽनन्तरं प्रभुत्वस्थापनायाऽवश्यमेवोदयो लोभाद्यनार्यवृत्तीनां, दृश्यते तदन्तरेण प्रभुत्वस्थापनाऽसम्भवात् । वस्तुतस्तु आततायिदण्डनाय यदाक्रमणं तदाऽऽक्रमणमेव नास्ति । तत् किल स्वत्वसंरक्षणमेवेति रहस्यम् । अथ यत् राष्ट्रान्तरं राष्ट्रान्तरेणाऽऽक्रान्तं दृष्ट्या आक्रामकराष्ट्रान्तराऽऽक्रमणं, तत्र यद्यपि प्रत्यक्षं स्वत्व नास्ति तथाऽपि तदपि नाऽऽक्रमणमिति ब्रूमो वयम् । यतः खलु स्वसुहृद आक्रान्तस्य स्वस्वसंरक्षणमेवोद्देशस्तत्र । अतो न तदाक्रमणं वक्तुं शक्यते । यदि तु तत्राऽपि धनप्रभुत्वलोभोदयस्तदा त्वाक्रमण तद्भवत्येव दुर्वारः खलु धनप्रभुत्वलोभः सहस्रगुणवतां बुद्धिमतामपि । एव च राष्ट्रिया राष्ट्रान्तरविषये आक्रमणसमये तदुत्तरकालं च धनप्रभुत्वदारादि लोभादिना आततायिनो भवन्ति इति निश्चयः । अथ जातु ते बहुगुणवन्तः पूर्वाऽपरेति हासपर्यालोचनया ज्ञात राष्ट्रविनाशतत्त्वाः तदा अग्निदगरदतुल्यमाततायित्वं नाचरेयुस्तथैव विशेषगुणवत्तया बुद्धिमत्तया सद्योविनाशकारणमात्मनो विज्ञाय दारहरणरूपमाततायित्वमपि नाऽऽचरेयुः । पर तु धनलोभस्याऽऽवरोतुमशक्यतया भूमिहरणस्वर्णरूप्यादिहरणरूपमाततायित्वमवश्यमेव सम्भवति । तदेतन्नोपायसहस्रैरपि वारयितुं शक्यते । अत्रेदं बोध्यम् —पटवः खल्वराष्ट्रिया बुद्धिमन्त इति सहस्रगुणवन्त इति तथा हरन्ति धनं यथा ऋजुमतयो राष्ट्रिया जानीयुरपि न, परन्तु राष्ट्रज्ञानविचक्षणानां न तिरोभवितुं शक्यते तेषां गुप्तधनाऽऽहरणचातुर्यम् । धनहरणरूपमाततायित्वमनिवार्यमराष्ट्रियाणामा-

---

आततायी क्यों न कहा जाय ? अराष्ट्रिय बुद्धिमान् एवं चतुर होते हैं, वे ऐसे धन का आहरण करते हैं कि सरल प्रवृत्ति राष्ट्रिय जान भी नहीं पाते हैं । किन्तु राष्ट्रज्ञान से सम्पन्न व्यक्तियों से उसे छिपाया नहीं जा सकता । यह भी उनकी बुद्धिमत्ता और सहस्रगुणत्व है कि वे आततायी होकर भी संरक्षक प्रतीत होते हैं । राष्ट्रविचक्षण वास्तविकता जान लेते हैं । पराये धन पर ही लोगों का अधिकाधिक लोभ होता है, अपने धन पर नहीं ।

ततायिनाम् । इदमेव बुद्धिमत्त्वं सहस्रगुणवत्त्वं चाराष्ट्रियाणां केषांचि-
द्यत्ते आततायिनोऽपि संरक्षका इव भान्ति । इदं तु न विस्मर्तव्यम्—
यत् राष्ट्रज्ञानविचक्षणानां पुरस्तात् न किमप्येतत्तिरोभावयितुं शक्यते ।
किं च जातु धनलोभस्याऽपि महत्तमतयाऽभावेऽपि प्रभुत्वलोभस्तु को-
ऽप्युपायानां दुर्वार एवेत्याततायिनोऽवश्यमेव भवन्ति राष्ट्रियविरुद्धाः ।
अत्रेदं च बोध्यम्–ये क्वाऽप्यराष्ट्रिया एव भवन्ति तेषां कस्मिन्नपि राष्ट्रे
पूर्णस्वत्वाऽभावेन ममत्वबुद्धेरनुदयात् संरक्षकताया अनुदयेन बुभुक्षाया
एव प्रादुर्भावः सम्भवति ततश्च सा बुभुक्षैव तानाततायित्वे प्रेरयति ।
तस्मात् राष्ट्रियत्वविरहितानामाततायित्वमनिवार्यमेव । अत एवाऽ-
स्माभिः पूर्वं शान्तिमयजीवनोपभोगाय यस्य कस्याऽपि सम्भावितस्य
राष्ट्रस्य चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धित्वमावश्यकमित्युक्तम् । अत एव येषां
नास्ति चतुर्विधसम्बन्ध एकत्र राष्ट्रे तैः प्रयतितव्यं चतुर्विधसम्बन्ध-
स्थापनायाऽऽशंसापूरणाय बुभुक्षाहननाय चेति । अत एव भवन्त्येवेत्युक्तम् ।
लोभाद्यनार्यवृत्त्युदय एवाऽऽततायितायां कारणमिति प्रागुक्तमेव । धन-
प्रभुत्वलोभाऽभावे आततायित्वं नैव सम्भवति । ननु सङ्क्रान्तिकारि-
णोऽपि धनप्रभुत्वदारक्षेत्राद्यर्थमेव मरणमारणसन्नद्धा भवन्तीति कथं
न तेषामप्याततायित्वमिति चेच्छ्रूयताम् । अस्वभूतस्यैव धनादि वस्तुनोऽ-
धिकाऽधिको गर्धो लोभ इत्युच्यते न पुनः स्वभूतस्य धनादिवस्तुन आशंसा
लोभ इत्युक्तम् । अत एव स्मृतिषु भुक्तेर्बलवत्त्वं लिखितस्य प्रामाण्ये इति
व्यवस्थापितम् । तत्सर्वं मन्वादिषु विस्तृतम् । भुक्तिरपि अन्यायोपार्जि-
तस्य न स्वत्वव्यवस्थापिका भवितुमर्हति । एवं च यत्र यत्र राष्ट्रे येषां
न चतुर्विधसम्बन्धस्ते धनप्रभुत्वादिलोभादिना निश्चयेनाऽऽततायिनो
भवन्ति । किंचेदमपि बोध्यम्—मन्वादिभिर्येषां धर्म्यत्वमुक्तं तेषामपि
मूले चेदनार्यवृत्तिसम्बन्धस्तदा न तत्र स्वत्वं न्याय्यम् । रभसात् न्याय्य-
त्वस्थापने तु शान्तिसम्भावनं दूरापास्तमेवेति । यथाचोक्तं मनुना –

अराष्ट्रिय बुद्धिमान् ही क्यों न हों, वे आततायी ही होते हैं । ये आत-
तायी परस्पर विनाश के कारण होते हैं । उनको दण्ड देना सर्वथा उचित है ।
आर्यों के संरक्षण के लिए ही आर्यों को दण्ड दिया जाता है । आर्यों के संरक्षण
के लिए तो भगवान् भी वारम्बार जन्म लेते हैं ।

सप्त वित्तागमा धर्म्या दायो लाभः क्रयो जयः ।
प्रयोगः कर्मयोगश्च सत्प्रतिग्रह एव च ।। (मनु. 10/115)

तत्र सर्वत्राऽपि आर्यविधयैव पूर्वं समर्जितानां दायादिषु स्वत्वोत्पत्तिः । अनार्यविधया प्राप्तानां दायाद्यपि न स्वत्वोत्पत्तिकारणम् । तस्मात् बुद्धिमतामपि सहस्रगुणवतामपि अराष्ट्रियाणामवश्यमेवाऽऽततायित्वं भवतीति सिद्धान्तः । अराष्ट्रियपदेन परराष्ट्रस्य चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धिनः राष्ट्रस्य चतुर्विधसम्बन्धशून्याश्चेत्युभयविधा अपि बोध्याः । उदाहरणानि स्पष्टानीति नोक्तानि । बुद्धिमद्भिः स्वयमूह्यानि किं चेदमपि बोध्यम्—यः प्रभुत्वं स्थापयितुमिच्छति राष्ट्रान्तरे स क्षेत्रहरस्तु संवृत्त एवेति तस्याऽततायित्वं दुर्निवारमेव । भवतु सर्वथाऽप्यराष्ट्रियाणामाततायित्वमवश्यमेव भवति । परस्वविनाशः प्रच्छन्नो वा प्रकाशो वा भवतु । तत्कारका आततायिन एव भवन्तीत्यलम् ।।93।।

एवमाततायित्वं साङ्गोपाङ्गं निरूपितम् । तेषां दण्डनमेव सर्वथोचितमित्यपि पूर्वं निवेदितमेव । आततायिनां दण्डनं खलु आर्यभावसंरक्षणायैव क्रियते । एतदेव खलु महत् शोभनं कृत्यम् । एतदर्थमेव भगवानपि वारं वारमवतारग्रहणमाचरति । स्वयमप्येतदेवोचितमिति बोधयति गीतासु पार्थं प्रत्येवम्—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् । (गी. 4।7)
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ।। (गी. 4।8)

संरक्षण के लिए क्रान्ति की सहायता अत्यन्त आवश्यक है । इसके बिना राष्ट्रसंरक्षण नहीं हो सकता है । यहां राष्ट्रसंरक्षण में बाधक पुरुष का निरूपण किया जा रहा है :—

विचारमन्तरेणैव क्रान्तिं ये मन्वतेऽवराम् ।।
राष्ट्रस्य संरक्षणार्थं न जातु प्रभवन्ति ते ।।94।।

विचार के बिना जो क्रान्ति को अश्रेष्ठ (या निन्द्य) मानते हैं, वे कभी भी राष्ट्र का संरक्षण करने में सफल नहीं होते हैं ।

ततश्च राष्ट्रसंरक्षणेनैव हि सर्वोऽपि व्यवहारस्तत्रत्यं पुरुषार्थचतुष्टयं च संरक्षितं भवेत्। तदेव च मुख्यं व्यवहारे। समस्तव्यवहारस्याऽऽत्मा खलु तद्राष्ट्रमिति। आत्मयोगक्षेमसम्भावनमेव परमो धर्मः। आत्मयोगस्य परमत्वमुक्तं यथाऽऽपस्तम्बमहर्षिणा—"आत्मलाभान्न परं विद्यते" इति। क्षेमविषये चाह श्रुतिरेव यथा—"सवत एवाऽऽत्मानं गोपायीत" इति। अत एवैतज्ज्ञानं परमो धर्म इत्याह याज्ञवल्क्यः—

इज्याऽऽचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम्।
अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनाऽऽत्मदर्शनम्॥ (या स्मृ 1।8)

राष्ट्रसंरक्षणार्थं क्रान्तिसहायताऽत्यन्तमावश्यिका। तां चाऽविचारयतां निन्दतां वा राष्ट्रसंरक्षणसामर्थ्यं नैव भवतीत्यादि सङ्क्रान्त्यनुष्ठानं प्रशंसयितुमाह—

विचारमन्तरेणैव क्रान्तिं ये मन्वतेऽवराम्।
राष्ट्रस्य संरक्षणार्थं न जातु प्रभवन्ति ते॥94॥

ये—विचारं—अन्तरेण—एव—क्रान्ति—अवरां—मन्वते—ते—जातु राष्ट्रस्य—संरक्षणार्थं—न—प्रभवन्ति। इति पदयोजनिका।

'ये'=पुरुषाः 'विचारम्'=युक्ताऽयुक्तकर्तव्याऽकर्तव्यविवेकं 'अन्तरेण'=विना अत्र 'अन्तरान्तरेण युक्ते" (पा.सू. 2।3।4) इत्यनेन द्वितीया। 'अन्तरेण' विनार्थकमव्ययमेतत्। 'एव' निर्धारणेऽव्ययमेतत्। 'क्रान्ति' =क्रान्तिताऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नाम्। 'अवराम्'=अश्रेष्ठाम् 'मन्वते'=मन्यन्ते 'ते'=अविवेचकाः 'जातु'=कदाचिद् "सर्वं वाक्यं सावधारणं भवति" इति न्यायेन कदाचिदपीत्यर्थः। 'राष्ट्रस्य'=पूर्वोक्तलक्षणलक्षि-

---

बहुत से पुरुष ऐसे होते हैं, जो पूर्वापर का विचार किये विना ही कह देते हैं कि क्रान्ति अच्छी नहीं है। वे राष्ट्रसंरक्षण के लिए कभी भी समर्थ नहीं होते है। क्रान्ति के विना संरक्षण नहीं हो सकता है। राष्ट्र-संरक्षण के विना शान्ति की सम्भावना नहीं होती। शान्ति के विना सुख की संभावना नहीं होती। सुख ही सबको अभीष्ट है। इस प्रकार राष्ट्र का संरक्षण आवश्यक है और वह क्रान्ति के विना सम्भव नहीं है। यदि हम विना विचार किये कोई कार्य करते

तस्य 'संरक्षणार्थम्=सम्यक् परिपालनाय 'न' अभावेऽव्ययम्। 'प्रभवन्ति'। इति। अत्रेदमाकूतम्—वह्वः खलु पुरुषास्तथाविधा भवन्ति ये पूर्वाऽपरयुक्ताऽयुक्तविचारमकृत्वैव कथयन्ति यत् क्रान्तिर्न शोभनेति। ते खलु राष्ट्रसंरक्षणार्थं कदाचिदपि न समर्था भवन्ति। राष्ट्रसंरक्षणमन्तरेण न शान्तिसम्भावना शान्तिमन्तरा च न सुखमेव च सर्वेषामुपादेयमिष्टम्। एवं च राष्ट्रसंरक्षणमत्यावश्यकमेव। तच्च क्रान्तिमन्तरा न सम्भवति। ततश्च क्रान्तिः सर्वविधाऽपि अध्ययनबोधाचारप्रचारैः सर्वदा सर्वथा च सम्भावनीयैव। विचारमन्तरेण किमपि कर्माऽनुष्ठितं पश्चात्तापफलदायकमेव भवति। इदमेव समालोच्य भर्तृहरिरप्याह—

गुणवदगुणवद्वा कुर्वता कार्यजातं परिणतिरवधार्या यत्नतः पण्डितेन।

अत एव नयविद्भिरुक्तमप्यन्यत्र **"अविवेकः परमापदां पदम्"** इति। अन्यत्राऽप्युक्तम्—

यः करोत्यविवेकेन पश्चात्तापं स विन्दति।

ततश्च क्रान्तिशब्दश्रवणसमनन्तरमेव ये नासाभ्रूसङ्कोचनं कुर्वाणास्तद्विषये अकृतपौर्वापर्यपर्यालोचना निन्दन्ति तां ते राष्ट्रसंरक्षणाय न प्रभवन्ति। अयमर्थोऽवगन्तव्यः— ये तावत् विद्यमानस्य राष्ट्रस्यैव संरक्षणं न कर्तुं प्रभवन्ति ते कथं नाम परकरगतस्य राष्ट्रस्य योगाय समर्था भवेयुः। राष्ट्रयोगक्षेमसमर्था खलु नास्ति प्रभाविन्या राष्ट्रशक्तेः ऋते इति तु निवेदितमेव प्राक्। प्रभावश्च क्रान्तिमन्तरा न सम्भवति। अथ चेदमपि बोध्यम्—यथा खल्वन्तरेण विचारं क्रान्तिमवरां मन्वाना राष्ट्रस्य संरक्षणार्थं न कदाचिदपि समर्था भवन्ति तथैवाऽविविच्य

हैं, तो पश्चात्ताप ही करना पड़ता है। अतः नीतिशास्त्रज्ञों ने कहा है कि अविवेक ही सब आपत्तियों का स्थान है।

जो अपने विद्यमान राष्ट्र का ही संरक्षण नहीं कर सकते हैं, वे परतन्त्र राष्ट्र को स्वतन्त्र कैसे कर सकते हैं? क्रान्ति के विना प्रभाव भी स्थापित नहीं होता है। अतः विचार के विना क्रान्ति को अश्रेष्ठ मानने वाले कभी भी राष्ट्र का संरक्षण नहीं कर सकते हैं। इसी प्रकार विना विचारे क्रान्ति को श्रेष्ठ मानने वाले भी राष्ट्र का संरक्षण नहीं कर सकते।

क्रान्ति परां मन्वाना अपि राष्ट्रस्य संरक्षणार्थं न समर्था भवन्ति। अयमर्थः—देशकालवस्तुभेदेन क्रान्तिर्वरा चाऽवरा च भवति। अथ स्वरूपतश्च तत्तद्भेदेन वरा चाऽवरा च भवति, तत्सर्वमपि प्रविविच्य वरत्वमवरत्वं वा निर्णेतव्यम्। अत्रेदं बोधनीयम्—अनार्यदण्डनायाऽनार्यनीतिर्पि वरा सैवाऽऽर्याऽनुग्रहायाऽपि वरा। एवमेवाऽऽर्यनीतिरपि अनार्यदण्डनायाऽऽर्याऽनुग्रहाय वरा। एवमेवाऽऽयनीतिरपि आर्यनिग्रहायाऽवरा अनार्याऽनुग्रहाय चाऽवरा एवमेवार्यनीतिरपि आर्यनिग्रहायाऽनार्याऽनुग्रहाय चावरा। सर्वथाऽपि आर्याऽनुग्रहोऽनार्यनिग्रहश्च ययैव नीत्या भवेत् सैव वरा। अनार्याऽनुग्रहो आर्यनिग्रहश्च यया भवेत् सैवाऽवरा इति। अत एव माघोऽप्याह—

आत्मोदयः परज्यानिर्द्वयं नीतिरितीयती। (शि.व. 2/30)

नीतिश्च क्रान्तिः सा च क्वचित्सङ्क्रान्तिरूपाऽप्यन्यत्र किङ्क्रान्तिरूपतामवगाहते। एवमेव क्वचित् किङ्क्रान्तिरूपाऽपि सैव क्वचित्सङ्क्रान्तिरूपतामवगाहते। एतत्सर्वमपि पौर्वापर्यपर्यालोचनया सम्यग् विज्ञायोपक्रान्तव्यम्। अत एवोक्तं सप्तशतीस्तवे—

ज्ञात्वा प्रारभ्य कुर्वीत ह्यकुर्वाणो विनश्यति।

(स की. 11)

सर्वथाऽपि देशकालाऽऽकारभेदैः सैव भगवती क्रान्तिः नर्तकीव नानारूपतामवगाहते। इदं तु पुनर्नैव विस्मर्तव्यम्—यद् आर्यराष्ट्रवादस्थापनमुद्दिश्य उत्तममध्यमाधमाऽधमाऽधमेति चतुर्विधाऽपि क्रान्तिर्वरैव नाऽवरा। एवमेव आर्यराज्यवादस्थापनमुद्दिश्य चतुर्विधाऽपि प्रयुक्ता

क्रान्ति भी देश, काल, वस्तु भेद से श्रेष्ठ तथा अश्रेष्ठ होती है किन्तु उसकी श्रेष्ठता या अश्रेष्ठता का निर्णय विचार कर ही किया जाना चाहिए। अनार्यों को दण्ड देने के लिए अनार्य नीति भी श्रेष्ठ है तथा आर्यों के अनुग्रह के लिए भी श्रेष्ठ है। जिस नीति से आर्यों का अनुग्रह तथा अनार्यों का निग्रह हो, वह नीति भी श्रेष्ठ है। जिस नीति से अनार्यों का अनुग्रह तथा आर्यों का निग्रह हो वह श्रेष्ठ नीति है।

मध्यमा, सङ्घवाद्यपरपर्यायमनार्यराष्ट्रवादमुद्दिश्य प्रयुक्ता चतुर्विधाऽपि क्रान्तिरधमा, व्यक्तिवाद्यपरपर्यायमनार्यराज्यवादमुद्दिश्य प्रयुक्ता चतुर्विधाऽपि क्रान्तिरधमाऽधमा इति । एवमेव सामदानभेददण्डेति चतुर्विधनीत्या प्रयुक्ता पूर्वोक्तप्रकारेण उत्तमादित्वं लभते । सर्वथाऽप्युद्देशभित्तिसलग्नमुत्तमात्वादीति तात्पर्यम् । यथायोग्यतया प्रयोग एव यथास्वं फलमुत्पादयितुं प्रभवति । अत एव भगवानपि ब्रवीति—

ये यथा मा प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्माऽनुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ।। (गी. 4।11)

एवं हि ये विवेचनकुशलास्त एव राष्ट्रसंरक्षणार्थं प्रभवन्ति ये च नैवं विवेचयन्त्यथच क्रान्तिमधमां वोत्तमां वा मन्वते ते कदाचिदपि राष्ट्रस्य योगाय क्षेमाय च न प्रभवन्ति । एतदेव ज्ञापयितुं संरक्षणार्थमित्युक्तम् । 'प्रभवन्ति' इत्यनेन च क्रान्तितत्त्वविचक्षणानां प्रभावशालित्वप्राप्तिर्भवतीति सूच्यते । तेन च यथावद् क्रान्तितत्त्वाऽवगमेन राष्ट्रशक्तिः प्रभाविनी कर्तुं शक्यते इत्यपि ध्वनितम् । क्रान्तित्त्वं च साङ्गोपाङ्गं प्रस्तुतभाष्यकृतैव क्रान्तिकौमुद्यां वितत्य प्रदर्शितमिति तत एवाऽवगन्तव्य जिज्ञासुभिरित्यलम् ।।94।।

सर्वस्याऽपि जीवलोकस्योपादेयतयाऽभिलषिततमकल्याणस्य परमनिदानभूतं राष्ट्रस्वातन्त्र्यमित्यसकृदावेदितं नानाविधयुक्तिप्रतिपादनपुरःसरम् । तदेव हि चतुर्विधपुरुषार्थसाधनसममिति च । ततश्च स्वराष्ट्रयोगक्षेमार्थं क्रान्तिविवेचनमत्यावश्यकमित्यपि निरूपितम् । क्रान्तिविवेचनमन्तरेण च क्रान्तिप्रयोगप्रवृत्तेरयुक्तत्वात् । अथ साम्प्रतं क्रान्तिप्रयोगमन्तरा शान्तिशासनस्थापनाया असम्भवात् क्रान्त्याश्रयण विधेय-

---

नीति ही क्रान्ति है । वह कहीं संक्रान्ति के रूप में होते हुए भी अन्यत्र किंक्रान्ति के रूप में दृष्टिगोचर होती है । इसी प्रकार कहीं किङ्क्रान्तिरूप होते हुए भी सङ्क्रान्तिरूप दिखलाई पड़ती है । आर्य-राष्ट्रवाद की स्थापना के लिए उत्तम, मध्यम, अधम, अधमाधम–ये चार प्रकार की क्रान्तियाँ श्रेष्ठ ही हैं, अश्रेष्ठ नहीं । इसी प्रकार आर्य राज्यवाद की स्थापना के लिए प्रयुक्त चतुर्विध क्रान्ति मध्यम है । अनार्य राष्ट्रवाद की स्थापना के लिए प्रयुक्त चतुर्विध क्रान्ति अधम

मिति तदनाश्रयिणां निन्दितत्वबोधनपुरःसरं तदाश्रयणं प्रतिजानान आह—

श्रेष्ठां क्रान्ति नाऽऽश्रयन्ते ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपि वा।
शतशो धिग्दुर्भगांस्तान् लोकद्वयविरोधिनः ॥95॥

श्रेष्ठामिति। ये—श्रेष्ठां—क्रान्ति—ज्ञानतः—अज्ञानतः—अपि वा—न—आश्रयन्ते। लोकद्वयविरोधिनः—दुर्भगान्—तान्—शतशः—धिक्—अस्तु। इति पदयोजनिका।

'ये'=पुरुषाः 'यत्तदोर्नित्यसम्बन्धः" इति स्थितत्या 'तान्' इत्यनेनाऽऽक्षिप्यते 'ये' इति भावः। 'श्रेष्ठाम्'=प्रशस्यतमाम् 'क्रान्तिम्'=क्रान्तिताऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नाम्। 'ज्ञानतः'=ज्ञानात् अज्ञानतः=अज्ञानात् 'अपि'=एवार्थेऽव्ययं समुच्चये एव वा 'वा'=विकल्पेऽव्ययम्। न='अभावेऽव्ययम्'। 'आश्रयन्ते'=आसमन्तात् सेवन्ते। लोकद्वयविरोधिनः लोकयोर्द्वयमुक्तं प्राक् तस्य विरोधः=वैरं अस्ति येषां ते मत्वर्थे इनिः। 'दुर्भगान्'—दुष्टं=विकृतिमागतं भगं=श्रीः, माहात्म्यं, वीर्यं, कीर्तिः येषां तान्। 'तान्'=श्रेष्ठक्रान्त्यनाश्रयिणः। 'शतशः'=शतशतप्रकारेण "बह्वल्पार्थाच्छस्कारकादन्यतरस्याम्' (पा. सू. 5।4।42) इत्यनेन शस् प्रत्ययः। शतशब्दोऽत्र न शतपरः किन्तु अमितपरो बोध्यः। 'धिक्'=भर्त्सनं निन्दायां वाऽव्ययम्। 'धिङ् निर्भर्त्सननिन्दयोः' इत्यमरः। अत्र धिक् इत्यस्य योगे द्वितीया सर्वत्र। तथा च वार्तिकम्

उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु।
द्वितीयाऽऽम्रेडितान्तेषु ततोऽन्यत्राऽपि दृश्यते ॥

'अस्तु' इति शेषः। इति। अस्या अयमभिप्रायः—आर्यराष्ट्रवाद-

है तथा अनार्यराज्यवाद की स्थापना के लिए प्रयुक्त चतुर्विध क्रान्ति अधमाधम है। नीति भी चार प्रकार की है—साम, दाम, दण्ड, भेद। यथायोग्य प्रयोग ही यथायोग्यफल को उत्पन्न कर सकता है।

अतः जो विवेचन करने में कुशल विचारक हैं, वे ही राष्ट्र का संरक्षण कर सकते हैं। जो विवेचन नहीं कर सकते अथवा जो क्रान्ति को अधम या

स्थापनाय क्रियमाणा सर्वविधाऽपि क्रान्तिः श्रेष्ठा । तत्राऽपि स्वरूपतोऽपि याऽनुग्रहप्रधाना सायंक्रान्तिः उत्तमा सङ्क्रान्तिरिति सङ्केतिता श्रेष्ठेति किमु वक्तव्यम् तां किल स्वराष्ट्रस्वातन्त्र्ययोगक्षेमसमर्थां विज्ञाय ये नाऽऽश्रयन्ते ते शतशो धिक्कारभाजनानि । अयमर्थः—विज्ञाने सत्यपि ये तत्प्रयोगं नाऽऽचरन्ति तेऽवश्यमेव लोकद्वयं नाशयन्ति यतस्ते सर्वथाऽपि दुर्भगाः । अयमर्थः—विज्ञानं खलु प्रयोगे सहायकमेव । वस्तुप्राप्तिः पुनस्तद्विज्ञानप्रयोगमन्तरा नैव सम्भवति । अत एव **गीतासु** वारं वारमर्जुनं प्रति युद्धकरणमुपदिष्टं भगवता **श्रीकृष्णेन** । उचितमेवैतत् । उक्तमपि नयविद्भिः—

उद्यमेन हि सिद्ध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः ।
न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः ॥

तस्मात् विज्ञाने सत्यपि तदनाचरणं प्रमादाऽऽलस्यादिव्यञ्जकमेव । प्रमादिनामवसानां रागाद्यभिभूतानां वा कुतः स्वेष्टप्राप्तिसम्भावना । एतद्विषये प्रागस्माभिर्वितत्य प्रदर्शितमेव । आचारः खलु परमो धर्मः । अत एवोक्तं **मनुना**—

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च ।
तस्मादस्मिन् सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान् द्विजः ॥

(मनु 1.108)

अपि चाऽन्यत्रोक्तम्—"आचारहीनं न पुनन्ति वेदा" इति । तदेतदस्माभिः प्राक् संवादितप्रायमिति नेह वितन्यते । एवं च स्वातन्त्र्ययोगक्षेमार्थं श्रेष्ठक्रान्त्याश्रयणमावश्यकमिति सूचितम् । ये चैतद्विज्ञायाऽपि तां नाऽऽश्रयन्ते क्रान्तिं विद्विषन्त्युपेक्षन्ते वा ते खलु लोकद्वयविरोधिन

उत्तम मानते हैं, वे कभी भी राष्ट्र का योगक्षेम नहीं कर सकते हैं । इस क्रान्ति से ही क्रान्ति को प्रभावशाली बनाया जा सकता है और क्रान्ति के तत्त्वों को समझ कर राष्ट्र शक्ति को प्रभावपूर्ण बनाया जा सकता है । श्रेष्ठ क्रान्ति प्रयोग के बिना शान्तिशासन की स्थापना असम्भव है । अतः इसके लिए क्रान्ति का आश्रय अवश्य लेना चाहिए, इसका निरूपण किया जा रहा है—

एव। अयमर्थः—उपादित्सा तावदप्राप्तस्यैव भवति साऽप्युत्कृष्टस्यैवेति सर्वस्याऽपि जीवलोकस्य निसर्गः। तेनेह जन्मनि भाविजन्मनि च उन्नतिमेवेच्छन्ति सर्वे। तत्र स्वातन्त्र्यमेव समस्याया अप्युन्नतेर्मूलमिति तु चरमः सिद्धान्तः सर्वलोकविदित एव। तदन्तरेण हि नैकस्याऽपि पुरुषाशंसितस्य सिद्धिः। ये चेह जन्मन्यपि परतन्त्रास्तेषां परतन्त्रतयैव नाऽऽशंसासिद्धिः। प्रत्युत बुभुक्षावृद्ध्या पापकारित्वमेव। तेन च पापेन पुनरपि जन्मान्तरे पारतन्त्र्यं तत्र च पुनरप्याशसाया असिद्धिरवेति सर्वाऽनर्थमूलं पारतन्त्र्यं सर्वाऽर्थमूलं च स्वातन्त्र्यमिति। स्वातन्त्र्यं चाततायिदण्डनमन्तरा न प्राप्यम्। तच्चाऽऽततायिदण्डनमपि क्रान्त्यधीनमिति सर्वं विज्ञायाऽपि तदनाश्रयणं लोकद्वयविरोधकरणमेवेति किमु वक्तव्यविशेषमपेक्षते इत्यालोच्योक्तं 'लोकद्वयविरोधिन' इति। अत एव सप्तशतीस्तवेऽप्युक्तम् "अकुर्वाणो विनश्यति" इति। क्रान्त्युपासनायां खलु लोकद्वयप्राप्तिरेव भवति। तदुक्तं। गीतास्वेव—

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥

(गी. 2।37)

एवं च ज्ञानतो ये क्रान्त्यनाश्रयिणस्ते लोकद्वयमपि नाशयन्त्येवेति दुर्भगा एव। अत्रेदं बोध्यम्—ये तावत्पूर्वमेव परतन्त्राः स्वातन्त्र्ययोगाय तन्निदानभूतां क्रान्तिं नाश्रयन्ते ते वर्तमानसमयेऽपि दुर्भगाः यतस्तेषां पारतन्त्र्येण न कस्याऽपि पुरुषार्थस्य सिद्धिः सम्भवति। अथ आशसा पूरणाऽभावेन बुभुक्षावृद्ध्या स्वराष्ट्रस्यैव नाश इति वर्तमानजन्मनि दुर्भगातिशय एव। जन्मान्तरेऽपि क्रान्त्युपेक्षा क्रान्तिविरोधजन्यस्वराष्ट्रनाशजन्यपापाऽऽक्रान्तानां पुनरपि पारतन्त्र्यमेति दुर्भगत्वमेव प्राप्यम्। एवमेव क्षेमविषयेऽपि बोध्यम्। क्षेमायाऽपि सर्वदा श्रेष्ठक्रा-

---

श्रेष्ठां क्रान्तिं नाश्रयन्ते ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपि वा।
शतशो धिग्दुर्भगांस्तान् लोकद्वयविरोधिनः॥95॥

जो जाने अनजाने में श्रेष्ठ क्रान्ति का आश्रय नहीं लेते, उन इहलोक तथा परलोक के विरोधी दुर्भग दुष्टों को सैंकड़ों बार धिक्कार है।

प्राप्यम् । एवमेव क्षेमविषयेऽपि बोध्यम् । क्षेमायाऽपि सर्वदा श्रेष्ठा क्रान्त्युपासनाऽवश्यिकैव । तामन्तरेण क्षेमाऽसम्भवात् । तस्मात् दुर्भगानां लोकद्वयविरोधिनां शतशो भर्त्सनमुचितमेव । अथ च स्वतन्त्रास्ते चेच्छ्रेष्ठा क्रान्तिमुपेक्षेरन् सर्वत्र मात्स्यन्यायस्योद्भवो दुर्निवारः । तेन च तत्तद्राष्ट्रं दुर्बलं प्रबलराष्ट्रेणाऽनार्यभूतेन पीडितं निजदुःखभरसम्भृतनिःश्वासैः पीडकं राष्ट्रमुपेक्षकं च राष्ट्रं सहैव स्वराष्ट्रेण विनाशयति । अयमर्थः—स्वतन्त्रं राष्ट्रमार्यराष्ट्रवादस्थापनं कर्तुं प्रभवति ततश्चैवं विज्ञायाऽपि तन्न चेन्निदानभूतश्रेष्ठक्रान्तिमाश्रयेत तदाऽन्यान्यनार्यराष्ट्राणि अनार्यत्वबुद्धयतिशयादुन्मत्तानि तदप्यनार्यभावमापादयेयुः ततश्च । बुभुक्षावृषा तदपि राष्ट्रं सर्वराष्ट्रविनाशकारणं सन् समस्तविषपापपङ्कनिमग्नं सत् दुर्भगं स्यात् इति निश्चितमेव । सामर्थ्ये सत्यपि आर्याऽनुग्रहाऽनार्यनिग्रहणाविधाने महत्यपकीर्तिप्राप्तिः स्पष्टैव । अपकीर्तिश्च सम्भावितस्य मरणादप्यधिकमनाशंस्या । अत एवाऽन्यत्रोक्तमपि—

मुहूर्तमपि जीवेत नरः शुक्लेन कर्मणा ।
न कल्पमपि जीवेत नरः कृष्णेन कर्मणा ।।

अत एव श्रीगीतास्वपि भगवानेवमाहऽर्जुनं प्रति—

सम्भावितस्य चाऽकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते । (गी. 2/34)

दुर्भगत्वं चास्माभिर्व्याख्यातं पूर्वम् । तत्सर्वविधमपि दुर्भगत्वं तस्य भवति स्वतन्त्रस्याऽपि राष्ट्रस्य श्रेष्ठक्रान्त्यनुपासकस्य । अथ ये अज्ञानतो नाऽऽश्रयन्ते श्रेष्ठां क्रान्तिं तेऽपि पशव इव लोकद्वयविरोधिन एव ।

आर्य राष्ट्रवाद की स्थापना करने में क्रान्ति सब प्रकार से श्रेष्ठ है । उनमें भी अनुग्रहप्रधान आर्यक्रान्ति सर्वश्रेष्ठ है । स्वराष्ट्र के स्वातन्त्र्य के योगक्षेम के लिए जो इस क्रान्ति का आश्रय नहीं लेते, वे वास्तव में धिक्कार के योग्य हैं ।

जो ज्ञान होने पर भी उसका प्रयोग नहीं करते हैं; वे दोनों लोकों का विनाश करते हैं । निश्चित ही विज्ञान प्रयोग में सहायक होता है । विज्ञान के

अत एव दुर्भगा अपि । तस्मात्तान्नपि शतशः धिगस्तु । अयमर्थः :—
मानवयोनिं प्राप्याऽपि ये न ज्ञानवन्तो भवन्ति ते लोकद्वयविरोधिन एव मन्तव्याः । येऽत्र लोकद्वयविरोधिनस्ते दुर्भगा भवन्त्येवेति किमु वाच्यम् । अत एव अज्ञानत एव वा श्रेष्ठां क्रान्ति नाऽऽश्रन्ते तेषां निन्द्यत्वं नास्तीति कथं वक्तुं शक्येत । अत एव ये ज्ञानाय न प्रयतन्ते तेषामतीवाऽवनति-र्भाविनीति श्रुतिष्वपि वर्ण्यते । तथाहि श्रुतिः :—

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ।। (ई. उ. 9)

किं च यथा माणवक माणवक इति न क्षमतेऽग्निः पदमादधानं स्वस्मिन् किन्तु दहत्येव पदं तथैव अज्ञानत इति न क्षमायोग्याः श्रेष्ठ-क्रान्त्यनाश्रयिणो नराः । अतश्च ये पूर्वाऽपेक्षयाऽपि दौर्भाग्याऽतिशयवत्तया शतशो धिक्कारयोग्या एव ते भवन्ति । ये च शक्तौ सत्यामपि नाचरन्ति श्रेष्ठां क्रान्ति ते तु ततोऽप्यधिकतया धिक्कारयोग्याः अयमर्थः :—

स्वातन्त्र्यं किल लोकोपकाराय नेष्यते महद्भिः । उक्तमपि नयविद्भिः —

सुहृदामुपकारकारणात् ।
द्विषतामप्यपकारकारणात् ।।
नृपसंश्रय इष्यते बुधै
र्जठरं को न बिभर्ति केवलम् ।

अपि चोक्तम्—काकोऽपि जीवति चिराय बलिं च भुङ्क्ते ।।

एवं च ज्ञानतोऽनाश्रयणमप्यतिनिन्द्यं तस्माद्धिक्कारयोग्य-मस्त्येव । अज्ञानतोऽप्यनाश्रयणमतीव पारतन्त्र्यसूचकमित्यतीव

प्रयोग के बिना वस्तु की प्राप्ति नहीं होती है । जो प्रमादी हैं, जो रागादि से अभिभूत हैं - उन्हें इष्ट-प्राप्ति कैसे हो सकती है । इस सन्दर्भ में पहले कहा गया था कि आचार ही धर्म है । स्वातन्त्र्य के योगक्षेम के लिए श्रेष्ठ क्रान्ति का आश्रयण अपेक्षित है । जो जानकर भी उसका विद्वेष करते हैं, वे दोनों लोकों के विरोधी हैं । सभी को श्रेष्ठ वस्तु को प्राप्त करने की ही इच्छा होती है । सभी लोग इस जन्म तथा परलोक में उन्नति की ही कामना करते हैं । जो

दौर्भाग्यकरमिति तदप्यतीव निन्द्यमिति। अत्रेदं च बोध्यम्—ज्ञानतः श्रान्त्यनाश्रयिणो भर्त्सनीयाः। अज्ञानतश्चाऽऽश्रयिणो निन्द्याः। एवमेव स्वतन्त्राः श्रेष्ठक्रान्त्यनाश्रयिणो भर्त्सनीयाः परतन्त्राश्च श्रेष्ठक्रान्त्यनाश्रयिणो निन्द्याः। एतेन लोकद्वयसाधनाय सौभाग्यप्राप्तये च ज्ञानाऽऽश्रयणं ज्ञात्वा च स्वराष्ट्रस्वातन्त्र्ययोगक्षेमसम्पादनाय समस्तराष्ट्राणां योगक्षेमसम्पादनाय च श्रेष्ठक्रान्त्याश्रयणमवश्यमेव भावनीयमित्युपदिष्टं भवतीत्यलमेतावता ॥95॥

एवं श्रेष्ठक्रान्तेः "यः स्तूयते स विधीयते" इति न्यायेन तदनाश्रयणनिन्दया तत्स्तुतिं विधाय विधेयत्वं प्रतिपादितम्। अथ दुष्टक्रान्तेर्निन्दा प्रतिपादनेन तस्या निषेधं प्रतिपादयितुं श्रेष्ठक्रान्तौ प्रवृत्तिं कारयितुं च श्रेष्ठक्रान्त्यनाश्रयणतोऽपि दुष्टक्रान्तिसमाश्रयणमतीव भर्त्सनीयमिति प्रतिपादयति—

लोकद्वयीनाशनीयदुष्टक्रान्तिविधायिनः।
सहस्रवारं धिक्कारयोग्या रौरवभागिनः ॥96॥

लोकद्वयीति। लोकद्वयीनाशनीयदुष्टक्रान्तिविधायिनः —रौरवभागिनः—सहस्रवारं—धिक्कारयोग्याः। इति पदयोजना।

'लोकद्वयीनाशनीयदुष्टक्रान्तिविधायिनः'—लोकः पदार्थसार्थः स चेह लोकः परलोकश्चेति द्वौ तौ चोत्कृष्टावेवेति यथा ग्राह्यौ तथा प्रतिपादितमेतत्पूर्वमस्माभिरसकृदपि। भवतु तयोः द्वयी राहोः शिर इति वद् भेदे षष्ठी ततस्तत्पुरुषः 'सङ्ख्याया अवयवे तयप्' (पा. सू. 5/2/42) तस्य च द्वित्रिभ्यां तयस्याऽयज्वा (पा. सू. 5/2/43) इत्ययच्। ततः

स्वतन्त्र हैं, वे भी यदि श्रेष्ठ क्रान्ति की उपेक्षा करेंगे, तो सर्वत्र मात्स्यन्याय की उत्पत्ति हो जायेगी।

स्वतन्त्र राष्ट्र ही आर्यराष्ट्रवाद की स्थापना कर सकता है। दुर्भग पद की व्याख्या पहले की जा चुकी है कि जिनके धन, माहात्म्य, वीर्य, कीर्ति आदि विकृति को प्राप्त हो गए हैं, वे दुर्भग हैं। इन दुर्भगों (दुष्टों) को धिक्कार योग्य बताया गया है। बालक ज्ञान न होने के कारण अग्नि से अपना पैर

स्त्रीत्वविवक्षायां "टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ् क्वरप :—(पा. सू. 4/1/15) इत्यनेन ङीप् । सा लोकद्वयो नाश्यते अनया सा नाशनीया लोकद्वयी नाशनीया यया सा, सा चाऽसौ दुष्टा=पूर्वोक्तलक्षणा च सा क्रान्तिः पूर्वोक्तलक्षण परिवर्तनमिति यावत् । "पुंवत्कर्मधारयजातीयदेशीयेषु" (पा. सू. 6/3/42) इत्यनेनोभयत्र कर्मधारये पुंवद्भावः । तस्याः विधायिनः=विधानशीलाः । ताच्छील्ये णिनिः अथवा लोकद्वय्यां नाशनीया सप्तमी तत्पुरुषः समासः । "सप्तमी शौण्डैः" (पा.सू. 2/1/40) इत्यत्र सप्तमीति योगविभागसिद्धान्तात् । अन्यत् समानं पूर्वेण । ताच्छील्ये णिनिः । अत एव रौरवभागिनः—रौरवं=एतदभिधाननरकोपलक्षितसमस्तविधाऽधोगतिं भजन्ते शीलेनेति रौरवभागिनः । अत्राऽपि ताच्छील्ये णिनिः । 'सहस्रवारम्'—सहस्रशब्दः परःसहस्रपरोऽत्र बोध्यः । सहस्रं वारान् कृत्वा इति सहस्रवारम् । धिक्कारयोग्याः'—धिक्कारस्य=भर्त्सनस्य निन्दायाश्च योग्याः=अर्हाः नाऽयं वर्णात्कार इति कारप्रत्ययः, करणं कारः कृञो भावे घञ्, तेन च कारशब्देन समासः इति ।

अस्या अयमभिप्रायः—क्रान्तिः स्वाभाविक्यपि न सर्वविधाऽपि कार्या इति तु पूर्वं सिद्धान्तितमेव । आर्यत्वप्राप्तिमन्तरा च न शान्त्युपासनाज्ञानमित्यपि विश्वेषां विदुषां विदितमेव । आर्यत्वं च "निग्रहानुग्रहाभ्यां"(रा.87) इत्यनया कारिकयाऽस्माभिरेव संलक्षितम् प्रतियोगिज्ञानमन्तरा च न पूर्णज्ञानं सम्भवतीत्याकलय्याऽनार्यकर्माण्यपि विज्ञापितानि "श्ववृत्या जीवनम्" (रा. 88) इत्यनया कारिकया ऽस्माभिरेव शान्त्युपासना समस्तकल्याणकारिणीति सा कार्यं कर्म समस्तस्यापि जीवलोकस्येति

जला डालता है । इसी प्रकार यदि अज्ञान से भी कोई क्रान्ति की उपेक्षा करता है, तो वह धिक्कार योग्य है । जो शक्ति होने पर भी श्रेष्ठ क्रान्ति नहीं करते हैं, वे अधिक धिक्कार के योग्य हैं ।

ज्ञान होते हुए भी जो क्रान्ति का आश्रय नहीं लेते हैं, वे निन्दनीय हैं तथा जो अज्ञान से क्रान्ति का आश्रय नहीं लेते हैं, वे भी निन्दनीय हैं । अतः समस्त राष्ट्रों के योगक्षेम के संरक्षण के लिए क्रान्ति का आश्रय आवश्यक है ।

साऽपि लक्षितैव सा च शान्तिराशंसापूरणजन्याऽऽनन्दरूपेति प्राङ् निवेदितमेव । आशंसापूरणं च तत्प्रतियोगिभूतबुभुक्षाहननमन्तरा न सम्भवतीति पूर्वं बुभुक्षाहननाय सङ्क्रान्तिराश्रयणीयैवेत्यपि निवेदनीयं निवेदितमेव पूर्वस्यां कारिकायाम् । तदनाश्रयणं दौर्भाग्यकारणमुभयलोकविनाशकारणमिति सर्वमपि निवेदितम् । अयं भावः—कार्यत्वेन विहितकर्मणोऽननुष्ठानं पातित्यजनकत्वेन सर्वैरपि विद्वद्भिरङ्गीकृतमेवास्ते । ननु अननुष्ठानं तावदभावरूपम् । ततश्च कर्माऽभावात् कथं पातित्योत्पत्तिः । न हि भावस्याऽभावादुत्पत्तिः सम्भवति । अयमथः वस्त्वेव वस्त्वारम्भक भवितुमर्हति, परिणामवादेऽपि वस्त्वेव रूपान्तरेण परिणन्तुं शक्यते नाऽवस्तु, विवर्तवादाऽश्रयणेऽपि वस्तुनि सद्रूप एव समस्तविवर्तसम्भवः तस्माद् अभावाद्भावोत्पत्तिर्नैवं युक्ता मन्तुमिति चेच्छ्रूयताम्—विहितं किल कम तत्तदनुकूलं फलमुत्पादयितुं प्रभवतीति निश्चितमेव कार्यकारणभावस्थैर्यात् । अथ विहिताऽतिरिक्तं कर्म किंचिन्निषिद्धं किंचिच्चोदासीनमित्यपि स्फुटमेव । तत्र विहितस्याऽकरण अविहितस्य निषिद्धस्य वा कर्मणः स्वाभाविकतयाऽनुष्ठानं दुर्वारम् । स्वभावस्य दुरतिक्रम इति क्रमात् । स्वभावश्च भगवता गीतासूपदिष्टः—

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यतेऽह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैगुणैः ।।

(गी 3।5)

अत एव समस्तकर्मणामनारम्भो वा त्यागो वा न सम्भवति कस्याऽपि वस्तुन इति प्रतिपादितं तत्रैव । तत एव च न जात्वपि नैष्कर्म्यं न च कस्याऽपि प्राप्तिरपि तस्मादित्युक्तं यथा—

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ।। (गी. 3।4)

दुष्टक्रान्ति का आश्रय लेना तो बहुत ही निन्दनीय है, इस सन्दर्भ में निरूपण किया जा रहा है —

लोकद्वयीनाशनीयदुष्टक्रान्तिविधायिनः ।
सहस्रवारं धिक्कारयोग्या रौरवभागिनः ।।96।।

एवं च विहितकर्माननुष्ठानं नाम तदितरकर्माऽनुष्ठानमेवेति नाऽभावाद् भावोत्पत्तिप्रसङ्गाऽपत्तिः इति। ये त्वभावाद्भावोत्पत्तिमङ्गी कुर्वन्ति तेषां समालोचनं प्रस्तुतभाष्यप्रणेत्रा श्रीलात्मविलासे एव प्रदर्शितं वितत्येति तत एव समवलोकनीयम्। तत्र विहितकर्मण एवाऽनुष्ठानमुत्कर्षजनकमिति सिद्धान्तः। एवं निषिद्धकर्माऽनुष्ठानं च पातित्यजनकमवश्यमेवेति सिद्धान्तः। ततश्च निषिद्धं कर्म विस्मृत्याऽपि नाऽनुष्ठेयमिति निष्पद्यते। शान्तिस्थापनं च यया क्रान्त्या न सम्भवति सा, यया च बुभुक्षायाः स्थापना भवति सा च क्रान्तिर्दुष्टा। अत एव 'राष्ट्रान्तरेषु क्रियते' (रा. 91) इत्यनया कारिकया अशान्तिकारिण्या बुभुक्षास्थायिकाया एव क्रान्तेर्दुष्टत्वं प्रतिपादितमस्माभिः। अथ संक्रान्तिविरुद्धानामपि यत्रोदासीनतया अविहितकर्मानुष्ठानं सम्भवतीति परम्परया किङ्क्रान्तिकारकत्वेन शतशो धिक्कारभाजनत्वमेव। परन्तु निषिद्धकर्मणामनुष्ठानेन पुनः साक्षादेव द्रागेव चानिष्टफलमुत्पद्यते इति तत्कारकाणां ततोऽप्यधिकदौर्गत्यादधिकमेव भर्त्सनीयत्वमिति समुचितमेवेत्याह—लोकद्वयीति। दुष्टा क्रान्तिः किल स्वरूपतो दुष्टाऽपि उद्देशे दुष्टा न चेन्न तादृशी दुष्टा। किन्तु दुष्टोद्देशरूपत्वाद् बुभुक्षायास्तस्याः अहन्त्री सर्वविधाऽपि क्रान्तिर्दुष्टैवेति निष्कर्षः। सा च लोकद्वयीमपि नाशयति। तत्तूक्तमेव। अथ वा दुष्टा क्रान्तिः किल बुभुक्षासंवर्धिनीति सा लोकद्वय्यामपि नाशनीयैव। अयमर्थः—इह लोके परलोके च बुभुक्षानाशनीयैव तस्याः पातित्यकारित्वात्। अथ साऽपि समूलघातं हन्तव्येति योग्यम्। अन्यथा पुनरपि तस्याः प्रादुर्भावे महत्कष्टमिति। बुभुक्षामूल च बीजाङ्कुरन्यायेन दुष्टक्रान्तिरिति सा लोकद्वयेऽपि प्रथमतो नाशनीया भवति। भवतु। सा चैवम्भूताऽपि नाम महदनिष्टकारिणीत्यपि दुष्टत्वेनाऽवगताऽपि यैर्वा कैरपि क्रियते ते रौरवनामकनरकोपलक्षितनानाविधाऽधोगतिं भजन्ते। अत एव सहस्रवारं धिक्कारयो-

---

दोनों लोकों का नाश करने वाली दुष्टक्रान्ति करने वाले (पुरुष) रौरव नरक के भागी, हजार बार धिक्कार के योग्य हैं।

आर्यत्व प्राप्ति के बिना शान्ति की उपासना का ज्ञान नहीं होता है। सभी विद्वान् इस बात को अवश्यमेव जानते हैं कि प्रतियोगी ज्ञान के बिना

ग्यास्ते। अत्रेदं बोध्यम् पूर्वकारिकातो "ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपि वा" (रा 95) इत्यनुवर्तत एव। ततश्चायमर्थो निष्पद्यते–दुष्टक्रान्तेरुभयलोकनाशकत्वमत एवोऽभयलोकयोर्नाशनीयत्व मवगत्याऽपि ये पुनरपि तामेवाऽनुतिष्ठन्ति ते सहस्रवारं भर्त्सनायोग्याः। यतस्ते रौरवादिनरकानेव गच्छन्ति। अयमर्थ :—अत्र लोकेऽपि महतीमकीर्तिं प्राप्नुवन्ति तथा परलोकश्च तेषामर्थे रौरवादिनरक एव निश्चितः। तस्मात् सहस्रशो धिक्कारयोग्यत्वमुचितमेव। किं च श्रेष्ठक्रान्त्यनाश्रयणे न तु न त्वरया तादृशो बुभक्षा वर्द्धते यादृशी न दुष्टक्रान्तिकरणेन बूभुक्षावृद्धिर्भवति। अतश्च पूर्वाऽपेक्षयाऽपि दुष्टक्रान्तिविधायिनोऽतीव निन्द्या इति रौरवभागिनस्तत एव सहस्रवारं धिक्कारयोग्याश्च। एवमेव ये ज्ञानतो दुष्टक्रान्तिं विदधति तेऽपि नोपेक्ष्यन्ते बुभुक्षया। सा खलु तानपि रौरवनरकेषु विपाच्य सहस्रवारं धिक्कारयोग्यान् विदधात्येव। पूर्वोक्तयुक्तये उभयविधा अपि अक्षम्या एव। तस्मात् दुष्टक्रान्तिश्च न कस्याऽपि जात्वपि कल्याणकारिणीति तां कुर्वाणा अपि सहस्रवारं धिक्कारयोग्याः। अत्रेदं च बोध्यम्—स्वतन्त्राः खल्वनार्यप्रकृतयः पुरुषा उन्मत्ता इति आसुरो सम्पदमभिजाता इति दुष्टक्रान्तिमुपासमानाः सर्वेषामपि स्वातन्त्र्याऽपरपर्यायमोक्षविरोधका इति सहैवाऽऽक्रान्तराष्ट्रैरात्मानमपि बध्नन्त्येव नानाविधाऽधोगतिगर्तेषु। एतदेवाऽभिलक्षीकृत्योक्तं **गीतास्वपि—**

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायाऽऽसुरी मता ॥ (गी. 16/5)

किंचाऽत एव महति खेदस्थाने आसुर्यां सम्पद्यपि परराष्ट्राणि दुष्टक्रान्त्याऽऽक्रम्य निबध्य मुदिताः सम्पद्यन्ते ये ते नैदं विचारयन्ति

पूर्णज्ञान नहीं होता है। यही सोचकर श्ववृत्ति के जीवन को अनार्यकार्य बतलाया गया है। शान्ति की उपासना समस्त कल्याणकारिणी है, अतः सभी लोगों को उसे करना चाहिए। यह शान्ति आशंसापूरणजन्य है और आनन्द रूपिणी है। आशंसापूरण बुभुक्षाहनन के विना नहीं हो सकता। सङ्क्रान्ति का भी आश्रय लेना चाहिए। उसका आश्रय न लेना दुर्भाग्यपूर्ण है और दोनों लोकों का विनाश करने वाला है। अनुष्ठान न करना अनुष्ठान का अभावरूप है। अभाव से

यदस्माकमपीदमेव निबन्धनं विनाशकारणमिति । तत एव विनाशाऽभिमुखं गन्तार एते सहस्रवारं धिक्कारयोग्या एव । को नु खलु विचक्षणः स्वं रौरवाद्यधोगतिगतं निनीषति । तयाऽवनतिगतं नयन् सहस्रवारं धिक्कारयोग्य एव । किं च दुष्टक्रान्तिविधायिनः खलु पराऽभिद्रोहं साक्षादाचरन्तो झटित्येव जगतीमिमां विनाशयन्तीति ध्वन्यतेऽनया । अत एव पूर्वाऽपेक्षया दशगुणितधिक्कारयोग्या इमे । ये च परतन्त्रा अपि दुष्टक्रान्तिमेव सेवन्ते ते तु सर्पमुखगतमण्डूकः शलभभक्षणमिव कुर्वाणा स्वयं नष्टः परान्नाशयतीति न्यायेन सर्वानपि विनाशयन्तो रौरवं गच्छन्तः सहस्रवारं धिक्कारयोग्या भवन्तीति । तस्मात् दुष्टक्रान्तिर्जात्वपि न विधेया स्वकल्याणेप्सुनाऽपीति बोध्यम् । दुष्टक्रान्त्या कल्याणाऽसम्भवादित्यलं बहुना ॥96॥

एवं श्रेष्ठक्रान्तिकरणं स्वातन्त्र्ययोगक्षेमौपयिकमिति तद्विधानं कर्तव्यत्वेनोपदिष्टम् । दुष्टक्रान्तिकरणं च समस्तस्वातन्त्र्ययोगक्षेमविघातकमिति तन्निषेध उपदिष्टः । तत्र 'कण्टकेनैव कण्टकम्' 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' इति न्यायेन परतन्त्रराष्ट्राणि यदि नाम निजपारतन्त्र्यदूरीकरणाय चौर्यमाचरेयुस्तदा स्वरूपेण निन्दितमपि चौर्यं बुभुक्षाहननपरतया नाऽनार्यत्वप्रापकमनार्यस्वरूपमपीति । सर्वमेतदभिप्रेत्य तदनुमोदयितुं विशेषतया वक्ति—

आततायिविनाशाय क्रियेत क्रान्तिकारिभिः ।
यदि चौर्यं न तच्चौर्यं शौर्यमेव हि तद् भवेत् ॥97॥

आततायीति आततायिविनाशाय—क्रान्तिकारिभिः—यदि—चौर्यं क्रियेत—तत्—चौर्यं—न—भवेत् हि—तत्—शौर्यं—एव—भवेत् ॥

भाव की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? वस्तु का आरम्भ वस्तु से ही होता है । परिणामवाद में भी वस्तु ही रूपान्तरित होती है । अवस्तु नहीं । विवर्तवाद को स्वीकार करने पर भी वस्तुगत सद्रूप में ही समस्त विवर्त की सम्भावना है । अतः अभाव से भाव की उत्पत्ति मानना उपयुक्त नहीं है । इसे स्पष्ट करते हुए कहा जा रहा है कि किया हुआ कर्म ही फल को उत्पन्न कर सकता है । कार्य कारण भाव का यही सिद्धान्त है । किए हुए कर्म के अतिरिक्त कर्म निषिद्ध

आततायिविनाशाय - आततायिनो व्याख्याताः पूर्वमस्माभिः तेषां विनाशः=विशेषेण नाशः अदर्शनं तमुद्दिश्य तादर्थ्ये चतुर्थी 'क्रान्तिकारिभिः'—क्रान्तिः पूर्वलक्षणलक्षिता तां कर्तुं शीलं येषां तैः 'यदि'=पक्षे चौयम्=स्तेयम् 'क्रियेत'=विधीयेत 'तत्'=अनार्यकर्मत्वेन प्रसिद्धम् 'चौर्यम्'=स्तेयम् 'न'=अभावेऽव्ययम्। 'भवेत्'=समाप्येत। 'हि'=यस्मात् कारणात् हेतावत्र होत्यव्ययम्। 'तत्'=चौर्यं 'शौर्यं'=शूरस्य कर्म शौर्यम्। शूरः=वीरः आर्य इति भावः। "शूरो वीरश्च विक्रान्तः" इत्यमरः। तस्य कर्म आर्यकर्मेति भावः। 'एव' निर्धारणेऽव्ययम्। 'भवेत्'=सम्पद्येत। इति। अत्रायमभिप्रायः—चौर्यं किलाऽतीव गर्हितं कर्मेति मन्यन्ते आर्याः। परस्वस्याऽपहरणमप्रकाशे चौर्यमित्युच्यते। चौरस्य कर्म चौर्यमिति। उद्देशश्चाऽत्र पराऽपकार एवेति चौर्यं पराऽपकारकारकमित्यनार्यकर्म। अत एव तदुभयलोकनिन्द्यमिति सर्वैरपि निन्द्यते। अत एव तदननुष्ठेयमपीति सर्वैरपि कथ्यते। अत्रेदमालोचनीयम्—अनार्यमार्यं वा कर्म किम् आर्यत्वयोगक्षेमकारकमार्यं कर्म अनार्यत्वयोगक्षेमकारकमनार्यं कर्म। उद्देशश्चेदार्यस्तत्कर्माऽप्यार्यमनार्यश्चेदुद्देशोऽनार्य तत्कर्माऽपि। ततश्च न स्वरूपतोऽनार्यमनार्यमार्यमार्यं वेति निर्णयः। तदेतत्सर्वमभिप्रेत्यास्याः कारिकाया आरम्भः—आततायिनां खलु सर्वैरपि दण्डनमेवोचितमिति सिद्धान्तितम्। तस्यैव सर्वाऽनुग्राहकत्वेन शम्भुरूपत्वात्, तच्च यत्र जातु चौर्येण सिद्ध्येत तत्र चौर्यमपि न निषिद्धम्। अत्रेदं बोध्यम्—स्वराष्ट्रपारतन्त्र्यनाशाय आततायिनां धनस्याऽप्रकाशरूपेण हरणमनया न विधीयतेऽपितु रागतः प्राप्तमनुमोद्यते एव तेन सति सम्भवे चौर्यं न करणीयम् इति निषेधोऽपि चरितार्थः। किं चेद-

---

या उदासीन होते हैं। निषिद्ध या उदासीन कर्मों के अनुष्ठान कठिन हैं। स्वभाव ही दुरतिक्रम होता है। स्वभाव के विषय में गीता में कहा है—"कोई भी व्यक्ति क्षणभर भी कर्म किए विना नहीं रह सकता है। प्राकृतिक गुणों से प्रेरित होकर मनुष्य को कर्म करना ही पड़ता है"। सभी कर्मों का आरम्भ ही न करना अथवा त्याग कर देना सम्भव नहीं है। कदाचित् निष्कर्मता तो सम्भव ही नहीं है।

मप्यवगन्तव्यम्—चौर्यं किल परस्वस्यैव सम्भवति, न स्वकीयस्येति निसर्गः। परतन्त्रेऽपि राष्ट्रे राष्ट्रस्थं राष्ट्रियाणामेव भवति न्यायतो वस्तुजातम्। तत्र च रभसात्स्वत्वं स्थापयतां न स्वत्वं कदाऽपि समुद्भवितुं शक्यते। अत एव त एव दस्यवश्चौरा वा भवितुमर्हन्ति न परतन्त्रराष्ट्रस्याऽपि चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धिनः परतन्त्रा अपि। तस्मात् स्वराष्ट्रस्वातन्त्र्ययोगक्षेमाय रभसात् स्वत्वं स्थापयतां दुष्टानां वशंगतमपि वस्तुजातं तेषामप्रकाशे हरतां स्वरूपतश्चौर्यमिति भासमानमपि न वस्तुतश्चौर्यरूपमवगाहते। यतो यस्य वित्तस्याऽपहरण तैः क्रियते तद्वित्तं वस्तुतस्तेषामेव स्वकीयमिति। स्वकीयस्य च वस्तुनश्चौर्यं च न जातु केऽपि मन्यन्ते आर्याऽनार्यसाधारणाः सर्वेऽपि लोकाः। एतदेव सुस्पष्टं प्रतिपादयितुमेवाह—तत् चौर्यं न भवेत् इति। यस्य किलाऽपहरणं क्रियते वस्तुतस्तैस्तद्वस्तु, वस्तुतस्तेषामेव वर्तत इति। ननु मन्वादिभिर्जयस्याऽपि धर्म्यत्वप्रतिपादनात् जयेन राष्ट्रमराष्ट्रियैर्वशीकृतमिति तत् स्वमेवाऽराष्ट्रियाणामपि तदेति प्रतिपादितम्। ततश्च तदपहरणं यत् क्रान्तिकारिभिः क्रियते तच्चौर्यमेव स्यादिति चेत् अत्र ब्रूमः—मन्वादीनां तावज्जय आर्यविषया प्रयुक्त एवाऽभिप्रतः नाऽनार्यविषया। अत एव क्षेत्रदारहरादीनामाततायित्वकथनं सङ्गच्छते। अन्यथा आततायिनामपि रभसादाहरणं जय एव स्यादिति क्वाऽऽततायित्वाऽवसरः स्यात्। तेन स्वकीयमेव वस्तु स्वबुद्धिभुजबलेनाततायिभ्यः पुनरपि समस्तकल्याणायापहरणं जय इत्युच्यते। इयमेव चाऽऽर्यविधा। तस्मात् तच्चौर्यमिति समुचितमवोक्तम्। किं तदित्याह—शौर्यमेवेति। शूरो=विक्रान्तः विक्रमशाली इति भावः। विक्रमशाली खलु नाऽऽततायी भवति। यतः स सर्वदैवाऽऽर्यराष्ट्रवादी भवति। तस्य कर्म च

इहलोक तथा परलोक में बुभुक्षा का नाश करना चाहिए, क्योंकि बुभुक्षा ही मनुष्य को पतित बनाती है। यह बुभुक्षा अनिष्टकारिणी है, दुष्ट है। रौरव नामक घोर नरक को प्राप्त कराने वाली है, अतः सहस्रों बार धिक्कार-योग्य है।

अनार्य स्वतन्त्र होते हैं, वे उन्मत्त होते हैं, वे आसुरी सम्पत्ति युक्त होते हैं, वे दुष्टक्रान्ति की उपासना करने वाले होते हैं। वे विनाश की ओर जाने वाले हैं, वे सहस्रवार धिक्कार के योग्य हैं।

समस्तराष्ट्रकल्याणकारित्वं हि स्वराष्ट्रस्वातन्त्र्ययोगक्षेमायत्तमिति तदर्थं चौर्यं कुर्वाणः कथं नाम चौर्यकारी स्यात्। यः खलु कन्दर्पापरपर्याय-बुभुक्षाया दर्पदलनपरायणस्तं विहाय को नु खल्वन्यः शूरः स्यादिह जगति। अत एव योगिवरो भर्तृहरिरप्याह—

मत्तेभकुम्भदलने भुवि सन्ति शूराः।
केचित्प्रचण्डमृगराजवधेऽपि दक्षाः॥
किन्तु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य।
कन्दर्पदर्पदलने विरला मनुष्याः॥

अपि चाह स एव—

आसंसारं त्रिभुवनमिदं चिन्वतां तात तावत्।
नैवाऽस्माकं नयनपदवीं श्रोत्रवर्त्मागतो वा॥
योऽयं धत्ते विषयकरिणीगाढशूराऽभिमानः।
क्षीबस्यान्तः करणकरिणः संयमात्पानलीलाम्॥

सर्वथा बुभुक्षाया निहन्ता परमः शूरः। तेन च बुभुक्षातिहननं तावत्परमेव शौर्यम्। आततायिविनाशनं च बुभुक्षानिहननमेवेति ध्वन-यितुं एव इत्युक्तम्। भवेत् इत्यनेन सम्भावनाऽपि तत्र शौर्यस्यैवेति ध्वन्यते। तेन चौर्यस्य सम्भावनाऽपि तत्र न सामञ्जस्यमावहतीति ध्वन्यते। अत एवाऽशंसानिवृत्त्यर्थं परस्य क्षेत्रादिक्षुमूलकादीनामाहरणं न चौर्यं परिगणितम्। किंच चौर्यमपि कृत्वा स्वसंरक्षणं धर्मं इत्युक्तम्। अथ च आततायिषु यदि तावद्बालगुर्वादयोऽपि प्रविशेयुस्तेऽप्यविचारयतैव हन्तव्या इत्युक्तं मनुना तत्सर्वमपि मनुस्मृत्यादिषु स्पष्टमिति नाऽत्र वितन्यते। भवतु, अत्रेदं च बोध्यम्—आततायिनां विनाशाय वस्तुतो

कौन ऐसा बुद्धिमान् होगा जो स्वयं को रौरव नामक अधोगतिकारक नरक में ले जाना चाहेगा। दुष्ट क्रान्ति करने वाले और दूसरों से साक्षात् द्रोह करने वाले धिक्कार योग्य होते हैं। वे वहां भी दुष्ट क्रान्ति ही करते हैं। दुष्ट क्रान्ति करने वाले ये दूसरों पर द्रोह करते हुए इस जगत् का ही नाश कर लेते हैं। वे सर्प के मुख में मण्डूक की तरह स्वयं को नष्ट करते हुए दूसरे का भी विनाश करते हैं।

यच्चौर्यं तदपि न चौर्यं भवितुमर्हतीत्यभिप्रायः कारिकायाः । अयमर्थः— आततायिनां वित्तं वस्तुतः भवति तस्येनाऽपहरणं चौर्यं वस्तुतः आर्यविधया यत्तेषां वस्तु सम्भवति तदपि यदि तेषामाततायित्वदण्डनाय चौर्येणाऽपह्रियेत क्रान्तिकारिभिः तर्हि तदपि न चौर्यं किन्तु शौर्यमेव तद्भवेत् । अयं भाव :–यद्यपि तच्चौर्यं चौर्यमिति वक्तुं शक्यते, परन्तु तत्तेषां दण्डनायैव विहितमिति तद्व्याजेन समस्तलोक कल्याणमेवोद्दिष्टं परिपूरितमिति कथं तच्चौर्यमिति भवितुमर्हति । समस्तलोककल्याणकरणं हि परममार्यकर्मेति शौर्यमेव तद्भवितुमुचितं न चौर्यमिति । सर्वथाऽपि स्वरूपतो न किमपि कर्म वस्तु वा आर्यमनार्यं वा भवितुमुचितमिति तत्त्वदर्शिनां निर्णयः । उपर्युपरि पश्यतां खलु तच्चौर्यं भासते वस्तुतस्तच्चौर्यमेव न चौर्यम् । यदीत्यनेन च अवसरसाधनचातुर्यं बोधितम् । तदयमर्थः— यस्मिन्नवसरे प्राकट्येनाऽऽततायिदण्डनं न शक्यते विधातुं तस्मिन्नवसरे चौर्यवृत्त्याऽपि दण्डनं सम्भवेत्तदपि कर्तव्यमेव न चौर्यमिति त्याज्यम् । त्यागे राष्ट्रस्य पारतन्त्र्यदाढर्यात् । आततायिपीडाया अवकाशाऽधिक्यलाभात् समस्तलोकाऽनिष्टप्रसङ्गात् । तस्मात् तदानीमस्तेयमेवार्यं कर्म भवति । यतस्तेन समस्तलोकऽपीडा वर्धते । ततश्च अवसरवशात् चौर्यमपि शौर्यफलकमिति शौर्यमेव न चौर्यमिति, तदपि क्रान्तिकारिभिर्विधेयमेवेति रागप्राप्तस्यैवाऽनुमोदनमेतत् इति । आततायिविनाशाय इत्यनेन च बुभुक्षया क्रियमाणं चौर्यं तु चौर्यमवेति तत्र विधेयमिति ध्वन्यते । अथ च बुभुक्षया कृतं शौर्यमपि चौर्यमेव भवतीति

अतः कभी भी दुष्टक्रान्ति नहीं करनी चाहिए, क्योंकि दुष्टक्रान्ति से कल्याण सम्भव नहीं है ।

यद्यपि चौर्य निन्दित है, अनर्थ रूप है और आर्य भाव से विपरीत है, फिर भी "शठे शाठ्यं" की नीति से परतन्त्रता को दूर करने के लिए वह चौर्य भी शौर्य ही है—इसका निरूपण किया जा रहा है—

आततायिविनाशाय क्रियते क्रान्तिकारिभिः ।
यदि चौर्यं न तच्चौर्यं शौर्यमेव हि तद् भवेत् ॥97॥

तादृशं शौर्यं त्याज्यमेवेत्यलम् ।।97।।

एवमाततायिविनाशाय क्रियमाणं चौर्यमप्यनुमोद्य तदर्थं क्रियमाणं दास्यवमप्यनुमोदयितुमाह—

राष्ट्रसंरक्षिणी श्रेष्ठा दस्युवृत्तिरपि स्मृता ।।
शूराणामपि वृत्तिर्न श्रेष्ठा सा राष्ट्रघातिनी ।।98।।

राष्ट्रसंरक्षिणीति । दस्युवृत्तिः—अपि—राष्ट्रसंरक्षिणी—श्रेष्ठा स्मृता—सा—शूराणां—अपि—राष्ट्रघातिनी—वृत्तिः—न श्रेष्ठा । इति पदयोजनिका ।

'दस्युवृत्ति':—दस्यवः=प्रकटं परस्वाऽपहारिणः तेषां वृत्तिः= वर्तनम् । 'अपि' समुच्चयेऽव्ययम् । 'राष्ट्रसंरक्षिणी'—राष्ट्रस्य=पूर्व-लक्षणलक्षितस्य 'संरक्षिणी'=सम्यक् पालनकारिणी । श्रेष्ठा अतिशयेन प्रशस्या 'स्मृता'=कथिता महर्षिभिस्तत्त्वदर्शिभिरिति शेषः । 'सा'= प्रसिद्धा 'शूराणां'=विक्रमशालिनां'अपि' समुच्चयेऽव्ययम् । राष्ट्रघातिनी —राष्ट्रस्य=पूर्वोक्तलक्षणस्य घातिनी=नाशिनी विध्वंसिकेति भावः । 'वृत्ति=वर्तनं 'न'=अभावेऽव्ययम् । 'श्रेष्ठा'=प्रशस्या अत्र 'न श्रेष्ठा इत्येकमेव वा पदम् । 'नैकधा' इत्यादिवन्नशब्देन सह समासः । तेन अधमाऽधमेति तात्पर्यम् । स्मृता इति शेषः इति । अस्या अयमभिप्रायः— प्राकट्येनैव ये धनं परकीयं हरन्ते ते दस्यव इत्युच्यन्ते । परस्वाऽपहरणं चाऽऽततायित्वमेव । तच्चातिनिन्दितं सर्वत्र । बुभुक्षयैव हि तत्र प्रवृत्ति-सम्भवात् तस्या एव न समस्तपापभूतत्वम् । ततश्च दस्यूनां वृत्तिरिव भासमानाऽपि सा यदि राष्ट्रसंरक्षिणी तदा सा अतिप्रशस्यैव । अयमर्थः—

आततायियों के विनाश के लिए क्रान्तिकारियों के द्वारा यदि चोरी की भी जाती है, तो वह शूरता ही है ।

आर्य लोग चौर्य को अतीव निन्दित कर्म मानते हैं । दूसरे धन का हरण करना चौर्य कहलाता है । चौर्य पापकारक होने से अनार्य कर्म कहलाता है । यह उभयलोक के लिए निन्दनीय और अनाचरणीय है । आर्यत्व योगक्षेमकारक कर्म आर्य और अनार्यत्व योगक्षेमकारक कर्म अनार्य होते हैं । यदि उद्देश्य आर्य

परतन्त्रे हि राष्ट्रे वस्तुतो न स्वत्वमराष्ट्रियाणाम् । राष्ट्रियाणां च च पारवश्येन राष्ट्रपदार्थानामाशंसापूरकत्वाऽभावेऽपि न स्वत्वं विच्छेदयितुं शक्यते, तेषां स्वाभाविकस्वत्वात । स्वाभाविकं च न कोप्याऽप्युपायानां विच्छेदयितुं परावर्तयितुं शक्यते केनाऽपि । स्वाभाविकं च परावर्तनीय वा विच्छेदनीय वा चेति परस्परपराहतमेव। ततश्च परकरगतमपि वस्तु वस्तुतः कस्येति पर्यालोचनेन यदि स्वकीयमेवास्ते तदा कथं सा दस्युवृत्तिः सिद्धयेत । तस्या दस्युवृत्तित्वमेव न सम्भवतीति भावः । यद्यपि दस्यूनां वृत्तिरिव सा वृत्तिरस्ति तथाऽविदुषां दृष्टिमलम्ब्य निरीक्षणे सा न दस्युवृत्तिः । यतः सा 'राष्ट्रसरक्षिणी' । राष्ट्रस्य सम्यक् पालनकर्त्री, रक्षण सम्यक्त्वं च समस्तलोकस्य पालनप्रवर्तनम् । अयमर्थः—समस्तराष्ट्राणां यथायथमाशंसितपूरणं बुभुक्षाया निहननं च यथा सम्पद्येत तथा व्यवस्थापन संरक्षणमित्युच्यते चक्षुष्मद्भिः, यतस्ते राष्ट्रज्ञानविचक्षणाः । अत एव सूक्ष्माऽतिसूक्ष्मकार्यार्थदर्शिनस्ते । अत एव महाकविः कालिदासोऽप्याह रघुवंशे—

चक्षुष्मत्ता तु शास्त्रेण सूक्ष्मकार्यार्थदर्शिना ।। (रघु. 4/13)

एवं चोपर्युपरि भासनतायां दस्युवृत्तेरपि परिणामे राष्ट्ररक्षिणीयत्वे सा न दस्युवृत्तिर्वस्तुतः । अथ स्वरूपतो दस्युवृत्तित्वेऽपि नोद्देशतो दस्युवृत्तित्वम् । अथ तस्या दस्युवृत्तित्वे एवाऽऽग्रहो यदि तदेदमुच्यते—दस्युवृत्तिरपीति । अयमर्थ :—दस्यूनामिवाऽपि वृत्तिर्यदि राष्ट्रसंरक्षिणी तदा सा श्रेष्ठा=अतिशयेन प्रशस्या, आर्यकर्मतया कार्यकर्मरूपतामवगाहते । अत एव 'स्मृता' सा । अत्रेदं बोध्यम्—स्मृतं=स्मृतिः भावे क्तः

है, तो उसका कर्म भी आर्य होना चाहिए, यदि उद्देश्य अनार्य है, तो उसका कर्म भी अनार्य होगा ।

आततायियों को दण्ड देना ही उचित है। स्वराष्ट्र की परतन्त्रता के विनाश के लिए आततायियों के धन का अप्रत्यक्षरूप से हरण करना उचित नहीं है, पुनरपि सम्भव हो, तो चौर्य नहीं करना चाहिए। चौर्य तो दूसरे के धन (परतन्त्र) का होता है अपने धन का नहीं । परतन्त्र राष्ट्र में भी राष्ट्रियों का ही

ततश्च 'अर्शआदिभ्योऽच्' "(पा. सू. 5।2।127) इत्यनेन प्राशस्त्ये मत्वर्थेऽच् प्रत्ययः । ततः स्त्रीत्वविवक्षायां टाप् । स्मृतिश्च "अनुभवजन्यं ज्ञानं स्मृतिः" इति गौतमाः काणादाश्च । "अनुभूतविषयाऽसम्प्रमोषः स्मृतिः" (यो. 1/11) इति पातञ्जलाः । स्मृ चिन्तायाम्' इति पाणिनिः । अमरसिंहश्च "स्याच्चिन्ता स्मृतिराध्यानम्" इति प्राह । अत्रेदमाकलनीयम् – पूर्णविज्ञानमन्तरा पूर्णनिर्णयस्याऽसम्भवः । व्यवहारे च पूर्णविज्ञानवान् कोऽपि नास्तीति य एव समस्तराष्ट्रकल्याणकारिनीतिं वर्तयितुमिच्छति स निर्णेता, तादृशानां बहूनां समवाये बह्वपि मतं संविज्ञातं भवतीति सिद्धान्ताऽनुरोधेन बहुमतं ग्राह्यम् । तेषां चेयं स्मृतिः यत् 'दस्युवृत्तिरपि राष्ट्रसंरक्षिणी चेच्छ्रेष्ठा' इति । स्मृतिश्चाऽत एव धर्मशास्त्रमित्युच्यते । अत एव च तत् श्रद्धयैव सर्वकार्येष्वादरणीयं, अज्ञातेऽपि तद्रहस्ये, स्वस्वबुद्धिगतत्वाऽभावेऽन पक्षप्रतिपक्षग्रहणेन शङ्कितव्यम् । तदेतदाहात एव मनुरपि –

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः ॥
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ ॥ (मनु. 2/10)

एवं च तत्तदनुभवनिमग्नाः स्मृतिमत्र इत्युच्यन्ते । राष्ट्रकल्याणाऽधीनं च लोककल्याणम् । राष्ट्रस्यैव समस्तव्यवहारात्मरूपत्वादिहेति मुहुर्मुहुरावेदितमस्माभिः । ततश्च राष्ट्रकल्याणकारिणामेतत्स्मरणम् । ते हि राष्ट्रज्ञानविचक्षणाः । अत एव तेषां स्मरणमेव सर्वाऽतिशायि प्रमाणमिति नास्ति तत्र शङ्कालेशस्याऽप्यवसर इति सूचितं 'स्मृता' इति

स्वत्व होता है । जो उस राष्ट्र पर बलपूर्वक स्वत्व स्थापित करते हैं, उनका स्वत्व कभी नहीं होता है । अतः वे ही दस्यु अथवा चोर होते हैं । क्योंकि उनके द्वारा जिनके धन का अपहरण किया जाता है, वास्तव में वह उन्हीं का धन है । स्वकीय वस्तु की चोरी, चोरी नहीं कहलाती है । जिस वस्तु का वे अपहरण कर रहे हैं, वह वस्तु वास्तव में उन्हीं की है । मनु ने जय (विजय) को भी धर्म ही माना है । अराष्ट्रियों ने जय के द्वारा ही राष्ट्र को वश में किया था ।

परोपादानेन । एतेन राष्ट्रसंरक्षणार्थं दस्युवृत्तिरपि प्रशस्यतमेवेति सूचितम् । कैमुतिकन्यायेन च राष्ट्रसंरक्षिण्याः स्वरूपतोऽप्यार्यवृत्तेस्ततोऽप्याधिक्येन प्राशस्त्यं व्यज्यते । एवं च सर्वथाऽपि येन केनाऽप्युपायेन राष्ट्रसंरक्षणमेव कार्यमिति ध्वन्यते । तदर्थं च दस्युवृत्तिरप्यनुमोद्यते । ततश्च राष्ट्रसंरक्षणाय दस्युवृत्तिं कुर्वाणा अप्यार्या न नाऽऽर्या भवितुमर्हन्ति । अत्रेद त्ववश्यमाकलनीयम्—आरोग्यसम्पादनाय विषमप्युपयुज्यते यथाऽवसरं यथाविधि च परन्तु तत्र महती सावधानताया अपेक्षा भवति । एवमेव राष्ट्रसंरक्षणाय दस्युवृत्तिरपि महत्या सावधानतया उपयोक्तव्या, अन्यथा महानेव हानिप्रसङ्गः । किंचेदमपि बोध्यम्—राष्ट्रसरक्षणं ननु आततायिनां निग्रहणेनाऽऽशसूनां चाऽनुग्रहणेन सम्भवति । ततश्च आततायिनामराष्ट्रियाणां दस्युवृत्त्याऽपि दण्डनमेव प्रशस्यतमम् । अयमर्थः—यदि नामाऽऽततायिनां वस्तुतो यन्नैजं स्वं भवति, तदपहरणं राष्ट्रियैर्दस्युभावमवलम्ब्य क्रियेत तदप्यतिप्रशस्यमेव तस्य हि राष्ट्रसंरक्षणप्रयोजनत्वात् इति । एतदेव द्रढयितुं प्रकारान्तरेणाऽऽह—शूराणामिति । शूरा विक्रमशालिन आर्याः तेषामपि वर्तनं यदि राष्ट्रघातनकरं तदा तन्नियमेनैव भवति । अयमर्थः—"फलेन परिचोयते" इति न्यायेन सर्वस्याऽपि फलेनैव निर्णय । सर्वत्र ततश्च यथाभिलषितफलोत्पादनाऽनुकूल एव व्यापार एव वन्द्यः । किंचाऽत एवोत्कृष्टफलोत्पादकव्यापारमारचयतामवार्यत्वम् । व्यापारेषु नाग्रहो निर्णयविषये उचितः । अत एव भर्तृहरिरप्याह--

उपायाः शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः ।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते ॥

विक्रमशाली आततायी नहीं होता है । वह सर्वदा आर्यराष्ट्रवादी होता है । उसका कर्म शौर्य है, जो सम्पूर्ण राष्ट्र का कल्याण करने वाला है । इस राष्ट्र के लिए चोरी करता हुआ चोरी करने वाला कैसे हो सकता है । आततायियों का धन है, वस्तुतः उसका अपहरण करना ही चौर्य है । आर्यविवा से उनकी जो वस्तु होती है, वह भी यदि उनके आततायीपन को दण्ड देने के लिए क्रान्तिकारियों द्वारा शौर्य से हरण की जाती है, वह भी चोरी नहीं है, किन्तु

तस्मादुपेयस्यार्यत्वे तदुपाया अप्यनुकूला आर्यतां भजन्ते । उपेयस्य चाऽनार्यत्वे तदनुकूला उपाया अप्यनार्यत्वमेवाऽवगाहन्ते । अत एव उपायविषये आग्रहो निरर्थकः । अतो—भर्तृहरिरेवाह **वाक्यपदीये**—

उपेयप्रतिपत्त्यर्था उपाया अव्यवस्थिताः ।

ततश्च राष्ट्रघातनं किलाऽनार्यकर्म तदुद्देशेन शूराणामपि वृत्तिरधमाऽधमैवेति राष्ट्रज्ञानविचक्षणानां तत्त्वदर्शिनां निर्णय एव योग्यः । अत्रेदं बोध्यम् – अमृतमपि यदि मारणफलकं भवेत्, तदा तत्कथममृतं भवेत् । अत एव विचक्षणप्रयुक्तं विषमप्यमृतं भवति, अमृतमपि विषतां भजति । उक्तमप्यत एव **कालिदासेन**—

विषमप्यमृतं क्वचिद् भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया ।
(रघु. 8।46)

एवं च राष्ट्रघातनं कुर्वाणाः शूरा अपि न शूराः, किन्तु वस्तुतो दस्यव एव । 'सा' इत्यनेन प्रसिद्धपरामर्शिना लोकप्रसिद्धा उपर्युपरि भासमाना शूराणामपि वृत्तिः राष्ट्रघातकारिणी न श्रेष्ठा किन्त्वधमाऽधमैवेति तात्पर्यमिति भावः । शूराः खलु शूरा इति सर्वदा आर्यकर्मकरणनिष्णाता इति तेषामेव वृत्तिर्यदि राष्ट्रघातिनी सम्पद्येत तदा कथं नामार्यत्वं तेषामन्येषां वा निर्णेतव्यं भवेत् । एतेन शूरत्वमपि राष्ट्रघातसम्पादकं चेत्तदतीव निन्द्यमिति तादृशं शूरवर्तनं सर्वथा दूरत एव परिहर्तव्यं शान्त्यभिलाषुकैरार्यैः । एतेन कैमुतिकन्यायेन राष्ट्रघातिनी दस्युवृत्तिस्त्वतीव निन्द्यत्वे वाचामगोचरेति ध्वन्यते । तेन च राष्ट्रघातिनां दस्यूनां सर्वतोऽधिकं दण्ड्यत्वमिति द्योत्यते । तस्मात् राष्ट्रघातिनामाततायिनां दण्डनं सर्वश्रेष्ठफलकमिति तदेव सर्वथा समाचर-

---

शौर्य ही है । यद्यपि उस चोरी को चोरी कहा जा सकता है, परन्तु वह चोरी तो उनको दण्ड देने के लिए की गई है । इसे चोरी कैसे कहेंगे ?

यद्यपि उपर से यह दस्युवृत्ति जैसी दृष्टिगोचर हो रही है, किन्तु परिणाम में यह राष्ट्ररक्षिणी है, पूर्णज्ञान के बिना पूर्ण निर्णय असम्भव हैं । व्यवहार में पूर्णज्ञानी कोई नहीं है, जो समस्त राष्ट्र के लिए कल्याणकारी नीति का प्रवर्तन

णीयम् । तदर्थं दस्युवृत्तिरप्याश्रयणीया न स्वरूपत उपर्युपरि अनार्यकर्मतया भासमानेति त्याज्या । शूराणामपि वृत्तिरुपर्युपरि आर्यकर्मतया भासमानाऽपि राष्ट्रसरक्षिणी न चेत्त्याज्यैवेत्यलम् ।।98।।

एवं राष्ट्रसंरक्षणार्थमाततायिनिग्रहणं प्रधानमिति तदर्थं चौरवृत्तिर्वा दस्युवृत्तिर्वा समुचितेत्यनुमोदिता भिक्षावृत्तिः पुनः सम्भवत्येव न राष्ट्रयोगक्षेमसम्पादनायेति पूर्वमेवाऽऽवेदितमस्माभिः । अन्यासामपि राष्ट्रयोगक्षेमसम्पादिकानां वृत्तीनामुपलक्षणमेतत् । एवमेव राष्ट्रघातसम्पादिकानामार्यवृत्तीनामपि त्याग एव विधातव्य इत्यपि सूचितमेव । अथ शौर्यमपि आर्यनिग्रहीतॄणां क्लैब्यमेव परिणामे सम्पद्यते इति तत्त्याग एवोचित इत्यभिप्रेत्याह—

ये नरा विनिगृह्णन्ति श्रेष्ठक्रान्तिविधायिनः ।
शौर्याऽभिमानिनां तेषां न शौर्यं क्लैब्यमेव तत् ।।99।।

य इति । ये— नराः—श्रेष्ठक्रान्तिविधायिनः—विनिगृह्णन्ति—तेषां—शौर्याऽभिमानिनां—तत्—शौर्यं— न—किन्तु—तत्—क्लैब्यं—एव । इति पदयोजनिका ।

'ये'=शूरम्मन्याः क्लीबाः 'नराः'=मनुष्याः 'श्रेष्ठक्रान्तिविधायिनः'—'श्रेष्ठा'=राष्ट्रसंरक्षिणी' इत्युक्तलक्षणा 'क्रान्तिः'=परिवर्तनं संक्रान्तिरित्यर्थः तां विधातुं=आचरितुं शीलं येषां ते तान् 'सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये" (पा. सू. 3।2।78) इति णिनि प्रत्ययः । 'विनिगृह्णन्ति' —विशेषेण निगृह्णन्ति=दण्डयन्ति, दमयन्ति वा निग्रहे विशेषश्च अनार्यभावाऽवलम्बनमेव । अन्यथा ज्ञानं वा । अथ च 'तेषाम्'=नराणाम्'—'शौर्याऽभिमानिनाम्'—शूरो=विक्रमशाली आर्यकर्माचरणपरायणः तस्य कर्म शौर्यम् तस्य अभिमानः=अहङ्कारः "गर्वोऽभिमानोऽहङ्कारः" इत्यमरः । सः निन्दितः अस्ति येषां ते निन्दारूपे मत्वर्थे अत

कर सके, वही निर्णयकर्ता है । उसे बहुमत ग्रहण करना चाहिए । लोककल्याण भी राष्ट्रकल्याण के आधीन ही है । राष्ट्र-संरक्षण के लिए दस्युवृत्ति प्रशस्य है । रोगों को रोगमुक्त करने के लिए अवसर आने पर विषय भी प्रदान किया जाता है, किन्तु इसमें अधिक सावधानी रखनी पड़ती है । इसी प्रकार राष्ट्र-

इनिठनौ' (पा. सू. 5।2।115) इत्यनेनेनिप्रत्ययः। तेषाम् कर्मणि षष्ठी कर्तृकर्मणोः कृति (पा. सू. 2।3।127) इत्यनेन। सम्बन्धसामान्ये वा "षष्ठी" (पा. सू. 2।2।8) इत्यनेन षष्ठी। तत्=अभिमानविषयीभूतमुपर्युपरि भासमानं 'शौर्यम्"=विक्रमशालिनामार्याणां कर्म 'न'=अभावेऽव्ययम्। 'भवति' इति 'किन्तु' इति च शेषः। 'तत्'=शौर्यत्वेनाऽभिमतं 'क्लैब्यम्'—क्लीबः=नपुंसकः कातरः नेतृत्वयोग्यतारहितः दास इति भावः। तस्य भावः=धर्मः कर्म=चेष्टा वा 'एव'=निर्धारणेऽव्ययम्। 'भवति' इति शेषः। सर्वथा तद्दासकर्म दासभावविलसितं नाऽऽर्यविलसितमिति। अत्रेदमाकूतम्—श्रेष्ठक्रान्तिश्च समस्तलोककल्याणकारिणीति सा त्ववश्यं विधेयैवेति निर्णीतमेवाऽस्माभिः। तामन्तरेण लोके शान्तिस्थापनाया असम्भवात्। एवमेव दुष्टक्रान्तिश्च समस्तलोकाशान्तिकारिणीति साऽवश्यं नाशयितव्यैवेत्यप्यस्माभिर्वितत्य निरूपितमेव। दुष्टक्रान्तेरनिरोधेऽविनाशने वा सर्वो लोकः पीडाऽतिशयेनोद्भूतमात्स्यन्यायः समुच्छिद्येत। अतएव कार्यकर्माणि कुर्वन्नेव जिजीविषेदित्युक्तं श्रुतावपि।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।।
एवं त्वयि नाऽन्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।। (ई.उ.2.)

एतेन श्रेष्ठक्रान्तेर्निरोधो विध्वंसोऽपि वा नोचित आर्याणां विधानाय इति प्रतिपादितमेव। तदेवमकार्यकर्मभूत श्रेष्ठक्रान्तिकारिणां निग्रहणमीहितुमप्यनर्हं कुर्वाणानां कुतः शौर्यकीर्तिलेशप्राप्तेरवसरः प्रत्युत क्लैब्यपर्यवसायिनस्तस्य शौर्यस्याऽकीर्तिकरस्याऽभिमानोऽपि वस्तु-

---

सरक्षण के लिए दस्युवृत्ति भी बहुत सावधानी से करनी चाहिए। अन्यथा हानि होने की सम्भावना है। राष्ट्र-सरक्षण तो आततायियों के निग्रह से सम्भव है। अतः अराष्ट्रिय आततायियों को दस्युवृत्ति से दण्ड देना भी उचित है, क्योंकि उसका प्रयोजन राष्ट्र की रक्षा होती है।

राष्ट्रघात अनार्यो का कार्य है, इस दृष्टि से तो शूरों की वृत्ति भी

तोऽतिमौर्ख्यमेव भवतीत्याद्यभिप्रेत्यैवाऽस्याः कारिकाया आरम्भः तदेतदत्राऽवगन्तव्यम् – निग्रहो वाऽनुग्रहो वा मात्स्यन्यायोद्भवेन पीडिते लोकजाते तत्संशमनाय पुनस्तदनुद्भवाय च अवस्थाप्यते इति विश्वेषां विदुषां विदितो राद्धान्तः। एवं च प्रयोजनं खलु निग्रहाऽनुग्रहयोः सवत्र शान्तियोगक्षेमपरता स्थापनमेवेत्यपि सम्पन्नमेव। आविद्वदङ्गनागोपालं शान्तिरेवोपादित्सितेत्यपि न तिरोहित केषामपि।एवं स्थिते पर्यालोचनायमिदम्—यत् श्रेष्ठक्रान्तिविधायिनां निग्रहो वाऽनुग्रहो वा उचितः इति अथेदं चाऽऽलोच्यम्—राष्ट्रसंरक्षणार्थं दस्युवृत्तिं कुर्वाणानामाततायिदण्डनाय चौरवृत्तिं कुर्वाणानां वा क्रिङ्क्रान्तिकारित्वं संक्रान्तिकारित्वं वा। अथ च निग्रहीतव्यास्तेऽनुग्रहीतव्या वा ते इति। पर्यालोचिते च समदृशा सम्पद्यत एवम्–आर्याः सर्वदाऽनुग्रहीतव्या अनार्याश्च निग्रहीतव्याः सवदा। यस्मादियमेव शान्तिस्थापनायै कल्पते सरणिरिति। आर्याश्च पूर्वमस्माभिः "निग्रहाऽनुग्रहा" (रा. 87) इत्येवं संलक्षिता एव तद्विरुद्धाश्चाऽर्यास्तेऽप्यस्माभिः संलक्षिता एव। राष्ट्रसंरक्षिणीं चौरवृत्तिं वा दस्युवृत्तिं वा कुर्वाणा अप्यार्या एव यतस्ते श्रेष्ठक्रान्तिविधायिन एव। तस्मात् तेषामपि निग्रहणमनार्यकर्मैव। अत्रेदं बोध्यम्–श्रेष्ठक्रान्तिः 'संक्रान्तिः' इति सङ्केतिता पूर्वमस्माभिः। सा च द्विविधाऽप्यार्यैः प्रयोज्यैव **उत्तमा मध्यमेति** च सङ्केतिते द्वे विधे। तत्राऽपि निग्रहप्रधाना द्विविधा दण्डपारुष्ययुता तद्रहिता च, अनुग्रहप्रधानाऽपि द्विविधा वाक्पारुष्यरहिता तत्सहिता चेति। भवतु सर्वाऽपीयं संङ्क्रान्तिरिति सदाऽऽचारविषया। अत्रेदं तु बोध्यमेव—राष्ट्रस्वातन्त्र्ययोगक्षेमसम्पादकत्वे एव सङ्क्रान्तित्वमन्यथा क्रिङ्क्रान्तित्वमेवेति। तथा दुष्ट-

---

अधमाधम है। अमृत भी यदि मृत्युफल को देने वाला है, तो वह अमृत कैसे हो सकता है। अतः विद्वानों द्वारा प्रयुक्त विष भी अमृत हो जाता है तथा अमृत भी विष हो जाता हैं। यदि शूर होकर भी राष्ट्रघात करते हैं, तो यह अतीव निन्दनीय है। शान्ति की अभिलाषा करने वालों को इसे दूर से ही परित्याग कर देना चाहिए। इस प्रकार राष्ट्रघाती शूरों का सर्वाधिक दण्डत्व स्पष्ट है। इन्हें दण्ड देना श्रेष्ठ फलदायक है। एतदर्थं दस्युवृत्ति भी स्वीकरणीय है।

क्रान्तिरपि या किलाऽस्माभिः किङ्क्रान्तिरिति सङ्केतिता साऽपि सर्वविधाऽपि अनार्यराष्ट्रवादमनार्यराज्यवादं वा स्थापयितुं आर्यराष्ट्रवादमार्यराज्यवादमपि वा नाशयितुमुपक्रान्तैव दौष्ट्यमावहति नान्यथेति। तस्मात् साऽपि आर्यमुद्दिश्याऽऽचरिता सङ्क्रान्तिनामेवाऽवगाहते। ततश्च तेषामेषां श्रेष्ठक्रान्तिविधायिनां सर्वेषामपि आर्येतरपरम्परया निग्रहणमनार्यकर्मैवेति। अथ स्वात्मानं शूरं मन्यमाना ये केऽपि वा श्रेष्ठक्रान्तिविधायिनो विशेषेण निगृह्णन्ति तेषां तत् शौर्यं न भवति। अत्रेदं तात्पर्यम् —शौर्यं खल्वार्यं कर्म तच्च शान्त्यनुग्रहायाऽशान्तिनिग्रहायैव च विहितं भवत्यार्यकर्म, अन्यथा अनार्यकर्मैव तत् इति तु निर्णीतमेव। श्रेष्ठक्रान्तिकारिणां विनिग्रहेण चाऽशान्तिप्रसार इति शान्तिनिरोध इति तत्कर्म कथमार्यतामवागाढमीशेत। ततश्च तद्ये आचरन्ति नराः=नेतारः अथ च शौर्यं च तन्मन्यन्ते साभिमानिकतया तन्न कथमपि शौर्यं भवितुमर्हति। अयमर्थः—यदि तावत् ते शूराः तत् कथं नाम राष्ट्रघातं पश्येयुः सहेरन् वा। शूरा खल्वार्या न कदापि आर्यराष्ट्रवादघातमार्यराज्यवादघातं वा। सहन्ते इति हि स्वभावः। अत एवोक्तं भारविणाऽपि —

किमपेक्ष्य फलं पयोधरान् ध्वनतः प्रार्थयते मृगाऽधिपः।
प्रकृतिः खलु सा महीयसः सहते नाऽन्यसमुन्नतिं यया॥ (कि. 2।21)

आर्यों का निग्रह करने वालों का शौर्य भी परिणाम में क्लैब्य ही है—

जो श्रेष्ठक्रान्ति करने वाले लोग (अनार्यों को) दण्ड देते हैं, उन शौर्याभिमानियों का वह शौर्य न होकर क्लैब्य ही है।

श्रेष्ठ क्रान्ति समस्त लोक का कल्याण करने वाली है, इसे अवश्य करना चाहिए। इसका निर्णय पहले किया जा चुका है। क्योंकि इसके विना लोक में शान्ति की स्थापना करना असम्भव है। इस प्रकार दुष्टक्रान्ति सम्पूर्ण लोक में

एवं च श्रेष्ठक्रान्तिविधायिनोऽनुगृह्णन्त्येवाऽऽर्यान्न विनिगृह्णन्ति। अत एव आर्याऽनुग्रहणं न पक्षपातेनाऽपि दोषाऽऽवहम्। उक्तमप्यत एव भारविणा—"वीतस्पृहाणामपि मुक्तिभाजां भवन्ति भव्येषु हि पक्षपाताः" (कि 3 12) इति। किं चाऽत एव शौर्याऽभिमानस्तेषां निन्दित एव एतदेव द्योतयितुमत्र निन्दायामिनिः। अत्रेद बोध्यम्—ये तावन्नराः=नेतारः स्वतन्त्राः सन्तो विनिगृह्णन्ति श्रेष्ठक्रान्तिविधायिनः तेषां तावच्छौर्याऽभिमानो निन्दित एव, यतस्ते राष्ट्रघातमाचरन्तोऽनार्यकर्मपरायणा न लज्जन्ते इति। अयमथः—तेषां स मोह एव यत् अनार्यकर्मैवाऽऽर्यकर्मत्वेन मन्यन्ते त। अतएव तादृशज्ञानस्य तामसत्वमेवोक्तं भगवता **श्रीकृष्णेन गीतासु** यथा—

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीताश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥
(गी. 18।32)

अत एव तच्छौर्यं न किन्तु क्लैब्यमेव। आयुर्घृतम् इतिवदभेदोपचारः। क्लीबतामवश्यं प्रापयत्येतादृशं शौर्यमिति क्लैब्यमेव। अथ ये नरा परतन्त्राः ते श्रेष्ठक्रान्तिविधायिनः यदि विनिगृह्णन्ति तत्रेदमालोचनीयम्—ते तु परतन्त्रा इति करणभूता न कर्तृभूताः। स्वातन्त्र्यशक्तिरहितानां न क्वाऽपि कर्तृत्व सम्भवतीति सर्ववादिसिद्धान्तात्। ततश्च यदि ते विनिगृह्णन्त्येव तर्हि स्वतन्त्राणां ते दासा एव प्रेष्या एवेति कथं शूरास्ते भवितुमर्हन्ति दास्यं खल्वनार्यकर्मेति निवेदितः सिद्धान्तः पूर्वमस्माभिः। तस्मात् स शौर्याऽभिमानस्तेषां वृथैवेति निन्दित एव।

अशान्ति फैलाने वाली है। इसका अवश्य विनाश करना चाहिए। यदि दुष्टक्रान्ति का निरोध नहीं किया गया, तो सम्पूर्ण लोक में मात्स्यन्याय फैल जायेगा जो अतिशय पीडादायक तथा विनाशकारी होगा। अतः मनुष्य को कर्तव्य कर्म करते हुए जीवित रहने की इच्छा करनी चाहिए।

अकार्य कर्म से उत्पन्न श्रेष्ठ क्रान्तिकारियों का निग्रह करना उचित नहीं है। ऐसा करने से उन्हें शौर्य, कीर्ति कैसे प्राप्त होगी, अपितु क्लैब्य की प्राप्ति

अत एव न तच्छौर्यं किन्तु क्लैब्यमेव । अत एव गीतासु "दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण" इत्यारभ्य "तन्मे क्षेमतरं भवेत्" इत्येतत्पर्यन्तं ब्रुवाणोऽर्जुनो भगवता श्रीकृष्णेन क्लीबत्वेन निर्दिश्य सम्बोधितः । तथाहि तत्र—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ।

(गीता 2.2)

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ।।

(गी. 2.3)

एवं च परतन्त्रास्तु शूरा एव न निर्देष्टुं शक्यन्ते दासभावमालम्बाना इति तच्छौर्यमेव नास्ति किंतु क्लैब्यमेव शासकमत्या ते श्रेष्ठक्रान्तिविधायिनां निग्रहमाचरन्ति न पुनः स्वेच्छया इदं तु पुनः सम्भवति केचिदज्ञानेन, मोहेन, प्रमादात्, भयेन, धनलोभात्, स्त्रीलालसया अन्येन वा केनापि लोभेन श्रेष्ठक्रान्तिविधायिनस्ते विनिगृह्णन्ति । सोऽयं सर्वोऽप्यनार्यभाव इति सर्वमपि क्लीबभाव एव न शौर्यम् । ये च स्वतन्त्राः राष्ट्रज्ञानविचक्षणाश्च तेनैव कदाचिदप्येवमाचरन्ति । तथाविधमनार्यकर्माऽऽचरन्तश्च लोके क्लीबा एव विनिर्देष्टव्याः न शूराः । यतो भाविक्लैब्यमवश्यं तत्र । अत एव चेदानीमपि क्लीबास्ते । अयमर्थः—शूराश्च श्रेष्ठक्रान्तिविधायिनां निग्रहीतारश्चेति तमः प्रकाशवद्विरुद्धस्वभावम् । एतेन दुष्टक्रान्तिविधायिनां निग्रहीतार एव

होगी । श्रेष्ठ क्रान्तिकारियों का निग्रह उचित नहीं है । आर्यों को सर्वदा अनुगृहीत करना चाहिए तथा अनार्यों को निगृहीत करना चाहिए । शान्तिस्थापना की सही पद्धति है । राष्ट्रसंरक्षिणी चौरवृत्ति या दस्युवृत्ति करने वाले भी आर्य ही हैं, क्योंकि श्रेष्ठ क्रान्ति के कर्ता हैं । अतः उनका निग्रहण अनार्य कर्म है । यह ज्ञातव्य है कि राष्ट्र की स्वतन्त्रता के योगक्षेम के सम्पादन के लिए संक्रान्ति है, अन्यथा वह किङ्क्रान्ति ही है । अपने को शूर मानने वाले और

शूरा इति बोध्यते। तस्मात् शूरा खलु ये स्वात्मनि शौर्यस्याऽभिमानं धारयन्ति तेऽवश्यमेव दुष्टक्रान्तिविधायिनो विनिगृह्णीयुः। अन्यथा तेषामभिमानो वृथवेति निन्दित एव । अतश्च वृथाऽभिमानमाचरतां शौर्यं क्लैब्य एव परिणमते एतेन शूरैः स्वशौर्यं श्रेष्ठक्रान्तिविधायिनां विनिग्रहे प्रयुक्तं क्लैब्यमेवाऽऽवहति न शौर्यमिति सर्वथा तादृश शौर्यं क्लैब्यमिति त्याज्यमेवेत्युपदिष्ट भवति। किंचैतेन श्रेष्ठक्रान्तिविधायिनामनुग्रहाऽसम्भवे क्लैब्यमेव शौर्यं भजतीति द्योतितम् । इतिहासविदः खलु जानन्त्येतत् यत् श्रेष्ठक्रान्तिविधायिनो निगृह्य शौर्याभिमानेन कियान् राष्ट्रघात आचारित एभिः शौर्याभिमानिभिर्मूढतऽभिमानेन मैरिति। भवत्वलमनेन ।।99।।

एवं क्लीबत्वं व्याख्यातम्। संप्रति वस्तुतः शूराः के इत्यपि निर्णेतव्यमिति प्रतिपादयितुमाह—

तर्पयन्ति स्वराष्ट्रं ये शोणितैरुन्निनीषवः ।
धन्यास्ते कृतपुण्यास्ते वन्दनीयपदाम्बुजाः ।।100।।

तर्पयंन्तीति । राष्ट्रं—उन्निनीषवः— ये—शोणितैः—तर्पयन्ति—ते—धन्याः—ते—कृतपुण्याः—वन्दनीयपदाम्बुजाः । सन्ति इति। पदयोजनिका।

स्वराष्ट्रम्—स्वस्य=आत्मनः आत्मीयस्य च राष्ट्रं=पूर्वलक्षणलक्षितम् । उन्निनीषवः— उन्नेतुम् = शान्तिशासनव्यवस्थया, आर्यकितुं इच्छवः आशंसवः ये पुरुषाः शोणितैः=रुधिरैः 'तर्पयन्ति'= प्रीणयन्ति ते पुरुषाः'धन्या'धनं=वस्तुजातं लब्धुमर्हन्ति ते धन्याः"धनगणं

श्रेष्ठ क्रान्ति के विधायक जो व्यक्ति विशेषतः निग्रह करते हैं, उनका वह शौर्य नहीं है।

शौर्य स्वयं का श्रेष्ठ कर्म है। वह शान्ति एव अनुग्रह के लिए तथा अशान्ति के निग्रह के लिए प्रयुक्त होता हैं। श्रेष्ठ क्रान्ति करने वाले के निग्रह से अशान्ति का प्रसार होता हैं और शान्ति का विरोध। जो शूर है, वे राष्ट्रघात को कैसे देख सकते हैं या सहन कर सकते हैं। आर्य ही शूर होते हैं, वे कभी

लब्धा" (पा. सू 4।4।84) इत्यनेन यत्प्रत्ययः 'तो'=त एव पुरुषाः सर्वं वाक्यं साऽवधारणं भवति" इति न्यायेन कृतपुण्याः– कृतं=आचरितं पुण्यं=आर्यत्वप्राप्तिकरं लोकद्वयहितकरं कर्म यैः ते कृतपुण्याः। अथ च वन्दनीयपदाम्बुजाः—पदे=चरणौ एव अम्बुजे कमले धन्यानां कृतपुण्यानामेव चरणौ वस्तुतः कमलोपमानं रूपकं वा अर्हत इति युक्तमेवाम्बुजपदोपादानम् । वन्दनीये=अभिवादयितुं योग्ये स्तोतुं च योग्ये येषां ते तादृशाः सन्ति इति शेषः। अत्रेदमाकूतम्—निग्रहणं हि शूराणामेव कर्म परन्तु तदेवाऽन्यथा प्रयुक्तं क्लैब्यत्वमवगाहते इत्युक्तं पूर्वम्। निग्रहणं किल स्वराष्ट्रपारतन्त्र्यविनाशायाऽत्यावश्यकमेव तच्च परतन्त्रकारिणां शस्त्रादिसाहाय्यमन्तरा न सम्भवति तथा च शस्त्रादिसाहाय्येन शूरा एव दुष्टक्रान्तिविधायिनो निगृह्णन्ति । ते कीदृशा इत्यपि कथनीयमेव। किं च श्रेष्ठक्रान्तिविधायिनो ये विनिगृह्णन्ति ते तु क्लीबा एवेत्युक्तमेव। इदानीं च वस्तुतः शूराः के इत्यपि निरूपणीयमेव। येन शौर्याय प्रयतेरन्नार्याः । तदेतदभिप्रेत्य कारिकाया अस्या आरम्भः स्वराष्ट्रमुन्निनीषवो ये शोणितैस्तर्पयन्ति ते धन्याः। अत्रेदं बोध्यम्—उन्नयनेच्छा किल स्वस्य सर्वस्याऽपि जीवलोकस्य स्वाभाविक्येव। स्वोन्नतिश्च स्वराष्ट्राऽधीनेति प्रथमं स्वराष्ट्रोन्नतिः चिकीर्षितव्या कर्तव्या च। तदर्थं शोणितैस्तर्पयन्ति। अयमर्थः—तर्पणं नामाऽऽशंसापूरणं तच्च केषामिति विशेषाचोदनात् समस्तस्यापि जीवलोकस्येत्यवगन्तुं शक्यते। ततश्च ये स्वराष्ट्रं उन्निनीषवः समस्तजीवजातस्याऽऽशंसां पूरयन्ति ते शोणितैः=रुधिरैः धन्याः। शोणितपदेन तेषां देहारम्भकमुपादानमुपलक्ष्यते। अयं भावः-स्वभावत एव त आर्याः ये स्वराष्ट्रमुन्निनीषवस्तर्पयन्ति

भी आर्यराष्ट्रवाद को विनष्ट होते नहीं देख सकते हैं। जो शौर्य का अभिमान करते हैं, उनकी भी निन्दा ही होती है, क्योंकि वे भी राष्ट्रघात करते हुए अनार्य कर्म में लिप्त होकर लज्जित नहीं होते हैं। यह उनका मोह ही है कि वे अनार्य कर्म को भी आर्यकर्म मानते हैं। अतः वह उनका शौर्य नहीं, अपितु उनका क्लैब्य ही है।

जो परतन्त्र हैं, उन्हें शूर नहीं कहा जा सकता हैं, क्योंकि वे दासभाव को

समस्तमपि संसारम् इति। अथवैवं व्याख्येयम्—स्वराष्ट्रमुन्निनीषवः ये समस्तसंसार शोणितैः तर्पयन्ति । अयमर्थः—शोणितैः इति बहुवचनेन शोणितप्रकारबाहुल्यं द्योत्यते, तेन यत्र यद्योग्यं शोणितं तेन तर्पयन्ति । तर्पणं करणेभूतं शोणितमिति भावः । तेन अनार्यान्निहत्य इति लभ्यतेऽर्थः। अथ वा स्वशरीरं निहत्य स्वशोणितैस्तर्पयन्ति इत्यर्थः । द्वयमपि यथाऽवसरमुपयोक्तुमर्हमेव। तर्पणं च समस्तसंसारस्याऽऽशंसापूरणम् । अथवा आत्मानं व्यष्टिभूतमपि उन्निनीषवः-स्वराष्ट्रं पूर्वोक्तलक्षणं अराष्ट्रियशोणितैः स्वात्मशोणितैश्च तर्पयन्ति । तर्पणं चाऽऽशंसापूरणमेव न बुभुक्षापूरणमिति यथायोग्यं स्वातन्त्र्ययोगक्षेमार्थमायविधयैवेति तु न विस्मर्तव्यमत्र । अत एव राष्ट्रभक्तो राजेन्द्रनाथ आह—

स्वातन्त्र्यतरुराजस्याऽङ्कुरो मा शुष्यतामयम् ।
इत्येवं शोणितैः स्वीयैस्तर्पयामो नवैर्नवैः ।।

एवं भूता एव धन्याः । अथ चैवमपि व्याख्यातुं शक्यते—शोणितैः=रुधिरैः उन्निनीषवः ये स्वराष्ट्रं तर्पयन्ति । अयमर्थः—उन्निनीषा शोणितस्य येषां भवति ते शोणितैरुन्निनीषवः धान्येन धनोतिवदभेदे तृतीया । शोणितशब्दश्च देहाद्यारम्भको दानपरक इति व्याख्यातं पूर्वम् । यथायोग्यविधया उन्निनीषवः ये स्वराष्ट्रं तर्पयन्ति प्रीणयन्ति तत्तदनुकूलयोगक्षेमसम्पादनेनेति भावः । अथ च स्वराष्ट्रमित्यनेन परराष्ट्रस्य निवारणम् । ततश्चायमर्थः सिद्ध्यति-स्वकीयं राष्ट्रं तर्पयन्ति

प्राप्त हुए हैं । दास्य अनार्य कर्म हैं, यह पहले कहा जा चुका है । उनका यह शौर्य नहीं हैं, अपितु क्लैब्य ही हैं । यदि ज्ञान से, मोह से, प्रमाद से, भय से, स्त्री की लालसा से, अन्य किसी लोभ से ये श्रेष्ठक्रान्ति करने वाले किसी का निग्रह करते हैं, तो यह उनका अनार्यभाव ही हैं, क्लैब्य ही है, शौर्य नहीं । जो स्वतन्त्र राष्ट्रज्ञानी हैं, वे कभी ऐसा नहीं करते हैं । इस प्रकार के अनार्य कर्म करने वाले क्लीब ही कहे जा सकेंगे, शूर नहीं ।

एव शोणितैरुन्निनीषवः । अथ च ये स्वराष्ट्रं तर्पयन्त्येव ते शोणितैरुन्निनीषवः इति । अथ स्वराष्ट्रं शोणितैः तर्पयन्ति ते उन्निनीषव एव इति । एवमपि व्याख्येयम्—उन्निनीषव एव ये ते स्वराष्ट्रं शोणितैः तर्पयन्ति । अथ ये उन्निनीषवः ते स्वराष्ट्रमेव शोणितैः तर्पयन्ति इति । अथ ये उन्निनीषवः ते स्वराष्ट्रं शोणितैरेव तर्पयन्ति इति । अथ ये स्वराष्ट्रमेव उन्निनीषवः ते शोणितैः तर्पयन्ति इति । एवं बहुविधतयोद्देश्यविधेयभावविवक्षया व्याख्यातुं शक्यते इयं कारिका सर्वथा चाभीष्टतयाऽनुकूलतर्कपुरःसरं व्याख्यातव्या च विद्वद्भिः । एवं भूता ये त एव धनं लब्धुमर्हन्ति । त एव कृतशुभकर्माणः त एव च वन्दनीयपदाम्बुजाः । अत्र पदाम्बुजेति रूपकालङ्कारेण अतिशयो ध्वन्यते वन्दनीयत्वे । अत्रेदमप्यवगन्तव्यम्—ये आत्मानं उन्निनीषवः स्वराष्ट्रं शोभनमप्यराष्ट्रं शोणितैः तर्पयन्ति, ते धन्याः विपरीतलक्षणया अधन्याः, यतस्ते अकृतपुण्याः अनार्यकर्मकर्तारः । अत एव अवन्दनीयपदाम्बुजाश्च । विपरीतलक्षणा च कविभिर्बहुत्र क्रियते यथा—

उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम् ।
विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्व ततः शरदां शतम् ।।

अथवा विपरीतलक्षणाया अपि नावश्यकता शब्दतः एवाऽयमर्थः सेत्स्यति । तथा हि–ये स्वशोणितैः परशोणितैर्वा स्वराष्ट्रं शोभतमराष्ट्रं

श्रेष्ठ कान्ति करने वालों का निग्रह करने वाले शूर तप एवं प्रकाश की तरह विरुद्ध स्वभाव वाले होते हैं । इसलिए दुष्ट क्रान्ति का निग्रह करने वालों को शूर कहा गया है । वास्तव में शूर वे हैं, जो स्वयं में शौर्य का अभिमान धारण करते हैं, उन्हें दुष्टक्रान्तिकारियों का अवश्य निग्रह करना चाहिए अन्यथा उनका कार्याभिमान व्यर्थ हो जायेगा तथा निन्दित हो जायेगा । व्यर्थ का अभिमान करने वालों का शौर्य क्लैब्य में परिणत हो जायेगा । इन मूर्ख शौर्याभिमानियों ने कितना राष्ट्रघात नहीं किया, यह सभी जानते हैं ।

तर्पयन्ति उन्निनीषवस्ते धन्याः=लब्धधनाः अपि, अवन्दनीयपदाम्बुजाः यतः ते अकृतपुण्याः। अयमर्थः स्वशोणितेन परशोणितेन च रणाङ्गणे परराष्ट्राणि तर्पयन्ति न पुनः स्वराष्ट्रमथ चात्मानमुन्निनीषवः लब्धधना अपि स्वराष्ट्रोपेक्षणात् स्वराष्ट्रविघाताद्वा अशुभकर्मकर्तार इति ते नैव वन्दनीया इति। आत्मोन्नत्यै स्वराष्ट्रस्योपेक्षणं विघातो वा कथं युज्येत इति। अथवेदमपि व्याख्येयम्—शोभनमराष्ट्रमपि ये उन्निनीषवः संसारमात्मानं वा शोणितैर्यथायथं ये तर्पयन्ति ते धन्याः, कृतपुण्याः, वन्दनीयपदाम्बुजाश्च। अयमर्थः--राष्ट्रान्तरमपि आयभावविभूषितं संसारमुन्निनीषवो विशालहृदयतया यथायोग्यशोणितैः तर्पयन्ति त एव धन्याः इत्यादि समानपूर्वेण। सु इत्यनेन अनार्यभावापन्नऽस्य तर्पणं न कुर्वन्ति इत्यपि ध्वन्यते, तेषां खल्वनार्याणां बुभुक्षावत्तया तर्पणस्याऽसम्भवात्। एवं च यथायोग्यं शोणितैस्तर्पणेन स्वराष्ट्रस्योन्नतिर्भवति, धनप्राप्तिः, पुण्यप्राप्तिः, कीर्तिप्राप्तिश्च भवति। अत एवोक्तमप्यन्यत्र--

द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाऽभिमुखो हतः॥

एवं च स्वराष्ट्रोन्नत्यौ शोणितदानेनाऽपि क्रान्तिरावश्यकेति ध्वनितम्। तथाविधया क्रान्त्या खलु धनधर्मयशसां प्राप्तिः सर्वथाऽपि

इस प्रकार क्लीबत्व का तो प्रतिपादन कर दिया गया है। अब वास्तव में शूर या धन्य कौन है, इसका निरूपण किया जा रहा है :—

तर्पयन्ति स्वराष्ट्रं ये शोणितैरुन्निनीषवः।
धन्यास्ते कृतपुण्यास्ते वन्दनीयपदाम्बुजाः ॥100॥

जो अपने राष्ट्र को ऊपर उठाना चाहते हैं, जो अपने रक्त से राष्ट्र को सींचते हैं, तृप्त करते हैं, वे पुण्यशाली धन्य हैं, उनके चरणकमल वन्दनीय हैं।

प्राप्यत एवेति निश्चीयते इति तात्पर्यम् । ननु जयपराजयस्याऽनिश्चिततया कथमेतन्निश्चेतुं शक्यते इति चेन्न, अत्र जये समस्तप्राप्तिर्निश्चितैव । अत्र पराजयेऽपि अनार्यदण्डनजन्यं पुण्यं, स्वराष्ट्रसेवाजन्यं पुण्यं, तेन च अतुलकीर्तिस्तेनैव चोत्कृष्टलोकप्राप्तिस्तु निश्चितैव । अत एव भगवानप्याह—

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ (गी. 2/37)

किं च युद्धे पारतन्त्र्यनिरोधाय स्वातन्त्र्ययोगक्षेमार्थं च निधनमप्यतीव पुण्यमार्यं कर्म । अत एव भगवता—

धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते । (गी. 2/31)
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः । (गी. 3/35) इति चोक्तम् ।

एवं चाऽनार्यनिग्रहणमेव कुर्वतां शूरत्वं धन्यत्वं कृतपुण्यत्वं वन्दनीय पदाम्बुजत्वं च युक्तम् । न पुनः श्रेष्ठक्रान्तिनिरोधकानां शौर्याऽभिमानिनाम् । तस्मात् शूराः खलु शोणितैरपि स्वराष्ट्रं तर्पयन्ति तत एव धन्यादित्वं प्राप्नुवन्ति इति निर्णीतम् । ततश्च शस्त्रास्त्रादिभिः स्वराष्ट्रयोगक्षमसम्पादनाय शोणितैस्तर्पयन्ति, ते न खलु हत्याकारिणः किन्तु संरक्षकाः । ये च तान् हत्याकारिण इति समुद्घोष्य प्राणदण्डनेन दण्डयन्ति, त एव हत्याकारिणः पापाचारा अकीर्तिभाजो नरकगामिनः । अत एव मनुरप्याह—

निग्रहण करना शूरों का कार्य है, किन्तु ये यदि अपने शौर्य का अन्यथा प्रयोग करते हैं, तो वह क्लैब्य ही कहलायेगा । निग्रहण अपने राष्ट्र की स्वतन्त्रता के लिए आवश्यक है, किन्तु वह शस्त्रादि के बिना नहीं हो सकता है । वास्तव में शूर कौन हो सकता है ? इसका निरूपण भी करना ही है । वास्तव में शूर वे हैं, जो अपने राष्ट्र को उन्नति की ओर ले जाना चाहते हैं तथा राष्ट्र को अपने रक्त से सींचते हैं । अपनी उन्नति की इच्छा तो सभी की होती है । अपनी उन्नति भी अपने राष्ट्र के अधीन ही है । पहले तो अपने राष्ट्र की उन्नति के बारे

अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाऽप्यदण्डयन् ।
अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति । (मनु. 8/128)

तस्मात् स्वराष्ट्रस्वातन्त्र्ययोगक्षेमसम्पादनाय शीर्षच्छेदाद्यप्यार्य-
विधया कृतमप्यतीव पुण्यकीर्तिधनादिप्राप्तिजनकमेवेति समुपदिष्टम् ।
अत एवैतद्विरोधिनां शूरम्मन्यानामधोगतिरेव । अत्र सर्वत्राऽपि पुंस्त्वम-
विवक्षितमेव । एवं च उभयलोकसाधकत्वात् शोणितैस्तर्पणमावश्यक-
मेव । किं चेदमपि बोध्यम् । स्वातन्त्र्ययोगक्षेमसम्पादनं मुख्यं तत्खलु
यदि शोणितेन सम्पद्येत तदा शोणितेन सम्पादनीयम् । अथ तदन्तरेणाऽपि
चेत्सम्पत्तिस्तदा तदन्तरेणाऽपि सम्पादनीयम् । नाऽत्राऽऽग्रहः । किन्तु
येषामेष आग्रहस्ते मूढा इत्युपेक्षणीया एवेत्यपि अशोणितैः इति पदं
छित्त्वा व्याख्यातुं शक्यते । परमिदं तु बोध्यमेव । अत्यनार्यभूताः
खल्वराष्ट्रियाः प्रायो भवन्ति । ते किल शोणिततर्पणान्न वशीकर्तुं
शक्यन्ते । किं चेदमपि बोध्यम्—यदि तावत् शासका अनार्याः
शोणितदानं कुर्वीरन् तदा शठे शाठ्यं समाचरेत् इति स्थित्या राष्ट्रियै-
रपि सशोणिता क्रान्तिरवश्यं विधेयैव । अस्यैवोभयलोकसाधकत्वा-
दुपायस्य । परतन्त्रभावेति जीवनाऽपेक्षया मरणमेव श्रेयस्करमित्याद्य-
स्माभिः 'वरं प्राण' (रा 75) इत्यादिभिःसम्यगावेदितमेव । ततश्च
सशोणिता क्रान्तिरवश्यमेव यथायथमुयोज्येत्युपदिष्टमित्यलम् ॥100॥

एवं समुन्नत्यै संसारस्य शोणितैस्तर्पयन्तोऽपि धन्या एवेति समर्थ्य
सम्प्रति स्वातन्त्र्ययोगक्षेमसम्पादकेषु तारतम्यं बोधयितुमाह—

में विचार करना चाहिए । उसके लिए अपना रक्त भी देना पड़े, तो देना
चाहिए । वास्तव में वे ही लोग धन्य हैं ।

शोणित से ही देह का प्रारम्भ होता है । जहां जितने शोणित की
आवश्यकता होती है, वहां उतना शोणित देते हैं, तर्पण का आशय है— समस्त
संसार की आशंसा की पूर्ति, न कि बुभुक्षा-पूर्ति । यह तर्पण अनार्यों को मारकर
हो या अपने शरीर को मारकर उसके रक्त से हो । यथावसर दोनों रूप हो
सकते हैं ।

स्वतन्त्रराष्ट्रियकुले जायन्ते सुभगा नराः ।
ईषत्प्राग्भवपुण्येन कोऽपि नाऽस्त्यत्र संशयः ।। 101 ।।

स्वतन्त्रेति । सुभगाः—नराः -- स्वतन्त्रराष्ट्रियकुले—जायन्ते—ईषत्प्राग्भवपुण्येन—अत्र—कः—अपि—संशयः — न—अस्ति । इति पदयोजना ।

'सुभगा'--शोभनं=स्पृहणीयं सर्वस्याऽप्युपादेयतया भगः=श्रीकाममाहात्म्यवीर्यादिर्येषां ते सुभगत्वं व्याख्यातं प्रागस्माभिरिति नाऽत्र पुनर्व्याख्यानमपेक्षते । 'नराः'=मनुष्ययोनयः स्वतन्त्रराष्ट्रियकुले—स्वतन्त्रं=स्वायत्तं यत् राष्ट्रं=पूर्वलक्षणलक्षितं "परराष्ट्रस्य" (रा.22) इत्यनया कारिकया स्वतन्त्रराष्ट्रलक्षणं प्रागस्माभिरेवोक्तम् । तस्य ये चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धिनः ते स्वतन्त्रराष्ट्रियाः तेषां कुलं=वंशः जनपदो वा "कुलं जनपदे गोत्रे" इति कोशात् । अथवा कुलमाचारः तदुक्तमन्यत्र—'न कुलं कुलमित्याहुराचारः कुलमुच्यते' इति । स्वतन्त्रराष्ट्रियाणामाचारे इत्यर्थः । 'जायन्ते'=प्रादुर्भवन्ति जनी प्रादुर्भावे । 'ईषत्प्राग्भवपुण्येन'--प्राक्=पूर्वकालिकाः ये भवाः=जन्मानि तेषां पुण्य=शुभकर्म तदपि ईषत्=किंचित्परिमाणमेव न बहुपरिमाणम् । तेन हेतुना हेतौ तृतीयाऽत्र । अत्र=एतद्विषये 'कः'=पृच्छाविषयः 'अपि'=सम्भावनायां समुच्चये वाऽव्ययम् । 'संशयः'=सन्देहः

जो अपने राष्ट्र को अपने या दूसरों के रक्त से सींचते हैं, वे धन्य हैं, पुण्यशाली हैं, उनके चरण कमल वन्दना के योग्य है, वे भी वन्दनीय हैं । इससे यह प्रकट होता है कि अपने राष्ट्र की उन्नति के लिए रक्तदान करके भी क्रान्ति करना आवश्यक हो, ऐसी क्रान्ति से निश्चय ही धन, धर्म, यश की प्राप्ति होगी । रक्त-दान करने के कारण ही रण में मारे गये सैनिकों को इतना सम्मान दिया जाता है । जिस राष्ट्र के अन्न जल से हमारे शरीर में रक्त का निर्माण होता है, उस रक्त का उपयोग जो राष्ट्र की उन्नति में करते हैं, वे वास्तव में

विरुद्धकोटिद्वयाऽवगाहिज्ञानजन्यज्ञानं विचिकित्सेति यावत् । 'न' अभावेऽव्ययम् । 'अस्ति'=भवति । इति । अत्रेदमाकूतम् –

स्वभावत एवोत्कृष्टत्व यत् किल दृश्यते तदपि नान्तरेण कर्म सम्भवतीति इह जन्मनि दृश्यमानमुत्कृष्टत्वं जन्मसिद्धमपि प्राग्भवसमर्जितं पुण्यकर्माऽनुमापयत्येव । अत एव भगवानपि **गीतासु** प्राह--

शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ।। (गी. 6/41)
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।। (गी. 6/42)

योगश्च 'समत्वं योग 'उच्यते' (गी. 2/48) 'योगः कर्मसु कौशलम्' (गी. 2/50) इत्यंवं रूपेण भगवानेवाह । ततश्च ये तावत् सौभाग्यवन्तो नराः ते स्वतन्त्रराष्ट्रियकुले जायन्ते, यतस्तैरीषत् पुण्यकर्म विहितमासीत्पूर्वस्मिन्जन्मनि तस्यैवाऽयं प्रभावः यदिह ते जन्मनैव नरत्वं प्रतिपन्नाः । अत एव सुभगा अपि दृश्यन्ते, यतः स्वतन्त्रराष्ट्रियकुले एव प्रादुर्भूतास्ते । ननु प्राग्भवपुण्यप्रभावाद्यदि जन्माप्यते स्वतन्त्रराष्ट्रियकुले तदा तत्कथमीषत्पुण्यम् ? तत्तु महदेव पुण्यमिति वक्तुं साम्प्रतमिति चेन्न यतः तस्यैतादृशजन्मनो जातु अभिमानकारकत्वसम्भवात् । अभिमानस्य च कुत्सिततयाऽवनतिनिदानत्वात् । अयमाशयः--स्वातन्त्र्ये पूर्वं विद्यमाने तत्प्राप्तिपरिश्रमाज्ञानेनाऽकाण्डपातोपनततया मोहकारकत्वमवश्यं प्रायः सम्भवति । उक्तमप्यत एव-अकाण्डपातोपनता न कं लक्ष्मीविमोहयेत्' इति । किं च अनायासप्राप्तस्य सौभाग्यस्य रक्षणे न तादृक्काठिन्यमिति किं तेषामधिकं पुण्यमत् एव न तेषां किं नाम विशेषकीर्ति-

---

धन्य हैं, स्वधर्म की रक्षा करने में मृत्यु भी श्रेष्ठ है । जो ऐसे राष्ट्रप्रेमियों को हत्याकारी मानकर उन्हें प्राण दण्ड देते हैं वे वास्तव में हत्याकारी, पापाचारी, अकीर्तिमान् तथा नरकगामी हैं । जो दण्ड देने के योग्यों को दण्ड नहीं देते हैं, तथा जिन्हें दण्ड नहीं देना चाहिए, उन्हें दण्ड देते हैं, वे निश्चित ही नरकगामी होते हैं ।

मात्त्वम्। योगाऽपेक्षया क्षेमस्य सुखसाध्यत्वात्। अत एवोक्तं भारविणाऽपि—

विषयो ऽप्यवगाह्यते नयः कृततीर्थः पयसामिवाशयः।
स तु तत्र विशेषदुर्लभः सदुपन्यस्यति कृत्यवर्त्म यः। (किरा.2/31)

अत एव ईषत्प्राग्भवपुण्ये न इति युक्तमेवोक्तम्। आर्यराज्यवादिनोऽपेक्षया आर्यराष्ट्रवादिन एव महत्त्वं युज्यते वक्तुम्। अत एव आह–

ब्राह्मणस्य च देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते।
कृच्छ्राय तपसे चैव प्रेत्याऽऽनन्त्यसुखाय च।।

एवं च ईषत् प्राग्भवपुण्यमवश्यमस्ति तेषां ये स्वतन्त्रराष्ट्रियकुले प्रादुर्भवन्ति। ईदृशदुर्लभजन्मप्राप्तिरेव तेषाममुं संशयं विच्छिनत्ति यत् तेषां किमपि पुण्यमस्ति न वा इति। अथ च तेषां पुण्यमल्प वा बहु वाऽस्ति एतादृशमपि संशयं विच्छिनत्येव। यतः स्वतन्त्रराष्ट्रियकुले प्रादुर्भावः स्वातन्त्र्ययोगकारिणापेक्षयाऽत्यल्पकीर्तिकर इति न बहुपुण्यमस्तीति निर्णय एव। एवमेव पुण्यकर्मान्तरेतादृग् जन्म न सम्भवतीत्यपि निर्णीतमेवाऽऽस्ते यदीषत्प्राग्भवपुण्यमेषामस्त्येवेति। अत एव भगवताऽपि योगिकुलप्रादुर्भावापेक्षया शुचिश्रीमद्गृहप्रादुर्भावस्याऽपकृष्टत्वमुक्तम्। तथा हि—

एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्। (गी 6/42)

एवं च निःसंशयमेवैतत् यत स्वतन्त्रराष्ट्रियकुले ये सुभगा नरा जायन्ते तेषामीषत्प्राग्भवपुण्यमवश्यमेवाऽस्ति। अत्रेदमवगन्तव्यम्—ये

अब स्वातन्त्र्य हेतु योगक्षेम सम्पादन करने वालों में उपर्युक्त का तारतम्य बताते हुए कहते हैं। पुण्यशाली लोग ही स्वतन्त्र राष्ट्र में जन्म लेते हैं, इसी का निरूपण किया जा रहा है :–

स्वतन्त्रराष्ट्रियकुले जायन्ते सुभगा नराः।
ईषत्प्राग्भवपुण्येन कोऽपि नास्त्यत्र संशयः।। 101।।

ईषत्प्राग्भवपुण्येन सुभगा नराः ते स्वतन्त्रराष्ट्रियकुले जायन्ते । अयमर्थः- ईषत् यत् पूर्वजन्मनि समर्जितं पुण्यमार्यकर्मजन्य इष्टजनकोऽपूर्वविशेषः तत्प्रभावेन ये नराः सुभगसौभाग्यवन्तः ते एव स्वतन्त्रराष्ट्रियकुले स्वायत्तशासननियमप्रबन्धव्यवस्थाकराष्ट्रियजनपदे तादृशवंश आचारे वा प्रादुर्भवन्ति इति । निर्विचिकित्सः सिद्धान्तोऽयं सर्वस्याऽपि लोकस्य । अत्रेदमाकलनीयम्—स्वतन्त्रराष्ट्रियकुले जन्मप्राप्तिः खलु नाऽति-कृच्छ्रसाध्या, यतः सा हि खलु ईषत्प्राग्भवपुण्येनैव प्राप्या । अत एव ते नराः मनुष्याः सुभगाः सौभाग्यवन्तः न पुनः सूद्योगा अपि भवन्ति किं च अनुग्राह्याणामनुग्रहीत्रपेक्षयाऽपकृष्टत्वमेव भवति । यतो ऽनुग्राह्याः खलु पराऽवलम्बिनो भवन्ति । अनुग्रहीतारश्च स्वावलम्बिन इति समुत्कृष्टा अनुग्राह्याऽपेक्षया । यद्यपि आपातरमणीयबाह्यभोग-प्राप्तिः सौभाग्यशालिनामनुग्राह्याणामेवाऽधिका दृश्यतेऽथापि मन-स्विनां सुखदुःखसाम्यात् समस्तकल्याणायैव सर्वदा यतमानानामेवो-त्कृष्टताधिवयं योग्यम् । स्वतन्त्रराष्ट्रियकुले ये जायन्ते ते परानुगृहीतार एवेदानीं दृश्यन्ते, यतस्ते सौभाग्याऽनुगृहीता एव । सुभगास्तु सन्त्येव परेषामपि पारतन्त्र्यनाशकत्वयोग्यताव-त्वात् । यदि परोपकारस्पृहा स्यात्तदाऽवसरसामग्रीसत्तमा सुभगत्वं नरत्वं चास्त्येव । अत्र पुनः संशयः किम्प्रकारकोपि सम्मानयितु-मपि न शक्यते । परन्तु तादृशानां कष्टसहने प्रवृत्तोद्दृश्यमानताया अभावेनैवैतदुच्यते यत् ईषत्प्राग्भवपुण्यमासीत् । एतेषां यस्य प्रभावादिमे

ऐश्वर्यवान् मनुष्य स्वतन्त्र-राष्ट्रियकुल में उत्पन्न होते हैं। इसमें कोई भी संशय नहीं है ।

जीवन में जो स्वभावतः उत्कृष्टता दिखायी देती है, वह पुण्य कर्मों के बिना सम्भव नहीं है । इस जन्म की श्रेष्ठता का अनुमान पूर्वजन्म के पुण्यों से लगाया जाता है । गीता में भी इसकी पुष्टि की गई है । उन्हीं पूर्व जन्म के शुभ कर्मों के प्रभाव से मनुष्य श्रेष्ठ कुल में जन्म लेता है । कुछ तो पूर्व जन्म के पुण्य उनके अवश्य थे, जो उन्होंने स्वतन्त्र राष्ट्र में तथा उच्च कुल में जन्म लिया । इसीलिए वे सुभग या सौभाग्यशाली दिखलाई पड़ते हैं ।

स्वतन्त्रराष्ट्रियकुले प्रादुर्भूताः । अत एवेमे सौभाग्यवन्तो नराः पूरिताशंसा इति मा नामाग्रे प्रमादिनो वा आलस्यवन्तो वा भवेयुरिति ईषत्प्राग्भवपुण्येनेत्युच्यत इत्यलम् ।।101।।

एवं लोके सौभाग्यवन्तः के इति निरूपितम् । अथ च ततोऽप्युत्कृकृष्टत्वं केषामस्तीत्यपि निरूपणीयं साम्प्रतम् । तच्चाऽवश्यकमाचारप्रवृत्यै लोकानां कल्याणाऽभिलाषिणामित्याह—

तथाऽप्यनन्तजन्मात्तपुण्यपुञ्जेन जन्म ते ।
अस्वतन्त्रकुले प्राप्य दण्डयन्त्याततायिनः ।।102।।

तथापीति । तथा—अपि—ते—अनन्तजन्मान्तपुण्यपुञ्जेन—जन्म—अस्वतन्त्रकुले—प्राप्य—आततायिनः—दण्डयन्ति । इति पदयोजनिका ।

तथा अपि=तथा इति सादृश्ये अपि इति समुच्चये । तत् शब्दात् 'प्रकारवचने थाल्' । (सू. 5/3/23) इत्यनेन थाल् । अत एव च तथा=तत्साम्ये सति इत्यर्थो निष्पद्यते । अत एवाऽमरसिंहोऽप्याह —

व वा यथा तथेवैवं साम्ये हो ही च विस्मये ।।

ततश्च तत्प्रकारे सत्यपि इति सम्पिण्डितोऽर्थः सम्पद्यते । ते=सुभगा नराः अनन्तजन्मात्तपुण्यपुञ्जेन—नाऽस्ति अन्तः येषां तानि

सौभाग्यशाली व्यक्तियों के होने में पुण्य अवश्य सहायक होते हैं—यह तो निश्चित है । अनुग्रही स्वतन्त्र होते हैं, अनुग्राही परतन्त्र । वे सौभाग्यशाली दूसरों की परतन्त्रता का भी विनाश करते हैं । पूर्वजन्म के कर्मों का प्रभाव उत्कर्षापकर्ष में अवश्य होता है । इस कारिका से यह ध्वनित होता है कि स्वतन्त्र राष्ट्रिय कुल में उत्पन्न वे सौभाग्यशाली होते हैं । उनकी आशंसाएं पूर्ण होती हैं ।

अनन्तानि अगणितानि जन्मानि प्रादुर्भावाः तैः तेषु वा आत्तः=समर्जित-
श्चाऽसौ पुण्यानामार्यकर्मजन्याऽपूर्वाणां पुञ्जः=राशिः तेन 'जन्म'=प्रादु-
र्भावः अस्वतन्त्रकुले' अस्वतन्त्रं=पराधीनं कुल=वशः तस्मिन् अथवा अ-
स्वतन्त्राणां परतन्त्राणां कुल वशः अथ च अस्वतन्त्रं कुलं=जनपदः राष्ट्र-
मिति भावः। अथ वा अस्वतन्त्राणां=पराधीनानां कुलं=जनपदः=
राष्ट्रमिति यावत्। अथ वा अस्वतन्त्र=पराधीनं कुलमाचारः यस्मिन्
अस्वतन्त्राणामाचारे वा सर्वथाऽपि व्याख्यातव्यमानुकूल्यमालोच्य।
'प्राप्य'=उपलभ्य 'आततायिनः'=दुष्टक्रांतियोगक्षेमपरायणात् विशेषो
व्याख्यात एवाऽऽततायिविषयेऽस्माभिः पूर्वमेव। 'दण्डयन्ति'=सामा-
दिभिश्चतुर्भिरप्युपायैर्यथायोग्यमार्यीकुर्वन्ति। इति। इदमत्राऽऽकूतम्—
स्वकीयसौभाग्यतः प्राप्तस्य स्वस्याऽऽर्यत्वस्य क्षेमकरण खलु न तादृक्काठि-
न्यमावहति यथा अप्राप्तस्य स्वस्याऽऽर्यत्वस्य योगकरणम्। अयमर्थं स्व-
तन्त्राणां खलु कर्तव्यमेकमेव भवति यत् क्षेमसम्पादनमात्रम्। अस्वत-
न्त्राणां पुनर्द्वयं कर्तव्यम्। स्वातन्त्र्ययोगः तत्क्षेमसम्पादन च। तच्च द्वि-
विधकार्यकरणसामर्थ्यं खलु पूर्वाऽपेक्षया कठिनतरमेव। अत एव कठिन-
तरकर्मकरणशक्तिसम्पन्नत्वे नेषत्पुण्यप्रभावसम्पाद्यमिति सुतरां सिद्ध्यः-
ति। किं च आर्याऽनुग्रहाऽपेक्षयाऽपि। अनार्यनिग्रहणमतीव कठिनम्। अ-
नार्यनिग्रहणमन्तरा च न स्वातन्त्र्यप्राप्तिः सम्भवति जात्वपि। ततश्च
तदाचरतां जन्म नेषत्पुण्यप्रभावतः प्राप्यमित्यपि स्फुटमेव। किं च

यदि पुण्यशाली अस्वतन्त्र कुल में जन्म प्राप्त करके भी आततायियों को दण्ड देते हैं तो वे अधिक श्रेष्ठ हैं—इसका निरूपण किया जा रहा है—

तथाऽप्यनन्तजन्मात्तपुण्यपुञ्जेन जन्म ते।
अस्वतन्त्रकुले प्राप्य दण्डयन्त्याततायिनः ॥ 102 ॥

तो भी वे अनेक जन्मों में प्राप्त पुण्यों के प्रभाव से अस्वतन्त्र कुल में जन्म लेकर आततायियों को दण्ड देते हैं।

स्वतन्त्रकुलसम्भूतानां सौभाग्यत एव समग्राऽनार्यनिग्रहणसामग्री-लाभात् स्वक्षेमसम्पादनमनार्यनिग्रहणं वा न तथा महत्त्वमापादयति। अस्वतन्त्रकुलसम्भूतानां पुनः अनार्यनिग्रहसामग्र्या अपि सत्त्वाभावात् तदुत्पादनपरःसरं तेषां निग्रहणं ततश्च स्वस्वातन्त्र्यस्य प्राप्तिः पुनश्च तत्क्षेमसम्पादनमित्यहो कठिनकार्यबाहुल्यम्। अथ च समस्तस्याऽपि विषमतमकार्यजातस्य सम्पादनं कियद्विशिष्टशक्तिसम्भवमिति पर्यालोचनेनेदं सुतरां निष्पद्यते एव यत् एतादृक्शक्तिप्राप्तिर्नैकत्प्राग्भवपुण्येन सम्भावयितुं शक्यते इति। अतो युक्तमुक्तं खलु अनन्तजन्मात्तपुण्यपुञ्जेन इति। ननु अस्वतन्त्रकुले खलु जन्मप्राप्तिः दौर्भाग्यसूचिका यतोऽस्वातन्त्र्यं नामाऽतिदुःखकरम्। ततश्च कथमुच्यते अनन्तजन्मात्तपुण्यपुञ्जेन अस्वतन्त्रकुले जन्म प्राप्येति इति चेदङ्ग! भ्रान्तो भवानेवं वदन्। नाऽस्माभिरिदं प्रतिपाद्यते यत् अस्वतन्त्रकुले जन्मनःप्राप्तिकारणमनेकजन्मात्तपुण्यपुञ्ज इति। किन्तु आततायिनो दण्डनायैतादृशकुले जन्मनः कारणं तदिति ब्रूमो वयम्। आततायिदण्डनस्याऽतिशयेन काठिन्यं तु विश्वविदितमेव। तादृशकठिनकार्ये प्रवृत्तिः खलु वस्तुत एवाऽनन्तजन्मात्तपुण्यपुञ्जप्रभावादेव सम्भवति। तत्र साफल्यं वैफल्य वा भवतु तत्तु सौभाग्याधीनमेवेति वक्ष्यतेऽग्रिमकारिकायाम्। अत एव खलु महापुरुषाः अस्वतन्त्रकुल एव प्रायः प्रादुर्भवन्ति। अत एवाऽधर्मप्रचाराधिक्ये एव भगवतोऽवतारग्रहण दृश्यते श्रूयते च। तदाह गीतायां भगवान् श्रीकृष्णः पार्थं प्रत्येवम्—

अपने सौभाग्य से प्राप्त आर्यत्व की रक्षा करना उतना कठिन नहीं है, जितना आर्यत्व को प्राप्त करना। स्वतन्त्र लोगों का केवल एक ही कर्तव्य होता है कि वे प्राप्त वस्तु का संरक्षण करें। अस्वतन्त्र लोगों को तो अप्राप्त आर्यत्व को प्राप्त भी करना होता है तथा प्राप्त आर्यत्व की रक्षा भी करनी पडती है। आर्यों के अनुग्रह की अपेक्षा अनार्यों का निग्रह अतीव कठिन है। सभी कठिन

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् (गी. 4/7)

एवं दण्डनायाऽऽततायिनामस्वतन्त्रकुलेपि जन्माऽतिदुर्लभमेवेति सुष्ठूपपद्यत एवाऽनन्तजन्मात्तपुण्यपुञ्जेनेति। अत एव भगवता धीमतां योगिनां कुले जन्मप्राप्तेर्दुर्लभतरता प्रतिपादिता शुचिश्रीमद्गृहजन्म-प्राप्त्यपेक्षया। तच्चाऽस्माभिभगवद्वाक्यं पूर्वकारिका-भाष्याऽवसरे एव सवादितमिति नेहोपन्यस्यते। एवं चैवमर्थकं सम्पद्यते—तथा सत्याप सुभगास्ते नराः ये अस्वतन्त्रकुले जन्म प्राप्य आततायिनो दण्डयन्ति। अयमर्थः—पूर्वाऽपेक्षयाऽपि एतेऽतिशयं सौभाग्यवन्तः यत् अतिविषम-कार्यकारिणां कीर्त्यातिशयलाभः। मानधना एव हि भवन्ति महान्तः। नयविद्भिरत एवाऽन्यत्रोक्तमेवमपि—

उत्तमा मानमिच्छन्ति धनं मानं च मध्यमाः।
अधमा धनमिच्छन्ति मानो हि महतां धनम्।,

सुकीर्तिरेव हि परं सौभाग्यं सम्भावितानाम्। अस्वतन्त्रकुले जन्म प्राप्याऽऽततायिनो दण्डयतां स्वतन्त्रराष्ट्रियकुले गृहीतजन्मनां स्वातन्त्र्यक्षेमपरायणानां आततायिनो दण्डयतां वा न साम्यं सम्भवति जात्वपि कीर्तिप्राप्तौ। परेषां विषमतमकार्यसम्पादनेन कीर्त्य-

---

कार्यों का सम्पादन कितना कठिन है, इसके पर्यालोचन से स्पष्ट हो जाता है कि ऐसी शक्ति पूर्वजन्म के पुण्यकर्मों के बिना प्राप्त नहीं हो सकती है।

आततायियों को दण्ड देना भी बहुत कठिन कार्य है। ऐसे कठिन कार्य में प्रवृत्ति भी अनन्त जन्मों के पुण्यकर्म के प्रभाव से ही होती है। उसकी सफलता या असफलता भी सौभाग्य के ही अधीन होती है। महापुरुष प्रायः अस्वतन्त्र

तिशयलाभस्यातिप्रसिद्धत्वादिति निरूपितमेवास्माभिः प्राक्। अत एव भगवता आततायिनां दण्डनाय वारं वारं प्रेरितोऽर्जुनः। अत एव तद्दण्डनेऽपि कीर्तिलाभो भविष्यतीत्युक्तम्। स चाऽत्यन्तमयुक्तमार्यस्येत्यप्याह भगवान् श्रीकृष्ण एवेवमर्जुनं प्रति—

अकीर्तिञ्चाऽपि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
सम्भावितस्य चाऽकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ (गी. 2/34)

ततश्च पूर्वाऽपेक्षयाऽपि सौभाग्यशालित्वमेषामिति समुचितमेव अस्वतन्त्रकुले जन्म प्राप्य दण्डयतामाततायिनामिति। तदेतच्च सौभाग्यशालित्वप्राप्तिमेव सूचयति यदेभिरस्वतन्त्रकुले प्राप्तजन्मभिराततायिनो दण्डयद्भिरनन्तेषु जन्मसु समर्जितो महान् पुण्यराशिः। यत् प्रभावादमीषां स्वातन्त्र्ययोगक्षेमसम्पादनायाततायिनां दण्डनाय प्रवृत्तिः समस्ति। सर्वथाऽप्याततायिनो दण्डयतामेव धन्यत्वं पूर्वाऽपेक्षया। अत्रेदं बोध्यम्–'तर्पयन्ति' (रा. 100) इत्यनया कारिकया धन्यस्वकुलपुण्यत्वं वन्दनीयपदाम्बुजत्वं चोक्तम्। तथापि तारतम्याऽऽलोचने स्वतन्त्रराष्ट्रियकुले ये प्राप्तजन्मानस्ते सुसौभाग्यवन्तः सन्त्येवाऽथाऽपि तेभ्योऽप्यधिकतया आततायिदण्डनायऽस्वतन्त्रकुले प्राप्तजन्मानो धन्यतरा एवेत्युपदिष्टमित्यलमधिकेन।

कुल में ही जन्म लेते हैं। अतः जब अधर्म का प्रचार अधिक हो जाता है, तब भगवान् जन्म लेते हैं जैसा कि गीता में कहा गया है। योगियों के कुल में जन्म लेना तो दुर्लभ है ही। पूर्वापेक्षया वे अधिक सौभाग्यशाली हैं, जो अतिविषम कार्य करते हैं तथा सम्मान ही जिनका धन होता है।

सुकीर्ति भी सौभाग्य का ही सूचक है। पुण्यशालियों को ही कीर्ति मिलती है। आततायियों को दण्ड देने के लिए अस्वतन्त्र कुल में जन्म लेने वाले तथा स्वातन्त्र्य-प्राप्ति में संलग्न वे पुण्यशाली लोग धन्य हैं।

तदेवं क्रान्तिकारिणां धन्या धन्यतराश्चोपलक्षताः सम्प्रति धन्यतमा अपि पुरुषा निरूपणीया इति साम्प्रतमित्यालोच्य तन्निरूपणायाऽऽह—

दुष्टां क्रान्ति चिकीर्षूणां भारेणाऽवनतां महीम् ।।
पालयन्ति महात्मानो दण्डयित्वाऽऽततायिनः ।।103।।

दुष्टामिति । महात्मानः- दुष्टां— क्रान्ति - चिकीर्षूणां—भारेण- अवनतां—महीं—आततायिनः—दण्डयित्वा—पालयन्ति । इति पदयोजनिका ।

'महात्मानः'—महान्=विशालः परिपूर्ण आत्मा "चैतन्यमात्मा" (शि. सू.1-1) इत्युक्तलक्षणः शिवसूत्रादौ येषां ते महात्मानः 'दुष्टां= लोकद्वयीनाशकारिणीमत एव लोकद्वय्यां नाशनीयां अशान्तिकारिणीं अनार्यपुंयुगाऽनार्यस्त्रीयुगयोगक्षेमकारिणीमार्यविधयाऽपि 'क्रान्ति'= परिवर्त्तनिकाम् । अयमर्थः—"अराष्ट्रियैराक्रमणं" (रा. 12) इत्यनया कारिकया समुपलक्षितामिति । 'चिकीर्षूणाम्=कर्तुमिच्छावताम् बुभुक्षावशगतया किङ् क्रान्तिपराणाम् । भारेण=वृथाभूतभरेण 'अवनताम्'=अधोगतिं प्राप्ताम् "आततायिनः=पूर्वोक्तलक्षणान् 'दण्डयित्वा'= निगृह्य 'पालयन्ति'=संरक्षयन्ति । इति । अत्रेदमाकूतम्—ये खलु अना-

---

इस प्रकार क्रान्तिकारियों को धन्य एवं धन्यतर कहा गया है । अब जो धन्यतम और श्रेष्ठतम पुरुष हैं, उसके सम्बन्ध में निरूपण किया जा रहा है–

दुष्टां कीर्तिं चिकोर्षणां भारेणावनतां महोम् ।
पालयन्ति महात्मानो दण्डयित्वाततायिनः ।।103।।

महान् लोग दुष्ट क्रान्ति करने वालों के भार से झुकी हुई पृथ्वी का आततायियों को दण्ड देकर पालन करते हैं ।

र्यान्निगृह्याऽऽर्याननुगृह्य सर्वतो महीं पालयन्ति ते महात्मानः। अयमर्थः—पालनं खलु समस्तसंसारस्य ये समाचरन्ति ते महात्मानः। यतस्तेषामात्मा महान् समस्ति। अत्रेदं बोध्यम्—समस्तसंसारस्य योगक्षेमसामर्थ्यशालो महात्मा भवितुमर्हति। ये खलु महात्मानस्ते समस्तसंसारमात्मरूपतया पश्यन्ति। अत एव ते समदर्शिनश्चक्षुष्मन्तो भवन्ति। अन्ये पुनरन्धा एव। एतद् माहात्म्यं समस्तदुःखनिर्दलनचणम्। अत एव समस्तदुःखदूरीकरणाय महात्मभाव एवावश्यकः। अत एवोक्तमपि—

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदैव सर्वलोकानां दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥

एतेन समस्तदुःखदूरीकरणाय महात्मभावो योऽपेक्षितः, स पुनरन्तरेण आत्मपदार्थावगतिं न सुप्राप इति सर्वादावात्मज्ञानं सम्पादनीयमिति ध्वनितम्। आत्मज्ञानमन्तराऽऽत्मानुपलब्धेः। यद्यपि आत्मा सर्वदा शुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः सर्वशक्तिस्वरूपोऽजरोऽमरश्चेति सर्वेषां सवदा नित्यप्राप्त एवास्तेऽथापि कण्ठचामीकरन्यायेनाऽभिज्ञातः स्वात्मप्रच्छादनक्रीडापण्डिततया प्रत्यभिज्ञानेन प्राप्तव्यो भवति। अत एव शिवसूत्रेऽप्युक्तम्—"भूयः स्यात्प्रतिममीलनम्" इति। तल्लाभवतां च न

जो अनार्यों का निग्रह करके आर्यों का अनुग्रह करके पृथ्वी का पालन करते हैं, वे महान् पुरुष होते हैं। उनकी आत्मा महान् है। समस्त संसार के योगक्षेम का जिनमें सामर्थ्य होता है, वे ही महात्मा हो सकते हैं। अतः समस्त दुःखों को दूर करने के लिए महान् आत्मभाव की आवश्यकता होती है।

आत्मपदार्थ के ज्ञान के विना आत्मभाव कैसे हो सकता है? आत्मा सर्वदा शुद्ध, मुक्त स्वभाव वाली होती है। यह आत्मा अजर, अमर एवं सबको

किमपि प्राप्तव्यमवशिष्यते। अत एवात्मविज्ञानवत्तां सर्वशोकसन्तरणं श्रूयते। यथोक्तम्—"तरति शोकमात्मवित्" इति। अन्यत्राऽप्युक्तम्—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

महात्मभावप्राप्त्या सर्वदुःखशोकनिर्दलनमुचितमेव। परिपूर्णत्वात्तस्य। अत एवाऽऽपस्तम्बोऽप्याह—आत्मलाभान्न पर विद्यत इति। अत एव सर्वादौ मुख्यमात्मदर्शनमिति श्रुतिरेवं वक्ति—"आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" इति एवं हि सम्पादितात्मज्ञानविभवः सर्वस्याऽपि जीवजडात्मनो विश्वस्य महीम् "आत्मौपम्येन सर्वत्र यः पश्यति स पश्यति" इत्येवंरूपेण पश्यन्तः पालयन्ति। अत्रेदं बोध्यम्—त एते महात्मानो द्विविधाः व्यवहारसङ्ग्रहपरायणाः अवधूताश्चेति। तत्र च राष्ट्रालोकाऽभिधस्याऽस्य शास्त्रस्य व्यावहारिकमोक्षप्राधान्यात् व्यवहारसङ्ग्रहपरायणा एव महात्मानो ग्रहीतव्या भवन्ति। ते हि सर्वत्र समदर्शिन इति समस्तव्यवहारनिदानभूततया राष्ट्रस्यात्मतया तज्ज्ञानविज्ञानतृप्ताश्च सर्वदा दुष्टनिग्रहशिष्टाऽनुग्रहरूपस्वाभाविकार्यकर्मणि वर्तन्त एव। तदेतद्भगवता स्वनिदर्शनपुरस्कारेण गीतासु प्रतिपादितम्—

सर्वदा प्राप्त है। कण्ठ-चामीकर न्याय से उसका ज्ञान भी हो जाता है। जिसे आत्मा का ज्ञान हो जाता है, उसे अन्य कुछ प्राप्तव्य नहीं होता है। आत्मज्ञान वाले सभी प्रकार के शोक से दूर हो जाते हैं। आत्म-लाभ से अधिक श्रेष्ठ और कुछ नहीं है। अतः आत्म दर्शन मुख्य है। इसीलिए श्रुति कहती है—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः, श्रोतव्यः मन्तव्यः, निदिध्यासितव्यः' अर्थात् आत्मा का दर्शन, श्रवण, मनन और ध्यान करना चाहिए।

न मे पार्थाऽस्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नाऽनवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ।। (गी 3।22)

अत्रेदं बोध्यम्—आर्यराष्ट्रवादिनामपीमे वन्द्यतमाः अत एव महात्मान इत्युक्ताः। एते खलु महात्मान आततायिनो यथायथं चतुर्विधयाऽपि नीत्या चतुर्विधयाऽपि क्रान्त्या दण्डयन्ति समस्तलोककल्याणसम्पादकस्याऽऽर्यराष्ट्रवादस्य संस्थापनाय। आततायिनः पुनर्दुष्टां क्रान्ति चिकीर्षन्तीति तेषां भारेण मही सर्वथाऽवनतिं गच्छति दुष्टक्रान्तेः खलु सर्वथाऽपि समस्तस्याऽपि लोकस्य निरन्तरमकल्याणमेव सम्भवति तेषां भारेण मह्या अवनतिः सम्भवत्येव। अत्रेदं पुनर्न विस्मर्तव्यं यत्—दुष्टक्रान्तिः खलु बुभुक्षावर्धिनीतिना ऽऽनार्याणामपि कल्याणं कर्तुं प्रभवतीति। एवं ते चिकीर्षवोऽपि दुष्टक्रान्तेर्मह्या भारभूता एवेति महीं अवतरन्ति। अत एवोक्तमपि एतादृशामनार्याणां भारभूतत्वमेवाऽन्यत्र यथा—

येषां न विद्या न तपो न दानं, ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः ।
ते मृत्युलोके भुवि भारभूताः मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति ।।

चिकीर्षूणामित्यनेन च इच्छामात्रेणाऽपि पापाऽऽचारस्य मह्या अधोगतिर्ध्वन्यते तेन कैमुतिकन्यायेन तत्र ज्ञाने न भावयतां क्रियया च सम्पादयतां दुष्टक्रान्तिमाततायित्वेऽतिशय एव ध्वनितः। तेन

महात्मा भी दो प्रकार के हैं, व्यवहार संग्रह-परायण तथा अवधूत। व्यवहार-संग्रह-परायण महात्मा समदर्शी, व्यवहारनिपुण, दुष्टनिग्रहसमर्थ एवं कल्याणकारी होते हैं। ये आर्य राष्ट्रियों के लिए भी वन्दनीय होते हैं।

आततायी दुष्टक्रान्ति करना चाहते हैं। दुष्टक्रान्ति बुभुक्षावर्धिनी होती है। अनार्यों का भी कल्याण करती है। इस प्रकार उनके भार से यह पृथ्वी

आततायित्वस्य समूलघातं निहननं महात्मकर्तृकं ध्वनितम् । एतेन पालनेऽनुग्रहकर्मण्यपि तेषामतिशयो ध्वनितः । तेन च एतेषां परिपूर्णनिग्रहाऽनुग्रहसामर्थ्यं ध्वनितम् । एतादृशा एव **गीतासु** सर्वकर्मकर्तारो योगिनश्च पूर्णा इति निर्दिश्यन्ते । तथाहि—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मवित् ।। (गी. 4।18)

एतेन समस्तसंसारस्य निग्रहाऽनुग्रहाभ्यां यथार्थं पालनकर्तॄणां महात्मत्वमुपदिष्टं भवति । तेन च सर्वदा सर्वैरेतदेवोपादेयतया समर्थनीयमित्यपि व्यज्यते यतः खल्वेते सर्वदा समस्तं संसारमात्मस्वरूपमिति विमृशन्तः कल्याणमाचरन्ति । एतादृशानेव पुरस्कृत्य **विज्ञानभैरव** एवं प्रतिपादितम्—

जलस्येवोर्मयो वह्नेर्ज्वालाभङ्ग्यः प्रभा रवेः ।
ममैव भैरवस्यैता विश्वभङ्ग्यो विनिर्गताः ।।

अत एव तादृशमहायोगिनां महिमा वर्णित एवं **चन्द्रज्ञानतन्त्रे** —

यथेन्द्रः पुण्यसङ्काशः समन्तादवभासते ।
आल्हादनसमूहेन जगदाल्हादयेत्क्षणात् ।।

अवनति को प्राप्त होती है । दुष्ट क्रान्ति सम्पूर्ण लोक का निरन्तर अकल्याण ही करती है । अतः उसके भार से पृथ्वी की अवनति होती है ।

समस्त संसार का निग्रह-अनुग्रह करने वाले तथा पालन करने वाले महात्मा होते हैं । इन महात्माओं के सृष्टि-स्थिति-संहार, निग्रह-अनुग्रहादि से समस्त कल्याण सम्भव है । इस प्रकार धन्य, धन्यतर एवं धन्यतम—इन तीन प्रकार के मनुष्यों के बारे में कहा गया है । अब आत्मघाती व्यक्तियों के सम्बन्ध में निरूपण किया जा रहा है—

तद्वद्देवि महायोगी यदा पर्यटते महीम् ।
ज्ञानेन्द्रकिरणैः सर्वैर्जगच्चित्र समस्तकम् ।।
आल्हादयेत्समन्तात्तदवीच्यादि शिवान्तकम् ।

एतेषां च महात्मनां सृष्टिस्थितिसंहारनिग्रहाऽनुग्रहेतिपञ्चविध-कृत्यैः समस्तकल्याणमापादयतां वाचामगोचरमेव धन्यत्वमिति किमधिकेन । आत्मवस्तुनिर्णयश्चास्मत्प्रणीते 'आत्मविलासे' एव सविस्तरमवलोकनीयः इति ।। 103 ।।

इह खल्वेतावत्पर्यन्तं धन्या धन्यतरा धन्यतमाश्चेति त्रिविधा अपि मानवा उक्तास्तेषामेवाऽस्मिल्लोके मुख्यतया, अन्येषां च जीवजडात्मनां सर्वेषां तदधीनत्वात् । अतश्चतुर्थी विधाऽपि हेयतया निरूपणीया एवेति तन्निरूपयितुमाह—

निघ्नन्ति ये स्वराष्ट्रं ते कथिता आत्मघातिनः ।
न तेषां निष्कृतिः प्रोक्ता जन्मकोटिशतैरपि ।। 104 ।।

निघ्नन्तीति । ये—स्वराष्ट्रं—निघ्नन्ति—ते—आत्मघातिनः—कथिताः—तेषां—निष्कृतिः—जन्मकोटिशतैः—अपि—न—प्रोक्ता । इति पदयोजना ।

निघ्नन्ति ये स्वराष्ट्रं ते कथिता आत्मघातिनः ।
न तेषां निष्कृतिः प्रोक्ता जन्मकोटिशतैरपि ।।104।।

जो अपने राष्ट्र का घात या नाश करते हैं, वे आत्मघाती कहलाते हैं । इनका निस्तार सौ-सौ कोटि (करोड़ों) जन्मों में भी नहीं हो सकता है ।

राष्ट्र स्वयं स्वतन्त्र या परतन्त्र नहीं है । इसकी स्वतन्त्रता या परतन्त्रता राष्ट्रिय पुरुषों के अधीन ही है । उन राष्ट्रिय पुरुषों की आशंसा-पूर्ति से ही समस्त राष्ट्र की आशंसा पूर्ति सम्भव है । आर्य अनार्य राष्ट्रवादियों और

'ये'=मानवाः 'स्वराष्ट्रम्'—एवं=चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धि 'राष्ट्र'=उक्तलक्षणम् 'निघ्नन्ति'=विनाशयन्ति 'ते'=स्वराष्ट्रहन्तारः पुरुषाः 'आत्मघातिन.'—आत्मानं स्व घातयितुं शीलं येषां ते कथिताः=उक्ता='तेषां'=आत्मघातिनां 'निष्कृतिः'=निःसरण मुक्तिरिति भावः 'जन्मकोटिशतैः'—जन्म=उत्पत्ति, तथा चाहामरः—

जनुर्जननजन्मानि जनिरुत्पत्तिरुद्भवः ।

तेषां 'कोटयः'=प्रकाराः तासां शतानि=शतसङ्ख्याः तै । 'अपि' समुच्चयेऽव्ययम् । न अभावेऽव्ययम् । 'प्रोक्ता'=प्रकर्षेण आधिक्येन उक्ता=कथिता । कथने प्रकर्षश्चाशक्यतां द्योतयति । अत्रेदमाकूतम् – राष्ट्रं खलु पूर्वलक्षणलक्षितं स्वयमेव स्वातन्त्र्याय पारतन्त्र्याय वा न प्रभवति राष्ट्रियपुरुषायत्तत्वात्तस्येत्यावेदितमेव सम्यगस्माभिः पूर्वमेव । तेषामेव चाऽऽशंसापूरणेन समस्तराष्ट्राऽऽशंसापूरणं सम्भवति । अत एव तानधिकृत्यैवाऽस्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिरित्युप्युक्तमेव । तेषां च द्वयी विद्या आर्याऽनार्येति भेदात् तल्लक्षणानि च पूर्वमुक्तानि । अथ ग्रन्थोपसंहारेऽप्युपक्रमस्मारणेन समस्तशास्त्ररहस्यज्ञानदृढीकरणेन च कर्तव्य इति पुनरपि सकृत्समस्तमपि शास्त्ररहस्यं फलरूपेण निष्पादितं समस्तकल्याणाय निवेदयितुमस्या कारिकाया आरम्भः । ततश्चैवं पर्यवसितम्—समस्तविधकल्याणाकल्याणकरणस्वतन्त्राः पुरुषा एव । ते च

राज्यवादियों के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन पूर्व में किया गया है । अब अधमों का निरूपण किया जा रहा है ।

सभी पाप आत्मघात की अपेक्षा दुर्बल ही होते हैं, समस्त शास्त्रों का यही निष्कर्ष है । प्रकाश, विमर्श, सामरस्य सम्पन्न ही आत्मा होता है, न केवल प्रकाश, न केवल विमर्श ही आत्मा होता है । उसी प्रकार राष्ट्र प्रकाश है, राष्ट्रिय विमर्श है, यह समझना चाहिए । राष्ट्र चेतना है, राष्ट्रिय चैतन्य है, राष्ट्र शिव है, राष्ट्रिय श्रद्धा है । राष्ट्र आत्मा है, राष्ट्रिय शरीर है । राष्ट्र अर्थ

प्रथमतो द्विविधाः आर्याऽनार्येतिभेदात् तेऽपि प्रत्येकं द्विविधाः मुख्य-गौणेति भेदेन चोक्ताऽस्माभिरेव यथा—आर्यराष्ट्रवादिनः, आर्य-राज्यवादिनः, अनार्यराष्ट्रवादिनः, अनार्यराज्यवादिनश्चेति। अत्र एव कश्चिद्विशेषो ऽपि बोद्धव्यः—एते प्रत्येकमुत्तममध्यमाऽधमभेदेन तत्त-द्विशेषतारतम्येन त्रिविधा भवन्तीति तत्रोत्तमानां वर्णनं दुष्टां क्रान्ति, (रा. 103 इत्यनया कारिकया विहितम्। अनया पुनः कारिकया अग्रिमया चाधमानां निरूपणं विधास्यते। अत्रेदं बोध्यम्-सर्वाण्यपि दुष्कृतानि आत्मघाताऽपेक्षया दुर्लभान्येवेति समस्तशास्त्राणां निष्कर्षः। व्यवहारे च समस्तनिदानभूततया समस्तस्याऽपि जीवलोकस्य राष्ट्रमेवात्मा इति निरूपितं पूर्वम्। अत्रेदं च बोध्यम्--प्रकाशविमर्शसामरस्यसम्पन्न एवात्मा न पुनः केवलं प्रकाशो वा विमर्शो वा आत्मा भवति इति रहस्यम्। तथैव राष्ट्रं प्रकाशः राष्ट्रियश्च विमर्शः इति समधिगन्तव्य-मेव। एवं च राष्ट्रं चेतनः राष्ट्रियश्च चैतन्यम्। राष्ट्रं शिवः राष्ट्रियश्च शक्तिः राष्ट्रमात्मा राष्ट्रियः शरीरम्। राष्ट्रं अर्थः राष्ट्रियः शब्दः इति च सर्वमपि व्यावहारिकमोक्षशास्त्ररहस्यम्। अत एव शक्तिमन्तरा शिवः शिव एव न सिद्ध्यति। तदुक्तं—'शक्त्या विना शिवे सूक्ष्मे नाम धाम न विद्यते।' इति। अत एव भगवान् शङ्कराचार्योऽप्याह —

है, राष्ट्रिय शब्द है। यह सब व्यावहारिक मोक्षशास्त्र का रहस्य है। शक्ति के बिना शिव शिव नहीं रहता है।

राष्ट्र एवं राष्ट्रिय शिव-शक्ति की तरह परस्पर सम्पृक्त है। अतः राष्ट्र के साथ ही राष्ट्रियों के सभी सम्बन्ध जुड़े हुए हैं। यह नहीं भूलना चाहिए कि राष्ट्र के मुख्य होने पर तथा राष्ट्रिय के गौण, होने पर ही शान्ति होती है, राष्ट्रियों के मुख्य होने पर तथा राष्ट्र के गौण होने पर नहीं। ऐसा होने पर अवश्य ही अशान्ति से, बुभुक्षा से, समस्त राष्ट्र का विनाश ही होता है; राष्ट्र का विनाश निश्चित ही राष्ट्रियों का विनाश है। अतः आर्यपुंयुग, आर्यस्त्री

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं।
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि ।।

अतस्त्वामाराध्यां हरिहरविरिञ्च्यादिभिरपि।
प्रणन्तुं स्तोतुं वा कथमकृतपुण्यः प्रभवति ।। (सौ. ल. 1)

अत एव शक्तिरूपाणां राष्ट्रियाणां विषये एवं युज्यते वक्तुम्। यथा पञ्चस्तव्याम् –

शिवस्त्वं शक्तिस्त्वं त्वमसि समया त्वं समयिनो।
त्वमात्मा त्वं दीक्षा त्वमयमणिमादिर्गुणगणः।

अविद्या त्वं विद्या त्वमसि निखिलं किं किमपरं।
पृथक् तत्त्वं त्वत्तो भगवति न वीक्षामह उमे ।।

अपि च पञ्चस्तव्यामेवोक्तम्—

शक्तिः शरीरमधिदैवतमन्तरात्मा
ज्ञानं क्रियाकरणमानसजातमिच्छा ।।
ऐश्वर्यमायतनमावरणानि च त्वं।
किं तन्न यद्भवसि देवि शशाङ्कमौलेः ।। (पं. स्त. 4।25)

युग, अनार्य पुंयुग, अनार्य स्त्रीयुग ही क्रमशः शान्ति, अशान्ति की प्रेरणा देती हुई महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती के रूप में उन्नति एवं अवनति करती हुई प्रभाविनी राष्ट्र-शक्ति बन जाती है।

अतः जो अपने राष्ट्र का ही विनाश करते हैं, वे ही वास्तव में राष्ट्रघाती हैं। दुष्टों का यह स्वभाव ही होता है कि वे अपने राष्ट्र का विनाश करते हैं। वे अपने आत्मा का ही घात करते हैं।

भवतु सर्वथाऽपि राष्ट्रं राष्ट्रियाश्च तथा परस्परं सम्बद्धा यथा शिवशक्ती। अत एव राष्ट्रेण सह सर्वेऽपि सम्बन्धा राष्ट्रियाणामुपपद्यन्ते। इदं तु न विस्मर्तव्यम् यत् राष्ट्रस्य मुख्यत्वे राष्ट्रियाणां च ततो गौणत्वे एव शान्तिर्न पुना राष्ट्रियाणां मुख्यत्वे राष्ट्रस्य च गौणत्वे। तथा सत्यवश्यमेवाऽशान्त्या बुभुक्षावृत्त्या समस्तस्याऽपि राष्ट्रस्य विनाश एव भवति। राष्ट्रविनाशः खलु राष्ट्रियाणां विनाशः सुतरां सिद्ध एवेति। अत एवाऽऽर्यपुंयुगआर्यस्त्रीयुगाऽनार्यपुंयुगाऽनार्यस्त्रीयुगेति युगचतुष्टयी क्रमशः शान्तिमशान्ति वेदयन्ती महाकालीमहालक्ष्मीमहासरस्वतीरूपा सर्वमप्युत्त्रासयति प्रभाविनी राष्ट्रशक्तिरिति। एवं च ये स्वराष्ट्रमेव घ्नन्ति ज्ञानतो वा अज्ञानतो वा ते व्यवहारे आत्मघातिन इति सर्वशास्त्र-विचक्षणानां निर्णयः। तेषां च पापमेतदतिमहदिति जन्मप्रकारशतकैरपि युक्तिर्न प्रोक्ता नयविद्भिः। अयं भावः—येषां स्वभाव एवाऽयं दुष्टानां स्वराष्ट्रनिहननं नाम ते स्वात्मानमेव घातयन्तीति अनन्तजन्मभिरपि तत्कर्मणां स्वातन्त्र्यं न प्रापणीयम्। अत एवेशावास्ये उक्तम्—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः॥
तांस्ते प्रेत्याऽभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

(ई.उ. 3)

अयं भावः—आत्मघातिनां खलु मुक्तिः कदाऽपि नैव सम्भवति। मुक्तिमन्तरा च शान्तिरपि नावाप्यते सा च सर्वैरपि स्पृहणीयोपादातु-

---

आत्मघातियों की मुक्ति कभी नहीं होती है। मुक्ति के विना शान्ति भी प्राप्त नहीं होता है। सभी उपायों से स्वराष्ट्र की स्वतन्त्रता होने पर ही निष्कृति हो सकती है। अपने राष्ट्र के स्वातन्त्र्य के पूर्ण योगक्षेम के सम्पादन के विना महात्मभाव की प्राप्ति हो नहीं सकती। अतः उसकी प्राप्ति ही पूर्ण शान्ति का परम उपाय है।

ऊपर यह कहा जा चुका है कि परतन्त्रता पशुत्व है। सुख और शान्ति के

मिति सर्वदा राष्ट्रोन्नत्या एव प्रवर्तनीयं स्वशोणितप्रदानेनाऽपि यथाऽवसरम्। अयमर्थः—सर्वैरप्युपायैः स्वराष्ट्रस्वातन्त्र्यमेव योगक्षेमाभ्यां भावनीयमियमेव निष्कृतिः। किं च स्वराष्ट्रस्वातन्त्र्यस्य पूर्णयोगक्षेमसम्पादनं चान्तरेण महात्मभावप्राप्तिर्न जातु सम्भवतीति तत्प्राप्तिरेव परमोपायः परिपूर्णशान्तेरिति ध्वनितम्। अत एव 'यदा चर्म' इति समस्तदुःखनिर्दलनोपायो बोधितः। श्रुतिषु च 'तरति शोकमात्मवित्' इति प्रोक्तः। एवं च सर्वथाऽपि शान्तिकामैरार्यराष्ट्रवाद एव अधीतिबोधाचरणप्रचारणैः सेवनीय इति फलितम्। किं बहुनेत्यलम् ॥104॥

एवं राष्ट्रघातिन आत्मघातिन एवेति तेषामतिमहत्पापकारितयाऽनन्तजन्मभिरपि तदेतत्पापमवश्यं भुज्यते एव, तच्च सर्वदासमस्तदुःखाकरं पारतन्त्र्यं भोजयतीत्युक्तम्। पारतन्त्र्यं च पशुत्वमेवेति नानाविधदण्डैर्दण्ड्यत्वं तेषां भवत्येव। पशवो दण्ड्या एवेति भावः। ततश्च न कदाऽपि राष्ट्रघातचिकीर्षाऽपि कर्तव्या सुखशान्तिकामैरित्युपदिष्टम्। अस्वतन्त्रं स्वराष्ट्रं स्वतन्त्रं ये न कर्तुमिच्छन्ति ते महामूर्खा इत्यपि निरूपणीयमेवेत्याह—

न स्वतन्त्रं स्वराष्ट्रं ये कर्तुमिच्छन्ति मानवाः ॥
ततोऽधिका महामूर्खाः सन्ति केऽत्र भुवस्तले ? ॥105॥

न स्वतन्त्रमिति। ये—मानवाः—स्वराष्ट्रं—स्वतन्त्रं कर्तुं—

इच्छुक व्यक्तियों को कभी राष्ट्रघात नहीं करना चाहिए। फलतः जो अपने अस्वतन्त्र राष्ट्र को स्वतन्त्र नहीं करना चाहते हैं, वे महामूर्ख हैं—इस । निरूपण किया जा रहा है—

न स्वतन्त्र राष्ट्रं ये कर्तुमिच्छन्ति मानवाः।
ततोऽधिका महामूर्खाः सन्ति केऽत्र भुवस्तले ॥105॥

जो मनुष्य अपने राष्ट्र को स्वतन्त्र नहीं करना चाहते, इस पृथ्वी पर उनसे अधिक महामूर्ख और कौन हो सकते हैं ?

न—इच्छन्ति—अत्र—भुवः—तले—ततः—अधिकाः—महामूर्खाः—के—सन्ति । इति पदयोजनिका ।

ये'=मह मूर्खत्वेन वर्ण्यमानाः 'मानवः=ज्ञानप्रधानयोनिमापन्नः 'स्वराष्ट्रम्'—स्वं=स्वकीयं चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धि राष्ट्रं=पूर्वलक्षणलक्षितम् 'स्वतन्त्रम्' - आत्मशासनाऽऽधीनं "परराष्ट्रस्य" (रा. 22) इत्युक्तलक्षणलक्षितं 'कर्तुं'=विधातुं 'न'=अभावेऽव्ययम् 'इच्छन्ति'= ईहन्ते, 'अत्र' प्रत्यक्षदृश्यमानेऽस्मिन् 'भुवः'=पृथिव्याः 'तले'=पृष्ठे 'ततः'=तेभ्यः 'अधिकाः' अतिरिक्ताः अतिशयवन्तो वा 'महामूर्खाः'— महान्तः=विशालाः मूर्खाः मूढाः 'के'=प्रश्नविषयाः 'सन्ति'=भवन्ति । न केचिदपीति भावः । अत्रेदमाकूतम्—इह खलु जगतीतले सर्वेऽपि प्रकृतिस्थाश्चेतनाः स्वात्मन एव प्राभवत्यं वाञ्छन्ति निसर्गत एव । तत्र च पतनोन्मुखाः सदैव बुभुक्षिता भवन्तीति वैयक्तिकं साङ्घिकं च समीहन्ते सर्वदा निसर्गेण प्रभावं बुभुक्षापूरणाय अन्ये चोन्नयनोन्मुखाः सदैवाऽऽशंसावन्त भवन्ति आर्यराज्यवादमार्यराष्ट्रवादं च समीहन्ते सर्वदा निसर्गेण प्रभावमाशंसापूरणाय बुभुक्षानिहननाय च । परन्तु मानवयोनिमापन्नेषु न कोऽप्येतादृशो दृश्यते प्राय आर्यकुलोद्भवो यः स्वराष्ट्रस्वातन्त्र्ययोगक्षेमसम्पादनं नेच्छति । ततश्च ये तावन्मतिमान्द्या मा, दैवदुर्विलसिताद्वा, प्रमादाद्वा, आलस्याद्वा, अन्यथा वा यथाकथाचन स्वराष्ट्रं स्वतन्त्रं कर्तुं नेच्छन्ति तेभ्योऽधिका महामूर्खाः के नाम सन्ति भुवस्तलेऽत्र न केऽपीत्यर्थः । अयमर्थः—यदि नाम केचिदेवं वाञ्छेयुस्ते

इस पृथ्वी में सभी प्रकृतिस्थ चेतन आत्मा का ही प्रमुत्व मानते हैं । जो पतनोन्मुख होते हैं, वे बुभुक्षित होते हैं । मनुष्य योनि में उत्पन्न ऐसा एक भी आर्यकुलोत्पन्न नहीं है, जो स्वराष्ट्र की स्वतन्त्रता की अथवा योगक्षेम की इच्छा न रखता हो । जो अपनी मन्दबुद्धि से, दुर्विलास से, प्रमाद से, आलस्य से, अपने राष्ट्र को स्वतन्त्र नहीं करना चाहते हैं—उनसे अधिक महामूर्ख और कौन होंगे ?

पठिता वा अपठिता वा महामूर्खा एव बोद्धव्याः न पण्डिताः। अत एव योगवासिष्ठेऽप्युक्तम्—

इतः कोऽन्योऽस्ति मूढात्मा यस्तु स्वार्थे प्रमाद्यति।

ये खलु निजकल्याणमपि कर्तुं नेच्छन्ति ते न केवलं मूर्खा अपि तु महामूर्खा वज्रमूर्खा एव। एवं च सर्वस्याऽप्यस्वाभाविकमेतदतीव कल्याणविनाशकं महामूर्खत्वं हेयमित्युपदिष्टं भवति। ततश्च स्वराष्ट्रं सर्वैरपि स्वतन्त्रमेव करणीयम्। तदेव समस्तसुखकारणं पारिणामिकाहितजनकं चेति व्यज्यते। के सन्तीत्यनेनैतादृशमहामूर्खाणामन्यत्राऽभाव एवात्यन्तिको दर्शितः एवं च सर्वथा मौर्ख्याऽपनोदनपुरःसरं स्वराष्ट्रमेव स्वतन्त्रं कार्यमिति फलितम्। ततश्च राष्ट्रज्ञानवैचक्षण्यमेव पूर्वं सम्पादनीयमित्यप्युपक्रान्तं "राष्ट्रदृष्टि" (रा. 2) इत्यनया मध्ये समस्तसाङ्गोपाङ्गनिरूपणेनोपसंहृतमनया कारिकया फलरूपेण। अन्यत्सर्वमप्यत्रत्यं रहस्यं तत्तदवसरे निरूपितमेवास्माभिरिति नाऽत्र पुनर्वितन्यत इत्यलम् ॥105॥

एवं समस्तं व्यावहारिकमोक्षसाधनौपयिकं इच्छाज्ञानक्रियाविषयं निरूपितम्। तदेतन्निदानभूतरहस्यज्ञानमन्तरेण न सिद्ध्यतीति तद्विषये आह—

ग्रन्थस्याऽस्य रहस्यं ये ज्ञातुं वाञ्छन्ति भावुकाः ॥
पठन्त्वात्मविलासं ते कामं जितसुधामदम् ॥106॥

जो अपना कल्याण भी नहीं करना चाहते हैं, वे मूर्ख नहीं, अपितु महामूर्ख और वज्रमूर्ख हैं। अतः सभी को अपना राष्ट्र स्वतन्त्र करना ही चाहिए। जो राष्ट्र समस्त सुखों का कारण है, परिणाम में हितकारक है—उसे तो स्वतन्त्र करना ही चाहिए। इस प्रकार समस्त व्यावहारिक मोक्षसाधन के उपायभूत इच्छा, ज्ञान, क्रिया का विषय तो बतलाया गया है। पर इसके निदानभूत रहस्य ज्ञान के बिना सिद्ध नहीं होता है। अतः जो इस ग्रन्थ के रहस्य को जानना

ग्रन्थस्याऽस्येति। अस्य--ग्रन्थस्य—रहस्यं--ये--भावुकाः—ज्ञातुं —वाञ्छन्ति—'ते'—जितसुधामदम् आत्मविलासं—कामं—पठन्तु। इति पदयोजनिका।

अस्य=पुरो वर्तमानस्य 'ग्रन्थस्य'=वाङ्मयरत्नभूतस्य व्यावहारिकमोक्षशास्त्रप्रतिपादकस्य 'रहस्यम्'=सुगुप्त सारं वीर्यमिति भावः 'ये' वर्ण्यमानाः 'भावुका'=कल्याणस्वभावाः ज्ञातुं'=प्रवबोद्धुं 'वाञ्छन्ति'=समीहन्ते 'ते'=कल्याणस्वभावाः पुरुषाः 'जितसुध मदम्' --सुधा=अमृतं तस्याः मदः=अभिमानः, जितः=अभिभूतः अमृताऽभिमानौ येन स जितसुधामदः तं, अमृतादप्यतिमधुररसयुक्तमित्यर्थः। अथवा जितं=पराभूतं यत् शोभनं धाम=तेजः तत् ददाति तम्। विगततेजसोऽपि पुनरपि शोभनतेजःप्रदायकम् 'आत्मविलासम्'। आत्मनः परिपूर्णचैतन्यस्य विलासः चतुर्विधवाचामगोचरा समस्तरूपेण स्वभिन्ना वेव क्रीडा तमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः 'आत्मविलास': तम्। 'कामं'=यथेच्छं पठन्तु'=अभ्यस्यन्तु। अत्रेदमाकूतम्—समस्तोऽपि व्यवहारश्चैतन्यसार एव। स च समलो वा विमलो वा सर्वोऽपि सङ्कल्पित एवेति यथाकाममेव योगक्षेमाभ्यां सम्पाद्यते। तत्र सबला योगिनो दुर्बलाश्चाऽयोगिनः। यतो हि योगिनो विदितरहस्या अयोगि-

---

चाहते हैं, उन्हें आत्मविलास नामक ग्रन्थ पढ़ना चाहिए—इसका निरूपण किया जा रहा है :—

ग्रन्थस्यास्य रहस्यं ये ज्ञातुं वाञ्छन्ति भावुकाः।
पठन्त्वात्मविलासं ते कामं जितसुधामदम् ॥106॥

जो भावुक व्यक्ति इस ग्रन्थ के रहस्य को जानना चाहते हैं, वे अमृत के अभिमान को भी जीतने वाले आत्मविलास नामक ग्रन्थ को पढ़ें।

समस्त व्यवहार चैतन्य का सार है। वह व्यवहार समल हो अथवा निर्मल, सभी सकल्प के बल पर सम्पादित होता है। योगी सबल होते हैं, अयोगी निर्बल होते हैं। योगी रहस्य को जानते हैं, अयोगी रहस्य को नहीं

नश्चाऽविदितरहस्याः। विदितरहस्या एव समस्तमात्मसात्कर्तुं प्रभवन्ति समस्तकल्याणाय। स्वात्मीकारश्च न निर्बलेन कर्तुं शक्यते। अत एव सर्वमपि जगदिदं चित्रकल्पं स्वेच्छामात्रेण योगिनः पञ्चविधकृत्यैर्भावन्त्यात्मभिन्ना वेव। अत एव त एव परमश्लाघनीयाः परशिवरूपाः। उक्तमप्यन्यत्राऽत एव—

निरूपादानसम्भारमभित्तावेव तन्वते।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने॥

एवं च रहस्यमेव वीर्यमिति बलमिति शक्तिरिति विमर्श इति चैतन्यमिति धर्म इति तदेव सर्वथा विमर्शनीयम्। विमर्शमन्तरेण सर्वस्याऽप्यकिंचित्करत्वात्। ततश्च ग्रन्थस्याऽस्य रहस्यमप्यवश्यमेव विज्ञानीयमित्यभिप्रेत्यास्याः कारिकाया आरम्भः। अत्रेदं बोध्यम्—ये किल रहस्यं ज्ञातुं वाञ्छन्ति तेऽवश्यमेव कल्याणस्वभावा इत्येवं निश्चीयते नहि किल कल्याणस्वभावप्राप्तिमन्तरा रहस्यज्ञानवाञ्छोदयः सम्भवति। किं च ये रहस्यज्ञानं वाञ्छन्ति तेषामाशंसावत्त्वेन तत्पूरणमप्यावश्यकमेव तेषामार्यत्वात्। अत एव तत्पूरणोपायबोधनायेदमुच्यते यत्ते आत्मविलासाख्यं ग्रन्थमस्मत्प्रणीतं पठन्तु ननु स चेद्रूक्षस्तत्र कथंचित्तासङ्गः स्यादित्यपाकर्तुमाह जितसुधामदमिति। एतेन तस्य सारल्यातिशयं ध्वन्यते। अथ च सुधामदजयेनाऽतिमनोरञ्जकत्वं च

जानते हैं। जो रहस्य को जानते हैं, वे सबको आत्मसात् करने में समर्थ होते हैं। अतः वे योगी ही परम श्लाघनीय हैं, पर शिवरूप है।

यह रहस्य ही वीर्य है, बल है, शक्ति है, विमर्श है, चैतन्य है, धर्म है, उसी का विमर्श करना चाहिए। विमर्श के विना कुछ भी नहीं किया जा सकता है। जो रहस्य को जानते हैं, उनका स्वभाव अवश्य ही कल्याणकारक होगा। कल्याण-स्वभाव-प्राप्ति के विना रहस्य-ज्ञान की इच्छा नहीं होती है। जो रहस्य-ज्ञान चाहते हैं, उनका आशंसा-युक्त होना भी आवश्यक है। आशंसायुक्त ही आर्य होते हैं। उन्हें 'आत्मविलास' नामक मेरे ग्रन्थ का अवलोकन करना चाहिए।

व्यज्यते । किं च जितेत्यनेनाऽनुग्रहकारकत्वं तत्राऽपि सुधामदमित्य-नेनाऽनुग्रहकारकेऽष्वप्यतिशयो ध्वन्यते तेन च तस्याऽत्यन्तादरणीयत्वं व्यज्यते । अत्र च शोभनतेजःप्रदम् । आत्मज्ञानिनश्च शोभनतेजः-प्राप्तिः समस्तलोकशास्त्रप्रसिद्धैव, अत एव श्रूयते—'शोभतेऽस्य मुखं य एवं वेद ।' इति । 'ब्रह्मविदिव ते सौम्यमुख शोभते' धामशब्दः स्थानवाचकोऽपि प्रसिद्धः ते न च शोभनपदप्रदमित्यप्यर्थः । आत्म-ज्ञानेन हि शोभनपदप्राप्तिः प्रसिद्धैव । पराभूतस्य शोभनस्थानस्य ज्ञप्तिं ददातीति भावः । अथ वा 'रहस्यं' इत्यस्य विशेषणमेत् । तेन च एत-द्ग्रन्थस्य रहस्यं खलु 'जितसुधामदम्' अमृतादप्यतिमधुरम् । अथ च जितस्याऽपि शोभनतेजःस्थानादीनां प्रापकं चेति व्याख्यातुं शक्यते । एवम्भूतमात्मविलासम् एतदाख्यं ग्रन्थरत्नम् । ग्रन्थश्चायमध्यात्मविषयकः समस्तशास्त्ररहस्यबीजभूतः सप्तप्रकरणात्मकोऽस्माभिरेव प्रणीतः । अयमर्थः—समस्तं रहस्यं बीजरूपेण तत्र प्रकटीकृतमेवेति किमत्र विस्त-रेणेति स एव ग्रन्थोऽध्येतव्यः । किं च सर्वमपि रहस्यं नैकत्र प्रकटी-करणीयमिति **सिद्धयोगिसम्प्रदायाज्ञया** तथा न कर्तुं शक्यते । अत एव आन्तररहस्यख्यापनाय **'आत्मविलास' 'परमस्तोत्र' 'महानुभवस्तोत्र' 'भैरवमहोल्लास' 'मन्दाक्रान्ताशतक'** मित्यादयोऽनेके ग्रन्था अस्माभिः प्रणीताः पूर्वम् । बाह्यरहस्यप्रकटनाय च **'राष्ट्रालोकं' 'क्रान्तिकौमुदीं'** च प्रणीय **'राष्ट्रसञ्जीवनं'** नाम चैतद्भाष्यं च प्रणीतमस्माभिः । अत्रेदं चाऽऽकलनीयम् आन्तररहस्यज्ञानमन्तरा बाह्यं रहस्यं न सम्यक

यह आत्मविलास सुधा के मद को भी जीतने में समर्थ है, यह मनोरंजक है, अनुग्रहकारक है, अमृत से भी अधिक मधुर है । यह ग्रन्थ अध्यात्मविषयक है, समस्त शास्त्रों क रहस्य का बीज है, सात प्रकरणों से युक्त है ।

सम्पूर्ण रहस्य को एक स्थान पर ही प्रकट नहीं करना चाहिए—इस शास्त्र वचन के अनुसार हमने अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया है । आन्तर रहस्य के ज्ञान के बिना बाह्य रहस्य भी अच्छी प्रकार प्रकट नहीं होता है । रहस्ययुक्त शब्दराशि ही मन्त्र कहलाता है । रहस्य के ज्ञान से आत्मत्राण करना अध्ययन

प्रकटीभवतीति नियमः । राष्ट्रालोकश्च बाह्यरहस्यप्रकटनपरो ग्रन्थः । तस्य परिपूर्णरहस्यज्ञानमत एव आत्मविलासज्ञानाऽधीनम् । तस्याऽन्तररहस्य-प्रकटनपाटवात् । अत एवात्र तत्पठनं विधीयते 'पठन्तु' इत्यनेन । लोटा विधिवाक्यत्व बोध्यत एतस्याः कारिकायाः । रहस्य-ज्ञानवाञ्छायाः कामनात्वात् । एतस्या कामनायाश्च मोक्षप्रदतयाऽ-पकरणे प्रत्यानयात् नित्यकाम्यविधिरयमित्यवगम्यते । सर्वत्राऽत्र पुंस्त्व-मविवक्षितमेव । अत्रेदं च बोध्यम्-पठन्त्वित्यस्य तद्रहस्यज्ञाने पर्यवसानम् । एवं च ग्रन्थपठनतदर्थबोधधारणपर्यन्तव्यापारोऽत्र विवक्षितः । अत एवोक्तं श्रुतावपि—

स्थाणुरयं भारहारः किलाऽभूत्
अधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम् ॥
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते
नाकस्य पृष्ठमेति विधूतपाप्मा ॥

अत्रेदं चाऽकलनीयम्—सरहस्यो ह्येव हि शब्दराशिर्मन्त्रतामेति मननात्त्राणकर्तृत्वेन मन्त्रः । अध्ययनप्रयोजनमेवैतद्यद्रहस्यविज्ञानेनाऽत्मत्राणम् । अत एव रहस्यज्ञानविरहितानां सर्वतोभयमेव सम्भवति पतनस्य न त्राणसम्भावनाऽपि । मन्त्ररहस्यं मन्त्रवीर्यमिति च पर्यायान्त-

---

का प्रयोजन है । रहस्य-ज्ञान के विना सर्वतः भय की सम्भावना रहती है अतः सरहस्य अध्ययन ही आवश्यक है ।

इस ग्रन्थ-पठन का क्या फल है, इसका अधिकारी कौन है? इसका निरूपण किया जा रहा है :—

समभ्यस्यन्ग्रन्थमिममाचरंश्च प्रचारयन् ।
राष्ट्रविज्ञानकुशलः स्वातन्त्र्यं प्राप्स्यति ध्रुवम् ॥107॥

(जो पुरुष) इस ग्रन्थ पर भली भांति अभ्यासपूर्वक आचरण करता हुआ इसका प्रचार करता है, राष्ट्रविज्ञान में कुशल वह व्यक्ति निश्चित ही स्वतन्त्रता प्राप्त करेगा ।

रमेव। तच्च शिवसूत्रे 'विद्याशरीरस्फुरत्तामन्त्ररहस्यम्" इत्युक्तम्। तद्विज्ञानं च शिवसूत्र एवैवमुपदिष्टम्—'महाह्लदाऽनुसन्धानान्मन्त्र-वीर्याऽनुभव.' इति भवतु रहस्यमिदं सद्गुरुचरणसपर्याऽऽचरणचणानां प्राप्यमि।त नाऽत्रोन्मील्यतेऽधिकमिति। अत एव श्रीतन्त्रसद्भावे उक्तम्-

सर्वे वर्णात्मका मन्त्रास्ते च शक्त्यात्मका: प्रिये।
शक्तिस्तु मातृका ज्ञेया सा च ज्ञेया शिवात्मिका ।।
न जानन्ति गुरुं देवं शास्त्रोक्तान्समयांस्तथा।
दम्भकौटिल्यनिरता लौल्यार्था: क्रिययोज्झिता: ।।
अस्मात्तु कारणाद् देवि मया वीर्यं प्रभोत्थितम्।
तेन गुप्तेन ते गुप्ता: शेषा वर्णास्तु केवला: ।।

भवतु सर्वथाऽपि एतद्ग्रन्थरहस्यज्ञानाय आत्मविलासस्य सरहस्याऽध्ययनमावश्यकमिति तदनया कारिकया विधीयते। तदन्तरा च कल्याण-सामर्थ्यमेव न भवतीति भावुका इत्यनेन ध्वन्यते। अस्त्वलमधिकेने-ति विरम्यते ।।106।।

एवमेतद्ग्रन्थरहस्यज्ञानोपयिकमात्मविलासपठनमपि विहितम्। अथैतद्ग्रन्थपठनतदर्थधारणपराणां तदनुकूलाचारप्रचारपरायणानां च फलं प्रदर्शनीयम् तत्र प्रवर्तयितुमिति तत्फलं तदधिकारिणश्च दर्शय-न्नाह—

आर्य का यह कर्तव्य है कि वह सम्पूर्ण जीवलोक की आशंसा की पूर्ति करें। राष्ट्र के स्वतन्त्र होने पर ही ऐसा किया जा सकता है। समस्त पारिणा-मिक सुख स्वतन्त्रता से ही मिलते हैं। परतन्त्रता दु:ख का मूल है, स्वतन्त्रता सुख का मूल है। अत: सभी को स्वतन्त्रता की प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए।

जो पराधीन हैं, उन्हें इस संसार में स्वप्न में भी सुख नहीं मिलता है। व्यवहार में यह सुख समस्त पुरुषार्थों का मूल कारण है, इसे प्राप्त करना ही चाहिए। व्यावहारिक स्वतन्त्रता राष्ट्र के अधीन है। राष्ट्र का क्या स्वरूप है,

समभ्यस्यन्ग्रन्थमिममाचरंश्च प्रचारयन् ।
राष्ट्रविज्ञानकुशलः स्वातन्त्र्यं प्राप्स्यति ध्रुवम् ।।107।।

समभ्यस्यन्निति । इमं—ग्रन्थं—समभ्यस्यन्—आचरन्—प्रचारयन्—च राष्ट्रविज्ञानकुशलः—ध्रुवम्—स्वातन्त्र्यम्— प्राप्स्यति । इति पदयोजनिका ।।

'इमम्'=अस्मत्प्रणीतत्वादतिसन्निकृष्टं 'ग्रन्थम्'=आनुपूर्वीविशेषविशिष्टशब्दराशिशरीरम् 'समभ्यस्यन्'– सम्यक् अभितश्चास्यन् पाठेन तदर्थबोधेन च भावयन्नित्यर्थः । 'आचरन्'=विहिताऽनुष्ठाननिषिद्धत्यागाभ्यां च सम्भावयन् प्रचारयन्=प्रकर्षेण परान् बोधयन् 'च' समुच्चयेऽव्ययमेतत् । 'राष्ट्रविज्ञानकुशलः' — राष्ट्रं=पूर्वोक्तलक्षणलक्षितं तस्य विज्ञानं=कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं सामर्थ्यं तत्र 'कुशलः'=परिपूर्णः सन्' इति शेषः । 'ध्रुवम्'=निश्चयेन 'स्वातन्त्र्यम्'-स्वायत्तत्वम् प्राप्स्यति'=लप्स्यते । इति । अत्रेदमाकूतम्'—सर्वस्याऽप्यस्य जीवलोकस्याऽऽशंसापूरणमवश्यमेव सम्पादनीयमार्येणेति हि निसर्गः । तच्च सर्वथाऽपि

स्वातन्त्र्यायत्तम् । यतः समस्तमपि पारिणामिकं सुखं स्वातन्त्र्यभूतमेव । तदुक्तमस्माभिरेवाऽऽत्मविलासे—

दुःखमूलं पारतन्त्र्यं सुखमूलं स्वतन्त्रता ।
अतः सर्वात्मना सर्वैस्तस्याः प्राप्त्यै प्रयत्यताम् ।।(आ वि. 3।2)

अत एव परायत्तानां न स्वप्नेऽपि सुखमिति भण्यते लोके । ततश्च तदेव व्यवहारे समस्तपुरुषार्थनिदानभूतमिति प्राप्तव्यमेवेति तदौपायिक

उसका पालन कैसे किया जाता है, उसका क्या फल है ? उसका क्या उद्देश्य है ? इन सबको अवश्य जानना चाहिए । इसके लिए हमने इस ग्रन्थ का प्रणयन किया है ।

राष्ट्रविज्ञान कौशल-प्राप्ति से ही व्यावहारिक मोक्षरूप स्वातन्त्र्य की प्राप्ति सम्भव है । ग्रन्थ के पाठ का धारण ही अभ्यास है । पहले इस ग्रन्थ का

साङ्गोपाङ्गं निरूपयितुमवश्यमहंमिति तस्य पारमार्थिकव्यावहारिकेति रूपद्वयमधिगत्य पारमार्थिकनिरूपणायाऽऽत्मविलासग्रन्थं निर्माय व्यावहारिकस्वातन्त्र्यनिरूपणाय **श्रीराष्ट्रालोकोऽयं** प्रणीतः, यतः खलु व्यावहारिकस्वातन्त्र्यं राष्ट्राऽधीनम् । राष्ट्रं च नाम किं स्वरूपं तत्कथं सम्पाद्यते कथं पात्यते किं किं फलं तस्य कस्तस्योद्देश इत्यादि सर्वमपि ज्ञातव्यमवश्यमिति प्राप्तं ततश्च तदर्थमेवाऽन्वर्थाऽभिधानोऽयं **श्रीराष्ट्रालोकनामा** ग्रन्थः प्रणीतोऽस्माभिः । इति प्रदर्शनाय कथं चाऽयं विनियुक्तो यथार्थं फलं सूयेतेति बोधनायाऽस्याः कारिकाया आरम्भः । अत्रेदमवगन्तव्यम्—सर्वथाऽपि राष्ट्रविज्ञानकौशलप्राप्त्यैव व्यावहारिकमोक्षाऽपरपर्यायस्वातन्त्र्यस्य निश्चयेन प्राप्तिः सम्भवति । तच्चाऽनेन ग्रन्थेन भविष्यति । तत्रेतिकर्तव्यतां बोधयितुमाह—'समभ्यस्यन्' इति । अभ्यासो नाम ग्रन्थपाठधारणम् । सोऽपि सम्यक् इत्यनेन अर्थज्ञानेन सहित इति समुपदिष्टः । अयमर्थः—प्रथममयं ग्रन्थो विद्वद्देशिकसपर्यया सन्मुखात् अध्येतव्यः, अथ च सम्यक् अर्थबोधेन भावनीयः । अन्यथा विपरीताऽर्थभावनं स्यात्, अत एव समभ्यस्यन् इत्युक्तम् । एवं च पाठाऽध्ययनमर्थाऽवगतिश्च सर्वथाऽपि सद्गुरुवदनारविन्दादेव कर्तव्येति बोधितम् । अथ न केवलमेतावन्मात्रेणैव कृतकृत्य इत्याह—आचरन्निति । पठितस्याऽर्थमवगत्य तदनुकूलमाचारेण भावयेत् इत्युपदिष्टं भवति । आचारेणैव फलप्राप्तिर्नान्यथा । अत एव "आचारहीनं न पुनन्ति वेदा" इति ।

आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते ।
आचारेण तु संयुक्तः सम्पूर्णफलभाग्भवेत् ।। (मनु. 1।109)

अध्ययन मेरे मुख से करना चाहिए अन्यथा विपरीत अर्थज्ञान हो जायेगा । इसीलिए "समभ्यस्यन्" पद का प्रयोग किया गया है । केवल इतना ही नहीं, पढ़े हुए अर्थ को जानकर तदनुकूल आचरण भी करना चाहिए । क्योंकि आचरण के बिना फल-प्राप्ति नहीं होती है । कहा भी है । "आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः" सदाचार ही फल प्रदान करने वाला होता है । केवल अकेले ग्रन्थ

इत्यादि च स्मर्यंते तस्मात्सर्वमपि मन्वादिस्मृतिषु विस्तरतः समुपलभ्यत इति तत्रैव द्रष्टव्यम् । सर्वथाऽपि सदाचार एव सुफलजनक इति निर्विचिकित्सः सिद्धान्तः । तेन च यथाप्रापिताऽनुष्ठानपरायणो भवेत् इत्युपदिष्टम् । अथ च न केवलं स्वयमेकेनाऽभ्यस्तेनाऽवगतेनाऽऽचरितेन वा परिपूर्णफलप्राप्तिर्यतो लोकशिक्षणमन्तरा न तच्छाश्वतिकता सम्पद्यते इत्याह—प्रचारयन्निति । प्रकर्षेण चारयन्=प्रापयन् परानपि यथावदध्ययनबोधाचारपरायणान् सम्पादयन् । अयं भावः—स्वयं तृप्तोऽपि परान् तृप्तान् सम्पादयन्नेव पारिपूर्ण्येन न तृप्तो भवति । अत एव भगवान् गीतास्वप्युपदिशति पार्थं प्रति श्रीकृष्णः—

लोकसङ्ग्रहमेवाऽपि सम्पश्यन् कर्तुमर्हसि ।। (गी. 3।20)
न मे पार्थाऽस्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।।
नाऽनवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि । (गी. 3।22)

एवं च लोकाऽनुग्रहाय तत्प्रचार आवश्यक एव । एतेन अधीतिबोधाऽऽचरणसम्पन्न एव प्रचरणसमर्थो भवतीति द्योत्यते । एवं च चतुर्धा विनियुक्तोऽयं ग्रन्थो निश्चयेनैव परिपूर्णस्वातन्त्र्याय सम्पद्यते इति फलितम् । तेन समस्ताऽऽशंसापूरकतया समस्ताऽनर्थनिदानभूतबुभुक्षानिवारकतया ग्रन्थोऽयमवश्यमेवाऽध्येतव्यो मनुष्यमात्रेण यथाविधीति विधीयते । अन्यत्सर्वमप्यस्माभिस्तत्र तत्र सुविततं प्रतिपादितमेवेत्यलमेतावता ।।107।।

एवं समस्तमपि राष्ट्रस्वातन्त्र्ययोगक्षेमौपयिकं साङ्गोपाङ्गं ।

के पढ़ने से, आचरण एवं प्रचार से फल-प्राप्ति नहीं होती । लोकशिक्षण के बिना उसकी शाश्वतिकता नहीं बनती । अतः ग्रन्थ का प्रचार आवश्यक है । व्यक्ति स्वयं तृप्त होकर दूसरों को तृप्त करके ही पूर्ण रूप से तृप्त हुआ माना जाता है । लोक पर अनुग्रह करने के लिए भी उसका प्रचार आवश्यक है । अधीति, बोध, आचरण से सम्पन्न व्यक्ति ही प्रचार में समर्थ हो सकता है । अतः यह ग्रन्थ निश्चय ही परिपूर्ण स्वतन्त्रता के लिए उपयोगी होगा । अतः

निरूप्य समस्तफलरूपमन्तिमं बीजफलन्यायेन समासतः समस्तार्थ-दृढीकरणायोपसंहरन्नाह—

दुष्टाऽराष्ट्रियपारतन्त्र्यनिगडच्छेदेन तोषावहो
'राष्ट्रालोक' उदारबुद्धिविषयः स्वातन्त्र्यदीक्षागुरुः ।
ये संसारसमुन्नतिं हृदयतो वाञ्छन्ति तेषां कृते
आचार्याऽमृतवाग्भवेन रचितो ग्रन्थोऽयमस्त्यद्भुतः ।।108।।

दुष्टेति । दुष्टाऽराष्ट्रियपारतन्त्र्यनिगडच्छेदेन — तोषावहः— उदारबुद्धिविषयः—स्वातन्त्र्यदीक्षागुरुः— अद्भुतः—अयं—राष्ट्रालोकः —ग्रन्थः–ये—संसारसमुन्नतिं–हृदयतः— वाञ्छन्ति—तेषां—कृते— आचार्याऽमृतवाग्भवेन--रचितः--अस्ति । इति पदयोजनिका ।

'दुष्टाऽ राष्ट्रियपारतन्त्र्यनिगडच्छेदेन'—'दुष्टाः'=दोषयुक्ताः ये अराष्ट्रियाः राष्ट्रस्य चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धिविरुद्धाः तत्कर्तृकं यत्पारतन्त्र्यं=पराधीनता तदेव निगडः=बन्धनशृङ्खला तस्य च्छेदः= त्रोटनं तेन हेतुना हेतौ तृतीया 'तोषाऽऽवहः 'तोषं'=आशंसापूरणजन्यानन्दं शान्तिमिति यावत् आसमन्तात् वहति प्रापयति सः 'उदारबुद्धिविषय':—उदारा=महती 'उदारो दातृमहतोः' इत्यमरः । बुद्धिः= धारणा येषां तेषां विषयः=गोचरः 'स्वातन्त्र्यदीक्षागुरुः'–स्वातन्त्र्यं=

समस्त आशंसा का पूरक होने से और समस्त अनार्यों के निदान भूत बुभुक्षा के निवारक होने से इस ग्रन्थ का अवश्य अध्ययन करना चाहिए ।

अब समस्त विषय को दृढ़ करने के लिए इस ग्रन्थ का उपसंहार किया जा रहा है—

दुष्टाऽ राष्ट्रियपारतन्त्र्यनिगडच्छेदेन तोषावहो
'राष्ट्रालोक' उदारबुद्धिविषयः स्वातन्त्र्यदीक्षागुरुः ।
ये संसारसमुन्नतिं हृदयतो वाञ्छन्ति तेषां कृते
आचार्यामृतवाग्भवेन रचितो ग्रन्थोऽयमस्त्यद्भुतः ।।108।।

आशंसापूरणोपयोगि कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं सामर्थ्यं तस्य 'दीक्षा' यथार्थोपदेशः तस्या गुरुः=उपदेष्टा सम्बन्धसामान्ये षष्ठी ततः षष्ठीतत्पुरुषः । 'अद्भुतः'=अद्भुत=आश्चर्यं महान्तं यस्य सः "विस्मयोऽद्भुतमाश्चर्यम्" इत्यमरः । अर्शआदित्वनिबन्धनो मत्वर्थीयोऽच् प्रत्ययः । 'अयम्'=सन्निष्टविराजमान 'राष्ट्रालोक.' — राष्ट्रं=पूर्वोक्तलक्षणलक्षितं तस्य आसमन्तात् लोकयते=दर्शयति असौ ज्ञानविज्ञानसम्पादक इत्यर्थः । एतदन्यर्थाऽभिधानवान् । 'ग्रन्थः'=आनुपूर्वीविशेषविशिष्टः शब्दराशिः 'ये'=पुरुषाः मनुष्ययोनिसमुत्पन्ना सर्वेऽपि 'संसारसमुन्नतिम्'—संसारस्य = स्थावरजङ्गमात्मकस्य समस्तस्य जगतः सम्यक् उत्तमप्रकारेण उन्नतिः=उत्कृष्टताप्राप्तिः ताम् 'हृदयतः'=अन्तःकरणतः आत्मभावतो वा सृष्टिस्थितिसंहारनिग्रहाऽनुग्रहेति पञ्चविधकृत्याधिष्ठानभूतप्रकाशविमर्शसामरस्यस्फुरत्तासारात्मनः 'वाञ्छन्ति' =समीहन्ते 'तेषां'=तादृशानां पुरुषाणां 'कृते'=प्रयोजनसिद्ध्यै 'आचार्याऽमृतवाग्भवेन—'आचार्यः'=मननत्राणकृदुपदेशप्रदः तदाऽमरसिंहः —"मन्त्रव्याख्याकृदाचार्यः" इति । अथवा यस्मात् धर्मोपदेशो गृह्यते सः तथा चाहाऽऽपस्तम्बः—"यस्माद्धर्मानाचिनोति स आचार्यः" इति एवम्भूतः यः 'अमृतवाग्भवः' एतत्सङ्केतितशरीरः अमृतमयवागुद्भवस्थानत्वेनाऽन्वर्थाऽभिधानो विप्रवंशाऽवतंसः पण्डितः कोऽपि आत्मविलासाद्यनेकग्रन्थप्रणेता तेन 'रचितः'=प्रयत्नेन लोकाऽनुग्रहाय प्रणीतः 'अस्ति' =विद्यते । अत्रेदमाकूतम्—प्रथमं यद्बीजं तदेवान्ते फलति इति हि लोकसिद्धमेव । अत्रेदं बोध्यम्—बीजं नामाऽप्रकटावस्था वस्तुनः एवं

दुष्ट अराष्ट्रियों के परतन्त्रतारूपी शृंखला का छेदन करने से प्रसन्नता देने वाला, उदारबुद्धिवालों के लिए गोचर, स्वतन्त्रता की दीक्षा का उपदेष्टा अदभुत यह श्रीराष्ट्रालोक ग्रन्थ, आचार्य अमृतवाग्भव ने उन लोगों के लिए रचा है, जो हृदय से संसार की उन्नति करना चाहते हैं ।

प्रथमतः जो बीज होता है, वही अन्त में फल देता है । अप्रकट अवस्था का नाम ही बीज है तथा प्रकट अवस्था का नाम फल है । आरोहक्रम बीज है,

च नाम प्रकटावस्था वस्तुन इति रहस्यम्। आरोहक्रमेऽवरोहक्रमे वा बीजं फलति फलं च बीजायते। किं च सर्वमपि वस्तुजातमनेनैव स्वभावेन विलसति। अत एव भगवानपि गीतायामर्जुनं प्रत्याह—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥ (गी. 2।18)

अतश्चैवमेव व्यावहारिकमोक्षस्वरूपस्य बीजं तावत्प्रथममेव "चतुर्णां" (रा. 1 मित्यनेन निरूपितं तदेवान्ते फलितमिति निरूपणायेयमन्तिमा कारिका प्रारब्धा। यथा बीजे अनन्तफलोत्पादनशक्तिर्भवति तथैव फलेऽप्यनन्तबीजविद्यमानता भवति। अत एव एकेनैव बीजेन नैकानि फलानि भवन्ति। अयमर्थो वा—एकमेव बीजमनेकधा फलति। अयं हि श्रीराष्ट्रालोकः पूर्वोक्तलक्षणस्य राष्ट्रस्य विज्ञानं 'दुष्टाऽराष्ट्रियपारतन्त्र्यनिगडच्छेदेन तोषावहः।' केषामिति विशेषाऽऽचोदनात्सर्वेषामेवेति निर्णयः। अत्रेदं बोध्यम्—अराष्ट्रियाश्च प्रायो दुष्टा एव भवन्तीति पुनर्दुष्टपदोपादानं तेषां निग्रहमात्रयोग्यत्वं ध्वनयति। अथ वा दुष्टाश्चाऽराष्ट्रियाश्चेति द्वन्द्वसमासः। तदयमर्थः—राष्ट्रिया अपि ये बुभुक्षावशमापन्ना बहिर्मुखतयाऽनार्यभावमापन्नास्ते अराष्ट्रियाश्चेति। तेषां यत् पारतन्त्र्यं कर्तरि षष्ठी ततस्तत्पुरुषः। अदुष्टाः राष्ट्रियाश्च ते जातु पारतन्त्र्योपासका इति सर्वेषां स्वातन्त्र्यमेव ते सञ्जनयन्तीति निसर्ग। एतद्विषये चाऽस्माभिरसकृदुक्तमेव। यतः खलु पारतन्त्र्यं निगडयति सर्वानपि तत एव सन्निगड इत्युच्यते तं च सर्वेऽपि

अवरोहक्रम फल है। जैसे बीज में अनन्त फलों की उत्पादन-शक्ति होती है, उसी प्रकार फल में भी अनन्त बीजों की विद्यमानता होती है।

पहले कहा गया था कि अराष्ट्रिय दुष्ट होते हैं, अतः वे निग्रह योग्य होते हैं। जो अदुष्ट राष्ट्रिय हैं, वे सबकी स्वतन्त्रता चाहते हैं। जो दूसरों को शृंखलाओं में बाँधना चाहते हैं, स्वयं स्वतन्त्र होना चाहते हैं—उन पशुतुल्य

च्छेत्तुमेव वाञ्छन्ति आर्यस्वभावाः। अनार्यस्वभावाः पशुप्रायाः पुनः पारतन्त्र्यनिगडं न सर्वथा च्छेत्तुमीहन्ते । परान् निगडयितुमिच्छन्ति स्वं च निगडच्छेदेन स्वतन्त्रयितुम्। अथ पशुतोऽपि ये जाड्यमापन्नास्ते निगडच्छेदने वा निगडविरचने वाऽप्यसमर्था एवेति न खलु ते उपदेश्या अनेन ग्रन्थेन। अत एव

नात्यन्तमध्यो नो तन्त्रः सोऽस्मिन् शास्त्रेऽधिकारवान् ॥

इत्युक्तमस्माभिः संवादितं पूर्वमेव। ईदृश एवोद्दिश्याऽन्यत्रोक्तम्—

ज्ञेयत्वमभ्यधिगता हृदये न रोद्धुं
शक्ताः प्रमूढमनसामुपदेशवाचः।
आर्द्रत्वमादधति किं नलिनीदलानां
स्पृष्टा निरन्तरतयाऽपि नभोम्बुधाराः ॥

अत्रेदं त्ववगन्तव्यमेव परनिगडनेच्छवोऽपि निगडिता एव भवन्तीति खलु सयुक्तिकमस्माभिः पूर्वं निवेदितप्रायमेव। अत एवाऽऽर्यसिद्धान्तेषु यत्र तत्र बहुधेयमुच्यते सिद्धान्तरूपेण—

आत्मनः प्रियमन्विच्छन् परेषां प्रियमाचरेत्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।
अष्टादशपुराणानां व्यासस्य वचनद्वयम् ॥
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ॥

जड व्यक्तियों को इस ग्रन्थ से उपदेश नहीं दिया जा सकता है। नीतिशास्त्र कहता है कि यदि अपना हित चाहते हो, तो दूसरों का भी हित करो।

जो पशु हैं, यदि उनकी शृंखला तोड़ दी जाय, तो वे भी प्रसन्न होते हैं अत समस्त संसार की शृखलाओं का छेदन अच्छा ही है। सभी व्यक्ति यह भी चाहते हैं कि उन्हें किसी विषय का विस्तृत ज्ञान हो, ऐसे लोगों के लिए ही मेरे द्वारा यह ग्रन्थ लिखा गया है। यह ग्रन्थ स्वातन्त्र्य विषयक सभी सिद्धान्तों

इत्येवमादि। इदं च बोध्यमेव अत्यन्तं जडा अपि निगडच्छेदेन तावत्प्रसन्ना एव भवन्ति। अत एव समस्तस्यापि जगत एतदिष्टमेव निगडच्छेदना नाम। एतच्च **श्रीराष्ट्रालोकफलम्**। निगडच्छेदनज्ञानोपायप्रदर्शकत्वात्। अथ चायं द्वितीयमिष्टं फलं उदारबुद्धिविषयं सूते। अयमर्थः— विशालबुद्धिः विषयः प्रतिपाद्योऽर्थो यत्र। उदारज्ञानं सञ्जनयत्यसाविति भावः। यत एवोदारबुद्धीनां विषयोऽयं सङ्कुचितबुद्ध्यगम्य इति। इदमपरं फलम्। ज्ञानं च तदपि विशालं च सर्वेऽपि वाञ्छन्ति तदध्यनेन प्राप्यते। अथ च स्वातन्त्र्यं यत्सर्वैरपि काम्यं तद्विषये त्वयं दीक्षागुरुरेव। दीयते आत्मज्ञानं क्षीयन्ते पापराशयः, शिष्यस्य तत्कर्म दीक्षेत्युक्तम्। तत्कर्मणि गुरुः=उपदेष्टा। अयमर्थः—समस्तदुःखनिवृत्तिपूर्वकसमस्तसुखप्राप्तिकारकोपदेशकृत्। स्वातन्त्र्यविषयकं साङ्गोपाङ्गं रहस्यं यः गृणाति—स्वात्मीकारेणोपदिशति। एतदपि सर्वेषामुपादित्सिततमं फलं **राष्ट्रालोकोऽयं** ददाति। एवं चाऽयमनेकविधसमभीष्टफलप्राप्तिजनक इति विशेषतो द्योतयितुमाह - अद्भुत इति। अन्ये तावद्ग्रन्था समस्तसमभीष्टफलप्रसवाय न कल्पन्ते। अयं तु सर्वाण्यपि फलानि सम्प्रसूते समभीष्टानीत्यद्भुतः। एतादृशग्रन्थस्याद्याऽवधि अभावात्। विस्मयकारकोऽयमित्यद्भुतः। अत्रेदं बोध्यम् —अनार्यराज्यवादमनार्यराष्ट्रवादं चाऽवलम्ब्य प्रणीता ग्रन्था वहवः सन्ति, आर्यराज्यवादमवलम्ब्याऽपि मनुस्मृत्यादयः समुपलभ्यन्ते बहवः। यद्यपि पूर्णतयाऽर्यराज्यवादप्रधाना ग्रन्था विरलास्तथाऽपि केचित्सन्त्येव **श्रीमद्भगवद्गीतादयः**।

की सांगोपांग व्याख्या करता है। अतः स्वातन्त्र्य-रहस्य के ज्ञान के लिए इसका अध्ययन आवश्यक है। यह ग्रन्थ समस्त दुःखों की निवृत्ति करने वाला तथा समस्त सुखों की प्राप्ति कराने वाला है। ऐसे ग्रन्थ का अभी तक अभाव होने के कारण यह अदभुत एव विस्मयकारक भी है। उन्हीं के लिए इस ग्रन्थ का प्रणयन किया गया है। जो हृदय से अपने राष्ट्र की उन्नति चाहते हैं। अतः इस ग्रन्थ को अवश्य पढना चाहिए। इसमें नूतनता है। यह समस्त के कल्याण की

आर्यराष्ट्रवादमवलम्ब्य पुनर्नैकोऽपीदानीं ग्रन्थः समुपलभ्यते । तद्विषये ग्रन्थोऽयं प्रणीत इति । आर्यराष्ट्रवादस्यैव पूर्णशान्तिप्रदत्वात् तन्निरूपणमतीवावश्यकमिति सत्यमेवाद्भुत इति । एतेनाऽवश्यमेवाऽध्येतव्योऽयं सर्वैरपि ग्रन्थ इति ध्वन्यते । सर्वथा नूतनतया समस्तकल्याणकारितया चाऽत्यन्तप्रीतिप्रद इति अध्ययने प्रवृत्तिरधिकेति व्यज्यते । किंच मनुष्येषु समस्तसंसारसमुन्नत्यभिलाषिणोऽपि केचित्सन्त्येवोदारहृदया यद्यपि ते कतिपये द्वित्राः पञ्चषा वा भवन्ति । तेषां प्रयोजनं समस्तलोककल्याणं तत्सिद्ध्यै अयं ग्रन्थः प्रणीतः । अत्रेदं बोध्यम्— आर्यराष्ट्रवादो यद्यपीदानीं विस्तृतो न लभ्यते युगमाहात्म्यादथाऽपि आर्यराज्यवादग्रन्थेषु विरलविरला इति सूत्ररूपेण बीजरूपेणोपलभ्यत एवेति स एव पूणशान्तिप्रद इति अमृतवागुद्भवस्थानमित्यन्वर्थसङ्केतितेनाऽऽचार्येण समस्तसंसारोन्नत्यै समस्ताऽभीष्टप्रदो श्रीराष्ट्रालोकेत्यन्वर्थनामा ग्रन्थः प्रणीतः अस्य च मननत्राणकर्तृत्वेन मन्त्ररूपत्वेन तद्बीजस्य व्याख्यारूपोऽयं ग्रन्थ उपादिष्टोऽनेनेत्यस्याचार्यत्वमप्यभिव्यक्तमेवेति आचार्येत्युपात्तम् । किं च धर्मोपदेष्टुराचार्यत्वमापस्तम्बादयो वदन्ति तच्च संवादितमस्माभिः पूर्वमेव । राष्ट्रस्वातन्त्र्यं च परमो धर्म इति खल्वसकृदावेदितमेवाऽस्माभिः पूर्वम् । ततश्च परमधर्मोपदेष्टुरस्याचार्येष्वपि श्रैष्ठ्यं द्योतयति परन्तु स्वनम्रत्वद्यो-

---

कामना से युक्त है । समस्त संसार की उन्नति चाहने वाले कुछ ही उदारहृदय होते हैं । स्वातन्त्र्य परम धर्म है । इसका विवेचन यहां किया गया है । अतः यह ग्रन्थ अद्भुत है । आदि, मध्य और अन्त में मंगल के विधान का नियम है । अतः मगल के लिए यहां पर शिव का स्मरण किया गया है ।

"चतुर्णा" पद से इस ग्रन्थ का आरम्भ हुआ था और "अद्भुत" इस पद से ग्रन्थ को समाप्त किया गया है । प्रत्याहार न्याय से इसका यह अर्थ निकलता है कि इस ग्रन्थ में चारों राष्ट्रवादों का, चारों युगों का, चारों अवस्थाओं

तनाय परमेति नोक्तम्। एवं च समस्ताऽभीष्टफलप्रदस्य सर्वथा नवीनस्यातएवाद्भुतस्य ग्रन्थस्य प्रणयने आचार्यकोटिमवगाहमानस्यैव योग्यत्वं भवतीति द्योतितमाचार्यपदेन — मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते इति समस्तमहर्षिसिद्धान्तादन्तेऽपि सर्वदाऽभिनवरमणीयपरशिवस्य स्मरणं मङ्गलायाचरितम्। परशिवस्यैवाद्भुतत्वात् समस्ताऽभीष्टकरत्वात्सर्वदादिव्यक्रीडारचनासु श्रेष्ठतमत्वाच्च। अत्रेदं रहस्यम् ग्रन्थादौ 'चतुर्णाम्'' इति पदं वर्तते अन्ते च अद्भुतः इति पदं वर्तते तेन च प्रत्याहारन्यायेनायमर्थो निष्पद्यते—चतुर्धा विभक्तेषु सर्वेषु वस्तुषु नवनवसौन्दर्यसम्पन्नः शिव एव स्फुरत्नानन्दतीत्यत एवाद्भुतोऽत एव विजयते इति विभागचतुष्टयं च स्पष्टमेव चतुर्णामार्यराष्ट्रवादार्यराज्यवादाऽनार्यराष्ट्रवादऽनार्यराज्यवादेति चतुर्णां वादानां, चतुर्णां युगानां, चतुर्णामवस्थानां, चतुर्णां क्रान्तिभेदानां, चतुर्णां वर्णानां, चतुर्णां तत्त्वानामित्यादि तत्र सर्वत्राद्भुतरूपेण शिव एव स्फुरतीत्यलमनेन ग्रन्थेनेति सर्वं शिवम् ॥108॥

ऐन्दवीं कालिकां शीर्षे शौक्लीं भूतिं च वक्ष्मंणि।
चान्द्रीं सौरीमथाऽऽग्नेयीं दृष्टिं बिभ्रत् शिवोऽवतात्॥1॥

वैन्दवीं शक्तिमापाद्य नानागमविदिप्रथः।
वमन् जयति संसारकलाकलितसत्कुलः॥2॥

श्रीमद्विक्रमभूपतेरथगते लब्धार्ऽधपे वत्सरे।
पुण्ये कार्तिकमासि भार्गवदिने दीपावलीपर्वणि॥

अन्तर्वेदिसमुद्भवः कृतिवरः सम्पूर्णलीलासमः।
सद्भाष्यं निरमान्मुदे नृपविदां **श्रीराष्ट्रसञ्जीवनम्**॥3॥

ॐ नमः परमाय सविद्वपुषे ॐ

संवत् 1993 कार्तिक कृष्णे 9 शनिवासरे 14-5-34 स्व. ज. सं.

का, चारों क्रान्ति-भेदों का, चारों वर्णों का, चारों तत्त्वों का वर्णन होने से शिवतत्त्व का ही प्रस्फुटन हुआ है, जो मंगल कारक है। इस प्रकार यह ग्रन्थ अद्भुत है।

परिशिष्टम्–1

श्लोकानुक्रमणिका

श्लोक	सख्या	पृष्ठ
अतीतचतुरब्दानाम्	29	vii
अपूर्णषोडशाब्दानाम्	31	vii
अराष्ट्रियकराक्रान्तम्	11	iii
अराष्ट्रियकृतां क्रान्तिम्	84	304
अराष्ट्रियप्रार्थितम्	74	234
अराष्ट्रियं मानयन्ति	70	200
अराष्ट्रियाः प्रयच्छन्ति	72	219
अराष्ट्रियाः प्राड्विवाकाः	78	262
अराष्ट्रियान् राष्ट्रभुजो	67	181
अराष्ट्रियैराक्रमणम्	92	352
अस्वतन्त्रे वसन्तोऽपि	71	212
आक्रामन्त्यन्यराष्ट्राणि	86	316
आततायिविनाशाय	97	376
आयतो दशमांशोऽपि	79	269
उत्कोचग्राहिणो	64	168
कृषाणा जलहारिण्यः	42	32
क्रान्तिरुक्ता द्विप्रकारा	89	333
ग्रन्थस्यास्य	106	420
ग्रस्तं राष्ट्रग्रहपति	10	iii
ग्रामे ग्रामे विधातव्या	38	7
गृहीत्वा वृत्तिमुचिताम्	47	61
चतुर्णां पुरुषार्थानाम्	1	i
तथाप्यनन्तजन्मात्त०	102	403
तर्पयन्ति स्वराष्ट्रं ये	100	392
तेषु तेषु च पर्वसु	41	27
दरिद्रास्तेऽतिदुर्भाग्याः	8	ii

श्लोक	संख्या	पृष्ठ
दुष्टां क्रान्ति चिकीर्षूणाम्	103	408
दुष्टाराष्ट्रियपारतन्त्र्य	108	429
द्रुह्यन्ति ये स्वराष्ट्राय	14	10
नवं नवं वाङ्मयं च	39	12
नरा नार्यश्च यत्र स्युः	43	35
न स्वतन्त्रं स्वराष्ट्रं ये	105	418
न हीयते तथा राष्ट्रम्	62	160
नानावेषाःशुद्धहृदः	54	
निग्रहानुग्रहाभ्यां ये	87	322
निघ्नन्ति ये स्वराष्ट्रं ते	104	413
नियमानां विधानाय	60	135
निर्धनोऽपि सुखं यायात्	68	187
निर्मान्ति यत्र नियमान्	61	152
पङ्ग्वन्धबधिराशक्ताः	51	90
पन्थानः सुगमाः कार्याः	56	116
परराष्ट्रस्य सम्बन्धः	22	v
पारतन्त्र्यस्य निगडम्	12	iii
पितृपुण्यभुवं राष्ट्रम्	4	ii
पितृभूत्वं पुण्यभूत्वम्	5	ii
पुमर्थसाधनं तद्वत्	6	ii
पूर्णाष्टवर्षका बालाः	28	vi
प्रतिग्रामं पशुचरा	57	122
प्रतिग्रामं पाठशाला	26	vi
प्रतिग्रामं विधातव्याः	40	21
भिक्षाशिनो दण्डनीयाः	53	97
भुक्तिमुक्तिप्रदं राष्ट्रम्	20	v
भृतिं गृहीत्वा कार्याणि	48	66
भृतिरन्या वृत्तिरन्या	49	75
मण्डले मण्डले स्थाप्यः	27	vi
मनुष्यमात्रः स्वामादौ	24	v
महती राष्ट्रपरिषत्	45	47

श्लोक	संख्या	पृष्ठ
मानवानां कुले जन्म	9	iii
मिथो युद्धे राष्ट्रिया ये	77	255
यथाशक्ति च तेभ्योऽपि	52	94
यथा शान्त्या पराधीनम्	85	310
यस्मिन् राष्ट्रे न विद्यन्ते	21	v
यस्य राष्ट्रस्य कोपो वा	7	ii
या क्रान्तिः क्रियते लोके	90	338
ये नरा विनिगृह्णन्ति	99	386
ये मानयन्ति नियमान्	63	164
राष्ट्रकाली राष्ट्रलक्ष्मोः	83	299
राष्ट्रदृष्टिं नमस्यामः	2	i
राष्ट्रद्रव्यं राष्ट्रनाशे	65	171
राष्ट्रनेता राष्ट्रभाषाम्	44	41
राष्ट्रभाषाधर्म्यभाषाकु.	36	vii
राष्ट्रभाषाधर्म्यभाषापु.	37	viii
राष्ट्रभाषा शिक्षणीया	25	vi
राष्ट्रसंचालकान्	59	134
राष्ट्रसंरक्षिणी श्रेष्ठा	98	381
राष्ट्रस्यात्थानपतने	15	iv
राष्ट्रान्तरेषु क्रियते	91	344
राष्ट्रियज्ञानसम्पन्नान्	18	iv
राष्ट्रियज्ञानहीनानाम्	19	v
राष्ट्रियाः शासकाः	58	127
राष्ट्रियाणां मिथो युद्धम्	76	250
राष्ट्रिये शासति वरं	69	192
लोकद्वयीनाशनीय.	96	371
वरं प्राणपरित्यागः	75	240
वर्तन्ते तु स्वराष्ट्रे ये	73	227
वस्तु शक्योत्पत्ति	81	283
विचारमन्तरेणैव	94	362
विधातव्याः प्रयत्नेन	34	viii

श्लोक	संख्या	पृष्ठ
विधेया योजना यत्नात्	55	109
विशुद्धचरिता वृद्धाः	30	vii
वृत्ति समुचितां दत्वा	46	54
वृत्तियुक्ता विधातव्याः	50	84
वृध्दाभिः सुचरित्राभिः	32	vii
व्यापारनियमाः	80	276
शक्तित्रयवतः शान्तान्	35	viii
श्रेष्ठां क्रान्ति चिकीर्षूणाम्	95	366
श्ववृत्त्या जीवनं	88	328
सदाचरन्तः कार्याणि	17	iv
समभ्यस्यन् ग्रन्थमिमम्	107	426
समानसंस्कृतिमताम्	3	i
सहस्रगुणवन्तोऽपि	93	357
स्थापनीयः प्रयत्नेन	33	vii
स्रष्टारो नियमानां ये	66	176
स्वतन्त्रमेतत् त्रयं स्यात्	23	v
स्वतन्त्रराष्ट्रियकुले	101	399
स्वमङ्गलसमाशंसी	13	iii
स्वराष्ट्रशिक्षां गृह्णीयात्	16	iv
स्वातन्त्र्यं भिक्षया नैव	82	293

———

द्वितीयम् परिशिष्टम्

(श्रीराष्ट्रसञ्जीवनभाष्यसमागतानां ग्रन्थग्रन्थकारादीनां नामानि)

अथर्ववेद
❀ अन्योक्तितारावली
अपरार्क
अभिनवगुप्तपाद
अमरकोष
अमृतवाग्भवाचार्य
अष्टाध्यायी
❀ आत्मविलास
❀ आत्मविलासव्याख्या
आपस्तम्ब
ईशावास्योपनिषद्
ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी
उपनिषत्
ऋग्वेद
❀ कला (कल्याणसौगन्धिकव्याख्या)
कालिदास
काणाद
कामकल्पविलास
काशिकाकार
काश्मीरक क्षेमेन्द्र
किरातार्जुनीय
कुमारिलभट्ट
कृष्णदास
❀ कान्तिकौमुदी
क्षेमराज
गन्धर्वराज पुष्पदन्त
गुरुकोलकपटल
गोस्वामी तुलसीदास
गौतम
चन्द्रज्ञानतन्त्र
❀ छन्दोविश्वम्भर
जैमिनीयमीमांसा
तत्त्वप्रकाश
तन्त्रशास्त्र
तन्त्रसार
तिमिरोद्धार
त्रिपुरोपनिषत्
दपदलन
दुर्गासप्तशतीस्तव
❀ देवीस्तोत्र (मन्दाक्रान्ता)
धर्मशास्त्र
नामलिङ्गानुशासन
नारदपुराण
नीतितन्त्र
नीतिशतक
नीतिशास्त्र

पञ्चतन्त्र
पञ्चस्तवी
पण्डितराज जगन्नाथ
❀ परमस्तोत्र
परिभाषेन्दुशेखर
पाणिनिसूत्र
पातञ्जलयोगसूत्र
❀ पादपरिचय
पुष्पानन्दनाथ
प्रायश्चित्तमयूख
प्रायश्चित्तविवेक
ब्राह्मवेद
भगवत्पाद
भगवद्गीता
भट्टकुमारिल
भट्टोजिदीक्षित
भर्तृहरि
भारवि
भासुरानन्दनाथ
❀ भैरवमहोल्लास
मनु
मनोरमा
मयूख
❀ मन्दाक्रान्तास्तोत्र (देवीस्तोत्र)
❀ महाऽनुभवशक्तिस्तव
महाभारतम्
महाभाष्यम् (व्याकरण)
महाराज भोज
महोल्लास
माघ
माधव
मानव
मार्कण्डेय पुराण
मालिनीविजयतन्त्र
मिताक्षरा
मीमांसाग्रन्थ
मीमांसानीति
मुक्तिकल्पतरु
मुद्राराक्षस
मृच्छकटिक
यजुर्वेद
याज्ञवल्क्यस्मृति
योगवासिष्ठ
योगसूत्र
रघुवंशमहाकाव्य
राजेन्द्रनाथ
रामायण
राष्ट्रसञ्जीवनभाष्य
वशिष्ठ
वाक्यपदीय
वार्तिक (व्याकरण)
वासुदेव
विज्ञानभैरव
विज्ञानेश्वर
विद्वन्मनोहरा
विनयाचार्य

विश्वसारतन्त्र
वीरविनोद
वेद
व्याकरणतन्त्र
व्याससूत्र
शक्तिस्तव
शङ्कराचार्य
शब्दकौस्तुभ
शब्देन्दुशेखर
शाकुन्तल
शाङ्करभाष्य
शालातुरीयाचार्य
शिवपरिचय
शिवसूत्रसिद्धान्त
शूद्रक
शूलपाणि
श्रीकृष्ण
श्रीतन्त्रसद्भाव
श्रीतन्त्रालोक
श्रीमद्देवीभागवत
श्रीमद् भागवत
❀ श्रीराष्ट्रालोक
श्रीशिवदृष्टिशास्त्र
श्रीसमर्थरामदास
श्रीसोमानन्दनाथ
श्रुति
श्लोकवार्तिक
समराङ्गणसूत्रधार
सामवेद
सायणाचार्य
सिद्धमहापरिचय
❀ सिद्धाचारसम्प्रदाय
सिद्धान्तकौमुदी
सिद्धान्तशिरोमणि
सूतसंहिता
सौन्दर्यलहरी
स्तुतिकुसुमाञ्जलि
स्मृति
हरदत्त
हर्षचरित
हलायुधकोष
हितोपदेश

❀ आचार्यश्रीअमृतवाग्भवाचार्यप्रणीताः रचनाः ।

विश्वसारतन्त्र
वीरविनोद
वेद
व्याकरणतन्त्र
व्याससूत्र
शक्तिस्तव
शङ्कराचार्य
शब्दकौस्तुभ
शब्देन्दुशेखर
शाकुन्तल
शाङ्करभाष्य
शालातुरीयाचार्य
शिवपरिचय
शिवसूत्रसिद्धान्त
शूद्रक
शूलपाणि
श्रीकृष्ण
श्रीतन्त्रसद्भाव
श्रीतन्त्रालोक
श्रीमद्देवीभागवत
श्रीमद् भागवत
* श्रीराष्ट्रालोक
श्रीशिवदृष्टिशास्त्र
श्रीसमर्थरामदास
श्रीसोमानन्दनाथ
श्रुति
श्लोकवार्तिक
समराङ्गणसूत्रधार
सामवेद
सायणाचार्य
सिद्धमहापरिचय
* सिद्धाचारसम्प्रदाय
सिद्धान्तकौमुदी
सिद्धान्तशिरोमणि
सूतसंहिता
सौन्दर्यलहरी
स्तुतिकुसुमाञ्जलि
स्मृति
हरदत्त
हर्षचरित
हलायुधकोष
हितोपदेश

* आचार्यश्रीअमृतवाग्भवाचार्यप्रणीताः रचनाः ।